डा० सूर्यकान्त



वैदिक-देवशास्त्र

प्रोफेसर ए. ए. मैक्डानल-रचित
वैदिक माइथोलोजी का स्वतन्त्र हिन्दी रूपान्तर

वेदों के आधार पर देवताओं का विशद विवेचन। वैदिक माइथोलोजी मे संकेतित समस्त उद्धरणों को मूलरूप मे सस्वर प्रस्तुत किया गया है जिसके फलस्वरूप अब इन उद्धरणों को विविध ग्रन्थों मे से ढूंढने की कठिनाई दूर हो गई है।

प्रकाशक :
श्री भारत भारती (प्राइवेट) लिमिटेड
१ अनसारी रोड, नया दरियागज, दिल्ली-६

मूल्य
साधारण संस्करण : ३० रुपया
लाइब्रेरी संस्करण ४० रुपया

प्रथम संस्करण जुलाई १९६१



आचार्य श्री जुगलकिशोर जी, शिक्षा-मन्त्री, उत्तर-प्रदेश ।

आचार्य श्री जुगलकिशोर जी
शिक्षा-मन्त्री, उत्तर-प्रदेश सरकार
को
सादर समर्पित

—सूर्यकान्त

दो शब्द

प्रो० मैकडानल-रचित 'वैदिक माइथालोजी' छात्रो के लिये दुष्प्राप्य थी और इसे पढे बिना एक छात्र वेद का सच्चा छात्र नही बन पाता—इसी भावना से प्रेरित होकर हमने प्रस्तुत प्रयास किया है ।

वैदिक माइथालोजी मे अनेक ग्रन्थो के उद्धरणो के सकेत दिये गये हैं जोकि हजारो की सख्या मे हैं। इन ग्रन्थो मे से भी बहुत से दुष्प्राप्य है। साथ ही अनेक उद्धरणो के सकेत या तो अशुद्ध हैं या अशुद्ध छपे हैं। हमने सभी उद्धरणो को शुद्ध रूप मे यथास्थान दे दिया है। निर्धन छात्रो के लिये यह सुविधा बडी है।

पुस्तक के बीच मे आये योरपीय विद्वानो के मतो के सकेत पुस्तक के पीछे लगी सूची मे दिये गये हैं। इस सुविधा ने पुस्तक को छात्रो के लिये अत्यन्त उपादेय बना दिया है।

भूमिका लिखने मे अनेक विद्वानो के ग्रन्थो से सहायता ली गई है। *Mythes, Reves et mysteres* के लेखक *Mircea Eliade* विशेषतया धन्यवाद के पात्र हैं।

अनुवाद मे हमारे प्रिय शिष्य सत्यप्रकाशसिंह ने और उद्धरणो को ढूढने मे रामाधार पाठक ने हमारी सहायता की है। हम दोनो के कृतज्ञ हैं।

वनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी
16-7-61

—सूर्यकान्त

भूमिका

वर्तमान से खेद और अतीत से प्रेम

देवकथा मानवीय मन की वह प्रवृत्ति है जिसमे मानव वर्तमान से खिन्न रहने के कारण अतीत मे सुख ढूढता है और उसकी ओर चलता-चलता उसके उस सुदूर शिखर पर जा पहुचता है जहा से सर्ग-रचना का आरभ हुआ था और जो देशकाल की परिधि से बाहर है। सभी जानते हैं कि मानव अपनी वर्तमान परिस्थिति से खिन्न रहता है और उससे बचने के लिये वह पीछे की ओर ऐसे अतीत पर पहुचने का प्रयत्न करता है, जो वर्तमान से बहुत दूर है और इतिहास की परिधि से बाहर होने के कारण काल की परिधि से भी सुतरा बाहर है।

मनुष्य देखता है कि उसका काय और उसका सकल क्रिया-कलाप परिवर्तनशील है और इसीलिये वह अनित्य एव असत्य है। इस असत्य एव अनित्य जगत् से पीछे की ओर चलता-चलता मानव काल के उस आदि विन्दु पर पहुच जाता है जो परिवर्तन से पूर्ववर्ती होने के कारण नित्य है और इसीलिये पवित्र एव उदात्त है। इस उदात्त-पवित्र की पूजा मे ही मानव-जाति प्राचीन काल से शान्ति-लाभ करती आ रही है।

दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि देवकथा पवित्र इतिहास होने के नाते सत्य है। यह उन तथ्यो का इतिहास है जो सर्ग के आदि-बिन्दु पर घटित हुए थे और इसीलिये सर्ग-प्रवृत्ति के उपरान्त आनेवाले मानव-समाज के लिये उसके कर्तव्य की कसौटी सपन्न हुए हैं। सर्ग के आदि मे उद्भूत हुए देवी-देवताओ के चरित का अनुगमन करके मानव अपने-आपको वर्तमान की झकझक से छुडा लेता है और आदि-कालीन देवता के यातु-रञ्जित चरित के माध्यम द्वारा महाकाल मे प्रवेश पा जाता है।

इसमे सदेह नही कि आज के सुसभ्य मानव की दृष्टि मे देवकथा एक कल्पित कहानी-मात्र है। किंतु परपरा मे पगे धर्मप्रवण नर-नारियो के लिए यह शाश्वत सत्य का मनोरञ्जक विकास है। देवकथा के पात्र देवताओ के अनुगमन मे ही नर-नारियो का कल्याण है।

परपरा मे आस्था रखनेवाले समाज मे देवकथा एक कालक्रमागत सामुदायिक विचार धारा है, जो अनायास ही आगे की ओर बढती रहती और उस-उस समाज के जीवन को फलसपन्न बनाती रहती है। दुर्भाग्य से आज का भूतपूजक मानव अपनी इस क्षेमकरी सामुदायिक विचार-धारा को भुला बैठा है, और इसीलिये वह ऐश्वर्य के तुङ्ग पर विराजता हुआ भी आन्तरिक आधार के न रह जाने के कारण कादिशीक बनकर इधर-उधर भटकता फिरता है।

यह सच है कि वर्तमान मानव-समाज की परपरीण देव-कथाओ मे निष्ठा नही रह

गई है, तो भी इस बात मे सदेह नही है कि व्यक्तिगत रूप से उसके जीवन मे देवकथाए आज भी अपना काम कर रही हैं। हम मानते है कि देवकथा का रूप भी आज बहुत कुछ बदल गया है, फिर भी समाज पर पडनेवाले उसके प्रभाव मे कोई मौलिक अन्तर नही आने पाया है। उदाहरण के लिये लीजिये—हम सब आज भी नव-वर्ष के उदय पर उत्सव मनाते हैं और पुत्रोत्पत्ति जैसे शुभ अवसरो पर तो हमारी खुशियो का ठिकाना ही नही रह जाता। नवीन घर मे प्रवेश के समय भी हम धूमधाम करते हैं, यहा तक कि जीवन मे तनिक-सी नवीनता आ जाने पर भी हम आमोद प्रमोद का ताता लगा देते हैं। हमारे इन सब आमोद-प्रमोदों का लक्ष्य यह होता है कि हम अपने जीवन की वर्तमान नीरसता को नष्ट करके उसम नवीनता का सचार कर दें, या यो कहिये कि हम इन अवसरो पर वर्तमान से दूर हटकर अतीत महाकाल मे प्रवेश पाना चाहते हैं जो इतिहास की परिधि से बाहर होने के कारण शिवमय है और इसीलिये सौख्य का अखण्ड स्रोत है। निश्चय ही हमारे ये उत्सव पुराण देवकथाओ से बहुत दूर हैं, फिर भी वर्तमान का निरास और जीवन का पुनर्निर्माण इनमे भी उसी प्रकार बना हुआ है जैसा कि देवकथाओ म था। भेद केवल इतना है कि पुराण देवकथा का स्वरूप धार्मिक था जब कि आज की देवकथा बहुत कुछ लौकिक बन गई है।

कहना न होगा कि आज के भौतिक युग म हम पुराने हिन्दू नही रह गये, और आज के बौद्ध ईसाई एव मुसलमान भी परपरागत बौद्ध, ईसाई एव मुसलमान नही रह गये। आज तो जीवन का लक्ष्य बदल जाने के कारण सभी धर्मों के अनुयायी मूलत बदल गये हैं क्योकि, सच पूछिये तो एक सच्चा वैष्णव वह है जो अपने जीवन-काल मे ही विष्णु का समसामयिक बन जाय। एक यथार्थ बौद्ध वह है जो अपने जीवन मे बुद्ध का समकालीन बन जाय। और यही बात लागू होती है एक ईसाई और एक मुसलमान पर। इन धर्मों की अपनी-अपनी देवकथाए तभी चरितार्थ होनी सभव है जब कि इनके अनुयायियो मे इनकी देवकथाओ के पात्रो के साथ एकरूपता उत्पन्न हो जाय। किंतु ऐसा तो होता दिखाई नही देता। फिर भी इतना तो है ही कि अपनी पूजा परिचर्या के समय थोडी देर के लिए तो एक वैष्णव वर्तमान से मुक्ति पाकर उस अतीत पर जा लगता है जबकि स्वय विष्णु भगवान् इस धराधाम पर लीलावान् हुए थे। इसी प्रकार क्रिस्मस मनाते समय थोडी देर के लिए तो एक ईसाई वर्तमान से नजात पाकर अतीत की उस सौख्यदायिनी घडी पर जा लगता है जब कि ईसा इस धराधाम पर उतरे थे और उन्होने मेरी के पुत्ररूप म अपनी लीला का अनावरण किया था। फलत हम कह सकते है कि यद्यपि आज के युग मे देवकथा का स्वरूप बदल गया है तथापि सदा की भाति मानव के विलष्ट जीवन मे रसासार बहाकर वह उसे सरस एव पल्लवित बनाती ही रहती है।

उक्त विचार धारा से व्यक्त होता है कि देवकथा का परिणाम हमारे जीवन मे प्रकट होता है अनुसरणीय जीवन प्रणाली के उदय मे, जीवन के पुन-पुन नवीकरण मे, और धर्मप्रतीपी वर्तमान से आजाद होकर आदि महाकाल के दर्शन मे।

किसी भी देश या समाज के चरित्र एव शिक्षा-पद्धति का मानदण्ड उसकी अपनी

देवकथाए होती है। समाज के अपने देवी-देवताओ की चरितावलि ही उस समाज के चरित्र का आदर्श बना करती है, और इन देवी-देवताओ के पदचिह्नो पर चलनेवाले शूरो की चरित-सतति ही उस समाज के युवको की प्रशसा का पात्र बनती है। शिक्षा-पद्धति की जो कडिया समाज के नर-नारियो को उस समाज के आदि देवो तक पहुचा दें, वे ही उस समाज के लिये क्षेम का प्रसव बनती हैं। इसीलिये किसी समाज की शिक्षा प्रणाली मे उस समाज के शूरवीरो की जीवनियो का जितना महत्त्व है उतना महत्त्व अन्य किसी भी पाठ का नही होता। कारण इसका स्पष्ट है समाज के ये वरिष्ठ नरनारी अपने जीवन को परपरीण आदर्श मे खचित करके समाज के समुख फिर से उस आदियुग को प्रदर्शित करते है जबकि एक मानव मानव न होकर एक देवता था—फिर देवताओ का तो कहना ही क्या? जर्मनी के गोइथे महाकवि के जीवन मे हम इसी बात का निदर्शन पाते है। उन्होंने अपने बहुमुखी प्रतिभा-सपन्न जीवन द्वारा अपने देशवासियो के समुख जीवन की वे परपराए प्रस्तुत की थी जो एक दिन वहा के आदिदेवो मे उद्भूत हुई समझी जाती थी।

हम अभी कह आये है कि नव वर्ष पर मनाये जानेवाले उत्सवो का आधार वह देवकथा है जिसके द्वारा हम अपने जीवन को वर्तमान के क्लेशभरित जीवन से उभारकर उसे फिर से नवीन बनाते हैं, या यो कहिये कि पुराने जीवन को नष्ट करके उसकी जगह हम नया जीवन उत्पन्न करते है। जीवन के इस पुनर्नवीकरण पर बहुत कुछ कहा जा सकता है।

खोये हुए स्वर्ग की कथाए तो आज भी हर व्यक्ति को तरसाती रहती हैं। उस स्वर्गीय उपवन की गाथाए जहा पाप का प्रवेश नही था, जहा नियमोपनियमो के पाश नहीं थे, जहा समय चलता नही था, या यो कहिये कि जहा समय एक बिन्दु पर ठहरा रहता था। इस प्रकार के स्वर्ग की कथाओ द्वारा हम महाकाल के आदिबिन्दु पर जा पहुचते है और इतिहासोपहत वर्तमान के चगुल से हमे चन्द क्षणो के लिये मुक्ति मिल जाती है। इस बारबार के पश्चगमन मे ही देवकथाओ की सौख्यकारिता सनिहित है।

पोलीनेशिया के नाविको की एक प्रशसनीय आदत है। वे जब भी किसी महती नौ-यात्रा पर निकलते है तब उसे नवीन न मानकर समझते है कि ऐसी यात्राए तो वे सदा से करते ही आ रहे है। उनकी इस भावना का परिणाम यह होता है कि उनके मन से वर्तमान की झकझक दूर हो जाती है और वे सहज ही काल-समष्टि मे प्रवश पा जाते और अवच्छिन्न काल की अरुतुद उपाधियो से स्वतन्त्र बने रहते हैं। फल इसका यह होता है कि उनका जीवन बराबर नव-नव होता चला जाता है और वे अनारत आनन्द मे मस्त बने रहते हैं।

अवच्छिन्न काल की इतिहासोपहत उपाधि से स्वतन्त्र होकर अनवच्छिन्न महाकाल की झाकी लेने के लिये आज का मानव दो उपाय काम म लाता है एक साहित्यानुशीलन और दूसरा दृश्य-दर्शन। दृश्य मे सभी प्रकार के नाटक, सभी प्रकार की प्रतियोगिताए—जैसे कि बलीवर्दो अथवा साडो आदि की मुठभेड, मुक्कामारों के दगल—सम्मिलित हैं, क्योंकि इन सभी मनोरञ्जक तमाशो मे उस-उस दृश्य का काल एक अजीब प्रकार का काल बन जाता है। इसमे प्रेक्षको की उत्सुकता पराकोटि को पहुची होती है और यह काल यातु मिश्रित धर्म से अभिषिञ्चित होने के कारण महाकाल का प्रतिनिधि बन जाता है।

इस प्रसग मे साहित्य के दो व्यापार होते हैं · पहला देवशास्त्रीय साहित्य का सृजन और दूसरा पाठको के हृत्पटल पर देवशास्त्रीय तत्त्वो का प्रतिफलन। साहित्यिक क्षेत्र मे पहले-पहल देवकथाओ का प्रसव हुआ, फिर पुराण-गाथाओ का, उसके बाद आर्षी कविता बनी और इन सब के पश्चात् आज के साहित्य का उदय हुआ है। साहित्य कितना भी आधुनिक क्यो न बन जाय वह देवशास्त्रीय तत्त्वो से अछूता नही रह सकता, क्योकि कविता की बात जाने दीजिए, आज के उपन्यासो तक मे देवशास्त्रीय तत्त्व स्पष्ट रूप से झलकते रहते हैं। और ऐसा होना है भी उचित, क्योकि प्रत्येक परिपक्व उपन्यास मे उत्कृष्ट और अपकृष्ट का पारस्परिक सघर्ष आवश्यक होता है और हर विदग्ध कथा मे परिक्लेशित रमणी, उसका उद्धार, और अप्रत्याशित रक्षक द्वारा प्रणयपीडित रमणी का परित्राण आदि घटको का होना वाछनीय होता है; और ये ही बातें हैं—एक देवकथा के प्रमुख घटक।

इस दृष्टि से भावप्रधान साहित्यिक कविता का तो कहना ही क्या ? उसका तो प्रमुख लक्ष्य ही देवकथा का नवोदय करना रहता है। सच पूछो तो यथार्थ कविता है ही वह जो भाषा मे नवजीवन डाल दे; जो प्रतिदिन के व्यवहार की भाषा को नष्ट करके उसके स्थान मे एक नवीन व्यक्तिगत भाषा का निर्माण कर दे। हम इस काव्यमयी भाषा को स्फोट या गुप्त भाषा के नाम से पुकार सकते हैं। कहना न होगा कि एक उच्चकोटि की कविता के निर्माण के समय काल का घटक लुप्त हो जाता है और हम आदिकालीन अवस्था की ओर अग्रसर हो जाते है, उस अवस्था की ओर जहा हर प्रकार की रचना इच्छामात्र पर निर्भर रहती है, जबकि भूत की भावना होती ही नही, क्योकि उस समय तक समय की भावना नही बन पाई थी। और सचमुच यह किसी ने ठीक ही कहा है कि "एक रससिद्ध कवि के लिए भूतकाल नहीं होता।" क्योकि इस कोटि का कवि तो जगत् को इस प्रकार टटोलता है मानो वह स्वय सर्ग-प्रवृत्ति के आदिमूल मे बैठा हुआ सर्गरचना को देख रहा हो, मानो वह सर्गरचना के आरम्भिक क्षण मे आख खोले सब कुछ देख रहा हो। और थोडी-बहुत मात्रा मे यह बात सभी कवियो मे पाई जाती है; क्योकि हर कवि थोडी-बहुत मात्रा मे जगत् का नव-निर्माण किया ही करता है, क्योकि वह जगती को ऐसी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करता है जिसमे समय का घटक खुल जाता है और इतिहास की ग्रन्थियां टूट जाती हैं।

भद्र बर्बर अथवा आरम्भ की मोहनी शक्ति

किसी ने ठीक कहा है कि "खोजने से पूर्व भद्र बर्बर का आविष्कार किया जाता है।" इतिहास बताता है कि १६वी, १७वी, और १८वी सदी में योरपीय मानव ने एक ऐसे भद्र बर्बर की कल्पना की थी जो आगे चलकर वहा की राजनीतिक एव सामाजिक विचारधारा का प्रवर्तक बना और जिसका नमूना सामने रखकर वहा के विचारको ने योरप के आचार-विचार की प्रतिष्ठा की। योरपीय विचारको का यह भद्र बर्बर स्वर्ग की झाकिया ढूढनेवाले आदर्शवादी तरुण नर-नारियो का आदर्श बना और ये लोग उसकी स्वच्छन्द वृत्ति पर शश-शश करने लगे, उसके धन और श्रम के समन्वित विभाजन की दाद देने लगे और प्रकृति की गोद मे फलने-फूलने वाले उसके जीवन पर कविताए रचने लगे। किंतु याद रहे

इस भद्र बर्बर के आविष्कार के पीछे वह परपरीण देवकथा काम कर रही थी जिसका स्वर्ग के साथ सबन्ध अटूट रहता आया है।

भद्र बर्बर के पुजारी योरपियनो ने अपने महाद्वीप से दूर-दूर जाकर नव नव द्वीपो और महाद्वीपो को खोजा और वहा बसने वाले स्वच्छन्दचारी आदिवासियो से प्रेम बढाया, क्योकि योरपीय नर-नारियो की दृष्टि मे इन भद्र बर्बरो को समय की बाधा नही सताती थी और इनके खेतो मे बीज बिखरते ही धनधान्य से झोली भर देते थे। सच पूछिए तो योरपीय गवेषकों ने भद्र बर्बरो के देशो को स्वर्ग के नाम से पुकारा है, और वहा रहनेवाले मासाशियो के गुणगान मे सहस्रो ग्रन्थ लिख डाले हैं।

किंतु ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि इन भद्र बर्बरो की अपनी कथा-कहानिया मे भी विगत समय की स्मृतिया काम कर रही थी, उस समय की स्मृतिया जबकि जगती अपने शैशव मे खडी आगे की ओर निहार रही थी। योरप के गवेषको को इन बर्बरो के जगलो मे स्वय ईडन गार्डन लहलहाता दीख पडा, उनके देशो म उन्हे स्वय स्वतन्त्रतादेवी खिलखिलाती दीख पडी और उनके समाज मे उन्हे सामाजिक एव राजनीतिक जगत् की वे सभी वदान्य भावनाए चरितार्थ होती दीख पडी जिनके लिये ये गवेषक स्वय अपने महाद्वीप मे लालायित रहते आ रहे थे।

किंतु योरप को छोड अब जरा इन भद्र बर्बरो की ओर आइये और निहारिये कि स्वय उन्हे अपनी अवस्था कैसी लगा करती थी। निश्चय ही जिस प्रकार योरप के निवासी अपने आपको स्वर्ग से बहुत दूर च्युत हुआ समझते थे उसी प्रकार उनके भद्र बर्बर भी अपने आपको स्वर्गखण्ड से दूर गिरा हुआ माना करते थे। क्योकि इन भद्र बर्बरो की दृष्टि मे भी अतीत काल ही सुनहला था, और इन लोगो मे यह भावना जागरूक थी कि ये लोग अतीत के आदर्श स्वर्णिम खण्ड से गिरकर बहुत दूर धरती पर आ पडे हैं। क्योकि स्वर्ग सबन्धी देवकथाए जैसी योरप के देशो मे प्रचलित थी वैसी ही इन भद्र बर्बरो के देशो मे भी आम थीं। नि सदेह देश-देश की इन देवकथाओ मे भेद था, किंतु कुछ बातें सब देवकथाओ मे समान पाई जाती थी। उदाहरण के लिये, यह भावना सभी जगह काम कर रही थी कि स्वर्ग का आदमी अमर था और वह देवताओ को अपनी आखो स देखा करता था। वह प्रसन्न एव सतुष्ट था और उसे भोज्य आदि की प्राप्ति के लिये हाथ नही हिलाना पडता था। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि इन भद्र बबरा के भी अपने भद्र बर्बर रहे थे, जिनकी ये लोग अपने आपको दूर की सतति बताया करते थे। उनके ये भद्र बबर स्वर्ग मे विचरते थे और सर्वात्मना स्वच्छन्द थे। हर प्रकार के श्रम से ये लोग बरी थे, और किसी भी फल के लिये इन्हें अगुली नही हिलानी पडती थी। किसी कारण ये आदि मानव स्वग से खिसककर दूर जा पडे और उनके इस पतन मे ही मानव-जाति के पतन का असली रहस्य छिपा हुआ है। दूसरे शब्दो म कह सकते हैं कि योरपीय गवेषको के भद्र बर्बरो की दृष्टि म भी जीवन का आनन्द अतीत मे सनिहित था।

योरपीय गवेषको के भद्र बर्बर आदिम काल की स्मृति मे पगे थे और तरह-तरह के उपाय करके उसकी झाकिया लिया करते थे। कह सकते है कि उन्हें मानो स्वर्ग की

सनक जैसी सवार रहती थी और वे तरह-तरह से अपने उन आदि-पुरखाओं की भावी लिया करते थे जो कि उनकी दृष्टि म स्वर्ग के ईडन मे विचरते थे—भले ही उनकी ये झाकिया चन्द मिनटो के लिये ही क्यो न रहा करती हो।

सार इन बातो का यह निकलता है कि स्मृति द्वारा अतीत की उद्भावना करना ही मानव की अपनी बडी विशेषता है, इस प्रक्रिया के द्वारा जब मानव अतीत के उस तुङ्ग पर जा पहुचता है जहा से क्रिया का स्रोत फूटा था, तब वह समय एव इतिहास की परिधि से परे पहुच जाता है और तब वह उसी मौलिक आनन्द का लाभ कर लेता है जो कि मुक्ति मे मिला करता है।

भारतीय दर्शन के अनुसार मानव के क्लेश-जाल का कारण उसका समय द्वारा परिच्छिन्न हो जाना है और समयावच्छेद के आते ही जन्म मरण की अविच्छिन्न सतति चल जाने का कारण मानवीय कर्म है। जब तक मानव का कर्म सशक्त रहता है तब तक वह जन्म मरण के जजाल मे तडपता रहता है। इस जजाल से वह तभी छूट पाता है जब वह अपनी कर्मशृखला को तोड डालता और माया के आवरण को फाड डालता है। भारत मे बुद्ध भगवान् को सब भिषजो का मूर्धन्य माना गया है और उनके सदेश को 'नवतम भेषज' के नाम से पुकारा गया है। बुद्ध भगवान् के सदेश का सार कर्मगति के चक्र को रोक देने मे है और कर्मचक्र का उपरोध होता है अतीत की ओर अव्ययी प्रगति से, उस प्रगति से जोकि साधक को काल के आदि तुग पर पहुचा कर उसे महाकाल के साथ तदात्म कर दे। योगसूत्र (३-१८) को यह प्रक्रिया ज्ञात है और बुद्ध भगवान् के अनुयायियो की इसमे आस्था रही है।

इस प्रक्रिया को सफलता के साथ व्यवहार मे लाने वाला व्यक्ति अपने आपको वर्तमान से छुडा लेता और वहा से प्रतिलोम चलकर अपने पिछले जन्म पर, फिर उससे पहले जन्म पर, और फिर उससे भी पूर्व के जन्म की ओर बढता-बढता समय के उस बिन्दु पर जा पहुचता है जब कि सत्ता प्रवृत्ति की ओर सर्वप्रथम उन्मुख हुई थी, जब समय की कल्पना साकार न हो पाई थी, क्योकि उस समय तक किसी भी पदार्थ का आविर्भाव न हो पाया था। अपने अतीत जन्म-जन्मान्तरो मे पहुच कर एक अन्तर्दर्शी साधक अपने कर्म-चक्र को निरुद्ध कर देता और *उसके द्वारा कर्मजन्य भव-बन्धन से मुक्ति पा जाता है। इससे भी* अधिक रुचिकर बात जो इस प्रक्रिया से हाथ लगती है यह है कि इस प्रक्रिया को बरतते-बरतते एक साधक समय के उस आदि बिन्दु पर जा लगता है, जो कि समयाभाव का ही दूसरा नाम है, जोकि मानव के पतन से पहले का समय है, जो वस्तुस्थित्या महाकाल है और सब प्रकार की देशकालज उपाधियो से सुतरा स्वतन्त्र है।

बौद्ध-दर्शन के अनुसार बुद्ध भगवान् को अपने विगत जन्म याद थे और ऋषि वामदेव ने तो ऋग्वेद मे स्पष्ट शब्दो मे कहा ही है कि "मैंने माता के गभ म रहते हुए ही देवताओं के सभी जन्मो को देख लिया था"। दूसरे शब्दो में कह सकते हैं कि वामदेव अपनी माता के गर्भ में रहता हुआ भी समय के उस आदि बिन्दु पर विराजमान था, जब कि सर्ग-रचना आरम्भ हुई थी, अर्थात् वह शाश्वत महाकाल के दर्शन कर चुका था, और देशकालानवच्छिन्न सत्ता के साथ तदात्म बन चुका था।

कहते हैं कि ग्रीस का परम दार्शनिक पाइथागोरस जब चाहता था अपने जन्म-जन्मान्तरो को देख लेता था। ग्जेनोफोन और एम्पिडोक्ल्स के कथनानुसार यह दार्शनिक अपने मन को एकत्र करके इस बात को देख लेता था कि अपने विगत २०-३० जन्मो मे वह क्या-क्या था और उन जन्मो मे उसने क्या-क्या किया था। इस विषय मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाइथागोरस द्वारा प्रवर्तित दर्शन मे स्मृति के समुचित विकास पर अत्यधिक बल दिया जाता है।

विद्वान् लोग इस बात पर सहमत हैं कि प्लेटो का पुरा-स्मृति-सबन्धी सिद्धान्त वस्तुत. पाइथागोरस की देन है। किंतु प्लेटो इसे जन्म-जन्मान्तरो की व्यक्तिगत स्मृति न मान कर इसे सामूहिक स्मृति-समष्टि के रूप मे स्वीकार करता है, जोकि हर व्यक्ति के अन्तरतम मे निगूढ रहती है और जो उस काल की स्मृतियो का एक निकाय है जब कि आत्मा साक्षात् विचारो (Ideas) पर उतराती रहती थी। इस सिद्धान्त के अनुसार हम सब विचारो (Ideas) को स्मरण करते हैं, और व्यक्तियो मे दीख पडने वाले भेद का आधार उनकी स्मृतियो की अपूर्णता पर निर्भर है।

प्लेटो का अव्यक्तीभूत तत्त्व-निकाय की स्मृति के सिद्धान्त मे हमे परपरीण विचारधारा का प्रतिफलन स्पष्ट दीख पडता है। इसमे सदेह नही कि प्लेटो और आदि मानव के बीच का समय एक बहुत बडा अन्तर है फिर भी इन दोनो की विचारधारा मे एक प्रकार की सततता बनी हुई है। प्लेटो के विचार-विषयक सिद्धान्त मे मानव को उस देशकालानवच्छिन्न समय की स्मृति सजीव करनी होती है जो कि सब देशो के सब जनो मे एक समान समान्य है और जिसका उद्भावन सत्य एव सत्ता के सद्बोध के लिये सुतरा आवश्यक है। प्लेटो की न्याईं आदि मानव भी व्यक्तिगत स्मृतियो को महत्त्व न देकर सार्वजनिक देवकथा को महत्त्व देता है, वह व्यक्तिगत इतिहास को महत्त्व न देकर आदर्श इतिहास की उद्भावना करता है।

आदि-परंपरा मे स्वर्ग की ललक

अफ्रीकन लोगो की आदिकालीन सर्ग-विषयक देवकथाओं का सार ग्राउमान के शब्दों मे यो है .उस युग का मानव मृत्यु से अछूता था, वह पशु-पक्षियो की बोली समझता था और उनके साथ मिल-जुलकर रहता था, उसे काम नही करना पडता था, और भोज्य उसे अनायास मिल जाता था।

अफ्रीकन लोगो की सर्ग-विषयक यह धारणा थोडे-बहुत भेद के साथ सभी लोगो मे पाई जाती है। अफ्रीकन देवकथा के दो पक्ष ध्यान देने योग्य हैं पहला, धरती और स्वर्ग का सामीप्य, और दूसरा धरती से स्वर्ग तक पहुचने का एक साधन—जैसे कि सीढ़ी या कोई वृक्ष अथवा कोई ऊचा पर्वत। अफ्रीका का मानव धरती से उठ कर स्वर्ग पहुचने के लिये और वर्तमान से उन्मुक्त हो सुदूरातीत मे प्रवेश पाने के लिये भाँति-भाँति के प्रयत्न करता है। दारुण यातनाए सह-सह कर वह अपने शरीर को लोहा बना लेता और अपने मन को वश मे कर लेता है। तदुपरान्त भावनाप्रवण प्रहर्ष के उन्माद मे उड़ता-उड़ता वह अभिलषित स्वर्ग पर जा पहुँचता है। अपनी उस मस्ती की झूम मे वह पशु-पक्षियों की बोली बोलता और उसे

भलीभाति समझता है। और क्योकि पशुपक्षी जीवन के रहस्य को भापते, अमरता के तत्त्व को देखते और प्रकृति के अन्तरात्मा को चीह्नते है इसलिये इनका प्रेमी शमन भी इनके संसर्ग से इन सब बातो को अनायास ही पा लेता है। पशुपक्षियो के प्रेम की सीढी पर चढकर एक शमन सहज ही स्वर्ग की परिधि मे जा पहुचता है, जहा कि एक दिन पशुपक्षियो एव मानव का निकट सपर्क सक्रिय था और जहा स्वेच्छाचारिता एव स्वातन्त्र्य सही मानो मे बिखरा पडा था। दूसरे शब्दो मे एक शमन भावना-भरित प्रहर्ष के उल्लास मे उडकर धरती को नीचे छोड देता और एक सीढी अथवा वृक्ष द्वारा स्वर्ग मे जा पहुचता है। यह सीढी और तरु स्वर्गीय स्तम्भ अथवा वृक्ष के प्रतीक हैं। हमारा वेद यज्ञिय वेदी एव यज्ञिय काष्ठ को *भूमि की नाभि बताता है, यह यज्ञिय काष्ठ अथवा यूप भूमिमध्यस्थित एक सीढी है,* जिसके द्वारा एक याजक स्वर्ग मे पहुच जाता है। सर्ग-सुबन्धी यह ऊर्ध्वमूल और अध शाख तरु भूमि के मध्य मे लहलहाता है और धरती को स्वर्ग के साथ मिलाता है।

नि सदेह जगत् की प्राय. सभी आदिम जातियो मे स्वर्ग की स्मृति और उसकी ललक समान रूप से पाई जाती है और इससे चेतना पाकर हर व्यक्ति स्वतन्त्र, स्वैर बिहार की स्वर्गिक दशा को प्राप्त करना चाहता है और मौलिक पतन के उपरान्त अपने और स्वर्ग के बीच पैदा हुए अन्तर को पाट देना चाहता है।

एक बात और, जिस प्रकार जगत् की सभी आदि जातियो मे और आजकल के सुसभ्य समाज मे स्वर्ग-विषयक भावना समान रूप से पाई जाती है उसी प्रकार यह धारणा भी एक सार्वत्रिक है कि स्वर्ग मे प्रवेश पाने के लिए मानव को अग्नि मे से गुजरना पडता और उस पर आधिपत्य प्राप्त करना होता है। इसी धारणा के कारण एक शमन को भी अग्नि पर आधिपत्य प्राप्त करना होता है, और इस लक्ष्य के लिये वह ज्वलन्त अगारो पर चलता, ज्वलन्त कोयलो को मुट्ठी मे पकड लेता और कभी-कभी जलने कोयलो को खा तक जाता है। स्मरण रहे कि आदि मानव की दृष्टि मे प्राणात्माओ (Spirits) का अग्नि पर आधिपत्य होता है; *और अग्नि पर आधिपत्य पा लेने के उपरान्त एक शमन भी प्राणात्माओ मे समिलित* हो जाता है।

उक्त बातो का सार निकलता है कि क्या आदि मानव और क्या आज के सुसभ्य वैज्ञानिक स्वर्ग के प्रति लालसा सभी मे *एक समान जागरूक* रहती है और *सभी समान* रूप से वर्तमान के चगुल से बचकर कालानवच्छिन्न महाकाल मे प्रवेश पाना चाहते और उसके द्वारा क्लेशजजाल से मुक्त होना चाहते हैं।

आदिम समाज का भावनामय अनुभव

आदिम समाज के कतिपय व्यक्ति प्रहर्षोल्वण अनुभवो मे विशेषता प्राप्त करके अपने-अपने समाज को भाति-भाति के करिश्मे दिखाते रहे हैं। ये व्यक्ति शमन होते, भाडने वाले भगत होते और अलमस्त अवधूत होते हैं और ये अपने अपने समाज के नेता माने जाते है।

इस कोटि के अलमस्तो का रवैया अजीब प्रकार का होता है। ये बहुधा एकान्त भजते, भाति-भाति के स्वप्न देखते, अनहोनी बातें निहारते, यहा तक कि सोते समय भी गाने गाया

करते हैं। कभी-कभी ये लोग उन्मत्त होकर हिंसा के काम कर डालते, तरुवल्कलो को खाने लगते, अपने आपको नदी तालावों मे फेंक देते, आग पर पड जाते, और अपने शरीर को घायल कर डालते हैं। अपनी दैवी मस्ती मे झूमते हुए कभी-कभी ये शाश्वत तत्त्व की झाकिया तब ले लेते है; और तब ये वर्तमान की परिधि से छूटकर कालानवच्छिन्न महाकाल की झाकी लेते और व्यक्ति के पीछे छिपी समष्टि का दीदार पा जाते हैं। तब ये अपने वर्तमान जीवन से नजात पा जाते और तब ये एक नया चोला पहर लेते हैं, जिसपर अतीत के जन्मजन्मान्तरो की छाप लगी होती है।

संक्षेप मे किसी भी अवधूत सन्त की अलवेली मस्ती का राज उसके अपने वर्तमान जन्म को नष्ट करके नवीन जन्म धारण कर लेने मे है, ऐसा जीवन जिसमे कि इन्द्रियाँ यातुरञ्जित धर्मदर्शी इन्द्रियो मे बदल जाती हैं। योगी की ये सिद्धिया उसे जन-समाज से पृथक् करके एक नवीन स्तर पर ला बिठाती हैं। प्राणायाम, आसन और समाधि से इन सिद्धियो की परिपुष्टि होती है और एक योगी अपनी इच्छा से मर सकता और मन-चाहा चोला धारण कर सकता है।

कहना न होगा कि इन सभी सिद्धियों का प्रमुख लक्ष्य स्वर्ग-प्राप्ति करना रहता है। अपनी समाधि के ज्वलन्त शिखर पर बैठा हुआ योगी चन्द्रमा, सूर्य एव अन्य सभी ग्रहोपग्रहो की यात्रा कर सकता और वहा बिखरे स्वर्ग का आनन्द लूट सकता है। दूसरे शब्दो मे वह अपनी उद्दीप्त इन्द्रियो द्वारा ऐसे लोक मे पहुच जाता है जो हमारी चर्मेन्द्रियो से परे है और जिसे हम स्वर्ग के नाम से पुकारते हैं। ऐसा योगी शरीर मे बधकर भी शरीर के बाहर रहता और अनायास ही लखो और कोटियो कोस उड जाता है।

सभी देशो के शमनो और अलमस्त सन्तो की परा विभूति आकाश मे स्वर्ग की ओर उडना होती है। इसीलिये योगियो और सिद्धो को बहुधा पक्षी कहा जाता है। हमारी आख्यायिकाओ मे बार-बार आनेवाली उडानो का रहस्य इसी बात मे है।

शमनों और योगियो की इस प्रकार की उडान का और उनके ऊपर की ओर चढने का आशय उनका इन्द्रियातीत विषयो का परिज्ञान है। तभी तो ऋग्वेद (6 9 5) मन को सब से तेज़ उडने वाला पक्षी बताता है और तभी पञ्चविंश ब्राह्मण (IV 1 13) कहता है कि जो "व्यक्ति ठीक-ठीक समझता है उसके पर होते हैं।" बौद्धो के अर्हत् और जैनियों के तीर्थंकर इसी आत्मिक ज्ञान से सपन्न हैं और हमारे कामचारी योगियो की तो निधि ही इस प्रकार की सिद्धि रहती आई है। चुटकी मे अन्तर्धान हो जाना और लहमे मे वर्तमान चोले को उतारकर नवीन शरीर मे प्रवेश कर जाना इनके बाए हाथ का काम होता है। कामचारी होने के कारण ही हमारे ब्रह्मद्रष्टा ब्रह्मरन्ध्र के मार्ग से प्राण छोडते बताये जाते हैं, और याद रहे कि यहा ब्रह्मरन्ध्र से जगत् की नाभि, अथवा आकाश का मध्यवर्ती उच्चपद, अथवा कालातीत महाकाल अभिप्रेत हुआ करता है।

उडने और ऊपर आरोहण करने का आशय परम स्वातन्त्र्य एव सर्वातीतता (transcendence) को प्राप्त करना होता है। और यही भाव है बुद्ध के उन सप्त पदो का जो कि उसने उत्तर की ओर भरे थे। अपने इन सात पदो को भरकर बुद्ध सत्ता के परम तुङ्ग पर

जा पहुचे थे और वहा खडे होकर वे बोल उठे थे "मैं जगत् के तुग पर हू, मैं जगत् मे सर्वश्रेष्ठ हू" (मज्झिम निकाय III P 123)। अपने सात पगो द्वारा बुद्ध सात आसमानो को पार कर जाते और तब वे एक ऐसे बिन्दु पर पहुचते है जो उच्चता की पराकोटि है और जो देश-काल की उपाधि से सुतरा उन्मुक्त है। स्वर्गलाभ के पश्चात् सर्वातीतता का अनुभव बुद्ध से बहुत पहले ब्राह्मण तापस कर चुके थे, तभी तो शतपथ ब्राह्मण (VI 2 5 10) यज्ञ को स्वर्ग की ओर जाने वाला पोत बताता और यज्ञ-प्रक्रिया को 'दूरोहण' अर्थात् कठिनता से चढने योग्य बताता है। तैत्तिरीय सहिता (1 7 9) मे याजक यज्ञ करने के उपरान्त घोषणा करता है "मैं स्वर्ग में पहुच गया हू, मैं देवताओ मे मिल गया हू और मैं अमर बन गया हू। उसी सहिता मे आगे आता है (VI 6 4 2) कि याजक स्वर्ग पहुचने के लिए एक सीढी लगाता है, वह वहा पहुचने के लिये एक पुल बनाता है।" ऋग्वेद का वह मन्त्र तो सर्वविदित है ही जिसमे ऋषि कहता है "मैंने सोम पी लिया है और मैं अमर बन गया हू।"

स्वर्ग की ओर ले जाने वाले बुद्ध के सात पद विश्व के सभी आदि मानवो की पुराण गाथाओ मे मिलते हैं। उदाहरण के लिये लीजिये साइबेरिया का शमन स्वर्ग तक पहुचने के लिए भूर्जवृक्ष के तने मे सात घावडे खोदता है और उनमे पैर टेकता-टेकता स्वर्ग मे जा पहुचता है। इस प्रकार की परिपाटिया अन्य देशो मे भी मिलती हैं, जहा कि सात पदो से जगती की सात स्टेज अथवा सात स्तर अभिप्रेत रहते है, जो कि एक दूसरे के ऊपर है और जो सात ग्रहीय स्वर्ग है, जिनका उच्चतम तुग उत्तर दिशा मे अथवा ध्रुवतारा मे माना जाता है, और यही सभवत जगती का केन्द्र भी है और यही से सभवत कालानवच्छिन्न महाकाल से सर्ग रचना की पौ फूटी थी। सर्ग रचना के उसी उच्चतम शिखर पर पहुचकर बुद्ध भगवान् ने घोषणा की थी "यह मैं हू जो कि जगती के शिखर पर हू। मैं ही सबसे पहला हू, क्योकि सर्ग-प्रक्रिया के पूर्व्य बिन्दु पर पहुच कर बुद्ध पूरी तरह जाग उठते और सर्ग-प्रक्रिया के आदि बिन्दु के समकालीन बन जाते है। तब वे समय की परिखा को पारकर जाते और सर्ग-रचना के उस महाकाल पर आ लगते हैं जो कि सभी प्रकार की क्रियाओ से पहले का है। बुद्ध की मुक्ति यही है और एक जीवन्मुक्त की मुक्ति इसी प्रकार की हुआ करती है।

सत्ता के उच्चतम शिखर से सर्ग रचना होने का भाव भारत तक ही सीमित न रहकर अन्य देशो मे भी आमतौर से पाया जाता है। सेमेटिक विचारधारा के अनुसार जगत् का प्रारम्भ नाभि से हुआ है, और निश्चय ही जगत् की नाभि अथवा उसका केंद्र उसका सबसे अधिक प्राचीन भाग है, और इस प्रसग म प्राचीनता से हमारा अभिप्राय है महाकाल से। उसी भावना के अनुसार वृद्ध के वार्धक्य से अभिप्रेत है वृद्ध का सत्ता के उस बिन्दु पर जा उपस्थित होना जहा से सर्ग-रचना होने जा रही थी और जहा खडे होकर बुद्ध ने इसे प्रवृत्त होते हुए अपनी आंखो देखा था।

यज्ञ-प्रक्रिया के द्वारा स्वर्गारोहण भी हमेशा केन्द्र से होता बताया गया है और वेद ने इसीलिये जगह-जगह यज्ञ को जगत् की नाभि बताकर उसका गुणगान किया है और यज्ञिय यूप को जगत् की नाभि मे निमित अर्थात् गडा हुआ बताया है। कालावच्छिन्न वर्तमान काल को छोडकर कालानवच्छिन्न महाकाल मे प्रवेश पा जाने म ही मानव-कर्तव्य की इति-श्री है।

दूरोहण एवं जाग्रत् स्वप्न

सभी जानते हैं कि मानव बहुधा स्वप्न मे अपने आपको नही चढता हुआ पाता अथवा ऐसी हरकतो मे व्यापृत हुआ देखता है जिनका ऊपर की ओर उडान के साथ या ऊपर की ओर आरोहण के साथ सबन्ध रहा करता है। फ्रायड के मत मे इनका मूल अन्तस्तल मे छिपी यौन ससर्गेच्छा मे रहता है। फ्रायड का विचार ठीक हो या गलत, इतना तो निश्चित ही है कि योरप के बहुत से चिकित्सक अपने रोगियो मे ऊपर की ओर पहुचने की समष्टि इच्छा को उद्बुद्ध करके उनका उपचार करने मे सफल होते बताये जाते हैं। ऊपर पहुचने की निलीन इच्छा जब रोगी के भीतर व्यापृत हो उठती है तब वह अपने रोगोपहत देह को तज देता और ऊपर की ओर उठता-उठता उस शिखर पर जा पहुचता है जो देशकाल से अनवच्छिन्न है और इसी लिये रोगादि से भी सुतरा परे है। इस इच्छापूर्वक मर जाने और फिर जीवन धारण करने मे ही मानव के ऐतिह्य की पराकाष्ठा है।

धर्म के इतिहास मे शक्ति और पावनता

१६१७ मे मार्बुर्ग विश्वविद्यालय के प्राध्यापक रुडल्फ ओटो ने 'दास हाइलिगे' नाम की एक पुस्तक लिखी थी जो समय पाकर अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई और जिसकी पाश्चात्य विचारधारा पर सदा के लिये अमिट छाप पड गई।

इस पुस्तक मे रुडल्फ ओटो ने बताया है कि एक साधक का भगवान् दार्शनिको के ब्रह्म से और प्लेटो के विचार या Idea से मूलतः भिन्न प्रकार का होता है। वह एक दारुण शक्ति होती है जो परमात्मा के क्रोध म और उसके भय मे विकसित हुई है—क्योंकि हर साधक उस पावन शक्ति के सामने थर्राता और उसकी महनीयता से दहशत खाता है। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि भक्त के भगवान् से भय अथवा धाक की किरणें फूटा करती हैं जिनके समुख एक साधक बलात् झुक जाया करता है। वह पावन शक्ति हम से सुतरां भिन्न प्रकार की है, वह हम से हर तरह अलग है। उसमे और हममें किसी भी प्रकार की समता नही है। उसके समुख मानव एक नाचीज है, जेनेसिस (18 27) के शब्दो म वह 'निरी खाक और राख है।'

ओटो के अनुसार वह महनीय शक्ति अपने आपको मानवीय एव प्राकृतिक सभी शक्तियो से सुतरा भिन्न प्रकार से प्रकट करती है। यह सही है कि उसके वर्णन मे हम अपनी मानवीय भाषा का प्रयोग करके उसे अपने समीप-सी, अपने से मिलती-जुलती-सी दिखाने लगते हैं—किंतु सच पूछो तो वह हमारी भाषा की पहुच के बाहर है—क्योंकि वह हम से मूलत भिन्न प्रकार की है।

वह पावन तत्त्व अपने आपको शक्ति, ऊर्जा, अथवा विभूति के रूप मे प्रकट करता है—और विश्व के सभी धर्मो का *इतिहास उस तत्त्व से विकसित हुए भाजमान तत्त्वो के* इतिहास के सिवाय और क्या है ? *वह शक्ति एक पाषाण के रूप मे, एक वृक्ष के रूप म, और* सब से बढ़-चढकर *एक मानवीय अवतार के रूप मे प्रकट हुआ करती है।*

उस पावन तत्त्व के विकसित रूप भिन्न-भिन्न जातियो मे भिन्न भिन्न प्रकार के हो सकते

हैं। किंतु एक बात जो इन सब मे समान रूप से पाई जाती है, यह है कि हैं ये सभी उसी एक दारुण परम तत्त्व के प्रदर्शन, जो हमसे मूलत. भिन्न प्रकार का है और जो इन विकासो के द्वारा और इनके रूप मे अपने आपको देशकाल द्वारा परिसीमित किया करता है। असीमित का इस प्रकार सीमा मे बधना ही आश्चर्य की परा कोटि है; किंतु इस प्रसग मे इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि भले ही उस परम शक्ति ने अपने आपको कृष्ण के रूप मे प्रकट किया था, फिर भी हमारा कृष्ण उस शक्ति का सीमित विकास होने के कारण उसकी अपेक्षा कम शक्ति वाला है।

माना

ओटो के सिद्धान्त से मिलता-जुलता दूसरा सिद्धान्त 'माना' का है, जिसके अनुसार जगत् का हर पदार्थ 'माना' ही की शक्ति का विकास है। कालक्रमात् मानावाद के ऊपर दार्शनिको की आस्था इतनी अधिक बढी कि उन्हे धर्म का मूल ही माना के सिद्धान्त मे उद्भूत हुआ दीख पडने लगा।

माना के विषय मे दो एक बातें कह देना अप्रासगिक न होगा। १९वी सदी के अन्तिम चरण मे अंग्रेज पादरी कोड्रिंगटन ने बताया कि मेलानेशियन लोग एक 'माना' तत्त्व की माला-सी जपा करते हैं, जो एक अव्यक्तीभूत शक्ति अथवा प्रभाव है और जो भौतिक नही है। यह शक्ति प्रकृति से बाहर है, फिर भी यह सदैव प्रकृति के किसी रूप मे या मानव अथवा किसी अन्य प्राणी के भ्राजमान रूप मे प्रकट हुआ करती है। यह 'माना' किसी भी वस्तु विशेष के साथ बधी हुई नही है। फिर भी यह किसी भी वस्तु के रूप मे या उसके द्वारा अपने आपको प्रकट कर सकती है। मेलानेशियन लोगो के अनुसार सर्ग-प्रसार भी मौलिक-तत्त्व की 'माना' ही का परिणाम है। किसी जाति या देश का नेता भी इस 'माना' ही के कारण उस जाति या देश का नेता बना करता है।

और क्योंकि माना अपना विकास किसी भी रूप मे अथवा किसी भी प्रकार से कर सकती है इसलिये उसे अव्यक्तिक माना गया है और कहा गया है कि वह अशेष जगती मे व्याप्त है। और इस बात का समर्थन इस तथ्य द्वारा किया गया है कि इरोकुओइस की ओरेण्डा, हुरोन की ओकि, और अफ्रीकन पिगमीज की मेगबे माना से मिलती-जुलती शक्तिया हैं, और इन बातो का स्वारसिक परिणाम यह हुआ कि धर्म का आदि-मूल अब 'माना' को माना जाने लगा। ध्यान रहे कि इस मानावाद का स्थान धार्मिक विकास मे प्राणनवाद से पहले स्तर पर है। प्राणनवाद का आधार आत्मा है जो कि जीवित, मृत, भूत-प्रेत सभी मे आत्मा के रूप मे प्रकट होता है। टेलर के शब्दो म तो धर्म का आदिमूल ही प्राणनवाद में है—क्योंकि उस विद्वान् के अनुसार धर्म के आदि रूप म जगत् को प्राणित रूप मे देखा जाता था और इसके पीछे और इसके भीतर अगणित आत्माए व्याप्रियमाण मानी जाती थीं। किंतु अब दार्शनिको को कोड्रिङ्गटन की 'माना' हाथ लग गई, जोकि अव्यक्तिक थी और जगती मे यहा-वहा हर जगह विकसित हुई दीख पडती थी। परिणाम इसका यह हुआ कि दार्शनिको ने धर्म के मूल को प्राणनवाद के बजाय अब 'माना' मे मानना आरम्भ कर दिया।

किंतु बाद में विद्वानों के अनुसंधानों से ज्ञात हुआ कि स्वयं मेलानेशिया के लोग भी एक शक्तिशाली स्रष्टा परमात्मा में आस्था रखते हैं, जो अपनी असीम शक्ति से इस जगत् को बनाता और अपनी महनीय शक्ति द्वारा अनेक देवी-देवताओं का सृजन करता है। इन सभी देवी-देवताओं में उसी आदि स्रष्टा की शक्ति काम करती है। वह स्वर्गिक देव समस्त विश्व को निहारता और अशेष जगती का नियंत्रण करता है। वह अमित ज्ञान, सत्ता एवं शक्ति का भण्डार है। स्वयं हमारे यहां ऋग्वेद वरुण को जगत् का परम अधिष्ठाता बताता और कहता है कि वह जगती के भले-बुरे सभी पथों को देखता और हमारे निमेषोन्मेषों तक को गिनता रहता है। उसके ज्ञान का अन्त नहीं और उसकी सत्ता का छोर नहीं है।

वरुण जैसे एक जगत्-स्रष्टा में अन्य देशों के आदि-मानवों की भी आस्था रहती आई है। किंतु कालक्रमात् वरुण की कोटि के देवता अपनी शक्ति एवं ज्ञान के असीम होने के कारण मानवीय पूजा अर्चा की परिधि से दूर होते गये—और अब मानव करने लगा ऐसे देवी-देवताओं की ऊहा और वन्दना, जोकि उसके निकट थे और जिनसे वह अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताएं पूरी करा सकता था। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि आदिकाल के प्रभूत देवता धीरे-धीरे धरती से उठते गए और अपनी जगह वे अपने से छोटे देवी-देवताओं को बिठाते गए, जोकि हैं तो उनके अधीन और उनसे छोटे, पर हैं मानव के अधिक पास और इसीलिये उसकी पूजा अर्चा के विषय। उदाहरण के लिये—हेरेरोस लोगों का परम-देव न्याम्बी अब धरती को छोड़ स्वर्ग में जा विराजा है और अपने अनुयायियों को अपने से छोटे देवताओं की देखरेख में छोड़ गया है। परिणाम इसका यह हुआ कि हेरेरोस अपने परमदेव की पूजा करना छोड़ बैठे हैं और उसकी जगह वे छोटे-मोटे रोज के देवताओं की पूजा करने लगे हैं। इसी प्रकार तुम्बुक लोगों का परम-देव आज उनसे कहीं दूर जा पड़ा है और अब उसका उनकी दिनचर्या से किसी प्रकार का संबन्ध नहीं रह गया है। एक्वेटोरियल अफ्रीकावासियों के निम्न गीत में देवताओं की इस निर्माण प्रक्रिया का साफ तौर से प्रतिफलन है :—

"(न्याम्बी) परमात्मा ऊपर है और आदमी नीचे।
परमात्मा परमात्मा ही है और आदमी आदमी ही।
हर एक अपनी जगह है, हर एक अपने घर में है।"

अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। ध्यान देने पर पता चलेगा कि सभी आदिम धर्मों में उनके परम देव पीछे की ओर सरकते चले गये है, और शनैः शनैः उनका जनता से संपर्क छूटता गया है। अलबत्ता गाढ़ा दिन आ पड़ने पर जनता एक बार फिर अपने परम देव ही की शरण लेती है। उदाहरण के लिये—खुश्की लम्बी चल जाने पर अथवा कठोर अकाल पड़ने पर आर्त जनता अपने परम-देव को याद किया करती है। क्योंकि प्रतिदिन के सामान्य देवताओं की पूजा से ऐसे मौकों पर काम नहीं सरता। टियेरा डेलफियेगो के निवासी संतान न होने पर अथवा मरणान्तक रोग आ पड़ने पर स्वर्ग में रहने वाले सेल्कनाम परम देव को स्मरण करते हैं। अन्य देवताओं की मिन्नत समाजत करने पर भी जब काम नहीं सरता तब ओरओन लोग अपने परमात्मा धर्मेश के सामने यह कहकर घुटने टेक देते हैं—'हमने सभी कुछ कर लिया—अब तो धर्मेश! तेरा ही सहारा है।' तब वे धर्मेश का नाम लेकर एक सफेद मुर्गे की बलि

देते और कहते है—'ओ देव ! तू हमारा सिरजनहार है । हम पर दया कर ।'

सार इन बातो का यह है कि कालक्रमात् महान् देव पीछे की ओर सरकते चले जाते है और उनका स्थान मानव के अधिक निकटवर्ती अवर देवता लेते चले जाते हैं, जोकि परम-देव की अपेक्षा कही अधिक विग्रहवान् और करिष्ठ होते है, जैसे कि सौर देवता, प्रभूत देवियां और पुराण पुरखा । और यह देखा गया है कि ये अवर देवता उस-उस जाति अथवा उस-उस देश के समस्त धार्मिक क्षेत्र पर छा जाते है । किंतु दारुण विपद् आ पडने पर सभी देशो की जनता उसी परम देव का आराधन करती है, जिसने कि उन्हे सिरजा है । यह बात आदि-जातियो तक ही सीमित नही है । इतिहास मे एक बार ऐसा समय आया था जब कि यहूदी लोग समृद्धि के मद मे बौराकर अपने परम-देव को भुला बैठे थे और उसकी जगह पडौसियो के देव बाल्स और अस्टार्टेस को भजने लगे थे । किंतु जब उनपर ऐतिहासिक आपदाए घिर आईं तब बाल्स और अस्टार्टेस की पूजा से काम न चलता देख यहूदी लोग फिर से अपने परमात्मा की शरण आये और तब जाकर कही यह्वेह् ने उनकी टेर सुनी ।

एक बात और—आदि-जातियो मे जो देवी-देवता परमात्मा का स्थान लेते हैं वे बहुधा उर्वरत्व, धन-सपत्ति, एव जीवन मे मनोरमता के देवता होते हैं । ये देवता जीवन को प्रभूत एव धन-सपन्न बनाते, सर्ग मे बहार लाते और वनस्पति, शस्य, पशु एव धनधान्य मे प्राचुर्य पैदा करते है । देखने मे सारे ही देवता बलवान् और शक्ति-सम्पन्न है , और यह इसलिये कि धर्म मे उनकी महत्ता का आधार उनकी शक्ति थी, उनकी ऊर्जा थी, उनकी प्रभावशाली उर्वरकता थी । यह सब कुछ होने पर भी सभी आदि-जातियो का, विशेषत यहूदियो का विश्वास था कि दारुण विपत्ति मे उनके ये देवी-देवता, उनके ये सौर एव कृषि-देवता, ये पुरखा, भूत और प्रेत उनकी रक्षा करने मे असमर्थ सिद्ध होते हैं । क्योकि भले ही ये देवता जीवन को फिर से बनाते थे, सर्ग के ढीले चूलो को कसते थे, उसके बिगडे तारो को मिलाते थे—फिर भी ये सर्ग के स्रष्टा नही थे, ये मानव-समाज के निर्माता नही थे, और इसी बात मे उनकी न्यूनता छिपी हुई थी ।

आदि स्रष्टा का स्थान लेनेवाले देवता विशेष-विशेष प्रकार की शक्ति के निधान थे —सक्षेप मे वे जीवनी शक्ति के निधान थे । और क्योकि वे एक विशेष प्रकार की शक्ति के निधान थे इसलिये उनका वह शिवमय धार्मिक पहलू धीरे धीरे नष्ट होता चला गया, जोकि आदि स्रष्टा परमात्मा का अपना था । और ज्यो-ज्यो मानव जीवन की चारुता एव उसके प्राचुर्य की ओर बढता गया त्यो त्यो वह जीवन के उर्वरक देवताओ के जाल मे फसता चला गया और उनसे जीवन को सरस एव सम्पन्न बनाने की प्रार्थनाए बढाता गया । जीवन को प्रभूत बनाने की धुन मे वह जीवन के आदि स्रोत की ओर से पराड्मुख हो गया और उसकी इसी बात मे उसके पतन का रहस्य छिपा हुआ है ।

शक्ति-सपन्न देवता

कहना न होगा कि ज्यो-ज्यो मानव का मन भौतिक विकास की ओर बढता गया त्यो-त्यो वह आदि-स्रष्टा को भूलता गया और उसकी जगह जीवन को सबलाने एव सरसाने

वाले देवी-देवताओ की उद्भावना करता गया—यहा तक कि एक समय ऐसा आ गया जब कि वह वरुण जैसे जगत्-स्रष्टाओ को सुतरा भूल बैठा और उनकी जगह उन देवी-देवताओ को भजने लगा जो कि जीवन को उर्वर बनाने वाले थे और उसमे बहार लाने वाले थे। इस विकास मे जहा और बहुत-सी बातो ने भाग लिया वहा कृषि ने सबसे अधिक हाथ बटाया—क्योकि कृषि का विकास होते ही उभर बैठे वे देवी-देवता, जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से खेती के साथ सबन्ध था—जैसे कि प्रभूत देविया, दैवी माताए और उनके दैवी पति ; और अब बन गये मानवीय पूजा के ये ही देवता अग्रय भोक्ता। स्वय वेद मे ही देखिये—वह पुराना भारत-ईरानी देवता 'द्यौस्' पीला पड गया है। बहुत पुराने युग मे उसका स्थान वरुण ने और झझा के देवता पर्जन्य ने ले लिया था। वरुण और पर्जन्य को इनके पश्चात् उभरने वाले इन्द्र-देव ने पीछे धकेल दिया, और अब बन गया इन्द्र ही वैदिक आर्यों का सबसे अधिक मन-चाहा देवता, क्योकि वह शक्ति, ऊर्जा, वैभव और प्रभव सभी का स्रोत था। इन्द्र मे जीवन की सारी ही सरस लहरिया विद्यमान है , वह जलो को प्रवाहित करता, बादलो को टकराता और सलिल एव रुधिर मे सचार पैदा करता है। वह रसो का स्वामी है और उर्वरता का स्रोत है। फलत वेद ने उसे सहस्र-मुष्क कहकर पुकारा है; वेद उसे क्षेत्रो का पति बताता, धरती का वृष कहता और क्षेत्रो, पशुओ एव स्त्रियो का सेचक बताता है। चाहे हम उसके वृत्रदारक वज्र पर ध्यान दें और चाहे उसकी झझा पर जो कि वर्षा से पहले आया करती है, चाहे उसके मनभर सोम पीने को देखें और चाहे उसके खेतो को उर्वर बनाने और स्त्रियो को पुरध्री करने को, उसमे हमे जीवन की सारी ही प्रभूतिया दीख पडती हैं। उसके हर श्वास मे पूर्णता है, उसकी हर डीग से हेकडी झलकती हैं। जीवन मे सभाव्य सभी सपत्तियो का इन्द्र सबसे बडा निधान है।

एक उदाहरण और लीजिए—मेसोपोटामिया के सबसे अधिक पुराण देवताओ म से एक था अनु, जिसका अर्थ द्यौस् है। ईसा से 4000 वर्ष पहले तक मेसोपोटामिया मे उसी की पूजा प्रचलित थी। किंतु बाद के ऐतिहासिक युग म अनु एक भावरूप-सा सूक्ष्म देवता बन गया और उसकी पूजा उठ गई। उसका स्थान उसके पुत्र एनलील (अथवा बेल) ने लिया, जो कि झझा और प्रजनकता का देवता है और उस प्रभूत माता का पति है जो कि विशाल गौ के नाम से ख्यात है और बेलतू अथवा बेलित नाम से न्योती जाती है। मेसोपोटामिया मे और उससे भी अधिक मध्यपूर्व मे ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहा ऊर्जस्वी देवताओ के पीछे की ओर धकेले जाने के साथ-साथ उनका स्थान उर्वरक देव लेते चले गए हैं, जो कि उस प्रभूत माता के पति होते हैं, जिसका नाम कृषि-देवी है। यह सही है कि उर्वरकता का यह देवता प्राचीन द्यौस् जैसे देवता की तरह एक-प्रभुता-सम्पन्न नही होता और साथ ही यह वैवाहिक बन्धन म भी बधा रहता है। उस सर्गशक्ति का स्थान, जो कि पुराण देवता द्यौस् का प्रमुख लक्षण था, अब दैविक विवाह ले लेता है, और उर्वरकता का यह देवता जगत् का रचयिता न रहकर उसका उर्वरक-मात्र बन जाता है। कतिपय सस्कृतियो मे तो उर्वरकता का यह पु-देवता स्त्री उर्वरक देवी का अनुगामी बनकर हमारे सामने उभरता है—क्योकि इन सस्कृतियो मे जगती के भीतर रसासार प्रवाहित करना स्त्री-देवी का काम है। पुं-देवता

तो उसका प्रेरक या सहायक-मात्र रहा करता है—ठीक वैसे ही जैसे कि साख्य मे पुरुष और प्रकृति। कालक्रमात् इस पु-देवता का स्थान उसका पुत्र ले लेता है और अब यह पुन अपनी माता का प्रणयी बन जाता है। इस श्रेणी के देवता तम्मुभ, अत्तिस, और एडोनिस आदि से पाठक लोग भली-भाति परिचित हैं—इन देवताओ का प्रधान लक्षण है (बलि के रूप मे) मर जाना और मरकर फिर से नवजीवन धारण करना।

ओउरनस (वरुण) की गाथा से यह बात सुव्यक्त हो जाती है कि किस प्रकार शक्ति-प्रधान देवता द्यु-सम्बन्धी देवताओ को पीछे की ओर धकेलते रहे हैं। ओउरनस्—जिसका अर्थ है—द्यौस् और जिसने अपनी पत्नी गेइया से देवताओ को, साइक्लोप्स को और उन्ही के समान अन्य दैत्यो को जन्म दिया था, अन्त मे अपने पुत्रो मे से एक क्रोनोस (काल) के हाथो बधिया बना दिया जाता है। ओउरनस के बधियापन से उसकी कालागत प्रभावहीनता अभिप्रेत है, जिसका दूसरे शब्दो मे आशय हुआ द्यु-सम्बन्धी देवता की कालक्रमात् बल-हीनता। बाद मे ओउरनस का स्थान झीयस ने ले लिया, जिसमे एकच्छत्री सम्राट् एव झझा के देवता दोनो ही के लक्षण विद्यमान थे।

यह सच है कि कतिपय द्यु-देवता अपना महत्त्व बनाये रखने मे सक्षम सिद्ध हुए हैं, किंतु इसके लिये इन देवताओ को अपने आपको एकच्छत्री सम्राट् के रूप मे प्रकट करना पडा है। नि सदेह एकच्छत्रता मे एक विशेष प्रकार की शक्ति है जो कि एक देवता को देववर्ग मे निरिक्त स्थान प्राप्त करने और उसे बनाये रखने मे सक्षम बनाती है। झीयस, जूपिटर, चीनी तियेन, और मगोल लोगो के देवताओ के बारे मे ऐसा ही हुआ है। एकच्छत्रता की भावना अहुर-मज्दा मे भी काम करती रही है, जिसने कि उसे अन्य सभी तद्देशीय देवताओ की अपेक्षा अधिक उन्नत पद दिलाया था। यही बात किसी सीमा तक यह्वेह के विषय मे भी कही जा सकती है, किंतु यह्वेह का व्यक्तित्व एक विशेष प्रकार का प्रकीर्ण व्यक्तित्व है और उसके विषय मे यहा कुछ अधिक लिखना अप्रासगिक-सा प्रतीत होता है।

भारत मे शक्ति-पूजा

हम अभी कह आये है कि आदि-स्रष्टा परमात्मा का स्थान कालक्रमात् उसी के हाथो रचे गये अवर देवताओ ने ले लिया था—क्योकि आदि-स्रष्टा अत्यन्त ऊचा था और द्यु-सम्बन्धी था, जब कि ये देवता उससे निम्न थे, पर थे शक्ति-सम्पन्न। सार इसका यह हुआ कि मानव-विकास के साथ साथ ऊचाई का स्थान शक्ति ले लिया करती है।

शक्ति की यह पूजा भारत मे शाक्त मत के रूप मे विकसित होकर तन्त्रो मे फलभरित हुई है। तन्त्रो के अनुसार शिव निष्क्रिय है, साख्यो के पुरुष की न्याई वह क्रिया से सुतरा अलिप्त है, जबकि शिव की शक्ति, जो सर्गरचना के उपरात उससे पृथक्-सी हो गई थी सभी प्रकार की क्रियाओ एव शक्तियो का अखण्ड स्रोत है। इस परिस्थिति मे एक तान्त्रिक का लक्ष्य होता है—शक्ति की पूजा करना और इस पूजा के द्वारा शक्ति को शिव से युक्त कर देना। किंतु शिव और उसकी शक्ति तो तान्त्रिक की पहुच के सर्वथा बाहर हैं। फलत वह अपने शरीर के भीतर चल रही सर्ग-प्रक्रिया को उद्भावित करके अपने भीतर की कुडलिनी को

जगाता है, और जब यह जागकर ऊपर की ओर चढती और चढते-चढते मस्तिष्क-स्थित शिव से आ मिलती है तब तान्त्रिक को एक अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है; और तब उसके शरीर का निम्न भाग बर्फ की तरह शीतल पड जाता और उसका ऊपरी भाग आग की तरह प्रदीप्त होकर दमकने लगता है। संक्षेप मे एक तान्त्रिक शिव और शक्ति की आदिम सर्ग-रचना का नमूना अपने ही शरीर के भीतर खडा करता और उसके द्वारा सर्ग के आदि-बिंदु पर पहुचकर स्वर्गीय आनन्द का उपभोग करता है। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि तन्त्रविद्या मे भी शक्ति के देवता द्वारा शक्ति से विहीन हुए आदि-देवता को फिर से सबल बनाना होता है।

माता पृथिवी और सर्गीय देवो का विवाह

उमलिल्ला जाति के स्मोहल्ला नामक अमेरिकन इडियन ने धरती पर हल चलाने से *यह कहकर इनकार कर दिया था कि ऐसा करना दारुण हिंसा होगी।* खेती के लिए हल चलाकर अपनी माता की छाती को छेदना महापाप है। खेती के लिये अधिक जोर देने पर वह बोल उठा था : "तुम्हारा मतलब है कि मैं अपनी माता की छाती मे चाकू घुसा दू। यदि मैंने ऐसा *किया तो मरने के बाद वह मुझे अपनी छाती मे स्थान नही देगी और तब मैं उसके पेट मे* प्रवेश न पा सकूगा और इसका मतलब यह होगा कि मैं कभी भी नया जन्म न ले पाऊगा। तुम मुझे घास खोदकर पैसा कमाने के लिये कहते हो—पर तुम्ही बताओ कि मैं अपनी माता के बाल अपने ही हाथो कैसे काट डालू ?"

ये शब्द एक अमेरिकन इडियन ने आज से लगभग ६० वर्ष पहले कहे थे, किंतु इनमे अतीत की अगणित सदियो के धार्मिक दृष्टिकोण का निचोड भरा हुआ है। इनसे ज्ञात होता है कि किस प्रकार एक ग्रामीण मानव धरती को अपनी माता कहकर उसकी पूजा करता है। क्योकि उसका विश्वास है कि उसके आदि पुरखा धरती मे से जन्मे थे और मरने के बाद वे फिर उसी के भीतर पहुच *गए हैं और स्वय उसे भी मृत्यु के उपरान्त इस धरती* ही के पेट मे समा जाना है।

आदि-मानव पत्थरो को धरती की अस्थिया समझता था और वृक्षो को उसके बाल मानता था। उसकी दृष्टि मे धरती जगद् के सभी पदार्थो की माता थी। उसकी देवकथा के अनुसार उसके पुरखा धरती के पेट मे कही बहुत नीचे रहा करते थे। वहा उनका जीवन अर्ध पाशविक-सा था—और वे बहुत कम विकसित हो पाये थे। उन्हे धरती मे से बाहर आने *मे बडी कठिनाइया उठानी पडी थी किंतु अपने अनथक परिश्रम से वे धरती के पेट से बाहर* आ गये और तब धरती के ऊपर जन्म की प्रक्रिया प्रवर्तित हो गई।

आदि-मानव धरती की उदर-दरी से बाहर कैसे आया—इस विषय मे आदि मानवो मे भाति-भाति की कहानिया प्रचलित है। किंतु सार उन सब का इस बात मे है कि आदमी धरती के पेट मे से आया है और मृत्यु के उपरान्त उसे फिर उसीके भीतर चले जाना है। स्वय हमारी रामायण मे सीता माता रामचन्द्र के हाथो *अपमानित होने पर माता धरती के* पेट मे अन्तर्हित हो जाती हैं; और ऐसे अन्य उदाहरणो से हमारे आर्षकाव्य एव पुराण

भरे पडे हैं जहा आविष्ट व्यक्ति धरती को माता कहते और उससे तरह-तरह की दुआए मागते हैं। चीर-हरण के समय स्वय द्रौपदी ने धरती-माता से रक्षा की भीख मागी थी।

धरती को माता कहने की प्रवृत्ति इतनी अधिक सबल एव व्यापक है कि बहुत सी भाषाओ मे तो मनुष्य का नाम ही धरती के नाम पर पड गया है। बहुत सी जातियो मे यह विश्वास आम है कि बच्चा धरती मे से उसकी खोहो मे से, या उसकी छिपी दरारो मे से आता है। धरती के मातृत्व की भावना ही मे देशप्रेम के बीज सनिहित हैं और इसी मे सनिहित है उस भावना के भी बीज जिसके आकर्षण से मनुष्य सदा अपनी ही धरती पर मरना चाहता और मृत्यु के उपरान्त उसी मे समा जाना चाहता है। तभी तो ऋग्वेद (X 18 10) कहता है कि "चला जा फिर उसी धरती मे जो तेरी माता है।" अथर्ववेद (XVIII 4 48) इसी बात को इन शब्दो मे व्यक्त करता है: "तुम, जोकि धरती हो, मैं तुम्हे धरती ही मे फिर से रखता हू।" चीनियो के यहा भी कहावत है कि: "तेरा मास और हड्डिया धरती मे लौट जाय।"

एक समय था जब कि मानव धरतो को सजीव समझता था। तभी तो ड्यूकालियन ने "अपनी माता की हड्डियो को अपने कन्धे पर से इस निमित्त फेंका था कि वह उनके द्वारा फिर से जगत् मे जीवधारी पैदा कर दे। माता की ये हड्डिया धरती के पत्थर थे; और उसका विश्वास था कि इन पत्थरो से जीवधारी पैदा होगे। पत्थर फेंक कर ड्यूकालियन वास्तव मे धरती पर मानवता के बीज बखेर रहा था।

अब यदि धरती सजीव है तो इससे पैदा हुआ भूतजात भी सजीव है और परस्पर भाई-भाई की तरह सबद्ध है। इस अवस्था मे किसी भी पदार्थ का दुरुपयोग करना या उसे क्षति पहुचाना भाई को क्लेश देना है। हमारी वैदिक कहावत—

'मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' का इसी भावना मे रहस्य छिपा हुआ है।

बेबिलोनियन शब्द 'पू' का अर्थ 'नदी का उद्भव' और 'योनि' है। मिश्री भाषा मे 'री' शब्द का अर्थ होता है 'योनि' और 'खान का मुह'। सुमीरियन शब्द 'बुरू' का अर्थ भी 'योनि' और 'नदी' है। अब यदि नदी के स्रोत को जन्म देने वाला धरती का उत्स धरती की योनि है तो धरती की खोहें और उसकी दरारें उसका उदर होंगी—इन दरारो ही मे प्राचीन काल के लोग शवाधान किया करते थे और इन दरी-गृहो ही मे प्राचीन काल का मानव अपना जीवन बिताया करता था और इन्ही के निलीन भागो मे वह अपनी पूजा का सामान सजाया करता था। इन दरी-गृहो के भीतरी भागो मे ही वह अपने देवी-देवताओ की तसवीरें खीचा करता था। बुरु आदि शब्दो से धरती के स्त्रीत्व पक्ष पर तीव्र प्रकाश पडता है।

पृथ्वी-स्त्री और आकाश-पुरुष के विवाह की बात प्राचीन काल से चलती आ रही है; और वेदो मे जगह-जगह इन दोनो के युग्म की रुचिर उत्थानिका की गई है। औउरनस (आकाश) का उसकी पत्नी गेइया (पृथ्वी) से ससर्ग होता है और उससे उत्पन्न होते हैं देवता, साइक्लोप्स तथा विविध प्रकार के दैत्य-दानव। एशिलस अपने दानाइड्स मे कहता है कि "पावन आकाश अपनी प्रियतमा धरती के शरीर मे प्रविष्ट होने के

लिये वातूल हो रहा है।" जगती मे जो भी कुछ है सबकी उत्पत्ति धरती और आकाश के संसर्ग से हुई है।

अत्यन्त व्यापक होने पर भी धरती-आकाश के विवाह की बात सर्व-व्यापक नही कही जा सकती। उदाहरण के लिये आस्ट्रेलियन और फ्युजीयन लोगो की देवकथाओ मे जगत् की रचना एक द्यु-सम्बन्धी परमात्मा करता है और कभी-कभी तो इस रचयिता को शून्य मे से सब कुछ बनाने वाला समझा और बताया जाता है। इन बातो से ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल मे धरती-आकाश के विवाह की बात नही उभर पाई थी और लोगो की धारणा यह थी कि जगती को परमात्मा ने अकेले ही अपने आप रचा है, उसने उसे स्वय अपनी ही शक्ति से सिरजा है। कुछेक आदिमानवो का परमात्मा सर्वशक्तिमान् था। वह अविभक्त था, स्त्री और पुमान् दोनो का समवाय था, वह स्वय ही आकाश था और स्वय ही धरती था। ऐसी धारणा मे देव-विवाह की आवश्यकता नही पडती और परमात्मा स्वय अपनी ही अविभक्त शक्ति से अशेष सर्ग-प्रक्रिया को प्रवर्तित कर देता है। दूसरे शब्दो मे भगवान् की अखडता उसकी 'सर्वता' का बोधक है और सब प्रकार के विरोधों के एकत्र समन्वय का व्यापक है। लिंगभेद से पहली स्टेज होने के कारण यह दशा देशकाल के अवच्छेद से भी परे की है। हमे जब किसी दैत्य या दानव की महिमा स्थापित करनी होती है तब उसे भी हम अखडरूप बताया करते हैं—जैसे कि स्वय आदम को। बेरेशित रब्बा कहा करता था कि "वह दक्षिण भाग मे पुमान् था और वाम भाग मे स्त्री, और परमात्मा ने उसे दो भागो मे विभक्त कर दिया था।" अत्तिस, एडोनीस, और डियोनिसस तो अविभक्त थे ही, साइबेल देवी भी अविभक्त थी। और यह बात है भी सही, क्योकि जीवन तो तभी प्रवाहित होता है जब उसका प्रभव लबालब भर चुका हो और जब उसमे एक बूद भी और अधिक आने की गुजाइश न रह गई हो। नि:सदेह माता के रूप मे धरती की पूजा अत्यन्त प्राचीन है और आकाश की भी पिता के रूप मे पूजा उसी समय से चलती आ रही है। किंतु आदिम देव, जिससे कि यह सर्ग-रचना प्रवृत्त हुई है स्त्री और पुमान् इस लिंग-भेद से परे था, या यो कहिये कि ये दोनो ही लिंग उसमे एक होकर समवेत पडे थे। इस समष्टि को हम "एक नपुसक उत्पादक-सामरस्य" इस नाम से पुकार सकते हैं, और यही कारण है कि हमारा ब्रह्म नपुसक लिंग मे आता है, जबकि हमारे अन्य परमात्मबोधक शब्द पुंल्लिग मे आया करते हैं? हमे जब भी कर्तृत्व की आदिम स्थिति का बोध कराना होता है तब हम अपने शब्दो को नपुसक लिंग म रख लेते है।

इझनगी और इझनमी

ऊपर के तत्त्वो पर निम्नलिखित जापानी सर्गकथा के विश्लेषण से पर्याप्त प्रकाश पडता है। इस कथा का सम्बन्ध धरती-आकाश के विवाह से और माता-पृथ्वी के बलिदान से उत्पन्न हुए वनस्पति-पौधे आदि की रचना से है। जापानी देवकथा का सार इस प्रकार है :

आरभ मे आकाश और पृथिवी—इझनगी और इझनमी—पृथक्-पृथक् नही थे, उन दोनो का समवेत रूप अखण्ड प्रकृति जैसा प्रशान्त पडा था। यह एक अण्डे जैसा था, और

इसके बीच मे एक जीवाणु था। जब आकाश और धरती इस प्रकार समवेत थे तब स्त्री और पुमान् का भेद भी नही था। फलत वह अवस्था परिपूर्ण सामस्त्य की अवस्था थी। समय आया और आकाश पृथ्वी से पृथक् हो गया। उनका यह पृथक् होना ही सर्ग-रचना के वटन का दवना था। इसी रचना से आदिम एकता मे क्षोभ उत्पन्न हुआ था।

सर्ग-रचना इस प्रकार हुई थी, सबसे पहले एक छोटा-सा द्वीप था, जो अस्थिर था, आकारहीन था और समुद्र से परिवेष्टित था—इस द्वीप के मध्य मे एक वेंत या नड खडा था। इस नड से ही देवता उत्पन्न हुए। यह नड ही पृथ्वी का सबसे प्राचीन रूप था। ज्यो ही आकाश और पृथिवी एक दूसरे से पृथक् हुए त्यो ही उन्होने पुरुष और स्त्री का रूप धारण कर लिया।

तीन देवता इझनमी और इझनगी को सर्ग-रचना करने का आदेश देते हैं। वे स्वय सर्ग-रचना मे भाग नही लेते, किंतु वे उसकी प्रक्रिया पर आख लगाये रहते और देखते रहते हैं कि कही किसी से तनिक-सी भी भूल न हो जाय। उदाहरण के लिये—जब आकाश और पृथ्वी का विवाह होता है और विवाह-मन्त्र का उच्चारण पृथ्वी पहले करती है तब ये तीन देवता उसे रोकते और कहते हैं कि वैवाहिक मन्त्र पहले आकाश को—जो कि पुरुष है—बोलना चाहिये। उनसे उत्पन्न हुआ पहला बालक छुईमुई होने के कारण त्याग दिया जाता है—क्योंकि इसे उत्पन्न करते समय वैवाहिक मन्त्र पहले पृथ्वी ने पढा था। किंतु जब इस मन्त्र को पहले आकाश पढता है तब आकाश और धरती के ससर्ग से जापानी द्वीप की और देवताओ की उत्पत्ति होती है। अन्त मे अग्निदेव का आविर्भाव होता है जो गर्भ मे रहते हुए ही अपनी माता इझनमी को जला देता है और वह मर जाती है। अपनी यातना के अन्तिम दौरान मे इझनमी अपने शरीर से अन्य देवताओ को उत्पन्न करती है—विशेषत अप्य जगत् को और कृषि के देवताओ को।

मृत्यु के उपरान्त इझनमी धरती के भीतर चली जाती है। उसका पति इझनगी उसकी खोज मे निकलता है। किंतु धरती के भीतर गहरा अधेरा है और हाथ मारे हाथ नही मिलता, फिर भी इझनगी अपनी पत्नी को खोज निकालता और उसे ऊपर लाने का प्रयत्न करता है। इझनमी उसे दरवाजे पर ठहरने को कहती और प्रकाश दिखाने से रोकती है। किंतु पति का धीरज टूट जाता है और वह टार्च जलाकर अपनी पत्नी के शरीर को सडन की अवस्था म देख लेता और उसे देखते ही भाग निकलता है। उसकी मृत पत्नी उसका पीछा करती है। किंतु इझनगी उसी मार्ग से बाहर निकल आता है जिससे कि वह धरती के भीतर गया था; और बाहर निकलते समय पत्थर से उस रास्ते को वद कर देता है। पत्थर बीच मे आ जाने पर भी पति पत्नी कुछ देर आपस मे बात करते है। इझनगी विच्छेद का मन्त्र बोल कर स्वर्ग मे चला जाता है और उसकी पत्नी इझनमी सदा के लिये धरती मे समा जाती है। वहा रहते हुए वह मृतात्माओ की देवी बन जाती है। इसके साथ ही वह उर्वरता की, मृत्यु की, और जन्म की देवी भी बन जाती है।

जापानी कथा कई दृष्टियो से महत्त्व की है (१) इसके अनुसार आदिम अवस्था मे विषम तत्त्व सम होकर एक स्थान पर समवेत पडे थे, वे एक थे और अखण्ड थे। (२) यह सामस्त्य

आकाश और पृथिवी के विवाह से पहले की अवस्था थी। किंतु इसमे विविधता के बीज सनिहित थे।(३) सर्ग-रचना आकाश और धरती के पृथक् होने के साथ प्रारम्भ हुई; और आदिम बीज ने एक नड का रूप धारण किया जिसमे से देवता उत्पन्न हुए। (४) विवाह की कल्पना उनके पार्थक्य के बाद उत्पन्न हुई, जब कि दो भिन्नलिंगी देवता आपस मे मिले; उनके ससर्ग से देवता पैदा हुए और जगत् की रचना हुई (५) और अन्त मे इभनमी माता अग्निदेव को जन्म देते समय स्वयं मर जाती है और उर्वरत्ता के देव उसके मरे शरीर से जन्म लेते हैं। इस कथा का अन्तिम तत्त्व हमारे लिये महत्त्व का है, क्योकि इसके अनुसार वीरुधो की उत्पत्ति इभनमी के वास्तविक शरीर से होती है, न कि उसके इभनमी के साथ होने वाले संसर्ग से। यह सर्ग-रचना इभनमी के शारीरिक बलिदान से होती है और इस बलिदान मे ही जीवन-प्रक्रिया का सार सनिहित है।

इस कथा पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि सर्ग-रचना दो प्रकार से होती है: एक लैंगिक संसर्ग से और दूसरी शारीरिक बलिदान से; विशेषत उस बलिदान से जो कि अपनी इच्छा से दिया जाता है।

हमारी वैदिक गाथा मे सर्ग-रचना की दोनो ही विधाए दिखाई गई हैं। सब से पहले आदि पुरुष, जो कि सहस्राक्ष एव सहस्रपात् था, अपने आपको बलि चढाता है और उससे जगत् की उत्पत्ति होती है। बाद मे लैंगिक प्रक्रिया चल पडती है और सर्ग की प्रगति अबाध बन जाती है।

उक्त वर्णन से सार निकलता है कि "रचना एक प्राणी को बलि चढाए बिना नही हो सकती; फिर चाहे यह प्राणी एक दैत्य हो, सर्गिक पुमान् हो, माता देवी हो और या एक युवती स्त्री हो।" सर्ग-विषयक यह बात उसके हर स्तर पर लागू होती है: यह लागू होती है सर्ग-रचना पर, मानव-निर्माण पर, मानव-समाज की जाति-विशेष के निर्माण पर, वनस्पति-वर्ग के भेद-विशेष पर और प्राणिजात अथवा प्राणि-विशेषो के निर्माण पर। रचना का रहस्य उसी एक तत्त्व, अर्थात् जीवित के बलिदान मे सनिहित है। इसीलिए सर्ग-रचना कही-य्मिर, कही पान-कु और कही पुरुष की बलि से बताई गई है। बलि के लिये की गई हिंसा हिंसा न होकर उलटी उत्पादक बन जाती है। या यो कहिये कि वध के समय वध्य के अभ्यन्तर सर्ग-शक्ति इतनी अधिक प्रोद्भूत हो चुकती है कि वह उसके घात द्वारा उसमे से फटकर इधर-उधर सक्रिय हो उठती है और उससे रचना सतति प्रवृत्त हो जाती है।

बलिदान से सर्ग-रचना होने की भावना विश्वजनीन है, विशेषत. समाज के उन वर्गो मे, जिनका कृषि के साथ सीधा सम्बन्ध है। भारत के आदिवासी खोण्ड लोगो मे मेरिया और अभटेक्स लोगो मे युवती की बलि उदाहरण के लिये पर्याप्त है।

मेरिया अपनी इच्छा से वध्य बनता है। उसे विवाह करने और सतान उत्पन्न करने की अनुमति होती है और वह जीवन की अशेष सुविधाए भोग सकता है। किंतु उसे आरम्भ से ही उस देवता का स्वरूप मान लिया जाता है जिसको कि बलि चढाई जानी होती है। लोग मेरिया की पूजा करते हैं, उसके चारो ओर नृत्य करते है और रगरलिया मनाते हैं। बाद मे वे भूदेवी से प्रार्थना करते है—"ओ देवी! हम तुम्हे यह बलि चढाते हैं।" और तब

वे वध्य मेरिया से कहते हैं —"हमने तुम्हें खरीदा है, जबर्दस्ती नही पकड़ा। अब हम तुम्हे बलि चढाते है, हमे पाप नही लगना चाहिये।" बलि के दिनो भरपूर नाच-रंग चलता है। समय आने पर वध्य को अफीम देकर बेहोश कर दिया जाता है और तब उसे मार दिया जाता और उसके टुकडे-टुकडे कर दिये जाते हैं। ये टुकडे हर गाव मे बाट दिये जाते हैं, जोकि उन्हे अपने खेतो मे गाड देते हैं। शेष भाग को जला दिया जाता और उसकी राख को जमीन पर बखेर दिया जाता है। साफ तौर से इस बलि मे आदि-पुरुष की उस बलि के लक्षण मिलते हैं, जिससे कि इस सर्ग की रचना हुई थी।

अफ्रटेक लोगो मे खिलोनन नाम की युवती को बलि चढाया जाता था, जोकि मक्का और ज्वार आदि की प्रतीक होती थी। लक्ष्य उसका भी वही था जोकि आदि-पुरुष की बलि का, भले ही उसका प्रकार एव स्तर कितना ही ओछा एव क्षुद्र क्यो न रहा हो।

स्मरण रहे कि धरती जहा सौख्यदायिनी अन्नपूर्णा माता है वहा साथ ही वह भयावह देवी भी है और अपने उस भयावह रूप मे वह मृत्यु की देवी है। अपने मृत्युरूप मे भी धरती-देवी भूत-जात की जननी है, क्योकि भूत मात्र का गर्भ उसी मे है। एक बात और, भले ही हम लोगो की दृष्टि मे मृत्यु एक भयावह देवता हो, किंतु आदि-मानव की दृष्टि मे मृत्यु जन्म ही का दूसरा नाम था, क्योकि उसकी दृष्टि म मृत्यु मे से गुज़रे बिना नवीन जन्म पाना असभव था। आदि-मानव की दृष्टि म तो मृत्यु जन्म का ही दूसरा पक्ष था। फलत जहा धरती सब भूतो की जननी होने के कारण पूजा की पात्र थी वहा वह प्राणिमात्र की मृत्यु-देवता होने के कारण भी मानवमात्र की पूजनीय समझी जाती थी।

यहा तक हमने देवकथा के उद्भव और उनके मूल तत्त्वो एव घटको पर विचार किया है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार मानव स्वर्ग की स्मृति मे तडपता हुआ फिर उसी की ओर लौट जाना चाहता है और किस प्रकार वह स्वर्ग मे बसनेवाले देवताओ की कथाओ को कहता, सुनता और उनके माध्यम से एक बार फिर स्वर्ग मे पहुच जाना चाहता है। और क्योकि स्वर्ग द्यु-स्थानीय है, इसलिये मानव ने द्यु सबन्धी देवताओ की कल्पना की, जिन्होने कि इस जगत् को रचा था और जो इसे आज भी सभाल रहे हैं। किंतु द्यु स्थानीय देवता मानव की पहुच से बाहर थे, इसलिये उसने अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप शक्ति के देवताओ की कल्पना की, और कालक्रमात् इन देवताओ ने द्यु स्थानीय देवताओ को पीछे धकेल दिया। दूसरी श्रेणी के इन देवताओ से ऐसे देवताओ का आविर्भाव हुआ जो कि मानव के बहुत पास थे और जिन्हे वह अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये जब चाहता था, बुला लेता था। वैदिक देवशास्त्र के अन्त मे आनेवाले देवता इसी कोटि के हैं। भूतमात्र की माता होने के कारण धरती को भी देवी माना जाता था और जहा वह एक ओर अन्नपूर्णा देवी थी वहा दूसरी ओर वह मृत्यु की भी देवी समझी जाती थी।

वैदिक देवशास्त्र मे देवताओ के उत्थान का क्रम कुछ इसी प्रकार का रहा है और यद्यपि उसमे अनेक द्यु-स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय एव पृथिवी स्थानीय देवताओ का विवेचन हुआ है, फिर भी उसी प्राचीन युग मे वैदिक ऋषि इन अनेक देवताओ के पीछे एक व्यापक देवता की कल्पना कर चुके थे, जो वास्तव मे एक था, किंतु नाम जिसके अनेक थे। इस प्रकार

वैदिक ऋषि अनेकता से चलकर एकता के विन्दु पर आ पहुचा था और इस तत्वज्ञान के द्वारा उसने एकता को खण्डित करने वाली माया (मा अवखण्डने) का निराकरण कर लिया था। उसकी दृष्टि मे शिव से पृथक् हुई शक्ति शिव से जा मिली थी और इस शिव और शक्ति के सम्मिलन के दर्शन मे ही मानवीय जीवन की इतिश्री है।

पुरातत्त्व के प्रकाश मे देवकथा

किंतु पुरातत्त्वानुसधान की दृष्टि से देवकथा का आरम्भ द्यु-स्थानीय देवताओ से न होकर पृथ्वी-स्थानीय धरती-देवी के साथ हुआ है, जो कि भूतमात्र की जननी एव धात्री है और जिसमे भूतमात्र को मृत्यु के उपरात समा जाना है। पुरातत्त्व के अनुसार द्यु-स्थानीय देवताओ का विकास बाद मे होता है और कुछ काल तक स्त्री और पुमान् दोनो कोटि के देवता चलते और बाद मे एक पुमान् देवता ही सबका मूर्धन्य बन जाता है, यहा तक कि वह अन्य सभी देवताओ को आत्मसात् कर लेता है, जैसा कि यहूदी यह्वेह, अहुर-मज्दा और मिथ्रास की कथाओ से व्यक्त होता है।

इस प्रसग मे निकट-पूर्व एव उसके आसपास के क्षेत्रो मे विकसित हुए देवी-देवताओ के विकास पर एक विहगम दृष्टि दौडा लेनी आवश्यक प्रतीत होती है।

इस बात पर *आज के विद्वान् सहमत हैं कि उन सभी सभ्यताओ का जन्म मेसोपोटामिया, एशिया माइनर, सीरिया, ईरानी प्लेटो और मिश्र मे हुआ था, जिनसे कि आगे चलकर, ईसा से ५००० बरस पहले उत्तर-पाषाण युग एव ताम्रपाषाण युग मे, जब कि मानव शनै शनै* पाषाण को छोडकर धातुओ के प्रयोग पर आ रहा था, ऐतिहासिक एव अर्ध-ऐतिहासिक सभ्यताए निकली थी। जेरिखो एव उत्तरी ईराक के कलात जरमो नामक स्थानो के निरीक्षण से तो ज्ञात होता है कि पलस्तीन और मेसोपोटामिया म ईसा से ६००० बरस पहले एक प्राड्मृत्पात्र उत्तर-पाषाणयुगीय सभ्यता उभर चुकी थी, जिसम शव-सस्कार एव उर्वरता से सबद्ध कर्मकाण्ड का पर्याप्त रूप से विकास हो चुका था।

हाल के कुछ बरसो म मेसोपोटामिया, मिश्र एव पश्चिमी एशियाई सभ्यता के विषय मे हमारे ज्ञान की पर्याप्त वृद्धि हुई है और इस बात का निश्चय हो गया है कि धर्म का विकास कृषि के माध्यम से और उसी के चहु ओर हुआ है, विशेषत मानवीय विकास के उस स्तर पर जब कि वह शिकार से हटकर खेती पर आ रहा था और उसके साथ-साथ पशुपालन का धधा भी किया करता था। और उस परिस्थिति म जब कि जीविका का आधार शिकार था, मछली पकडना था और फल एव कन्दमूल थे। यह बात स्वाभाविक थी कि मानव का ध्यान जीवन मे दीख पडने वाली मातृता, जनन, एव वर्धन की ओर आकृष्ट होवे और इन सबसे बढकर मृत्यु की ओर जिसे वह प्रतिदिन आती देखता था किंतु जिसके आने पर वह हैरत मे पड जाया करता था।

प्रतिदिन सामने घटने वाली इन प्राकृतिक एव मानवीय घटनाओ के चहु ओर जादू-टोना-रञ्जित कर्म काण्ड का उभर आना स्वाभाविक था, जिसके द्वारा मानव इन घटनाओ पर अपना नियन्त्रण रखना चाहता था।

सक्षेप म निकट-पूर्वीय प्राचीन सभ्यता की प्राड्-पाषाणयुगीय पृष्ठभूमि को देखकर

जाने लगा और पीरामिड-लेखो मे उसी को जीवन, वर्षण, प्रजनन और पुनर्जन्म का और फेरोग्राह की पवित्रता का उद्भव बताया गया। किंतु मूलत. वह आकाश का देवता था। और यद्यपि आदि मानव-समाज का ध्यान पहले-पहल अपनी भोज्य-सामग्री एव उसके उपकरणो पर गया और उनके प्रसग मे उसने अनेक देवियो की उद्भावना कर डाली, तथापि भोज्य की ओर से निश्चिन्त हो जाने पर ज्योही उसका ध्यान जगत् के सृजन की ओर गया त्योही उसने उसके स्रष्टा एव परमात्म-देव की कल्पना कर डाली।

सभी जानते है कि हेलियोपोलस मे प्रथम राजवश से पूर्व रे की सूर्य-देव के रूप मे पूजा चल पडी थी, किंतु जब उसका अतुम के साथ समन्वय हो गया तब उसे प्रकृति की अशेष शक्तियो, विभूतियो एव उत्पादक शक्तियो का स्रोत माना जाने लगा, यहा तक कि कालक्रमात् वह सभी देवताओ का मूर्धन्य बन गया।

मिस्र की अपेक्षा मेसोपोटामिया का इतिहास कही अधिक छितरा हुआ है—क्योकि यहा एक के बाद दूसरी जातिया आती रही और अपनी-अपनी संस्कृतियो को लाती रही। ईसा से ३००० बरस पहले सुमेरियन लोग इस देश मे आये और अनु के अधीन एक देव-वर्ग को साथ लेते आये। अनु का अर्थ 'आकाश' है; और नाम इसके वही है जो ग्रीस मे भीयस के और रोम मे जूपिटर के थे। नम्मू, जो कि आदि-समुद्र का नाम है, उसने जगत् को रचकर धरती और आकाश को सिरजा, जिनका अनु ने तुच्छ मे से उद्धार किया और इसके द्वारा जगत् मे समञ्जन पैदा किया—क्योकि आकाश मे उसकी सत्ता परम थी, वह देवी-देवताओ का पिता था और अशेष जगती के राजा-रानियो का आदर्श था। उसका स्थान बाद मे माडूंक ने ले लिया और तब सारे देवताओ ने अपनी शक्तिया उसे सौंप दी। एनलील, जो कि झझा का देवता था, तूफान पैदा करके मानव-समाज से परमेश्वरीय नियमो का पालन कराता था।

एआ अथवा एनकी, जो कि धरती और पाताल का स्वामी था, मानव का उपकारी देवता था। सलिल और समझदारी का देवता होने के नाते वह प्रतिभा, विद्वत्ता, दूरदर्शिता आदि का अधिष्ठाता था और उसी ने उतनपिस्तम को भावी महा-जल-प्लावन की सूचना दी थी और एक नौका बनाकर उसमे बैठ अपने आपको बचा लेने की सलाह दी थी। एआ ने अपनी बुद्धिमत्ता माडूंक को दे दी और माडूंक ही आगे चलकर देवताओ का मूर्धन्य बना।

इजराइल मे यह्वेह सत्ता एव शक्ति का परम अधिदेव बनकर उभरा, जो कि बादलो पर उडता, वर्षा बरसाता, बिजली मे चमकता, तन्यतु मे गरजता, और इतर देवताओ और दैत्यो से युद्ध करता है। धरती को उसी ने रचा है और विश्व म ऋत का प्रसार भी उसी ने किया है। युद्ध मे उसने मृत्यु पर भी विजय पाई है। इजराइल के लोग अन्य देवताओ की भी पूजा करते थे, किंतु जातीय मुसीबत आ पडने पर वे सदा यह्वेह ही की शरण लेते थे, जैसा कि ईसा से ६०० बरस पूर्व देश-निकाले के समय उन्होने किया था। पलस्तीन ने यह्वेह के रूप मे एक-देववाद की प्रतिष्ठा की और बाद के युगो मे मानव को एक देवता की पूजा करना सिखाया, भले ही वह देव यह्वेह हो, अहुर-मज्दा हो, अथवा सूर्य हो। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि यहूदी, ग्रीक और रोमन देवताओ मे एकता आ गई और इन देशो के देवता या तो एक हुये और या उनमे मौलिक समञ्जन पैदा हो गया।

यह हुई निकट-पूर्वीय देवी-देवताम्रो के उद्भव ग्रौर विकास पर एक ऐतिहासिक विहगम दृष्टि, जिसके ग्रनुसार मानव ने पहले-पहल देवियो की कल्पना की ग्रौर बाद मे देवताम्रो की, जो ग्रन्ततोगत्वा सत्ता एव शक्ति के परम ग्रधिष्ठाता सपन्न हुए। किंतु सभव है देवताम्रो की कल्पना मे क्षेत्र-विशेष के ग्रादमी पहले देवियो की कल्पना करते रहे हो ग्रौर इतर क्षेत्रो के ग्रादमी पहले पु-देवता की कल्पना करते रहे हो। कुछ भी हो वेद मे प्रधानता पु देवताम्रो को दी गई है ग्रौर उनमे भी द्यु-स्थानीय देवताम्रो को। परिणाम इसका यह निकल सकता है कि वैदिक देवशास्त्र का ग्रभ्युदय ऐसे काल मे हुग्रा था जब कि ग्रार्य लोग देवी-पूजा से हटकर पु-देवताम्रो की पूजा पर ग्रा चुके थे—ग्रौर निश्चय ही यह काल मेसोपोटामिया, बेबिलोनिया ग्रादि देशो के देवशास्त्रीय विकास को देखते हुए ईसा से ३००० बरस पहले के ग्रासपास का ठहरता है।

वैदिक देवताम्रो के चारित्रिक स्तर की उच्चता से भी इस बात की पुष्टि होती है। क्योकि जहा एक ग्रोर निकट-पूर्वीय देशो के देवी-देवताम्रो का चरित्र ग्राज के मानदण्ड से देखने पर कुछ ढीला ढाला सा प्रतीत होता है वहा वैदिक देवताम्रो का चरित्र ग्राज के मानदण्ड की दृष्टि से भी ग्रत्यन्त उच्च कोटि का ठहरता है।

हमारी समझ मे वैदिक देव विकास का काल ऐसे युग मे रखा जाना चाहिये जब कि देवियो की पूजा ह्रास पर थी ग्रौर पु-देवताम्रो की पूजा उत्कर्ष पर।

सूर्यकान्त

कहा जा सकता है कि उस काल के मानव का कर्म-काण्ड उर्वरता एवं जन्म-मरण के आधार पर खड़ा हुआ था।

मानव की जीवन-संबन्धी यह उत्कट भावना जीवन-प्रसविनी माता की प्रतिमा के रूप मे अथवा उसके विविध अगो, गुणो एव कृत्यो की पूजा के रूप में प्रकट हुई। ईसा से लगभग ७००० बरस पहले विकसित हुई कृषि एव पशुपालन के स्तर पर जनन आदि की देवी ने ईश्वरवाद का जामा पहरना आरम्भ कर दिया था। बाद मे जब, सभवत. स्टाक-जनन के कारण, जनन-क्रिया मे पुमान् को अधिकाधिक महत्त्व मिलने लगा तब मातृ-देवी को पत्नी के रूप मे पुमान् की सहायिका समझा जाने लगा और कालक्रमात् आकाश-पिता को धरती-माता का पति समझा जाने लगा।

मिश्र मे फेरोआह के (आकाश) पिता के रूप मे पुमान् सूर्यदेव ने अपना महत्त्व अक्षुण्ण बनाए रखा और कभी भी उसे देवी के हाथो निर्बल न होने दिया—क्योंकि मिश्र में जीवन का स्रोत सूर्य को माना जाता था न कि किसी देवी को। फलत सूर्यदेव और फेरोआह अपना-अपना काम अपने निजी बल से करते थे न कि मेसोपोटामिया की तरह किसी देवी के माध्यम से। यहा तक कि हथोर भी, जो कि गो-देवी है, होरस ज्येष्ठ की माता और उसकी पत्नी के रूप मे उभरती है। जन्म की प्रमुख देवी होने के नाते पहले-पहल हथोर होरस ज्येष्ठ की माता थी, पत्नी वह उसकी तब बनी थी जबकि उसे ओसिरिस का तदात्म माना जाने लगा था।

मिस्र मे जीवन के पुनर्भाव को मातृ देवियो का काम समझा जाता था, किंतु मेसोपोटामिया की तरह वहा उन्हे जीवन का प्रभव नही माना जाता था। इसी प्रकार सर्ग-रचना भी मिस्र मे पुरुष-देवो से, अर्थात् रे-अतुम, प्ताह, अथवा ख्नुम से मानी जाती हैं, नुत और हथोर देवियो के हिस्से मे तो जीवन को पुन-बनाना-मात्र रहा है। इसके विपरीत पश्चिमी एशिया मे, मेसोपोटामिया, एजियन और ग्रीस मे जीवित-मात्र का प्रभव पृथिवी-माता को माना जाता था—और पतझड का कारण इस बात को बताया जाता था कि धरती-माता ने अपना पुत्र मर जाने के कारण दुनिया की ओर से अपना हाथ खीच लिया है। सीरिया और क्रीट मे भी मातृ-देवी का महत्त्व अक्षुण्ण बना रहा। समस्त एजियन एव पूर्वी भूमध्य-सागर मे भी देवी-सप्रदाय बराबर चलता रहा।

मध्यभूमि पर झीयस ने योरपा को क्रीट ले जाने के उद्देश्य से वृष का रूप धारण किया, जहा पहुचकर योरपा मिनोस की माता बनी। उसकी पत्नी पसिफए ने वृष के साथ संसर्ग के लिये अपने आपको गोचर्म मे ढक लिया और वृष के ससर्ग से मिनोटोर को जन्म दिया। चन्द्र की देवी सेलन को, जोकि सूर्य की पुत्री है और जिसके साथ पसिफए का सबन्ध है, शृग वाली गो-देवी के रूप में प्रदर्शित किया गया है, और कथा मे आने वाला वृष आकाश-देव है जो कि उर्वरता का देवता है। सक्षेप मे ग्रीस मे मैथुन-प्रदर्शन के द्वारा जीवनदायी शक्तियो को सक्रिय बनाने की परिपाटी थी और इसी मैथुन के प्रतीक हैं—गौ और वृष, धरती और आकाश, चन्द्रमा और सूर्य। प्रतीकोत्थान की इस प्रक्रिया के माध्यम से उर्वरण एव परि-वर्धन से सबद्ध कर्मकाण्ड का उत्थान एशिया माइनर, सीरिया, बेबिलोनिया, मिस्र, पूर्वी

भूमध्यसागर, क्रीट और एजियन प्रदेश मे विकसित हुआ। क्रीट-माइसिनी प्रदेश मे पु-देव बहुत कम दीख पडते है, जबकि स्त्री देविया प्रचुर सख्या मे पाई जाती हैं। सच पूछिये तो विश्व-जनीन मातृ-देवी यहा अनेक रूपो मे मिलती है, किंतु युवा पु-देव उसका भाई, पति, अथवा पुत्र बनकर सामने आता है।

नि सदेह उत्पादक शक्ति का केन्द्र पु-देव को मानने के साथ-साथ देवी के महत्त्व मे कमी आती गई, किंतु पश्चिम एशियाई पूजा परिपाटी फिर भी निकट-पूर्ववर्ती दोला-खण्ड से एनातोलिया और एजियन मे और वहा से आइबीरियन पेनिनसुला और उत्तर-पश्चिम की ओर योरप मे फैलती ही गई, जहा कि इसका सम्बन्ध महापापाण सस्कृति के साथ हुआ। टाइग्रीस से सिन्ध तक के अपने प्रसार मे पश्चिमी ईरान की उपत्यका एव घाटियो के साथ-साथ के टिब्बो पर से एलबुर्भ, मकरान और बलूचिस्तान के उच्च क्षेत्रो पर होती हुई सिन्ध और पजाब के प्रदेशो मे धरती-माता के रूप मे स्त्री-देवी अपने महत्त्व को अक्षुण्ण बनाए रही, और प्राग्-आर्यन परिवर्धन-पूजा ग्राम-देवियो की पूजा के रूप मे समस्त भारत मे फैली और बनी रही, और वह भी बहुत कुछ उसी तरह जैसे कि वह पश्चिमी एशिया मे उभरी और प्रचलित हुई थी, जिसमे कि पु-देव प्राय द्यौष्पितर् के रूप मे धरती-माता के साथ सक्रिय हुआ करता था।

और ज्यो ज्यो मातृ-देवी की यह पूजा प्राचीन कृषि-सभ्यता मे दक्षिण-पश्चिमी एशिया से मिस्र, पश्चिमी योरप और भारत की ओर फैलती गई त्यो त्यो मातृ देवी एव समन्वयात्मक देवी का रूप धारण करती गई और मातृत्व, जनन एव उर्वरण की सभी देविया का स्थान लेती गई। आइसिस देवी इस बात का उदाहरण है, जिसने कि साइट और ग्रीक युग मे देवताओ की माता बन जाने के साथ साथ तत्तद्देशो की अशेष देवियो को आत्मसात् कर लिया था और कालक्रमात् वह देवी-मात्र की प्रतिनिधि बन गई थी, और उसके नाम पर ग्रीक और रोमन जगत् मे, माल्टा, सार्दीनिया, फोनीशिया और दक्षिणी इटली म, यहा तक कि स्वय रोम मे भव्य मन्दिर उभर आए थे।

समन्वय वृत्ति की आदर्श यह देवी कालक्रमात् एक साथ अत्यन्त आकर्षक एव अत्य-धिक पराक्षेपक रूप मे जगत् के समुख उभरी। फलत जहा एक ओर भिन्न-भिन्न देशो की जनता माता के रूप में उसकी पूजा करती थी वहा वे सभी लोग उसके भयावह रूप को देख-कर उससे भय भी खाया करते थे। हमारे देश मे काली माता इस बात का सुन्दर निदर्शन है।

और यदि एक ओर जनन, सवर्धन एव मरण की आधार-भूमि पर खडी हुई मातृ-देवी ससार की सभी देवियो को आत्मसात् करती हुई एक अतुल देवी के रूप मे प्रभ्राजित हुई तो दूसरी ओर जगत् की रचना पर ध्यान जाते ही आदमी ने इस जगत् के आदि-स्रष्टा परमात्म-देव की उद्भावना कर डाली, और अब विकसित हुए जगती के अधिष्ठाता वरुण जैसे पुमान् देव, जिन्हो ने अपनी शक्ति से इस जगत् को रचा था और जो इसके अनिश्चित अधिष्ठाता थे। पु-देव की महत्ता मे धीरे-धीरे चार चाद लगे, फलत अब मातृ-देवियों के सभी लक्षण और उनकी सारी ही विशेषताए इस कोटि के पु-देवो मे समाती चली गई; यहां तक कि आकाश के अधिपति होरस को सृजन, जनन, पुनरुद्भावन आदि सभी बातों का देवता माना

विषय-सूची

VI असुर और राक्षस

VII मृत्यु-विषयक सिद्धान्त

लघुरूप-सूची

अजफि = अमेरिकन जर्नल आफ फिलोलोजी
अफो = आरिशे फोर्शुंगन
अवे = अथर्ववेद
आइले = त्सिमर-रचित आल्तिन्दिशे लेबन
आगृसू = आश्वलायन-गृह्यसूत्र
आप = आपस्तम्ब
आश्रौसू = आश्वलायन-श्रौतसूत्र
इफो = इण्डोजर्मानिशे फोर्शुंगन
इस्तू = इंदिशे स्तूदियन
इस्त्रा = इंदिशे स्त्राइफन
उप = उपनिषद्
ऋवे = ऋग्वेद
ऐब्रा = ऐतरेय ब्राह्मण
ऐरि = मैक्समूलर-रचित ऐंथ्रोपोलोजिकल रिलिजन
ऐसंलि = मैक्समूलर-रचित हिस्ट्री आफ ऐंशियेन्ट संस्कृत लिटरेचर
ओओ = बेनफ़े-रचित ओरियण्ट उन्द ओक्सिडेण्ट
कैऋवे = कैगी, ऋग्वेद
कौसू = कौशिक-सूत्र
गृसू = गृह्यसूत्र
गेगेरा = गेल्डनर, केगी, राथ, सीबेनत्सिग लीडर डेस ऋग्वेद
गोगेआ = गोतिंगिशे गेलेहर्टे आनत्साइगन
ग्राऋवे = ग्रासमान, ऋग्वेद-अनुवाद
ग्राको = ग्रासमान, वोर्टरबुख
ग्रीगोहे = ग्रूपे, ग्रीशिशे गोत्तर उन्द हेरोन
जअओसो = जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी
जराएसो = जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी
जूए = जूर्नाल एशियाटिक
ताब्रा = ताण्ड्यमहाब्राह्मण
तैआ = तैत्तिरीय आरण्यक
तैसं = तैत्तिरीयसंहिता

पब्रा=पञ्चविंशब्राह्मण
पागृसू=पारस्कर-गृह्यसूत्र
पिवेंस्तू=पिशल, वैदिश्शे स्तूदियन
पीवो=पीटर्सबर्ग वोर्तेरबूख
प्रोअप्रोसो=प्रोसीडिङ्ग्स ऑफ़ दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी
प्रोराएसोबे=प्रोसीडिंग्स ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल
फेरा=फ़ेस्तग्रुस आन रॉथ
फेवे=फ़ेस्तग्रुस आन वेवर, गुरुपूजा-कौमुदी
फेवो=फेस्तग्रुस आन वोहर्तलिङ्क
फिरि=मैक्समूलर, फिज़िकल रिलिजन
बेओरि=बेबिलोनियन एण्ड ओरियण्टल रिकोर्ड
बेबाइ=बेत्सनबेर्गर वाइत्रागे
बेरिवैं=बेर्गेन्य, ला रिलिजियो वैदिक
ब्रा=ब्राह्मण
ब्राद्यौअ=ब्राडके, द्यौस् असुर
मागृसू=मानव-गृह्यसूत्र
मैमू=मैक्समूलर
मैसं=मैत्रायणीसंहिता
यवे=यजुर्वेद
यानि=यास्क, निरुक्त
लुअफो=लुडविग, उवर दी नोयेस्तेन आर्बाइतन आउफ देम गेबीते देर ऋग्वेद-फोर्शुंङ्ग (१८९३)
लुऋवे=लुडविग, ऋग्वेद-अनुवाद
लेसालैं=मैक्समूलर, लेक्चर्स ऑन दि साइंस ऑफ लैंगवेज
वाको=वालिस, कोस्मोलोजी ऑफ़ दि ऋग्वेद
वाल=वालखिल्य
वासं=वाजसनेयिसंहिता
वीत्साकुमौ=वियानेर त्साइतश्रिफ्त फ्यूर दी कुन्दे देस मोर्गेनलान्देस (वियाना ओरियण्टल जर्नल)
वेवैबाइ=वेवर, वैदिश्शे बाइत्रागे (ज़िट्सुंग्स बेरिश्ते देर बर्लिनेर अकादमी
शब्रा=शतपथ-ब्राह्मण
शांश्रौसू=शांखायन-श्रौतसूत्र
शेफिहि=शेरमान, फिलोसोफ़िश्शे हिम्नन
शेविलि=शेरमान, विज़ियोन लितराट्यूर
श्पीअपी=श्पीगल, दी अरिश्शे पीर्योद
सारि=मैक्समूलर, साइकोलोजिकल रिलिजन
सावे=सामवेद
सेबुई=सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट
हावैब्रापी=हार्डी, वैदिश्शे ब्राह्मणिश्शे पीर्योद
हिगृसू=हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र
हिवैमि=हिलेब्रान्द्त, वैदिश्शे मिथालोगी
होरिइ=होपकिन्स, रिलिजन ऑफ इंडिया

वैदिक देवशास्त्र

भूमिका

धर्म और देवशास्त्र—

धर्म के अन्दर, उसके अत्यन्त व्यापक अर्थ मे एक ओर तो मानव द्वारा समादृत दिव्य अथवा अतिभौतिक शक्तियो के विषय मे उसकी भावनाए आती है, और दूसरी ओर मानव-कल्याण के उन शक्तियो पर निर्भर होने की उसकी भावना, जिसकी अभिव्यक्ति पूजा के विविध रूपो मे होती है। देवशास्त्र का सबन्ध धर्म के प्रथम पक्ष के साथ है, क्योकि यह शास्त्र उन सभी गाथाओ अथवा कहानियो को प्रस्तुत करता है जो देवताओ एव वीरो के विषय मे कही गई हैं और जिनमें उनके स्वरूप एव उद्भव, उनके कृत्य एव परिस्थितियो का विवरण उपलब्ध होता है। इस प्रकार की गाथाओ का उद्भव विज्ञानशून्य आदि-काल मे उत्पन्न हुए मानव के उन प्रयासो मे निहित है जो उसने अपने समुख प्रवर्तमान प्राकृतिक शक्तियो एव दृश्यो की व्याख्या के रूप मे किये थे। सच पूछो तो इन गाथाओं को आदि-काल के मानव का मन-गढन्त विज्ञान कह दे तो अनुचित न होगा, क्योकि वे उक्तियाँ, जो एक सुविकसित मानव के लिए रूपक के अतिरिक्त और कुछ नही होतीं, आदिकालीन मानव के लिए दृश्यमान घटनाओं की यथार्थ व्याख्या बन जाती हैं। और वे बौद्धिक समस्याए जोकि गगन-पिण्डो के पथ, बादलो की गर्जन, और सुदूर स्थित जगत् के उद्भव एव उसकी रचना के विषय मे की गई ऊहापोह से पैदा होतीं है, इन कहानियों के रूप मे अपना हल पाती हैं। इन गाथाओं का मूल मानव-मन के उस आद्यकालिक अभिवेग मे है, जिससे वह अशेष प्रकृति को चेतन इकाइयों का एक निकाय समझता आया है। सच पूछो तो एक गाथा का जन्म होता ही तब है जबकि मानव अपनी कल्पना से एक प्राकृतिक घटना को मानव जैसे शरीरी देव का कार्य बताकर उसकी व्याख्या करता है। उदाहरण के लिए लीजिए इस बात को—हम देखते हैं कि चन्द्रमा सूर्य के पीछे भागता है, किंतु वह उसे पकड नहीं पाता। यही बात एक गाथा के रूप मे बदल जाती है, जबकि चन्द्रमा को हम एक कुमारी और सूर्य को एक मानव समझें और कहें कि वह कुमारी एक मानव का

पीछा करती है और वह मानव उसका तिरस्कार करता है। ज्योही इस प्रकार की गाथा कल्पना-भरित मानव-वर्ग की सपदा बनती है, त्योही वह काव्य-अलकार के स्तर पर आ लगती है, और जैसे जैसे यह गाथा एक मुह से दूसरे मुह पहुचती है, तैसे तैसे आख्यायक की सूझ से उपजी छटाए उसमे मिलती जाती है। नई-नई छटाओ मे मिलकर गाथा के आधारभूत प्राकृतिक दृश्य धूमिल पडते जाते है और उनका स्थान मानवीय कल्पना का विस्तृत एव मनोरजक निरूपण लेता जाता है। इस प्रक्रिया के दौरान मे जब एक गाथा का प्राकृतिक आधार स्मृति से उतर जाता है, तब उसके मौलिक तात्पर्य से सुतरा असबद्ध नई बाते उस गाथा मे जोड दी जाती है और कभी-कभी तो ऐसी नवीन बाते दूसरी गाथाओ से लेकर इस पर लाद दी जाती हे जिनका असल मे प्रस्तुत गाथा के साथ कोई भी सबन्ध नही रहा था। और जब एक गाथा अपने इस प्रकार से बढे-चढे रूप मे हमारे समुख आती है तब हो सकता है कि उसमे आनुषङ्गिक प्रक्षेप इतनी अधिक मात्रा मे डाल दिये गये हो कि उस गाथा का उचित विश्लेषण करना हमारे लिए न केवल अत्यन्त कठिन अपितु असभव ही बन जाय। उदाहरण के लिए—यदि हमे यूरिपिडीज के नाटको मे आये नृरूपधारी देवताओ ही का ज्ञान हो तो हमारे लिए ग्रीक देवताओ के स्वरूप और उनके कार्यकलाप के मूल आधार—प्राकृतिक तत्त्वो को खोज निकालना कठिन होगा।

वैदिक देवशास्त्र की विशेषताएं—

धार्मिक इतिहास के अध्ययन मे वैदिक देवशास्त्र का अपना निराला ही महत्त्व है। इसके प्राचीनतम स्रोत (ऋग्वेद) मे हमे प्रकृति के मानवीकरण और उसकी उपासना पर आधृत धार्मिक विश्वासो का, विश्व के अशेष साहित्यिक स्मारको की अपेक्षा कही अधिक प्राचीन स्तर प्राप्त होता है। और इसी प्राचीनतम भूत से हमे वर्तमान भारतीयो की विशाल बहुसख्या के धार्मिक विश्वास-बीजो का अनवच्छिन्न रूप से प्रस्फुटन होता दीख पडता है। स्मरण रहे कि भायोरपीय जाति की भारतीय शाखा ही ऐसी शाखा है, जिसकी परपरागत मौलिक पूजा-प्रक्रिया को कुछ सदियो पहले तक विदेशी एकेश्वरवाद न दबा सका था। ध्यान रहे कि भरसक प्रयत्न करके भी वैदिक देवशास्त्र का प्राचीनतम स्तर उतना अधिक आदिकालीन नही बन पाता है, जितना कि किसी समय इसे समझा जाता था, किंतु इस बात मे सदेह नही कि यह इतना आदिकालीन अवश्य है कि इसमे हमे मानवीकरण की वह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से काम करती दीख पडती है जिसके द्वारा प्राकृतिक दृश्य देवताओ के रूप मे परिणत हुए थे। यह प्रक्रिया अपने इस रूप मे हमे विश्व के अन्य किसी भी साहित्य मे नही मिलती। वैदिक देवशास्त्र, और उसी के साथ वैदिक भाषा, इतनी स्वच्छ और पारदर्शक है कि उसमे हमे बहुधा एक देवता का उसके भौतिक आधारवाले नाम के साथ सबन्ध स्पष्ट दीख जाता है। इतना ही नही, अनेक स्थलो पर तो इस मानवीय रूप-रचना का आरम्भिक रूप तक हमारे सामने

आ जाता है। उदाहरण के लिए लीजिए उषा को—यह एक ऐसी देवता है जिसका मानवीकरण-रूप-परिधान अभी तक ढीला-भीना है। और जब अग्नि शब्द से देवता का बोध होता है, तब अग्नि देवता का व्यक्तित्व चहु ओर के प्राकृतिक तत्त्वो से सुतरां घुला-मिला रहता है।

वैदिक देवशास्त्र का मूल प्राचीनकाल से वैदिक युग तक अविच्छिन्न चलते आये उस विश्वास मे है, जो मानव के समक्षवर्ती पदार्थो एव प्राकृतिक दृश्यो को चेतन एव दैवी मानता रहा है। ऐसी कोई भी वस्तु जो मन मे भय पैदा कर सकती थी, अथवा जिसके विषय मे यह भावना बन जाती थी कि उसका मानव पर भला या बुरा प्रभाव पड सकता है न केवल मानव के लिए आराधना का विषय बन जाती थी अपितु वह उसकी प्रार्थना के योग्य भी हो जाया करती थी। फलत. आकाश, पृथिवी, पर्वत, नदी और पौधो तक की उपासना दिव्य शक्तियो के रूप मे चल पडी थी और घोडा, गौ, शकुन-पक्षी एव अन्य पशुओ का आह्वान किया जाने लगा था। यहा तक कि मानव के अपने हाथो बनाये पदार्थ, शस्त्र, युद्ध-रथ, ढोल, हल, एव कर्मकाण्ड के उपकरण—सवन-पाषाण, एव यज्ञस्तम्भ आदि सभी की उपासना सामान्य बन गई थी।

किंतु उपासना के इस निम्न रूप का वैदिक धर्म मे नाममात्र के लिए ही स्थान है। वेद के अपने देव तो यश सपन्न मानवी प्राणी है जो मानवीय उद्देश्यो एव भावनाओ से प्राणित हैं और जो मानव की भाति उत्पन्न तो होते है पर मरते कभी नही। वे, बिना किसी भी अपवाद के, प्रकृति की एजेंसियो अथवा प्राकृतिक दृश्यो के दिव्यीकृत प्रतिरूप है। किंतु मानवीकरण की कोटिया उनकी अपनी अलग-अलग है। जब देवता का नाम वही रहता है, जोकि उसके प्राकृतिक आधार का है, तब व्यक्तीभाव अपनी प्राथमिक अवस्था मे रहता है। द्यौ, पृथिवी, सूर्य और उषस् इसी कोटि के देवता है—क्योकि इन देवताओ के नामों से एकसाथ प्राकृतिक दृश्यो एव उन दृश्यो मे विराजमान देवताओ का बोध होता है। ठीक यही अवस्था कर्मकाण्ड के दो बडे देवता—अग्नि और सोम की भी है। यहा भी मानवीकरण की प्रक्रिया अग्नि तथा यज्ञिय पेय के दृश्य एव स्पर्श्य रूपो द्वारा अवरुद्ध हो गई है, जिनके कि ये दोनो देवता दैवी रूप हैं। जब एक देवता का नाम उसके भौतिक आधार के नाम से भिन्न होता है तब वह (मूलभूत) भौतिक पदार्थ से दूर सरकता चला जाता है, क्योकि ऐसी दशा मे मानवीकरण की प्रक्रिया आसानी से आगे बढ चुकी होती है। उदाहरण के लिए लीजिए मरुद्गण को—ये वायु की अपेक्षा अपने मूल से कही अधिक दूर जा पडे है, यद्यपि वैदिक कवियो को उनके पारस्परिक सबन्ध का ज्ञान अन्त तक भी बना रहा है। और यदि इस नाम-भेद के साथ एक देवता वैदिक काल के पहले युग से चलता आया है तब तो यह पार्थक्य पूरा हो जाता है। उदाहरण के लिए वरुण को लीजिए। वरुण के विषय मे इसके प्राकृतिक आधार का, वेदो की अपेक्षा अधिक प्राचीनकाल से आई गाथाओ की विशेषताओ से अनुमानमात्र हो सकता

है, क्योकि वरुण के विषय मे भावात्मकता की प्रक्रिया इतनी अधिक आगे जा पहुची है कि वरुण का स्वरूप समुन्नत एक-देववाद के दैवी राजा जैसा बन गया है। फिर भी व्यक्तिरूप धारण करने की प्रक्रिया वैदिक देवशास्त्र मे कही भी ग्रीक देवताओ मे मिलनेवाले व्यक्तिभूत मानवीय रूप की अवस्था को नहीं प्राप्त कर पाई है। वैदिक देवताओ को एक दूसरे से अलग करनेवाली विशेषताए इनी गिनी है, बहुसख्यक गुण और शक्तिया तो सब देवताओ मे एक समान हैं। इस बात का एक कारण तो यह है कि प्रकृति के वे विभाग या इकाइया जिनके ये देवता प्रतिरूप है, अनेक बातो मे समान है जबकि अभी ये देवता मानव के रूप मे पूरी तरह विकसित नही हो पाये है। फलत विद्युत् के देवता का (विद्युत् के रूप मे), अग्नि देवता का और तूफानो के देवता का वर्णन समान भाषा मे सभव है, क्योकि वैदिक कवि की दृष्टि मे इन सब का प्रमुख व्यापार पानी बरसाना है। साथ ही यह भी याद रखिए कि विभिन्न वैदिक देवताओ का यथार्थ स्रोत एक ही है, किंतु उन देवताओ मे उस उस सज्ञा के कारण विभेद आ गया है, जोकि किसी ऐसे गुण-विशेष का बोध कराती है जिसने शनै शनै अपना स्वतन्त्र रूप बना लिया है। साथ ही देवताओ के क्रिया-कलाप के विषय मे वैदिक कवियो की उक्तिया भी अस्पष्ट-सी है—क्योकि ऋग्वेद मे इसके अपने स्वरूप के कारण, गाथाओ की ओर सकेतमात्र किया गया है, उनका विस्तार से वर्णन नही। साथ ही जब हम इस बात पर ध्यान देते है कि वैदिक सूक्तो की रचना मे अनेक कवियो का हाथ रहा है और इनकी रचना बहुत लबे काल तक चलती रही है, तब हमे वैदिक देवताओ के विषय मे मिलनेवाली उक्तियो के एकरूप होने की आशा करना वृथा मालूम पडता है।

वैदिक देवशास्त्र के स्रोत—

वैदिक देवशास्त्र का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत भारतीय साहित्य की प्राचीनतम रचना—ऋग्वेद है। इसकी गाथाओ मे विभिन्न महत्त्व के अनेक परस्पर-मिलित प्रकृति-देवताओ का विवरण मिलता है। यह बहु देववाद ऋग्वैदिक काल के अन्त मे उभरती हुई भावात्मकता से प्रभावित होता हुआ इस वेद के दशम मण्डल मे, एक प्रकार के एकदेववाद, अथवा यो कहिए कि सर्वदेववाद (अद्वैतवाद) मे बदल जाता है। और चूकि इस सग्रह का लक्ष्य यज्ञ प्रक्रिया, और उसमे भी विशेषत सोमयाग है, इसलिए इसमे अपने काल की देवशास्त्रीय सामग्री का अनुपात विहीन प्रतिपादन हुआ है। उन महान् देवताओ को, जिनका सोमयागो मे प्रमुख स्थान है, अथवा जो धनवानो की पूजा के भागी है, इस सग्रह मे ऊचा स्थान मिला है, किंतु उन देवताओ को, जिनका सबन्ध प्रेतात्माओ, जादू एव मरणोत्तर जीवन के साथ है, इसमे अपेक्षाकृत न्यून स्थान मिला है, क्योकि इस कोटि के मानव विश्वास का सोमयाग के साथ कोई सबन्ध नही है। साथ ही जहा

इन ऋक्सूत्रो मे—जोकि देवताओ के प्रति आह्वानरूप हैं और जिनमे देवताओ के गुणो का वर्णन है—देवताओ के स्वरूप का निदर्शन पूरी तरह हुआ है, वहा इनमे इन देवताओ के इने-गिने विशिष्ट विजयकृत्यो को छोड इनके इतर क्रिया-कलाप की झाकी अत्यन्त धुधली अवस्था मे हमारे सामने आई है। और यह स्वाभाविक है कि एक याज्ञिक रचना मे, जिसमे कि वर्णनात्मक सामग्री न्यून रहती है, देवशास्त्र के इस पहलू का प्रतिनिधान त्रुटित अवस्था मे मिले। ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलो मे प्रेतात्माओ, छोटे भूतो और भावी जीवन के विषय मे अत्यन्त विकल सूचना मिलती है, किंतु यह कमी, किसी सीमा तक, उसके दशम मण्डल मे पूरी हो जाती है। दसवे मण्डल मे भी, मरने के बाद दुरात्माओ के भाग्य मे क्या बदा होता है—इस बात के बारे मे बहुत कम सकेत मिलते ह। देवताओ की स्तुति के साथ साथ, प्रेत पितृ-पूजा और किसी सीमा तक अचेतन पदार्थो का देवीकरण भी ऋग्वैदिक धर्म मे मिलता है।

वैदिक देवशास्त्र के अध्ययन मे सामवेद का महत्त्व नही के बराबर है, क्योकि इसमे केवल ७५ मन्त्र ऐसे है जो ऋग्वेद मे नही आये है। अथर्ववेद की समाजप्रिय सामग्री का सबन्ध पारिवारिक रीति-रिवाजो एव जादू के साथ है। इसके अन्तिम भाग मे और कौशिक गृह्यसूत्र मे प्रेतो एव भूतो के विषय मे भरपूर सामग्री उपलब्ध होती है। धर्म के इस निम्न स्तर पर ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद कही अधिक प्राचीन विश्वासो का विवरण प्रस्तुत करता है, किंतु साथ ही धर्म के उच्च स्तर पर भी यह उसके अधिक विकसित रूप का परिचायक दीख पडता है। व्यक्तिक देवताओ मे उत्तरकालीन विकास की छवि प्रत्यक्ष है, जब कि कुछ और अभिनव 'भाव' देवता समझे जाने लगे हैं और धर्म सर्वदेववाद (अद्वैत) का रूप धारण करके हमारे समुख आता है। व्यक्तिभूत देवताओ के स्तवन-सूक्त अपेक्षाकृत कम है, जबकि अनेक देवताओ का एकसाथ आह्वान—जिसम कि उनके असली स्वरूप पर कम प्रकाश पड पाता है—आम हो जाता है। देवताओ के क्रिया-कलाप का वर्णन उसी लचर ढग का है जैसाकि ऋग्वेद मे। कह सकते है कि अथर्ववेद मे देवशास्त्र का कोई ही ऐसा पहलू मिलेगा जिसका सकेत ऋग्वेद मे न आ चुका हो। यजुर्वेद मे तो अथर्ववेद से भी कही अधिक बाद की दशा का प्रतिफलन है। और चूकि इस वेद की रचना कर्मकाण्ड के लिए हुई है, इसलिए इसके मन्त्रो का सीधा लक्ष्य देवता नही हैं। देवताओ का व्यक्तित्व इस वेद मे धुधला पड गया है, क्योकि यज्ञ प्रक्रिया के साथ उनका सबन्ध बहुत ढीला ढाला रह गया है। हा, यजुर्वेद के देवशास्त्र का सबसे प्रमुख पहलू है—प्रजापति का मुख्य देव के रूप मे उत्थान, विष्णु के महत्त्व मे उत्कर्ष, और ऋग्वेद के एक प्राचीन देवता का शिव के रूप मे अभ्युदय। किंतु, चूकि इस वेद मे यज्ञ की अपेक्षा देवताओ का स्थान गौण है इसलिए इस वेद मे देवशास्त्रीय सामग्री बहुत कम हाथ लगती है।

यजुर्वेद म तथा ब्राह्मणो मे—जिनमे ऐतरेय एव शतपथ प्रमुख हैं—

तात्त्विक भेद नही है। और चूकि मानवीय आकर्षण का विषय अब यज्ञ बन गया है इसलिए देवताओ की व्यक्तिगत विशेषताए छितराकर धुधली पड गई है। कतिपय देवताओ के स्वरूप मे परिवर्तन आ गया है और कुछ-एक देवताओ के महत्त्व मे उत्कर्ष या अपकर्ष आ गया है। शेष बातो मे ब्राह्मणो का देव-वर्ग वैसा ही है जैसाकि ऋग्वेद या अथर्ववेद मे मिलता है, और अचेतन पदार्थों की स्तुति यहा भी पूर्ववत् जारी है। ऋग्वेद और ब्राह्मणो के देवशास्त्र मे मुख्य भेद यह है कि ब्राह्मणो मे प्रजापति को प्रधान देवता के रूप मे स्वीकार कर लिया गया है और साथ ही ब्राह्मणो का देव-वर्ग सुतरा स्पष्ट बन गया है। इस प्रकार प्रजापति का 'सर्व' अथवा "सब कुछ और हर कुछ" कहकर स्तवन किया गया है।[1]

और चूकि देवताओ के अपने-अपने विशिष्ट गुण भुलाये जा चुके हैं इसलिए अब उन्हे वर्गों मे विभक्त करने की प्रवृत्ति बलवती बन गई है। फलत इस युग की एक विशेषता यह हो गई है कि इसमे अति प्राकृतिक शक्तियो को दो विरोधी दलो मे बाट दिया गया है—एक वर्ग की शक्तिया देवता है और दूसरे की असुर या राक्षस। पुन. देवता के भी तीन वर्ग कर दिये गये हैं—पृथिवीस्थ वसुगण, अन्तरिक्षस्थ रुद्रगण और द्यु स्थ आदित्य। वर्गों मे सब से अधिक महत्त्व-शाली वर्ग है—अग्नि, वायु और आदित्य की त्रिकुटी। ये रचनाए औपचारिक हैं और इनमे व्यक्तिक देवताओ के भिन्न भिन्न गुणो को मानवीकरण के द्वारा अलग-अलग कर दिया गया है। उदाहरण के लिए इनमे अग्नि का वर्णन—भोजन का स्वामी 'अग्नि' और मन्त्र का स्वामी 'अग्नि' इन रूपो मे किया गया है।

अपने प्रधान विषय का उद्द्योतन करने के लिए ब्राह्मण भाति-भाति की गाथाओ का सहारा लेते है। इनमे आनेवाली कुछ-एक गाथाओ के सकेत सहिताओ मे नही मिलते। किंतु जब कभी प्राचीनतर साहित्य मे वे मिलती है, तब स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणो मे वे अपने उस पुराने रूप से विकसित होकर आई है। फलत ब्राह्मणो मे आई गाथाओ से उनके पूर्ववर्ती रूप पर नया प्रकाश कम पडता है, किंतु इतना अवश्य है कि वे प्राचीनतम वैदिक और पश्चवैदिक युगो की गाथाओ मे एक सयोजक कडी का काम देती है।

प्रतिपादन-प्रक्रिया—

वैदिक देवशास्त्र की उत्पत्ति ऐसे युग, ऐसे देश, और ऐसी सामाजिक एव जलवायवीय परिस्थितियो मे हुई है जोकि यूरोप से बहुत दूर है और वहा की परिस्थितियो से सुतरा भिन्न है। साथ ही हमारे प्रस्तुत विवेचन का विषय प्रत्यक्षत तथ्यो का विवरण नही, अपितु उन कवियो की कल्पना-भरित रचनाए है जो प्रकृति को आज के मनुष्यो की दृष्टि से न देख किसी और ही दृष्टि से देखा करते

1 सर्वं वै प्रजापति। श० ब्रा० 1 3 5 10, 4 5 7 2.

थे। इस प्रकार की जटिल एव विचार की इतनी अधिक प्राचीन कोटि का प्रतिनिधान करनेवाली सामग्री का विवरण और भी कठिन हो जाता है जब हम उस कवित्वपूर्ण रचना पर ध्यान देते है जिसमे कि वे विचार अन्तर्निहित हैं। और अनुसधान की वैज्ञानिक प्रक्रिया के योग्य शायद ही ऐसा कोई दूसरा विषय हो जिसमे प्रतिभा के साथ-साथ सजगता और प्रशान्त विचार की इतनी अधिक आवश्यकता हो। कहना न होगा कि इस प्रकार की वैज्ञानिक प्रक्रिया को, जिसकी उपयोगिता के विषय मे दो मत नही हो सकते, वैदिक देवशास्त्र के अनुसधान मे बहुधा नही के बराबर बरता गया है। ऐसा न करने के कारण, और साथही प्रतिपाद्य सामग्री की नैसर्गिक दुरूहता के कारण विद्वानो मे वैदिक देवताओ के स्वरूप, और उनके आधार के सबन्ध मे पर्याप्त मतभेद उत्पन्न हो गया है।

वैदिक अध्ययन के आरम्भिक युग मे अनुसधान को गलत पक्ष से आरभ करने की प्रवृत्ति बलवती थी। तब अनुसधान का आधार तुलनात्मक देवशास्त्र के देव-नामो के व्युत्पत्ति-सबन्धी साम्य को बनाया जाता था। इन अभिज्ञाओ का—यद्यपि आज इनमे से बहुत-सी छोडी जा चुकी है—वेद के देवशास्त्रीय सूक्तो की व्याख्या पर अब तक अवाञ्छनीय प्रभाव पडता रहा है। व्युत्पत्ति-सबन्धी विचार-विमर्श के साथ-साथ बहुधा व्याख्याता लोग वेद के विषय मे पहले से बना ली गई अपनी धारणाओ के बल पर अटकलें लगाते रहे हैं न कि वेद मे प्राप्त होनेवाले साक्ष्य की उचित छानबीन पर। परिणाम इसका यह हुआ है कि जहा-तहा मौलिक विशेषताओ के साथ-साथ, आनुषङ्गिक एव एकाकी विशेषताओ को भी उन्ही-के-जैसा महत्त्व दे दिया गया है। साथ ही व्याख्या करने की प्रणाली-विशेष के प्रति या उसके विरुद्ध पक्षपात बरता जाता रहा है। उदाहरण के लिए—देव-शास्त्र के पात्रो की बहुसख्या का व्याख्यान उनकी उद्‌भूति उषा, विद्युत्, सूर्य, अथवा चन्द्रमा से बताकर किया गया है। इस प्रकार के पक्षपात का परिणाम यह होता है कि प्राप्य साक्ष्य की छानबीन उचित प्रकार से नही हो पाती और वह छानबीन एकदेशीय रह जाती है।

कहना न होगा कि ऐसी अवस्था मे अध्येताओ को अधिक सावधानी वाली प्रक्रिया को अपनाना चाहिए। इस बात के कुछ सकेत यहा दे देने वाञ्छनीय है। सभी जानते हैं कि अन्वेषण की दिशा ज्ञात से अज्ञात की ओर चलनी चाहिए, इस सिद्धान्त के अनुसार प्रस्तुत गवेषणा का आधार—जिसका उद्देश्य वैदिक देवताओ के सही स्वरूप को और उनके सही क्रियाकलाप को प्रस्तुत करना है—तुलनात्मक गाथाशास्त्र के अपेक्षाकृत न्यूनसख्यक, साथ ही अनिश्चित निगमो को न बनाकर, भारतीय साहित्य मे उपलब्ध होनेवाली सामग्री को बनाना उचित होगा, क्योंकि भारतीय साहित्य मे हमे इस देश के देवशास्त्र की, ऋग्वेद से लेकर आज तक की अटूट परपरा हाथ लगती है। किसी देवता के विषय मे किसी भी प्रकार का निर्णय करने से पूर्व उस देवता से सबद्ध सकल सामग्री एकत्र करनी चाहिए। उसका समुचित वर्गीकरण करना चाहिए, और समग्र सदर्भों की तुलना के द्वारा उसकी जाच करनी

चाहिए। साथ ही उन मौलिक विशेषताओं को—जिनके आधार पर कि उस देवता का मानवीकरण सपन्न हुआ है—बाद मे मिले प्रक्षेपों से पृथक् कर लेना चाहिए। और ज्योही मानवीय कल्पना मे किसी प्राकृतिक शक्ति के स्थान पर एक व्यक्ति आ बैठता है, काव्य की उड़ान आनुषङ्गिक गाथा का बाना बुनने लगती है, इसमे कालक्रमात् ऐसी सामग्री को मिला देती है जिसका कि मौलिक रचना के साथ कोई सबन्ध नही था, और जो असल मे दूसरी जगह से उधार लेकर उस पर लाद दी गई है। फिर भी आधारभूत तात्त्विक विशेषताए—यदि इस प्रकार की सामग्री अत्यधिक सीमित न हुई हो तो—बार-बार की आवृत्ति के द्वारा खिल उठती है। उदाहरण के लिए इन्द्र-गाथा मे, इन्द्र-वृत्र-युद्ध पर—जो इस गाथा की एक मौलिक विशेषता है—लगातार और बार-बार जोर डाला गया है, जबकि वह एकाकी उक्ति जिसमे कहा गया है कि इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्र की माता को मारा[1] साफ है कि बाद की मिलावट है, जिसे नाटकीय प्रभाव मे जान डालने के लिए किसी कवि ने जोड़ दिया है। किच, वृत्रहन् विशेषण, जोकि आरभ मे एकमात्र इन्द्र ही के लिए प्रयुक्त होता आया था, ऋग्वेद मे कभी-कभी सोम के लिए भी आ गया है। किंतु इस विशेषण का इन्द्र से सोम पर सक्रमण हुआ है—यह बात इतने ही से स्पष्ट हो जाती है कि सोम को 'वृत्रघाती मादक रस'[2] बताया गया है, जिसे युद्ध पर जाने से पहले इन्द्र मन-छूट पीता है। विशेषणो का इस प्रकार एक देवता से दूसरे देवता पर सक्रमित हो जाना ऋग्वेद मे सुकर है, क्योकि ऋग्वेद के कवि देवताओ के जोडे बनाकर उनका स्तवन करने के शौकीन है; विशेषतः उस अवस्था मे जबकि दोनो देवताओ मे एक दूसरे के विशिष्ट गुण और वीर-कृत्य समान रूप से पाये जाते हो (§ 44)। स्पष्ट है कि इस प्रकार सक्रमित हुए गुणो को मौलिक विशेषताओ से पृथक् कर लेना होगा। कुछ इसी प्रकार की बात उन विशेषताओं और विश्व-शक्तियो के विषय मे भी कही जा सकती है, जो समान रूप से बहुत से देवताओ के विशेषण के रूप मे कही गई है। इन्हे किसी एक देवता के विषय मे साक्ष्य बनाकर प्रस्तुत करना अनुचित है। इन्हे साक्ष्य के रूप मे तभी रखना चाहिए जबकि उक्त प्रकार के गुण और शक्तिया प्रभूत रूप से किसी एक देवता के विषय मे दिखाई गई हो, क्योकि हो सकता है कि उनका आरभ उस एक देवता-विशेष के साथ हुआ हो और बाद मे वे अन्य देवताओ पर फैल गई हो। इस सबन्ध मे इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि कुछ देवताओं का स्तवन अन्य देवताओ की अपेक्षा अधिक-सख्यक सूक्तो मे किया गया है, फलत. विभिन्न देवताओ के साथ लगाये जानेवाले विशेषणो के पौन पुन्य का मीजान लगा लेना वाञ्छनीय प्रतीत होता है। इस प्रकार एक विशेषण, जिस का प्रयोग वरुण के लिए

1 नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार। ऋ० 1.32.9.

2 पृषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन् वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै॥ ऋ० 6 17 11.

भी इतनी ही बार हुआ है जितनी बार कि इन्द्र के लिए, सभवत इन्द्र की अपेक्षा वरुण के ऊपर अधिक उपयुक्त बैठे, क्योकि इन्द्र का आह्वान वरुण की अपेक्षा दस-गुने सूक्तो द्वारा किया गया है। साक्ष्य के रूप मे किसी वाक्य के मूल्य पर उस सूक्त की आपेक्षिक प्राचीनता का प्रभाव पडना भी स्वाभाविक है जिसमे कि वह आया है। यह सभव है कि एक सूक्ति, जोकि बाद के सदर्भ मे आई है, अपेक्षाकृत प्राचीन विचार का प्रतिनिधान करती हो, किंतु यदि इसका एक ऐसी उक्ति के साथ विरोध पडता है जो उसी विषय मे प्राचीनतर सूक्त मे आई है, तो बहुत अधिक सभव है कि यह बाद के विकास का प्रतिनिधान करती हो। और इस दृष्टि से ऋग्वेद के दशम मण्डल मे और प्रथम मण्डल के बहुतर भाग मे अन्य मण्डलो की अपेक्षा बाद मे विकसित हुए विचारो की परपरा उघडती दीख पडती है। साथ ही नवम मण्डल का एकमात्र सोम पवमान के साथ सबद्ध होना उसकी गाथा-सामग्री को एक विशिष्ट प्रकार का रूप दे देता है जैसे विवस्वान् और त्रित को। इस मण्डल मे सोम को एक विशेष ही प्रकार से बनाते दिखाया गया है (दे० § 18, 23)। रही ब्राह्मणो की बात—इनमे ऐतिहासिक दृष्टि से आदिम विचारो को खोजते समय विशेष सतर्कता बरतनी आवश्यक है, क्योकि ब्राह्मण-ग्रन्थ ऊची उडानो, मानसिक अभिवेगो, और अभिज्ञा तथा तादात्म्यो से भरे पडे है।

साक्ष्य के रूप मे किन्ही दो तुल्य सदर्भो को प्रस्तुत करते समय प्रकरण का ध्यान रखना अत्यावश्यक है। बहुधा उनके मूल्य का निर्धारण उनके परिपार्श्व के सूक्ष्म एव जटिल विचारो को देखकर और उन विचार-बिन्दुओ की सगति लगाकर करना उचित है, जोकि उनसे पहले और उनके बादमे आये है। वेद के आभ्यन्तर साक्ष्य का उचित आलोचन करके, और बाद के साहित्य मे मिली सामग्री द्वारा इसका उपोद्वलन करके इसके साथ बहुत अधिक मिलनेवाले ईरानी देवशास्त्र का पर्यालोचन करना चाहिए। इस तुलनात्मक अध्ययन से सभव है कि भारतीय सामग्री से उपलब्ध हुए आधुनिक विद्वानो के निष्कर्षो की पुष्टि हो जाय, और यदि भारतीय साक्ष्य पूरी तरह निश्चायक न भी हुआ तो या तो इससे हमे इस बात का पता चल जायगा कि दोनो मे पुराना कौन है और बाद का कौन, और या इससे हमारे वेदविषयक विचार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित बन जायंगे। उदाहरण के लिए—अवेस्ता की सहायता के बिना मित्र-देवता के मौलिक स्वरूप के विषय मे किसी प्रकार के निश्चित निष्कर्ष पर पहुचना कठिन है।

इसके उपरान्त तुलनात्मक देवशास्त्र के निष्कर्षो पर ध्यान देना होगा। ऐसा करने से हमे इस बात का पता चल जायगा कि भारोपीय युग से वेद को इस क्षेत्र मे कौनसी देन मिली है और वह कितनी है, और इस देन का अपना महत्त्व क्या है। इसके साथ ही नृजाति-विद्या के मन्तव्यो की छानबीन भी अपेक्षित है, विशेषत. उस अवस्था मे जबकि इस बात का निर्धारण करना आवश्यक हो कि मानवीय विकास के इससे भी पुराने युग के कौन-कौन से तत्त्व अब अवशिष्ट है। इस

प्रकार के वेदबाह्य साक्ष्य के पर्यालोचन का एक लाभ तो यह होगा कि हमारी यह धारणा दूर हो जायगी कि देवशास्त्र की विविध सामग्री का जन्म एकमात्र भारत मे हुआ है, और दूसरे हमारी यह भावना भी दूर हो जायगी कि देवशास्त्रीय ऊहापोहो का उदय सब से पहले भायोरपीय युग मे हुआ है। स्मरण रहे कि हमारी दूसरी धारणा भी सत्य से इतनी ही दूर है जितनी कि हमारी यह भावना कि आर्य भाषा का सब से प्रथम प्रारभ-बिन्दु भायोरपीय भाषा है।

अवेस्ता और वैदिक देवशास्त्र—

हम देख चुके है कि वैदिक देवशास्त्र का विद्यार्थी अपने अध्ययन मे अवेस्ता के साक्ष्य की उपेक्षा नही कर सकता। अवेस्तन भाषा के प्राचीनतम रूप की वैदिक बोली के साथ वाक्य-रचना, शब्द-समूह, रीति, छन्द और काव्य-शैली की दृष्टि से इतनी अधिक समता है कि कुछ-एक ध्वनि-नियमो के अनुसार छोटे-मोटे परिवर्तन करके हम सारे ही अवेस्तन मन्त्रो का शब्दश वैदिक छन्दों मे अनुवाद कर सकते है और वह भी ऐसा कि ये परिवर्तित मन्त्र न केवल रूप मे अपितु काव्यात्मकता मे भी सोलह आने वैदिक उतरे। किंतु देवशास्त्र के क्षेत्र मे यह समानता उतनी नही रह पाती। इसका कारण यह है कि भाराथुस्ट्रा ने धार्मिक क्षेत्र मे जो सुधार किये थे उनके कारण देवशास्त्रीय विचारो मे से बहुत-से तो नष्ट हो गये और कुछ-एको के रूप मे परिवर्तन आ गया। फिर भी यदि आज हमारे सामने अवेस्तन साहित्य का भी उतना ही पुराना रूप आ जाय जितना कि वैदिक साहित्य का है, तब इस क्षेत्र की समानता भी उतनी ही अधिक सबल बनकर हमारे सामने आ जायगी। फिर भी विवरण की समानता धार्मिक क्षेत्र की अपेक्षा देवशास्त्र के क्षेत्र मे कम बहुल नही है। यज्ञ-सबन्धी अनेक समान शब्दो मे से यहा कुछ की ओर ही सकेत कर देना पर्याप्त होगा —

वैदिक	अवेस्तन
यज्ञ	यस्न
होता	भओतर
अथर्वन्	आथर्वन
ऋत	अश

इन सबकी अपेक्षा अधिक सोम=हओम, जिसका अर्थ है 'मादक सोम का रस', जिसे दोनो ही धर्मो मे हवन मे डाला जाता, पीसा जाता, चलनी मे छाना और दूध के साथ मिलाया जाता था, वनस्पतियो का राजा था। यह पर्वतो पर उगता था और इसे एक गरुड या बहुत-से गरुड नीचे लाये थे (दे० § 37)। किंतु हमारे प्रमुख लक्ष्य तो इस समय देवगत एकरूपताए है। दोनो ही धर्मो मे असुर—अहुर उन सब से बडे देवो के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिनका वर्णन दोनो मे बलवान् राजाओ के रूप मे किया गया है, जो अन्तरिक्ष मे आशुगामी अश्वो के द्वारा

खीचे जानेवाले सामरिक रथो मे चलते है, जिनका स्वभाव उदार है, और जो छल अथवा हर प्रकार की अनैतिकता से कोसो दूर है। भारतीय और ईरानी दोनो ही धर्मो मे अग्नि की पूजा समान रूप से प्रचलित थी, हा, वेद मे इसका नाम अग्नि था और अवेस्ता मे आतर। जल का (आप =आपो) आह्वान वहुत वार न सही पर हुआ दोनो धर्मो मे जरूर है। वैदिक 'मित्र' अवेस्ता मे 'मिथ्र' है, और यह सूर्य का देवता है। आदित्य भग अवेस्ता मे 'वघ' है, जोकि सामान्य देवता है। वायु, जिसका अवेस्तन रूप वयु है, हवा के देव है, अपा नपात् 'जलपुत्र'=अपा नपात्, गधर्व=गन्दरेव, और कृशानु=केरेशानि दैवी प्राणी है, जिनका सोम=हओम के साथ निकट सवन्ध है। त्रित आप्त्य की टक्कर के अवेस्तन देवता है थ्रित और आथ्व्य, और इन्द्र वृत्रहन् के समकक्षी है 'इन्द्र देव' और 'वेरेथ्रघ्न' जोकि विजय के अधिष्ठातृ देव है। यम, जो विवस्वान् के पुत्र है और प्रेतो के राजा है, अवेस्ता मे यिम के रूप मे मिलते है जो वीवह्वन्त के पुत्र है और स्वर्ग के अधिष्ठाता हैं। स्वरूप और क्रियाकलाप मे 'वरुण' और 'अहुर मज्द' समान है, यद्यपि दोनो के नाम अलग-अलग हैं। दुरात्माओ के अभिधान द्रुह्=द्रुज् और 'यातु' भी दोनो धर्मो मे समान हैं।

तुलनात्मक देवशास्त्र—

किंतु जब हम भारत-ईरानी धरातल पर से उठकर, भारोपीय धरातल पर आते है तब हम अपने को अनिश्चय के क्षेत्र मे सरका पाते हैं। नामो के अनेक साम्य, जिन्हे गवेषणा की पहली सूझ मे स्वीकार कर लिया था, बाद मे छोडे जा चुके है, और जो बचे हैं वे भी पक्के नही दीख पडते। द्यौस्=ज्यौस यही एक साम्य सदेहकोटि से परे है। वरुण=ओउरनोस मे यद्यपि ध्वनि-नियम-सवन्धी कठिनाइया वनी हुई है, तो भी इसे ठीक माना जा सकता है। वर्षादेव 'पर्जन्य', यद्यपि अर्थ की दृष्टि से लिथुएनियन पेर्कुनास (Perkunas) से मिलता है, पर ध्वनि नियमगत कठिनाइया इसमे वरुण की अपेक्षा अधिक है। 'भग' यह नाम यद्यपि स्लावोनिक वोगु (Bogu) और ईरानी वघ से मिलता-जुलता है, किंतु चूकि वोगु और वघ इन दोनो शब्दो का अर्थ केवल "देवता" है, इसलिए हो सकता है कि भारोपीय 'भग' किसी देव-विशेष का वाचक न रहा हो। उषस् यह नाम मूलत ओरोरा (Aurora) और होस (Hōs) का समकक्ष है, तो भी कहा जा सकता है कि उषा की उपासना भारत का अपना घरेलू विकास है। भारोपीय परिवार की विभिन्न शाखाओ में मिलनेवाले विद्युत्-देवताओ के देवशास्त्रीय लक्षणो की समता के आधार पर अनुमान किया गया है कि किसी सामान्य नाम के न मिलने पर भी भारोपीय युग मे सब का साझा एक विद्युत्-देव रहा होगा। इनके सिवाय दो-एक और ऐसी समताए हैं जिनका आधार केवल चरित्र की तद्रूपता है। उन उदात्तचरित देवताओ के विषय मे, जिनका सवन्ध प्राग (√दिव्—प्रकाशित

होना) और आकाश (दिव्=आकाश) से है, भायोरपीय युग मे ही भावनाए उभर चुकी थी। इस बात की पुष्टि दइवोस (Deivos) (सस्कृत० देव-स्, लिथ्यु० देव-स्, लै० देउ-स) 'देवता' इस नाम-साम्य से होती है। प्रतीत होता है कि माता के रूप मे पृथिवी की (जोकि वैदिक एव ग्रीक देवशास्त्र मे समान है) और पितर के रूप मे आकाश की (स० द्यौष्पितर्, ग्रीक० ज़ेउ पटेर (Zeu Páter) लै० जूपिटर) कल्पना इससे भी पहले हो चुकी थी, क्योंकि आकाश और पृथिवी के विषय मे पिता-माता की भावना चीन और न्यूजीलैण्ड के देवशास्त्र मे भी मिलती है। और मिश्र मे तो इस भावना की जडे स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। यातु-विद्या और अचेतन पदार्थो की पूजा, जो वेद मे पाई जाती है, मानव जाति के मानसिक विकास की इससे भी कही अधिक प्राचीन सतह से आई दीख पडती है, यद्यपि सभावना यह भी हो सकती है कि आर्य विजेताओ ने भारत मे आने पर इस देश के आदिवासियो से ये बातें उधार के रूप मे ले ली हो।

२. विश्व और उसकी उत्पत्ति के विषय में वैदिक धारणाएं

देवताओ के लीला-क्षेत्र जगत् को वैदिक कवियो ने पृथिवी, वायु अथवा अन्तरिक्ष और द्युलोक—इन तीन मे बाटा है। जब आकाश से, पृथिवी से ऊपर का सारा ही अवकाश अभिप्रेत होता है तब पृथिवी के साथ प्रयुक्त होकर यह ऊर्ध्व और अधोलोको से बने समग्र ससार को बोधित करता है। आकाश के गुम्बद (नाक) को एक सीमा के रूप मे समझा गया है, जोकि दृश्यमान ऊर्ध्व जगत् को उससे ऊपर के अदृश्यमान द्युलोक से विभाजित करता है, प्रकाश और देवताओ का निवास-स्थान वही है। द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी ऋग्वेद की यह प्रिय त्रिलोकी है, जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बार-बार गुणगान किया गया है[1]। सौर-मण्डल के क्रिया-कलाप का स्थान, जोकि आकाश-गुम्बद पर होता दीख पडता है, स्वर्ग मे बताया गया है, जबकि विद्युत्, वर्षा एव वायु का स्थान अन्तरिक्ष मे बताया है। किंतु जब 'द्यु' शब्द से पृथिवी के ऊपर का अशेष लोक-जात अभिप्रेत होता है तब दोनो ही कोटि के देवो का क्रिया-कलाप द्युलोक मे ही होना समझा जाता है। अथर्ववेद के एक मन्त्र मे[2] आकाश-गुम्बद को पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक की त्रिकुटी के और स्वर् अथवा प्रकाश-मण्डल के मध्य मे माना गया है, जिसके अनुसार एक चौथा क्षेत्र और बन जाता है। फिर हर जगत् के अपने-अपने अलग-अलग विभाग हैं। उदाहरण के लिए—मही-

1. यदुन्तरिक्षे पर्तथ पुरुभुजा यद् वे॒मे रोदसी अनु। ऋ० 8 10 6.

2. पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्व॑र्ज्योतिरगामहम् ॥ अ० 4 14.3=पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥ वा० सं० 17 67.

कही तीन पृथिवी, तीन अन्तरिक्ष और तीन स्वर्गो का वर्णन मिलता है, किंतु जब विश्व का दो अर्धो मे विभाग किया जाता है तब हमे ६ मण्डल' अथवा 'रजस्' (=अवकाश) मिलते है। इस उपविभाग का आधार सभवत पृथिवी शब्द का बहुवचन मे हुआ लचर प्रयोग है[1], जैसाकि 'पितरौ=दो पिता' इस द्विवचन का है जिस से नियमत 'माता और पिता' इन दोनो का बोध होता है।

पृथिवी को अनेक नामो से पुकारा गया है जसे भूमि, क्षम्, क्ष्मा, ग्मा, मही (=बडी) पृथिवी अथवा उर्वी (=विस्तृत) उत्ताना (फैली हुई), अपारा (असीमित) और 'इदम्' (यह सामने की) और ऊर्ध्वलोक से[2] विपरीत।

समुद्र से परिवेष्टित एक गोल के रूप मे पृथिवी की कल्पना सहिताओ मे नही पाई जाती। अलबत्ता वृत्ताकार इसे अवश्य बताया गया है और इसकी तुलना चक्र[3] से की गई है और शतपथ मे तो इसे साफ शब्दो मे 'परिमण्डल' कह कर पुकारा गया है।

पृथिवी के विस्तार की चार दिशाओ का सकेत ऋग्वेद[4] मे क्रिया-विशेषण द्वारा और अथर्ववेद[5] मे विशेष्य द्वारा दिया गया है। इस प्रकार चार दिशाओ

1 यदिन्द्राग्नी अवमस्या पृथिव्या मध्यमस्या परमस्यामुत स्थ ।
अत परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबत सुतस्य ॥ ऋ० 1 108 9
यदिन्द्राग्नी परमस्या पृथिव्या मध्यमस्यामवमस्यामुत स्थ । ऋ० 1 108 10
पर सो अस्तु तन्वा तना च तिस्र पृथिवीरधो अस्तु विश्वा । ऋ० 7 104 11
2 इद विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् । ऋ० 1 22 17
विष्णोर्नु क वीर्याणि प्र वोच य पार्थिवानि विममे रजासि ।
यो अस्कभायदुत्तर सधस्थ विचक्रमाणस्त्रेधोरुगाय ॥ ऋ० 1 154 1
प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे ।
य इद दीर्घ प्रयत सधस्थमेको विममे त्रिभिरित् पदेभि ॥ ऋ० 1 154 3
3 इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अप प्रेरय सगरस्य बुध्नात् ।
यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वक् तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ॥ ऋ० 10 89 4
4 आ पश्चातान्नासत्या पुरस्तादाश्विना यातमधरादुदक्तात् ।
आ विश्वत पाञ्चजन्येन राया ॥ ऋ० 7 72 5
सविता पश्चातात् सविता पुरस्तात् सवितोत्तरात्तात् सविताधरात्तात् ।
सविता न सुवतु सर्वतातिम् ॥ ऋ० 10 36 14
बृहस्पतिर्न परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायो ।
इन्द्र पुरस्तादुत मध्यतो न सखा सखिभ्यो वरिव कृणोतु ॥ ऋ० 10 42 11.
5 स उदतिष्ठत् स प्राचीं दिशमनु व्यचलत् । अ० 15 2 1 स उदतिष्ठत् स दक्षिणां दिशमनु व्यचलत् । अ० 15 2 2 स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्यचलत् । अ० 15 2 3 स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्यचलत् । अ० 15 2 4.

का (प्रदिश.) उल्लेख तो मिल जाता है[1] । 'प्रदिश.' पद समस्त पृथिवी का भी बोधक है[2] और पृथिवी का उल्लेख चतुर्भृष्टि (चार तरफो वाली) पद द्वारा भी किया गया है ।[3] कही-कही ५ प्रदिशाए भी बताई गई है[4] जहाँ उस भव्य दिशा को, जिस पर कि वक्ता खडा हुआ है,[5] पाचवी प्रदिशा बताया गया है । अथर्ववेद मे तो ६ और ७ प्रदिशाओ का भी सकेत मिलता है । ऋग्वेद में आई सात[6] दिशाओ और सात[7] धामो का अभिप्राय भी सभवत. ये प्रदिशाए ही रही हो ।

स्वर्ग अथवा दिव् को सामान्यतया 'व्योमन्' अर्थात् प्रकाश से व्याप्त अथवा 'आकाश-मण्डल' कहा गया है और साथ ही इसे 'रोचन' नाम से भी पुकारा गया है । विभाजक आकाश के लिए 'नाक' शब्द के साथ-साथ 'सानु' (शिखर), विष्टप् (उपरिभाग) और 'पृष्ठ' शब्दो का प्रयोग भी हुआ है, जब कि 'नाकस्य पृष्ठे' आदि शब्द-बन्ध भी जहा-तहा प्रयुक्त हुए है । स्वर्मण्डल के 'तृतीय पृष्ठ'[8] का सकेत भी मिलता है । जहा तीन द्युलोको मे भेद किया गया है वहां उन्हे तीन प्रकाशमान अवकाश (त्री रोचना) कहा गया है, और उत्तम, मध्यम और अवम[9] कहकर इन्हे चीह्ना गया है । उच्चतम द्युलोक के लिए 'उत्तर' और 'पार्य'[10] शब्द भी आये है, तृतीय अथवा उच्चतम द्युलोक मे (परमे रोचने अथवा व्योमन्) देवता, पितर् और सोम बसते है ।

आकाश और पृथिवी के युग्म को रोदसी, क्षोणी, द्यावापृथिवी आदि कह

---

1. भूम्याश्चतस्रः प्रदिशस्ताभ्य एना नि वर्तय । ऋ० 10 19.8.
2. तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः । ऋ० 1.164 42
3. यत् ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम् । ऋ० 10 58 3.
4. त्वं समुद्रो असि विश्ववित् कवे तवेमाः पञ्च प्रदिशो विधर्मणि ।
त्वं द्यां च पृथिवीं चाति जभ्रिषे तव ज्योतींषि पवमान सूर्यः ॥ ऋ० 9 86 29.
इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः । अ० 3 24 3.
5. बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥ ऋ० 10 42.11.
6. सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः । ऋ० 9 14 3.
7. पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥ ऋ० 1 22 16.
8. नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति । ऋ० 1,25 5
वैश्वानरः प्रत्नथा नाकमारुहद् दिवस्पृष्ठं भन्दमानः सुमन्मभिः । ऋ० 3 2.12.
असश्चतः शतधारा अभिश्रियो हरिं नवन्तेऽव ता उदन्युवः ।
क्षिपो मृजन्ति परि गोभिरावृतं तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः ॥ ऋ० 9 86 27.
9. यदुत्तमे मरुतो मध्यमे वा यद् वावमे सुभगासो दिवि ष्ठ । ऋ० 5 60 6.
10. दिवो अमुष्मादुत्तरादादाय । ऋ० 4 26 6.
यदिन्द्र दिवि पार्ये यद् ऋधग् यद् वा स्वे सदने यत्र वासि । ऋ० 6 40 5.

कर (§ 44) उन्हे दो अर्ध बताया है[1] । अर्ध-मण्डलाकार आकाश के साथ जोड देने से धारणा होती है कि धरती का आकार बदल सकता है, जबकि दोनो को एक-दूसरे की ओर घूमे हुए दो महान् चम्मच (चम्वा) भी बताया गया है[2] । एक बार तो उनकी उपमा अक्ष के दो ओर लगे पहियो से दी गई है[3] ।

ऋग्वेद मे द्युलोक और पृथिवी के मध्यस्थ अन्तराल को यह कहकर आँका गया है कि उडनेवाले पक्षी भी विष्णु के पद तक नही पहुंच सकते[4], किंतु अथर्ववेद[5] के अनुसार 'हरित हस' (सूर्य) के पखो को स्वर्ग तक पहुचने मे १००० दिन लगते है । इसी प्रकार की एक उक्ति ऐतरेय ब्राह्मण[6] मे आती है, जिसके अनुसार यहा से स्वर्ग तक पहुंचने मे एक घोड़े को 1000 दिन लगने चाहिए । पञ्चविंश ब्राह्मण[7] के अनुसार 1000 गौए यदि एक दूसरी पर खडी कर दी जाय तो वे स्वर्ग तक पहुच सकेगी ।

वायु अथवा अन्तरिक्ष-लोक तो कठिनता से ही मानवीकरण के भीतर आता है । कुहरा और बादल का लोक होने के साथ-साथ इसे 'रजस्' भी कहा गया है, और इसे जलपूर्ण[8] बताया गया है । कभी-कभी इसे कृष्ण कहा गया है ।[9] तीन प्रविभागो का निर्देश तीन 'आकाश' अथवा तीन 'रजस्' द्वारा किया गया

---

1. उभे अस्मै पीपयतः समीची दिवो वृष्टिं सुभगो नाम पुष्यन् ।
उभा क्षयावाजयन् याति पृत्सूभावर्धौ भवतः साधू अस्मै ॥ ऋ० 2 27.15.
2. मही समैरच्चम्वा समीची उभे ते अस्य वसुना न्यृष्टे । ऋ० 3 55 20.
3. यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वक् तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ॥ ऋ० 10 89 4.
4. द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति ।
तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः ॥ ऋ० 1.155 5
5. सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् । अ० 10 8 18
6. सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः । ऐत० ब्रा० 2.17.8.
7. यावद्वै सहस्रं गाव उत्तराधरा इत्याहुस्तावदस्मात् लोकात्स्वर्गो लोक इति ।
तां० म० 16 8 6
तद् यावदितः सहस्रस्य गौर्गवि प्रतिष्ठिता तावदस्माल्लोकादसौ लोक. । तां० म०21 1.9
8 पूर्वे अर्धे रजसो अप्त्यस्य गवां जनित्र्यकृत प्र केतुम् । ऋ० 1.124.5.
हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ । ऋ० 5.85.2.
9. आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ॥ ऋ० 1.35.2.
आस्थाद् रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः । ऋ० 1.35 4.
हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते ।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥ ऋ० 1.35 9
कृष्णा रजांसि पत्सुतः प्रयाणे जातवेदसः । अग्निर्यद् रोधति क्षमि ॥ ऋ० 8 43 6

है[1]; और तब उन्नततम प्रविभाग को उत्तर[2], परम[3], अथवा तृतीय[4] कहकर पुकारा गया है। जल और सोम यही रहते है और अग्नि की उत्पत्ति इसी मे होती है। नीचे के दो आकाश तो हमे आखो से दीखते हैं, किंतु विष्णु का आवास तीसरे आकाश[5] मे है। परतम स्वर्ग एक रहस्यमय अवकाश प्रतीत होता है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद[6] मे हुआ है। अन्तरिक्ष का दो खण्डो मे विभाजन अपेक्षाकृत सामान्य है, और तब निम्न (उपर) अथवा पार्थिव लोक के प्रतीप मे दिव्यम् या दिवः को दिखाया गया है[7]। सबसे ऊचे अधिष्ठान को, जिसे दो और तीन विभागो वाले स्वर्ग से लगा हुआ बताया गया है, असावधानी के कारण स्वर्ग का पर्याय ही मान लिया गया है। इस प्रकार की बातो में विभिन्न कवियो की उक्तियो मे अथवा एक ही कवि की उक्तियो मे किसी प्रकार के निश्चय अथवा सगति की आशा करना वृथा है।

विश्व के तीन खण्डोवाले विभाजन मे वायु-लोक की स्थिति पृथिवी के ऊपर है, फलतः इसके विभाग चाहे दो हो अथवा तीन, इनकी स्थिति भी पृथिवी के ऊपर ही मानी जानी चाहिए; और कम से-कम एक मन्त्र मे तो साफ तौर से पार्थिव

---

1. त्रिरन्तरिक्षं सविता महित्वना त्री रजांसि परिभूस्त्रीणि रोचना।
तिस्रो दिवः पृथिवीस्तिस्र इन्वति त्रिभिर्व्रतैरभि नो रक्षति त्मना॥ ऋ० 4 53.5.
त्री रोचना वरुण त्रीँरुत द्यून् त्रीणि मित्र धारयथो रजांसि। ऋ० 5.69 1.
2. एते पृष्ठानि रोदसोर्विप्रयन्तो व्यानशुः। उतेदमुत्तमं रजः॥ ऋ० 9.22 5.
3 न ते दूरे परमा चिद् रजांस्या तु प्र याहि हरि वो हरिभ्याम्। ऋ० 3 30.2.
4 सहस्रधारेऽव ता असश्चतस्तृतीये सन्तु रजसि प्रजावतीः। ऋ० 9.74 6.
समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन्॥ ऋ० 10.45 3.
द्रप्सः समुद्रमभि यज्जिगाति पश्यन् गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन्।
भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि॥ ऋ० 10.123 8.
5 परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति।
उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो देव त्वं परमस्य वित्से॥ ऋ० 7.99 1.
उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः। ऋ० 7.99.2.
द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः॥ ऋ० 1.155 5
जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी। स नो देवः सविता शर्म यच्छतु। ऋ० 4 53 6.
6. वधीं यक्षके सुहनाय दस्यवे हिरीमशो हिरीमान।
अरुतहनुरद्भुतं न रजः॥ ऋ० 10.105 7.
7. नि भूम्या अमथय इन्द्र सानु दिवो रज उपरमस्तभायः। ऋ० 1 62 5
आप्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे॥ ऋ० 4 53 3

रजस्[1] की स्थिति ऐसी ही बताई गई है। ऋग्वेद[2] के तीन मन्त्रो से परिणाम निकलता है कि निम्न तल धरती के नीचे स्थित था जिस पर से रात्रि के समय सूर्य यात्रा करता है। इन तीनो मन्त्रो मे से सबसे कम अनिश्चितार्थ मन्त्र मे बताया गया है कि सूर्य रात्रि के दोनों ओर यात्रा करता है (उभयतः)। किंतु इसका आशय यह भी तो हो सकता है कि रात्रि के एक ओर सूर्योदय और दूसरी ओर सूर्यास्त होता है और इन दोनों से रात्रि अभिवेष्टित है। सूर्य के रात्रिपथ के विषय मे ऐतरेय ब्राह्मण[3] का मत यह है कि रात्रि के समय सूर्य की चमक ऊपर की ओर होती है और फिर यह इस प्रकार गोल घूम जाता है कि दिन मे इसकी चमक नीचे की ओर हो जाती है। कुछ इसी प्रकार की भावना ऋग्वेद की एक उक्ति मे भी मिलती है जिसके अनुसार सूर्य का प्रकाश कभी 'रुशत्' अर्थात् चमकनेवाला और कभी 'कृष्ण'[4] होता है, किंतु दूसरे मन्त्र[5] मे बताया गया है कि पूर्व की ओर सूर्य के साथ चलनेवाला 'रजस्' उस प्रकाश से भिन्न है, जिसके साथ कि वह उदय होता है। सूर्य धरती के नीचे से होकर यात्रा करता है, इस बात का और स्पष्ट सकेत न मिलने के कारण सभावना इसी बात की अधिक रहती है कि सूरज पूर्व दिशा की ओर उसी रास्ते से लौटता है जिससे कि वह वहा से आया था, अलबत्ता अपनी लौट मे वह पूर्णतः 'कृष्ण' बन जाता है। दिन मे तारो का क्या होता है, इस संबन्ध मे एक जिज्ञासा[6] तो अवश्य उठी है, किंतु इसके विषय में कोई पक्का अनुमान नही लगाया गया।

अन्तरिक्ष को बहुधा 'समुद्र' कहा गया है और इसमे दिव्य जलो का निवास बताया गया है। इसे भी पृथिवी के समान बताया गया है, इस पर भी पर्वत[7] देखे गये

1. आ पप्रौ पार्थिवं रजो बद्बधे रोचना दिवि । ऋ० 1.81.5.
मधुमत् पार्थिवं रजः । ऋ० 1.90.7 B.
2. अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः । ऋ० 6.9.1.
प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा गीर्भिर्विप्रासः प्रथमा अबुध्रन् ।
विवर्तयन्तीं रजसी समन्ते आविष्कृण्वतीं भुवनानि विश्वा ॥ ऋ० 7.80.1.
उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि ।
उत रात्रीमुभयतः परीयस उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः ॥ ऋ० 5.81 4
3. रात्रीमेवास्तात्कुरुतेऽहः परस्तात् । ऐत० ब्रा० 3.44.4.
4. तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे ।
अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ॥ ऋ० 1.115 5.
5. न ते अदेवः प्रदिवो नि वासते यदेतशेभिः पतरै रथर्यसि ।
प्राचीनमन्यदनु वर्तते रज उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य ॥ ऋ० 10.37.3.
6. अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद् दिवेयुः । ऋ० 1.24.10.
7. अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष । ऋ० 1.32.2.

है और यहा भी सात नदिया प्रवाहित होती है[1] जब इन्द्र देव खुश्की के अधिराट् दैत्य-राज के साथ युद्ध करते है। पर्वतो और मेघो की पारस्परिक समानता के कारण ऋग्वेद मे 'पर्वत' शब्द से बहुधा बादल लिये गये है, क्योकि ऐसे स्थलो पर रूपक अत्यन्त स्पष्ट दीख पडता है। अद्रि (चट्टान) शब्द भी देवशास्त्रीय अर्थ मे 'बादल' के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योकि बादल मे गौएं घिरी रहती है; और यहा से इन्हे इन्द्र एव अन्य देवता छुडाकर लाते है।

बरसने वाले बादल पानी-भरे होते हैं; वे बूदे बरसाते, और गरजते घूमा करते है, इसलिए पशू-करण की प्रक्रिया के द्वारा ये अनायास ही गौए बन जाते है और इनका दूध बरसने वाला पानी कहाता है।

विश्व मे परिव्याप्त सर्गनियम को 'ऋत' कहा गया है; और उदात्ततम देवता इसके अधीन बताये गये है। यही शब्द आगे चलकर नीति-क्षेत्र मे 'सत्य' और 'सम्यक्' का और धर्म-क्षेत्र मे यज्ञ-यागादि का वाचक बन गया है।

सर्ग-सिद्धान्त—

ऋग्वेद का सर्ग-सबन्धी देवशास्त्र दो सिद्धान्तो के मध्य लटकता दीख पडता है। किंतु ये दोनो सिद्धान्त एक दूसरे के प्रतीपी नही, अपितु एक ही मन्त्र मे एक-साथ मिले दीख पडते हैं। पहले सिद्धान्त के अनुसार सर्ग-रचना मशीनवत् है और इसके पीछे बढई अथवा लुहार का हाथ काम करता दीख पड़ता है। दूसरे सिद्धान्त मे सर्गरचना प्राकृतिक प्रक्रिया से हुई बताई गई है।

ऋग्वैदिक कवि सृष्टि-रचना का वर्णन करते समय एक भवन का रूपक खडा करते हे। नाप-तोल की बात बार-बार चलती है। उदाहरणार्थ इन्द्र ने ६ प्रदेशों को मापा है और उसने पृथिवी के विस्तृत तल को और आकाश के गुम्बद को घडा है[2]। विष्णु ने तीनो पार्थिव लोको को मापा और अपने आवास को ऊचे बिन्दु पर पक्का किया[3] है। माप का साधन कभी-कभी[4] सूर्य को बताया गया है, इस फीते से वरुण[5]

1. अवासृजः सर्तवे सुप्त सिन्धून्। ऋ० 1.32.12.
2. अयं षडुर्वीरमिमीत धीरो न याभ्यो भुवनं कच्चनारे। ऋ० 6.47 3.
अय स यो वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोदयं सः।
अयं पीयूषं तिसृषु प्रवत्सु सोमो दाधारोर्वन्तरिक्षम्॥ ऋ० 6 47.4.
3 विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥ ऋ० 1.154 1.
4 सद्मेव प्राचो वि मिमाय मानैर्वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम्। ऋ० 2.15 3.
नि षीमिदत्र गुह्या दधाना उत क्षत्राय रोदसी समञ्जन्।
सं मात्राभिर्ममिरे येमुरुर्वी अन्तर्मही समृते धायसे धुः॥ ऋ० 3 38 3.
5. मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण। ऋ० 5 85 5.

अपना काम करता है, पितरो ने भी मापदण्डो (मात्राभि) द्वारा दोनो लोको को मापा और उन्हे फैलाकर ठीक जगह विठाया था[1]। माप का यह फीता अथवा जरीवेस्वभावत: पूरब से डाली जाती है। उदाहरणार्थ, कहा गया है कि इन्द्र ने सामने की ओर जरीवो के द्वारा एक घर को मापा है[2]। इसी से मिलता जुलता दूसरा विचार पृथिवी के विस्तृत करने का है। इस काम को अग्नि, इन्द्र, असत् एव अन्य देवता करते है। और चूकि वैदिक घर-द्वार लकडी के बनाये जाते थे, इसलिए काष्ठ को एक दो बार सृष्टि का भी उपादान माना गया है। उदाहरण के लिए कवि एक जगह पूछता है—वह कौनसा वन था, वह कौनसा वृक्ष था जिससे कि देवताओ ने द्युलोक और भूलोक की रचना की थी[3]? इस प्रश्न का उत्तर तैत्तिरीय ब्राह्मण मे यो आता है—यह वन अथवा वृक्ष ब्रह्म था[4]। द्युलोक एव भूलोक को बहुधा खभो पर टिका बताया गया है, किंतु आकाश को विना बल्ली के टिका हुआ कहा गया है[5]। पर विना बल्ली के टिका होने पर भी यह धडाम से गिर नही पडता, यह एक अचरज की बात है[6]। किवाड के परिवेश (चौकटे) का नाम 'आता' है। इस प्रकार के परिवेश (चौकटे) मे इन्द्र ने वायु[7]

1. नि षीमिदत्र गुह्या दधाना उत क्षत्राय रोदसी समञ्जन्।
स मात्राभिर्ममिरे येमुरुर्वी अन्तर्मही समृते धायसे धु ॥ ऋ० 3 38 3, दे 190 2
2. सद्मेव प्राचो वि मिमाय मानैर्वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम्।
वृथासृजत् पथिभिर्दीर्घयाथै सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥ ऋ० 2 15 3
न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्न परमन्तमाप।
उदस्तभ्ना नाकमृष्व बृहन्त दाधर्थ प्राची ककुभ पृथिव्या ॥ ऋ० 7 99 2
3 किं स्विद्वन क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु।
सतस्थाने अजरे इतऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त ॥ ऋ० 10 31 7 = 10 81 4
4 ब्रह्म वन ब्रह्म स वृक्ष आसीत्। तै० ब्रा० 2 8 9 6
5 अवश द्यामस्तभायद् बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
स धारयत् पृथिवी पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥ ऋ० 2 15 2
स इत् स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान।
उर्वी गभीरे रजसी सुमेके अवशे धीर शच्या समैरत् ॥ ऋ० 4 56 3
सविता यन्त्रै पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृहत्।
अश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्ध सविता समुद्रम् ॥ ऋ० 10 149 1
6 अनायतो अनिबद्ध कथाय न्यङ्ङुत्तानोऽव पद्यते न।
कया याति स्वधया को ददर्श दिव स्कम्भ समृत पाति नाकम् ॥ ऋ० 4 13 5
पप्राथ क्षा महि दसो व्युर्वीमुप द्यामृष्वो बृहदिन्द्र स्तभाय।
अधारयो रोदसी देवपुत्रे प्रत्ने मातरा यह्वी ऋतस्य ॥ ऋ० 6 17 7
7 वि यत् तिरो धरुणमच्युत रजोऽतिष्ठिपो दिव आतासु बर्हणा।
स्वर्मीळ्हे यन्मद इन्द्र हर्ष्याहन् वृत्र निरपामौब्जो अर्णवम् ॥ ऋ० 1 56 5

को जड़ रखा है। अमित विश्व-भवन के दरवाजे में से होकर प्रात.कालीन प्रकाश[1] धरती पर उतरता है। कभी-कभी नीव का सकेत भी आ जाता है। उदाहरणार्थ, सविता ने यन्त्रो द्वारा पृथिवी को स्थिर किया[2]; विष्णु ने इसे खूटियो से कसकर पक्का किया[3] और बृहस्पति इसके छोरो को थामे हुए है[4]। सर्ग के रचयिता या तो सामान्यतया देव-समष्टि है अथवा अनेक देव-व्यष्टियाँ, किंतु जहा-कही हाथ की सफाई की बात आती है तब त्वष्टा अथवा सुपाणि ऋतुओ का नाम जीभ पर आ जाता है। सर्ग-रचना मे देवताओ का प्रयोजन क्या था, इस विषय मे सकेत नही मिलते। फिर भी जिस प्रकार मानव अपने घर का निर्माण अपने निवास के लिए करता है, वैसे ही और कोई देवता न सही तो विष्णु तो जरूर ही लोकों का माप और उनका विस्तार मनुष्यो के बसने के लिए करते है।[5]

जगत् मे जनकता का भाव, विशेषत: प्रात.काल सूर्य के जन्म से और अवर्षण के बाद वर्षा के अवतरण से संबद्ध प्रधानतः तीन प्रकार से आया है। पहला काल-संबन्धी है, जिसमे पूर्वापर भाव सनिहित है। एक घटना किसी दूसरी घटना से पहले होने पर उसकी जनयित्री बन जाती है। इस दृष्टि से उषाए सूर्य और प्रातःकालीन यज्ञ की जननी है[6], किंतु वे स्वयं रात्रि से जन्म लेती हैं[7]। किंतु दृष्टिकोण के बदलने से इस प्रकार का भेद आ जाना स्वाभाविक है। (दे० § 48)। जिन मन्त्रो

1. भास्वती नेत्री सूनृतानामचेति चित्रा वि दुरो न आवः। ऋ० 1.113.4.
अस्थुरु चित्रा उषसः पुरस्तान्मिता इव स्वरवोऽध्वरेषु।
व्यू व्रजस्य तमसो द्वारोच्छन्तीरव्रञ्छुचयः पावकाः॥ ऋ० 4.51.2.
विदा दिवो विष्यन्नद्रिमुक्थैरायत्या उषसो अर्चिनो गुः।
अपावृत व्रजिनीरुत्स्वर्गाद् वि दुरो मानुषीर्देव आवः॥ ऋ० 5.45.1.
2. सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात्। ऋ० 10.149.1.
3. व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः। ऋ० 7.99.3.
4. यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण। ऋ० 4.50.1.
इन्द्रं स्तवा नृतमं यस्य मह्ना विबबाधे रोचना वि ज्मो अन्तान्।
आ यः पप्रौ चर्षणीधृद्वरोभिः प्र सिन्धुभ्यो रिरिचानो महित्वा॥ ऋ० 10.89.1.
5. यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद् विष्णुर्मनवे बाधिताय। ऋ० 6.49.13.
इन्द्राविष्णू तत् पनयाय्यं वां सोमस्य मद उरु चक्रमाथे।
अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथतं जीवसे नो रजांसि॥ ऋ० 6.69.5.
यः पार्थिवानि त्रिभिरिद् विगामभिरुरु क्रमिष्टोरुगायाय जीवसे॥ ऋ० 1.155.4.
6. एता उ त्याः प्रत्यदृश्रन् पुरस्ताज्ज्योतिर्यच्छन्तीरुषसो विभातीः।
अजीजनन्त्सूर्यं यज्ञमग्निमपाचीनं तमो अगादजुष्टम्॥ ऋ० 7.78.3.
7. जानत्यह्नः प्रथमस्य नाम शुक्रा कृष्णादजनिष्ट श्वितीची।
ऋतस्य योषा न मिनाति धामाहरहर्निष्कृतमाचरन्ती॥ ऋ० 1.123.9.

मे उषा का उत्थान पितरो के यज्ञ मे बताया गया है, वहा उसका आधार इसी प्रकार की 'पूर्वता' है। दूसरा, स्थान मे भी जनकता का भाव सनिहित है। वह देश, जिसमे कोई वस्तु निहित है या उत्पन्न होती है, उस वस्तु का जनक कहा जाता है। इसके उदाहरण आलकारिक सदर्भो मे मिलते है। उदाहरणार्थ, 'इषुधि' को तीरो का जनक माना गया है[1] और सूर्य के चमकीले अश्वो को उस के रथ के पुत्र बताया गया है[2]। देवागत जनकता का भाव विशेष रूप से आकाश और पृथ्वी पर लागू होता है। द्यौस् के मानवीकरण मे जनकता के भाव का महत्त्वपूर्ण स्थान है (दे० § 11) और उषा को सदा द्युलोक की पुत्री कहा गया है। इसी प्रकार धरती, जोकि अपने प्रभूत वक्ष पर वनस्पतियो को जनमाती है[3], माता[4] कहाती है। आकाश और पृथ्वी बहुधा जगत् के पिता-माता के रूप मे एक युग्म मे आते है। इसका कारण यह है कि द्युलोक नमी और रोशनी के द्वारा धरती को उर्वर बनाता है, और साथ ही ये दोनो जीव-जगत् का भरण-पोषण करते है : द्युलोक वर्षा बरसा कर और धरती वनस्पति उपजा कर। वे खासतौर से देवताओ के माता-पिता हैं (§ 44,)। दूसरी ओर एक स्थान पर देवताओ को आकाश-पृथ्वी का रचयिता बताया गया है, जिसका निष्कर्ष यह हुआ कि वैदिक कवियो की दृष्टि मे बच्चे भी अपने माता-पिता के मा-बाप बन जाते है। उदाहरण के लिए देखिए—इन्द्र के विषय मे कहा गया है कि उसने अपने माता-पिता को अपने शरीर से उत्पन्न किया[5]। किंच, वर्षा देनेवाली पर्जन्य-गौ को विद्युत्-वत्स की माता कहा गया है, साथ ही अन्तरिक्षस्थ अग्नि के बीज को धारण करने वाले दिव्य जलो को विद्युत् की माता बताया गया है, क्योकि अग्निदेव का एक स्वरूप 'जल पुत्र' भी है (§ 24)। अथर्ववेद[6] मे विद्युत् का एक नाम 'प्रवतो नपात्' भी आता है। तीसरा, जनकत्व

1. बह्वीना पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य ।
इषुधि सङ्का पृतनाश्च सर्वा पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूत ॥ ऋ० 6 75.5
2 अयुक्त सप्त शुन्ध्युव सूरो रथस्य नप्त्य ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभि ॥ ऋ० 1 50 9
3 दृळ्हा चिद् या वनस्पतीन् क्ष्मया दर्धर्ष्योजसा ।
यत् ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टय ॥ ऋ० 5 84 3
4 तन्नो वातो मयोभु वातु भेषज तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौ ॥ ऋ० 1 89 4
5 ते सूनव स्वपस सुदससो मही जज्ञुर्मातरा पूर्वचित्तये ।
स्थातुश्च सत्य जगतश्च धर्मणि पुत्रस्य पाथ पदमद्वयाविन ॥ ऋ० 1 159 3
क उ नु ते महिमन समस्यास्मत्पूर्व ऋषयोऽन्तमापु ।
यन्मातर च पितर च साकमजनयथास्तन्व स्वाया ॥ ऋ० 10.54 3
6 नमस्ते प्रवतो नपाद्यतस्तप समूहसि ।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥

का उसके एक और सामान्य अर्थ मे भी प्रयोग हुआ है : उदाहरणार्थ गिरोह के मुखिया और सब से दबग व्यक्ति को गिरोह के सदस्यो का मा-बाप कहा जाता है। इस दृष्टि से वायु उत्पात-देवताओ का मा बाप है[1]। इसी प्रकार रुद्र मरुतो का अथवा रुद्रो का, सोम वनस्पतियों का, और सरस्वती सभी नदियों की माता है।

ऋग्वेद मे जनकत्व के दो गौण प्रयोग भी है, ठीक वैसे ही जैसेकि अरबी भाषाओ मे। पहला तब जबकि किसी गुण को आलकारिक अर्थ मे उन पुत्रो का पिता कहा जाता है, जिनमे कि वह गुण बहुत अधिक मात्रा मे मिलता है अथवा जो उस गुण के वितरक है। उदाहरणार्थ आम तौर से देवताओ को अमरत्व अथवा दक्ष का पुत्र[2] समझा जाता है। (दे० § 19), अग्नि शवस् (=शक्ति) का पुत्र है (§ ३५) और पूषा उन्मुक्ति का पुत्र है। इन्द्र सत्यका पुत्र है[3]। गो-प्राप्ति[4] का और शक्ति का पुत्र है[5]। इन्द्र की माता को शवसी[6] कहा गया है। मित्र और वरुण महती शक्ति के सूनु है। दूसरा प्रयोग अपेक्षाकृत कम आता है। जिस प्रकार पिता के गुण पुत्र मे सक्रान्त होते है वैसे ही कभी-कभी उसका नाम भी उस पर सक्रान्त हो जाता है। इस प्रकार त्वष्टा का एक विशेषण "विश्वरूप" त्वष्टा के पुत्र का नाम बन जाता है। इसी सादृश्य के आधार पर विवस्वान् का नाम उसके पुत्र मनु के लिए पैतृक नाम के रूप मे वैवस्वत[7] बनकर प्रयुक्त हुआ है।

ऋग्वेद के सबसे बाद बने सूक्तो मे से एक पुरुषसूक्त[8] मे सर्ग का आलकारिक निरूपण मिलता है। इसमे न तो तक्षण प्रक्रिया की ओर ही सकेत है और न जन्म-प्रक्रिया की चर्चा ही। यद्यपि इस सूक्त के कुछेक विवरण ऋग्वेद के सबसे बाद के काल की ओर सकेत करते है, तथापि इसकी मुख्य विचारधारा अत्यन्त आदिम-कालीन है, क्योकि इसमे सर्ग की रचना एक दैत्य के शरीर से हुई बताई गई है। देवताओ ने दैत्य का एक यज्ञ किया। हविष् रूप पुरुष का सिर आकाश बन गया, उसकी नाभि वायु बन गई और उसके पैर धरती बन गये। उस के मन से चन्द्रमा,

---

मरुतो नपान्नमं एवास्तु तुभ्य नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्म । अ० 1.13 2,3.
यूयं नः मरुतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचस । अ० 1 26 3.
मरुन् ते अभे जनिमा पितूयत साचीव विश्वा भुवना न्यृञ्जसे ॥ ऋ० 10 142 2.

1. अजनयो मरुतो वक्षणाभ्यो दिव आ वक्षणाभ्य । ऋ० 1 134 4.
2. नपाता शवसो मह. सूनू दक्षस्य सुक्रतू । ऋ० 8 25 5.
3. सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ ऋ० 8 69 4.
4. प्र ते बभ्रू विचक्षण शंसामि गोषणो नपात् । ऋ० 4 32 22
5. का सुष्टुति शवस सूनुमिन्द्रमर्वाचीनं राधस आ ववर्तत् । ऋ० 4 21 1.
6. प्रति त्वा शवसी वदद् गिरावप्सो न योधिषत् ॥ ऋ० 8 45 5
7. यथा मनौ विवस्वति सोमं शक्रापिब. सुतम् । वालखिल्य 4.1.
8. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥ ऋ० 10 90 2.

चक्षु से सूर्य, मुख से इन्द्र और अग्नि, और प्राण से वायु की उत्पत्ति हुई। उसका मुख ब्राह्मण बना, उसकी भुजाएं राजन्य, उसके ऊरु वैश्य और उसके पैर शूद्र बने। सूक्त में मिलने वाले विवरण से सर्वदेववाद की-सी गन्ध आती है; क्योंकि इसमें साफ तौर से कहा गया है कि यह सब कुछ पुरुष[1] ही है; भूत और भविष्य दोनों पुरुष ही है। अथर्ववेद[2] और उपनिषदों[3] में सर्वदेववादी दृष्टि मे पुरुष को विश्व से अभिन्न बताया गया है। उसका ब्रह्म[4] के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है। शतपथ[5] के अनुसार पुरुष वही है जोकि स्रष्टा प्रजापति है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल मे कुछ सूक्त आते है, जिनमे सृष्टि की उत्पत्ति आलंकारिक ढंग से नही अपितु दार्शनिक ढंग से दिखाई गई है। अनेक मन्त्रो से झलकता है कि ऋग्वेद के सृष्टि-रचना-विषयक विचारों मे सूर्य को एक महत्त्वपूर्ण सृष्टि-कर्ता माना जाता था। फलतः उसे चर और अचर सभी का आत्मा कहा गया है[6]। इस प्रकार की उक्तियों से, जैसेकि "वह है तो असल में एक, पर नाम उसके अनेक हैं"[7] ज्ञात होता है कि उसके मूर्त रूप को एक सर्वातिशायी भावरूप देवता में बदला जा रहा था, जो कि बाद के समय में विकसित ब्रह्मा से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। इस दृष्टि से एक बार सूर्य को भी हिरण्यगर्भ कहकर विश्व की प्रभविष्णु शक्ति के रूप में उसकी वन्दना की गई है[8]। हिरण्यगर्भ आकाश-मण्डल को नापता है; और वही उस विन्दु पर भासमान होता है जहा सूर्य उदित होता है[9]। इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र

---

1. अहोदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम्। अ० 10.2.25.
2. ऊर्ध्वो नु सृष्टा३ंस्तिर्यङ् नु सृष्टाः३ सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३। अ० 10.2.28. etc.
   The whole Sukta deals with पुरुष
3. पुरुष एवेदं विश्वम्। मुण्डकोपनिषत् 2.1.10.
4. अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद् ब्रह्म।
   छान्दोग्य उप० 1.7.5.
5. ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। स प्रजापतिः॥ श० 11.1.6.2.
6. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋ० 1.115.1. D.
7. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
   एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० 1.164.46.
   सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
   छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश॥ ऋ० 10.114.5.
   एकं एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः।
   एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥ वालखिल्य. 10.2.
8. यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
   य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋ० 10.121.3.
9. येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।

मे उसे प्रजापति कहा गया है, और यही नाम ब्राह्मणो मे मुख्य देवता का पड गया है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि ऋग्वेद के इस अकेले पुराने मन्त्र मे, जिसमे कि प्रजापति[1] शब्द आया है, वह सूर्य का विशेषण है जिसे उसी सूक्त के पञ्चम मन्त्र मे चराचर का शासक बताया गया है।

सर्ग-सबन्धी दो सूक्त और है, जिनमे असत् से सत् की उत्पत्ति बताई गई है। ऋग्वेद[2] मे आया है कि ब्रह्मणस्पति ने एक लुहार की न्याई इस जगत् को एक-साथ धौका। असत् से सत् की उत्पत्ति हुई। उससे क्रमशः पृथिवी, आकाश और अदिति हुए और अदिति के साथ दक्ष जन्मे और अदिति के बाद देवता जन्मे। देवताओ ने सूर्य को सिरजा। अदिति के आठ पुत्र हुए किंतु आठवे पुत्र मार्तण्ड को उसने दूर फेंक दिया। असल मे उसने उसे जन्मने और मरने के लिए रचा। इस सूक्त मे तीन स्तर प्रत्यक्ष है—पहले सृष्टि बनी, फिर देवता बने और अन्त मे सूर्य की रचना हुई।

ऋग्वेद[3] मे, जोकि अत्यन्त उदात्त एव सूक्ष्म भावों से भरा सूक्त है, यह भापा गया है कि आरम्भ मे कुछ भी नही था और तब केवल शून्य था। वह अविविक्त जल अधकार से परिच्छन्न था[4]। एक आदि तत्त्व तपस् से उत्पन्न हुआ। उसके बाद मन का प्रथम बीज काम पैदा हुआ। यह सत् और असत् के मध्य की एक

यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० 10.121.5.
यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।

1. यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० 10.121.6
दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः पिशङ्गं द्रापिं प्रति मुञ्चते कविः ।
विचक्षणः प्रथयन्नापृणन्नुर्वजीजनत् सविता सुम्नमुक्थ्यम् ॥ ऋ० 4 53.2.
जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी । ऋ० 4.53 6.

2. ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत् ।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥ ऋ० 10.72 2.
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ॥ 3.
भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त ।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ॥ 4.
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव ।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥ 5
अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि ।
देवाँ उप प्रैत् सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत् ॥ ऋ० 10.72 8.

3. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ ऋ० 10 129.1.

4. तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥ ऋ० 10 82 6.

कडी थी। इस आविर्भाव से देवता हुए। किंतु इतना कहते ही कवि असमञ्जस मे पड जाता है और सृष्टि-रचना को अनिर्वाच्य बताकर मौन हो जाता है। तीन मन्त्रो का एक सूक्त[1] उक्त विकास का परिशेष बन कर आया है। इसके अनुसार तपस से ऋत हुआ, तदुपरान्त रात्रि, समुद्र, एव सवत्सर का आविर्भाव हुआ। धाता ने यथापूर्व सूर्य, चन्द्र, द्युलोक और पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश को सिरजा।

ऋग्वेद के १० १२९वें सूक्त के समान ही उदात्त स्वर मे तैत्तिरीय ब्राह्मण[2] कहता है कि आरभ मे कुछ नही था, न स्वर्ग, न धरती और न अन्तरिक्ष। इन्होने असत् से सत् बनने का इरादा किया। ब्राह्मणो की सर्ग-विषयक भावना के अनुसार सृष्टि-रचना के लिए एक कर्ता की अपेक्षा है, भले ही वह कर्ता आरम्भ-बिन्दु न हो। ब्राह्मण प्रजापति या मानवीय ब्रह्मा को कर्ता मानते है, जोकि देव-दानवो और मानवो का केवल स्रष्टा ही नही अपितु उनका सभी-कुछ है। यह प्रजापति ऋग्वेद मे सकेतित काम-बीज का मानवीय प्रतिरूप है। इन सभी वर्णनो मे सर्ग का आरम्भ-बिन्दु पुत्रेच्छुक स्रष्टा प्रजापति है, अथवा वह आदि-सलिल जिस पर कि रचना का मूर्त सुवर्ण अण्ड (हिरण्यगर्भ) तैर रहा था जिससे कि उस जीवन का विकास हुआ जो इच्छा का निधान और सृष्टि का रचयिता है। प्रजापति और आदि-सलिल के पौर्वापर्य मे मिलनेवाला विरोध सभवत रचना और विकास के दो सिद्धान्तो को मिला देने से पैदा हुआ है। इसके अतिरिक्त और बहुत-से उक्ति-विरोध भी सामने आते हैं। उदाहरणार्थ, देवताओ ने प्रजापति को उत्पन्न किया और प्रजापति ने देवताओ को। छान्दोग्य ब्राह्मण[3] मे कहा गया है कि असत् सत् बन गया। सत् एक अण्डे मे बदल गया, जो एक साल बाद फट कर द्युलोक और पृथिवी मे विभक्त हो गया। जो कुछ भी उत्पन्न हुआ वह सूर्य है और सूर्य ब्रह्म है[4]।

आपो॑ ह॒ यद् बृ॑ह॒तीर्विश्व॒माय॒न् गर्भं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर॒ग्निम् ।
ततो॑ दे॒वानां॒ सम॑वर्त॒तासु॒रेकः॒ कस्मै . .. ..॥ ऋ० 10 121 7

1 ऋ॒तं च॑ स॒त्यं चा॒भी॑द्धा॒त् तप॒सोऽध्य॑जायत ।
तत॒ो रात्र्य॑जायत॒ तत॑ समु॒द्रो अ॑र्ण॒वः ॥
स॒मु॒द्राद॑र्ण॒वादधि॑ संवत्स॒रो अ॑जायत ।
अ॒हो॒रा॒त्राणि॑ वि॒दध॒द् विश्व॑स्य मिष॒तो व॒शी ॥
सू॒र्या॒च॒न्द्र॒मसौ॑ धा॒ता य॑थापू॒र्वम॑कल्पयत् ।
दिवं॑ च पृथि॒वीं चा॒न्तरि॑क्ष॒मथो॒ स्वः॑ ॥ ऋ० 10 190 1–3

2 न द्यौरासीत् । न पृ॑थि॒वी । नान्तरि॑क्षम् । तदसं॑दे॒व सन्मनो॑ऽकुरुत॒ स्यामिति॑ ।
तै० ब्रा० 2.2 9 1

3 काम॒स्तदग्रे॒ सम॑वर्त॒ताधि॒ मन॑सो॒ रेतः॑ प्रथ॒मं यदासी॑त् । ऋ० 10 129 4

4 सदेवेदमग्र आसीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत

बृहदारण्यक[1] ने विकास-क्रम को इस प्रकार रखा है—आरम्भ में यह जगत् जल था, उससे सत्य उत्पन्न हुआ; सत्य से ब्रह्म; ब्रह्म से प्रजापति और प्रजापति से देवता उत्पन्न हुए।

अथर्ववेद में विश्वेदेव स्कम्भ, प्राण[2], रोहित (सूर्य), काम आदि नामों से स्रष्टा के रूप में आते है। ब्राह्मणों की सब से आकर्षक सृष्टि-रचना-संबन्धी गाथा मे जलमग्न पृथिवी को सूकरदेव ऊपर उभारते है। आगे चलकर यही सूकरदेव विष्णु के एक अवतार बन जाते है।

देवों और मानवों का उद्गम (§ 9)—

देवताओं के उद्गम से संबद्ध उल्लेखों का निर्देश हो चुका है; अब उनका संक्षेप दे देना उचित होगा। दार्शनिक सूक्तों मे देवों की उत्पत्ति बहुधा जलतत्त्व से बताई गई है। अथर्ववेद[3] में उनका उद्भव असत् से बताया गया है। ऋग्वेद[4] के अनुसार देवो का उत्थान विश्व की उत्पत्ति के अनन्तर हुआ है। किंतु सामान्यतः उन्हें आकाश-पृथिवी की संतति माना गया है। ऋग्वेद[5] में उनका उद्गम संसार के तीन विभागो के अनुसारी तीन तत्त्वों से अर्थात् अदिति, जल, और पृथिवी से बताया गया है[6]। एक धारणा के अनुसार देवो को एक-दूसरे से उत्पन्न हुए बताया

ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्। तद् यद्रजतं सेयं पृथिवी यत्सुवर्णं सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बं स मेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुदकं स समुद्रः। अथ यत्तद्जायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः। स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते।

छान्दोग्योप० 3.19.1–4

1. आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवान्।
बृहदारण्यक० 5.5.1.
2. प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। अथ० 11. 4. 1.
3. बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परिजज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः॥ अथ० 10.7.25.
4. को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥ ऋ० 10.129.6.
5. विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि वः।
ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम्॥ ऋ० 10.63.2.
6. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥ ऋ० 1.139.11.

गया है। ऋग्वेद[1] में उषा को देवताओं की जननी कहा गया है; एक मन्त्र[2] में ब्रह्मणस्पति को, और दूसरे[3] में सोम को। 7 या 8 देवों को, जोकि आदित्य नाम से ख्यात हैं, अदिति से उत्पन्न हुए बताया जाता है। अथर्ववेद[4] में कुछ देवता पिता कहे गये हैं और कुछ को पुत्र कहा गया है।

रही मानव के उद्गम की बात—इस विषय मे वैदिक भावना डावांडोल-सी है; फिर भी मानव जाति का उद्गम सामान्यतः एक आदिम पुरुष से माना गया है। यह आदिम पुरुष या तो विवस्वत्पुत्र मनु है, जिसने सबसे पहला यज्ञ किया था[5] और जो मनुओं का पिता कहाता है[6]; अथवा विवस्वान् का पुत्र वैवस्वत यम जिसने अपनी यमल बहिन यमी के साथ मानव जाति को प्रवर्तित किया था। और यदि मानव का उद्गम, इस प्रथम पुरुष से भी पहले हुआ माना जाय तो इसे दिव्य मानना होगा। विवस्वान् (§ 18) यमल के पिता है, जबकि एक स्थल पर[7] दिव्य गंधर्व और अप्सराओं को उनका परम जामि बताया गया है। कभी-कभी मानव के देवों के साथ के संबन्ध का भी संकेत है; और तब मानवों को आकाश-पृथिवी की संतति में संमिलित किया जाता रहा होगा; क्योकि आकाश, पृथिवी तो सभी के कदीमी मां-बाप रहते आये हैं। ऋग्वेद[8] में अग्नि को मानव-अपत्य उत्पन्न करने-वाला बताया है। अङ्गिरसों को, जोकि परवर्ती काल के पुरोहितों के पूर्वज है, अग्नि का पुत्र कहा गया है। ऐसे भी अनेक मानव-परिवार है जो अत्रि, कण्व, एव अन्यो के[9] माध्यम से स्वतन्त्र-रूपेण देवताओ से उत्पन्न हुए है। वसिष्ठ के[10] विषय

---

1. माता देवानामदितेरनीकं यज्ञस्य केतुर्बृहती वि भाहि। ऋ० 1.113.19.
2. देवानां यः पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम् ॥ ऋ० 2.26.3.
3. पिता देवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः ॥ ऋ० 9.87.2.
4. ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेदमुक्तम् ॥ अथ० 1.30.2.
5. येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत........................ ॥ ऋ० 10.63.7.
6. यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत ॥ ऋ० 1.80.16.
7. गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥ ऋ० 10.10.4.
8. स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् ॥ ऋ० 1.96.2.
स मातरिश्वा पुरुवारपुष्टिर्विदद् गातुं तनयाय स्वर्वित्।
विशां गोपा जनिता रोदस्योर्देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् ॥ ऋ० 1.96.4.
9. दध्यङ् ह मे जनुषं पूर्वो अङ्गिराः प्रियमेधः कण्वो अत्रिर्मनुर्विदुस्ते मे पूर्वे मनुर्विदुः।
तेषां देवेष्वायतिरस्माकं तेषु नाभयः ॥ ऋ० 1.139.9.
10. उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः।

में कहा गया है कि उनकी उत्पत्ति एक अनोखे ही ढंग से मित्र और वरुण से हुई थी और उर्वशी उनकी माता थी। विभिन्न वर्णों के मानवों की विश्व-पुरुष के विभिन्न अवयवों से हुई उत्पत्ति प्रस्तुत विश्व-रचना से भिन्न प्रकार की है। (दे० § 8 p. 12)।

३. वैदिक देवता

सामान्य स्वरूप और वर्गीकरण (§ 10)—

रूप-रेखा का अनिर्धारण और व्यक्तित्व का अभाव—ये दो बातें वेदों की देव-विषयक धारणा की विशेषताएं है। इस कमी का प्रमुख कारण यह है कि वैदिक देवता, भारोपीय जातियों में से किसी भी जाति के देवताओं की अपेक्षा प्राकृतिक दृश्यों के अधिक समीप हैं। फलतः वेद के प्राचीन व्याख्याकार यास्क कहते है कि देवों का दृश्य रूप नितरां मानवीय नही है; जैसेकि सूर्य, पृथिवी तथा अन्य देवों के दृश्य रूप[1]। वैदिक देवताओं के प्राकृतिक आधारों में, आरम्भ में बहुत ही थोड़ी वैयक्तिक विशेषताएं रही थीं; यहां तक कि उनमें उनके अपने क्षेत्र से संवद्ध अन्य दृश्यों अथवा घटनाओं की विशेषताएं भी विद्यमान थीं। इस प्रकार उषा, सूर्य, एवं अग्नि के इन सब में मिल जानेवाले गुण है—ज्योतिष्मत्ता, अन्धकार का निरसन, और प्रातःकाल के समय आविर्भाव। एक दूसरे से पार्थक्य उस अवस्था में और भी कम हो जाता है जब विभिन्न देवता एक ही प्राकृतिक दृश्य या घटना के विभिन्न पक्षों से उत्पन्न हुए बताये जाते है। इसलिए वेद के हर देवता के स्वरूप में तात्त्विक विशेषताएं कुछ इनीगिनी ही है, जो दूसरे सभी देवताओं में पाई जानेवाली विशेषताओ के साथ मिलती-जुलती है। जैसे—प्रकाश, शक्ति, वदान्यता, और प्रज्ञा। कुछेक असामान्य महत्ता के कार्य हर महान् देवता में व्यक्तिगत रूप से निक्षिप्त किये गये हैं। स्वर्ग और पृथिवी के संभालने या स्थिर करने का कार्य इतने साधारण रूप से उन सब को सौंपा गया है कि अथर्ववेद[2]

द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ॥ ऋ० 7.33.11.

1. अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्। अपि तु यद् दृश्यतेऽपुरुषविधं तत्।
यथाऽग्निर्वायुरादित्यः पृथिवी चन्द्रमा इति ॥ नि० 7.7.

2. शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तरः।
दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्यायुषे ॥ अथ० 19.32. 1–10.
दर्भेण देवजातेन दिविष्टम्भेन शश्वदित्।
तेनाहं शश्वतो जनाँ असनं सनवानि च ॥ अ० 19–32.7.
यो जायमानः पृथिवीमदृंहद्यो अस्तभ्नादन्तरिक्षं दिवं च।

मे इस काम को कुशा की अटिया तक करती देखी गई है। लगभग एक दर्जन देवता दोनो लोको की सृष्टि करते बताये गये है। सख्या मे इनसे भी अधिक देवताओ ने सूर्य का आविर्भाव किया है और उसे आकाश मे स्थिर किया है, अथवा उसके लिए वर्तनि (पथ) का निर्माण किया है। चार या पाच देवताओ के विषय मे कहा गया है कि उन्होने पृथिवी, आकाश अथवा इन दोनो लोको का विस्तार किया है। अनेक देवता (सूर्य, सविता, पूषा, इन्द्र, पर्जन्य और आदित्य गण) चर और अचर सभी के स्वामी बताये गये है।

इस प्रकार के सर्वसाधारण गुण प्रत्येक देवता के विशिष्ट गुणो को अस्पष्ट बना देते है, क्योकि स्तुति-सूक्तो मे तो देवताओ के इन्ही गुणो को विशेष महत्त्व दिया गया है। पुन प्रकृति के विविध विभागो अथवा पक्षो से सबद्ध होने पर भी यदि देवताओ के प्रमुख कार्य सामान्य हुए तो सब देवता एक-दूसरे के समीप आ जाते हैं। इस प्रकार अग्नि, जो अपने प्राथमिक रूप मे एक पृथिवीस्थ देवता है, अपने प्रकाश से अन्धकार के दैत्यो को दूर भगाता है, जबकि अन्तरिक्षस्थ विद्युत् का देवता इन्द्र उन दैत्यो को अपनी विद्युत् से मारता है। इस दशा मे अग्नि-देव-सबन्धी कल्पना मे अन्तरिक्षस्थ विद्युत् का पक्ष भी प्रविष्ट हो जाता है। देवताओ के इस समीकरण या एकीकरण मे उनके युग्मो मे आहूत होते रहने का भी पर्याप्त हाथ है। ऐसी परिस्थिति मे एक देवता के विशिष्ट गुण दूसरे देवता मे, उसके एकाकी बुलाये जाने पर भी निक्षिप्त हो जाते है। इस प्रकार स्वय अग्नि सोमपा, वृत्रघ्न, गौ, जल, और सूर्य का विजेता बन जाता है, जबकि मूलत ये गुण इन्द्र के अपने रहे थे।

हर वैदिक देवता मे सामान्य रूप से सब गुणो के मिल जाने के कारण पैदा हुई रूप-रेखा की अनिश्चितता से, एव लगभग सभी देवो को सभी शक्तियो से सपन्न बताकर उनके अपने विशिष्ट गुणो के निराकरण से, देवताओ मे तादूप्य-स्थापन का काम आसान हो गया है। इस तादूप्य के निदर्शक सदर्भ ऋग्वेद मे बहुल है। उदाहरण के लिए—एक कवि अग्निदेव का आह्वान करता हुआ कहता है—जन्म से, हे अग्नि! तू वरुण है, समिद्ध होने पर तू मित्र है, तुझमे, हे शक्ति के पुत्र! सभी देवता केन्द्रित है, तू उपासक के लिए इन्द्र है[1]। उपासक पुरोहितो की दृष्टि मे अग्नि एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवता था। वह पृथिवी पर व्यक्तिगत अग्नि के रूप मे, अन्तरिक्ष मे वैद्युत अग्नि के रूप मे, और द्युलोक मे सूर्य के भीतर प्रवर्तमान अग्नि के रूप मे आविर्भूत हुआ है। उसके इन विभिन्न स्वरूपो का सकेतन वैदिक कवि पहे-

---

य बिभ्रत नार्तुं पाप्मा विवेद स नोऽय दर्भो वरुणोऽधिवाक ॥ अथ० 19 32 9.

1. त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्ध ।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ॥ ऋ० 5 3 1.

लियो के रूप मे किया करते थे। इस प्रकार एक देवता को विभिन्न देवताओ के भीतर प्रवर्तित करने की इस प्रक्रिया से इस परिणाम पर पहुच जाना सरल है कि विभिन्न देवता एक ही दिव्य सत्ता के विविध रूप है। इस तथ्य का निरूपण ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो मे पाया जाता है। एक ही देवता को विप्र लोग विभिन्न नामो से पुकारते हैं, वे इस एक को अग्नि, यम, मातरिश्वा इन नामो से पुकारते हैं[1] (तुलना कीजिए अथर्ववेद[2] के मन्त्र से)। मेधावी कवि एक ही सुपर्ण को अनेक प्रकार से देखते हैं[3]। इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वेद-काल के अन्तिम पक्ष मे एक प्रकार के बहुदेववाद-प्रवण एकेश्वरवाद का आविर्भाव हो चुका था। ऋग्वेद मे हमे सर्वदेववाद का आरम्भिक रूप भी मिलता है, क्योकि एक देवता केवल सभी देवताओ का मूल ही नही, अपितु वह सपूर्ण प्रकृति का भी प्रतिनिधि है। अदिति का तादूप्य सब देवो के साथ ही नही, अपितु मानवो, सब भूत और भविष्य पदार्थों, यहा तक कि वायु और स्वर्ग से भी स्थापित किया गया है[4]। इसी प्रकार प्रजापति सभी देवो के ऊपर एक देव ही नही, अपितु वे अपने मे पदार्थजात को अन्तर्हित किये हुए हैं[5]। सर्वदेववाद का यह दृष्टिकोण अथर्ववेद मे पूर्णरूपेण विकसित हो गया है[6], और उत्तरकालीन वैदिक साहित्य मे तो इसकी सर्वात्मना प्रतिष्ठा हो गई है।

ऋग्वेद के प्राचीनतर भागो मे व्यक्तिगत देवताओ का आह्वान उन्हे सर्वोच्च मान कर किया गया है, किंतु वहा यह धारणा अपनी अन्तिम परिणति तक नही पहुच पाई है। वैदिक कवि जिस देवता-विशेष का आह्वान करते है, उसके स्तवन मे लीन हो जाते हैं, और उस के गुणो को पराकाष्ठा तक पहुचा देते हैं'

---

1 इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु ॥ ऋ० 1 164 46
उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठ ।

2 एको ह देवो मनसि प्रविष्ट प्रथमो जात स उ गर्भे अन्त ॥ अथ० 10 8 28
य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ अथ० 13 4.15.

3 सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ॥ ऋ० 10 114 5

4 अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र ।
विश्वे देवा अदिति पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ ऋ० 1.89 10

5 यो देवेष्वधि देव एक आसीत्। ऋ० 10 121.8
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। ऋ० 10 121 10

6 यत्र ऋषय प्रथमजा ऋच साम यजुर्मही ।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पित स्कम्भ तं ब्रूहि कतम स्विदेव स ॥ अथ० 10 7 14
बृहन्तो नाम ते देवा येऽसत परिजज्ञिरे ।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहु परो जना ॥ अ० 10 7 25

मैक्समूलर द्वारा प्रवर्तित हेनोथीज्म या कथेनोथीज्म नामक अत्यन्त विवादग्रस्त सिद्धान्त का जन्म इसी प्रक्रिया के आधार पर हुआ है। हेनोथीज्म का अर्थ है—एक-एक देवता को बारी-बारी से सर्वोच्च देवता मानकर उसका गुण-गान करना। इस सिद्धान्त के अनुसार वैदिक कवि जिस किसी देवता का आह्वान कर रहे होते है उसी को सर्वातिशायी दिव्य गुणोवाला देखने लगते हैं और उस समय उसे ही सर्वस्वतन्त्र और सर्वोच्च देवता मानने लगते है। इस सिद्धान्त के विरोध मे यह आपत्ति उठाई जाती है कि वैदिक देवता सुतरा स्वतन्त्र नही माने गये है, क्योकि किसी भी धर्म मे देवताओ को इतना अधिक एक-दूसरे का समकक्ष एव एक-दूसरे से समिलित नही बताया गया है जितना कि वेद मे, साथ ही वेद के सर्वशक्ति सपन्न देवता भी अन्य देवताओ के अधीन है। उदाहरण के लिए– वरुण और सूर्य इन्द्र के अधीन है[1]। वरुण और अश्विन् विष्णु के समक्ष नतमस्तक हैं[2], और इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा और रुद्र सवितृ-देव के नियमो का उल्लघन नही करते[3]। यह भी मननीय है कि विश्वेदेव के सूक्तो मे, जिनकी सख्या काफी है, सभी देवता, यहा तक कि छोटे देवता भी, क्रमश आहूत हुए हैं। एक बात और, वैदिक सूक्तो की एक बडी सख्या सोमयज्ञ-सपादन के लिए रची गई थी। इस यज्ञ-सपादन मे प्राय सभी देवताओ का हाथ है। यज्ञिय पुरोहित को सोम यज्ञ मे भाग लेनेवाले हर देवता के अपने स्थान का ज्ञान अवश्य रहा होगा। जब किसी देवता को अद्वितीय या एक कहकर उसका यशोगान किया गया है—जैसाकि यशोगान मे स्वाभाविक-सा है—तब भी इस प्रकार के वाक्यो की एकेश्वरवादी शक्ति सदर्भ की विकृति से अथवा इन वाक्यो की जैसी-तैसी सगति से ही सभव हो सकी होगी। जैसेकि कवि के इस कथन मे—'केवल अग्नि ही, वरुण की भाति धन का स्वामी है'। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कभी-कभी देवताओ का आह्वान युगलो मे, त्रयी मे, और कभी-कभी इससे भी बडे वृन्दो मे किया गया है। उदात्त चरितवाले वरुण तक को एक देवता[4] या अनेक देवताओ के साथ[5] आहूत किया

1 यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्य । ऋ० 1 101 3

2 तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसं । ऋ० 1 156 4

3 न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्र । ऋ० 2 38 9

4 विश्वेषा व सता ज्येष्ठतमा गीर्भिर्मित्रावरुणा वावृधध्यै ।
स या रश्मेव यमतुर्यमिष्ठा द्वा जनाँ असमा बाहुभि स्वै ॥ ऋ० 6 67 1-11
इत्यादि पूर्णसूक्त

5 इदं कवेरादित्यस्य स्वराजो विश्वानि सान्त्यभ्यस्तु मह्ना ।
अति यो मन्द्रो यजथाय देव सुकीर्तिं भिक्षे वरुणस्य भूरेः ॥ ऋ० 2 28 1-11
इत्यादि पूर्णसूक्त

गया है। फलत. हेनोथीज़म का सिद्धान्त सत्य नही प्रतीत होता, और इसकी उत्पत्ति का आधार देवो के अविकसित मानवीय रूप से उत्पन्न हुई उनकी रूपरेखा की अनिश्चयात्मकता और भ्रीयस जैसे किसी सर्वातिशायी देवता का अभाव है। इस प्रवृत्ति के वहुत से कारणो मे वैदिक कवि की वह प्रवृत्ति भी है जिसके अनुसार कि वह किसी देवता के यश को गाता-गाता उसे इस हद तक पहुंचा देता है कि उससे अन्य देवगणो की उपेक्षा-सी हो जाती है, और देवैक्य मे आस्था पकती चली जाती है जिसके अनुसार हर-एक देवता एक ही दिव्य सत्ता के किसी एक पक्ष का प्रतिरूप वन कर खिल उठता है[1]। हा! हेनोथीज़म का सिद्धान्त वैदिक कवि की एकेश्वरवाद की ओर भुकी प्रवृत्ति का सूचक अवश्य है।

पहले कह आये हैं कि वैदिक कवियों की दृष्टि मे वैदिक देवताओ का आदि था, क्योकि उनका वर्णन कवियो ने स्वर्ग और पृथिवी के अपत्य के रूप मे, और कभी-कभी दूसरे देवताओ के अपत्य के रूप मे किया है। इससे स्पष्ट है कि देवताओ की अनेक पीढिया थी, और "पूर्वे देवा." का उल्लेख तो अनेक मन्त्रो मे साफ तौर से आया ही है[2]। देवताओ के प्रथम युग का उल्लेख भी हुआ है[3]। अथर्ववेद[4] मे कहा गया है कि दश देवता अन्य देवताओ से पहले विद्यमान थे। ये देवता मूलत. मरणधर्मा थे—यह वात स्पष्ट रूप से अथर्ववेद[5] मे आती है। ब्राह्मणो मे यह बात एकसाथ सभी देवो के लिए[6] एव व्यक्तिक देवो के लिए—जैसेकि इन्द्र[7] अग्नि और प्रजापति के लिए—कही गई है। देवता लोग मूलत: अमर नही थे। इस बात के सकेत ऋग्वेद मे आते है। और यह भी कहा गया है कि उन्हे अमरत्व का वरदान सविता[8] या अग्नि से प्राप्त हुआ था। ऋग्वेद के एक मन्त्र मे आता है कि देवताओ

1. मुहद् देवानामसुरत्वमेकम्। ऋ० 3.55.
2. देवाश्चित्ते असुर्याय पूर्वेऽनु क्षत्राय ममिरे सहांसि। ऋ० 7.21.7.
3 देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत। ऋ० 10 72.2.
देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत। ऋ० 10.72.3.
4 ये त आसन्दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा। अथ० 11 8.10.
5 ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। अथ० 11 5.19.
येन देवा. स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः॥ अथ० 4 11 6
6 ते देवाः। एतस्मादन्तकान्मृत्योः संवत्सरात्प्रजापतेर्बिभयाञ्चक्रुर्यद्वै नोऽयमहोरात्राभ्यामायुषोन्तं न गच्छेदिति। शत० ब्रा० 10 4 3.3.
7 अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृत: समभवत्। ऐ० ब्रा० 8.14 4
8. देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम्॥ ऋ० 4 54 2.
देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम्।

ने अमरत्व की प्राप्ति की, किंतु कहा से और कैसे, इस बात पर प्रकाश नही डाला गया[1]। उन्हे अमरत्व सोमपान से मिला है[2] और सोम मे अमरत्व का सार है[3]। एक उत्तरकालीन धारणा के अनुसार इन्द्र ने स्वर्ग को तपस् के द्वारा जीता[4] और देवताओ ने देवत्व की प्राप्ति भी तपस् के द्वारा ही की[5]। अथर्ववेद के अनुसार देवताओ ने ब्रह्मचर्य या तपस् के द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त की[6] और अमरत्व को रोहित से प्राप्त किया[7]। एक और जगह उल्लेख मिलता है कि देवो ने मृत्यु को किसी याग-विशेष के द्वारा पराभूत किया[8]। इन्द्र और कुछ अन्य देवताओ को चिर-युवा बताया गया है[9]। यह सब कुछ ठीक है, किंतु वैदिक कवि देवताओ को निरपेक्षरूपेण अमर मानते थे—इस बात की पुष्टि के प्रमाण नही मिलते। वेदोत्तर-कालीन विचारधारा के अनुसार देवो की अमरता सापेक्ष थी, क्योकि उनकी यह अमरता एक युग विशेप तक ही सीमित रहती थी।

देवताओ का शारीरिक ढाचा मानवीय है। किंतु उनका यह रूप कुछ कुछ

आदिद्दामानं सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्य ॥ वा० स० 33 54
तन् क्रतुभिरमृतत्वमायन् वैश्वानर यत् पित्रोरदीदे ॥ ऋ० 6 7 4
येन देवा अमृतमन्वविन्दन्। अथ० 4.23 6

1 सतो नून कवय स शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
विद्वास पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशु ॥ ऋ० 10 53 10

2 त्व द्रप्सा उदप्रुत इन्द्रं मदाय वावृधु। त्वा देवासो अमृताय कं पपु। ऋ० 9 106 8
इन्द्रस्ते सोम सुतस्य पेया क्रत्वे दक्षाय विश्वे च देवा ॥ ऋ० 9 109 2
एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष दिव्य पीयूष ॥ ऋ० 9 109 3

3 तद् यत्तदमृत सोम स। तदद्यापि यजमान श्रमेण तपसान्विच्छति स दीक्षित्वा पयोव्रतो भवत्येतद्वै तपो यो दीक्षित्वा पयोव्रतोऽसत् तस्य घोपमाश्नोतीति। शत० ब्रा० 9 5 1 8

4 तुभ्येदमिन्द्र परि षिच्यते मधु त्व सुतस्य कलशस्य राजसि।
त्व रयिं पुरुवीरामु नस्कृधि त्व तप परितप्याजय स्व ॥ ऋ० 10 167 1.

5 तपसा देवा देवतामग्र आयन्॥ तै० ब्रा० 3 12 3 1

6 ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ॥ अथ० 11.5 19

7. रोहितो द्यावापृथिवी अदृहत्तेन स्व स्तभितं तेन नाक।
तेनान्तरिक्ष विमिता रजासि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् ॥ अथ० 13 1 7.

8 यथा वै मनुष्या एव देवा अग्र आसन्तेऽकामयन्तावर्तिं पाप्मानं मृत्युमपहत्य दैवीं संसदं गच्छेमेति त एतं चतुर्विंशतिरात्रमपश्यन्तमाहरन्तेनायजन्त ततो वै तेऽवर्तिं पाप्मानं मृत्यु मपहत्य दैवीं संसदमगच्छन्। तैत्ति० सं० 7 4 2 1

9 शुष्मस्य ते वृषभस्य स्वराज उग्रस्य यून स्थविरस्य घृष्वे।
अजूर्यतो वज्रिणो वीर्याणीन्द्र श्रुतस्य महतो महानि ॥ ऋ० 3.46 1

नीहार-सा, छायात्मक-सा है, क्योकि बहुधा यह पता चल जाता है कि शारीरिक अवयव उनके प्राकृतिक आधार के पक्ष-विशेषो के प्रतिरूप है। उदाहरणार्थ—सिर, मुख, कपोल, आखें, वाल, कधे, सीना, उदर, भुजाए, अगुलिया और पैर अनेक देव-व्यक्तियो के देखे जाते है। सिर, सीना, हाथ और वाहो का उल्लेख इन्द्र और मरुद्गण जैसे युद्धालु देवताओ के सवन्ध मे हुआ है। सूर्य की भुजाए उसकी किरणे हैं, उसके नेत्र तो उसका भौतिक रूप है। अग्नि की जिह्वा और उसके अवयव उसकी लपटो के प्रतिनिधि है। नित की अगुलियो का उल्लेख उसे सोम-सोता वताने के लिए किया गया है और इन्द्र के उदर का उल्लेख उसके सोमपान को दर्शाने के लिए किया गया है। दो या तीन देवताओ को विश्वरूप वताया गया है। इस प्रकार के देवताओ की—जिनका स्वरूप इतना अधिक अस्पष्ट रहा हो और प्राकृतिक दृश्यो के साथ जिन का सवन्ध अनेक स्थलो पर इतना अधिक स्पष्ट दीख रहा हो—मूर्तियो का अथवा उनके मन्दिरो का ऋग्वेद मे न मिलना सुतरा स्वाभाविक है।

कुछ देवताओ को वस्त्र-से पहने दिखाया गया है। उदाहरण के लिए उपा को लीजिए। इसका वर्णन चमकीला वस्त्र पहरनेवाली कहकर किया गया है। कुछ देवता कोट जैसा कवच और सिर पर टोपी लगाते है। इन्द्र के हाथ मे वज्र रहता है, और कुछ अन्य देवो के लिए भालो, युद्ध की कुल्हाडियो, एव धनुप-वाण तक का उल्लेख आता है। साधारणत सभी देवता ज्योतिर्मय रथ मे बैठकर यात्रा करते है और लगभग सभी देवताओ के पास अपने निजी रथ है। रथो को खीचनेवाले प्राय घोडे है, किंतु पूपा के रथ को वकरे, मरुद्गण के रथ को चितकवरे हिरण और घोडे, और उपा के रथ को गौए एव घोडे खीचते है।

देवता अपने-अपने रथो मे बैठकर आते और यज्ञो मे प्रसारित कुशा के विस्तर पर बैठ जाते है। किंतु एक विशेप दृष्टिकोण से अग्निदेव स्वय हविष् को देवताओ के पास स्वर्ग मे ले जाते है। देवताओ का पेय सोम है। उनका भोज्य मनुष्यो का प्रिय अन्नाद्य है। ये दोनो यज्ञो मे उन्हे अर्पित किये जाते है। इसमे दूध के बने विभिन्न प्रकार के भोज्य—मक्खन, यव, शराव और चावल, छोटे २ पशु, वकरे और भेडे—समिलित है। पशुओ मे वे ही पशु देवताओ को रुचते है जो गुणो मे वहुत-कुछ उनसे मिलते-जुलते हो। इस प्रकार वृप या महिप की वलि इन्द्र को दी जाती है और इन दोनो ही की इन्द्र के साथ अनेक वार तुलना की जाती है। इसी तरह इन्द्र के घोडो के विपय मे आया है कि वे दाना खाते है। देवताओ के निवास के विपय मे भाति भाति के वर्णन मिलते हे, जैसेकि स्वर्ग, तृतीय स्वर्ग, या विष्णु का परम पद, जहाकि देवता लोग सोमपान मे मस्त होकर आनन्द का जीवन व्यतीत करते हैं। साधारणतया देवगण आपस मे प्रेम से रहते और एक-दूसरे से मित्रता वरतते हैं। उपद्रवालु तो अकेला इन्द्र ही है। वर्णन आता है कि एक वार

वह सभी देवताओ के साथ अकेला[1] लड पडा था। उसने अपने पिता को मार डाला था और उषा के रथ को तोड छिन्न भिन्न कर डाला था। देखने मे आया है कि एक बार उसने अपने विश्वासपात्र सखा मरुद्गणो तक को मार डालने की धमकी दी थी।

प्रकृति की प्रमुख शक्तियो के प्रतिरूप भूत देवता—जैसेकि अग्नि, सूर्य और विद्युत्—विजयी और इसके परिणामस्वरूप आशा मे पगे वैदिक भारतीयो के लिए क्षेमकारी एव उन्हे सपत्ति के प्रदाता जीव दीख पडते थे। अपनी हिंस्र विशेषताओ के रहते हुए भी पूजा का भाजन तो अकेला रुद्र ही है। मानव-जीवन मे उठनेवाले क्लेशो का कारण दैत्य है, जबकि प्रकृति के सिर पडनेवाले महान् क्लेश—जैसेकि अवर्षण और अन्धेरा—वृत्र जैसे शक्तिशाली दानवो की माया है। देवता लोग अपने हाथो इन दैत्यो का पराभव करके अपने सौख्यकारी स्वरूप को मानव-वर्ग के समुख ख्यापित करते है। फिर देवताओ की दया भी तो मनुष्यो की दया-जैसी है। असल मे तो देवता लोग यज्ञ के स्वीकर्ता है। जब पुरोहित लोग सोम को सवन करते, हविष् को अग्नि मे डालते और यज्ञ के क्रियाकलापो को करते है तब वे देवताओ के लिए विविध सूक्तो का पाठ बराबर करते रहते हैं। फलत देवगण यज्ञकर्ता पुरोहितो के मित्र हैं, और यज्ञ न करनेवालो के शत्रु। अयाज्ञिक प्राणियो को वे दण्ड देते ह। किंतु यह बात विशेष रूप से इन्द्र पर लागू होती है। स्मरण रहे कि दया का दान देने मे भी देवगण पक्षपात बरत जाते हैं।

वैदिक देवताओ का चरित्र नैतिक है। सभी देवता सच्चे है और वे धोखे से दूर हैं। वे हमेशा सचाई के मित्र और उसके सरक्षक हैं। फिर भी आदित्य-गण, और उनमे भी वरुण, नैतिकता के ध्वजी हैं। देवता दुष्ट कर्म करनेवालो पर क्रोध बरसाते है, किंतु यहा भी वरुण के क्रोध का अपराधो एव पाप-धारणाओ के साथ अधिक सबन्ध है। अपराध से मुक्ति पाने के लिए अग्नि का स्तवन भी विहित है, किंतु यह तो उसके लिए प्रयुक्त हुई नाना स्तुतियो मे से एक स्तुति है, यह अग्नि की नानाविध स्तुतियो का न तो सार है और न यह उनका प्रमुख विषय ही है। किंतु वरुण-विषयक स्तुतियो का तो मुख्य प्रयोजन ही पाप से छुटकारा है। इन्द्र भी पाप के लिए दण्ड देते हैं। किंतु उनके इस गुण का भी उनके चरित्र के साथ गौण सबन्ध है। नैतिकता का उच्च वैदिक मानदण्ड वैदिक सभ्यता की प्राचीनता की ओर सकेत करता है। फलत वरुण की सत्याभिसन्धि भी इतनी पुनीत नही है कि वह उसे उसके विरोध मे उठे कुटिल मनुष्यो के खिलाफ भली-बुरी चाले चलने से रोक सके। किंतु भद्र एव देवयु मनुष्यो के प्रति वरुण की

1 विश्वे चनेदना त्वा देवास इन्द्र युयुधु । यदहा नक्तमातिर ॥ ऋ० 4 30 3
यत्र देवाँ ऋघायतो विश्वाँ अयुध्य एक इत् । त्वमिन्द्र वनूँरहन् ॥ ऋ० 4 30 5

सत्यनिष्ठा अटल है। पर इन्द्र तो बिना किसी उदात्त प्रयोजन के भी कभी-कभी नट की चालें चल ही जाते है।

स्मरण रहे कि वैदिक देवताओ के गुणो मे नैतिक उच्चता का उतना महत्त्व नही है जितना कि शक्तिमत्ता का। 'सत्य' और नासत्य', इन विशेषणो का 'महान्' और 'शक्तिमान्' इन विशेषणो की अपेक्षा कही न्यून महत्त्व है। देवता लोग अपनी कन्नी अगुली से ही सब-कुछ कर सकते है। सच पूछिए तो इच्छा की पूर्ति ही देवताओ पर निर्भर है। उनका आधिपत्य सभी प्राणियो पर है। कोई भी मर्द उनके आदेशो का उल्लघन नही कर सकता और उनके द्वारा निर्धारित अवधि के बाद कोई भी प्राणी जी नही सकता।

ऋग्वेद एव अथर्ववेद मे देवताओ की सख्या 33 बतलाई गई है[1]। इस सख्या को '33 का तिगुना' इस प्रकार भी व्यक्त किया जाता है[2]। एक मन्त्र[3] के अनुसार 99 देवता स्वर्ग मे, 99 पृथिवी पर और 99 जल (=वायु) मे रहते हैं। इसी तरह अथर्ववेद[4] देवताओ को द्यु स्थ, अन्तरिक्षस्थ, और पृथिवीस्थ इन तीन भागो मे बाटता है, यद्यपि इस प्रसग मे सख्या का निर्देश उस वेद मे नही आता। तेतीस सख्या के भीतर सभी देवता नही आ जाते, क्योकि तेतीस के अतिरिक्त देवो का उल्लेख भी मिलता है[5]। एक मन्त्र[6] मे देवताओ की सख्या 3339 बतलाई गई है।

---

1 पत्नीवतस्त्रिंशत त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व। ऋ० 3 6 9
यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिता। अथ० 10 7 13

2 विश्वेदेवैस्त्रिभिरेकादशैरिह। ऋ० 8 35 3

3 ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिम जुषध्वम्॥ ऋ० 1 139 11

4 ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि। ऋ० 10 9 12

5 त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्नि त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतार न्यसादयन्त। ऋ० 3 9 9
वेद यस्त्रीणि विदथान्येषा देवाना जन्म सनुतरा च विप्र। ऋ० 6 51 2

6 आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यात मधुपेयमश्विना। ऋ० 1 34 11
श्रुष्टीवानो हि दाशुषे देवा अग्ने विचेतस।
तान् रोहिदश्व गिर्वणस्त्रयस्त्रिंशतमा वह॥ ऋ० 1 45 2
विश्वैर्देवैस्त्रिभिरेकादशैरिहाऽद्भिर्मरुद्भिर्भृगुभि सचाभुवा।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोम पिबतमश्विना॥ ऋ० 8 35 3.
अग्निस्त्रीणि त्रिधातून्या क्षेति विदथा कवि।
स त्रीँरेकादशाँ इह यक्षच्च पिप्रयच्च नो विप्रो दूत परिष्कृतो नभन्तामन्यके समे।
ऋ० 8 39 9.

साथ ही साधारण रूप से यह भी कहा गया है कि उनके तीन वर्ग है[1]। जब देवता द्युलोक, पृथिवी, और जल से सबद्ध होते है तब उनका तीन विभागो मे विभाजन माना हुआ होता है[2]। ब्राह्मणो मे भी देवताओ की सख्या 33 दी गई है। शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मण उन्हे एक मत से 8 वसुओ, 11 रुद्रो, और 12 आदित्यो के तीन वर्गो मे बाटते है। किंतु जहा शतपथ[3] मे इन 31 के अतिरिक्त द्यौस् और पृथिवी (प्रजापति यहा ३४ वा है) या इन्द्र और प्रजापति दो देवता और[4] है, वहा ऐतरेय ब्राह्मण मे ये दो देवता वषट्कार और प्रजापति है, जिनके योग से ३३ सख्या पूरी होती है।

ऋग्वेद[5] के तीन विभागो का अनुसरण करके यास्क[6] ने विभिन्न देवताओं को, या एक ही देवता के विभिन्न रूपो को—जिनकी गणना निघण्टु के पञ्चम काण्ड मे आती है—पृथिवीस्थान[7], अन्तरिक्षस्थान या मध्यमस्थान[8] और द्युस्थान[9] इन तीन वर्गो मे बाटा है। साथ ही वे इतना और जोड देते हैं कि उनके पूर्ववर्ती नैरुक्तो के अनुसार देवता केवल तीन हैं—पृथिवी पर अग्नि, अन्तरिक्ष मे वायु अथवा इन्द्र, और द्युलोक मे सूर्य। इस धारणा का आधार ऋग्वेद[10] के इस प्रकार के मन्त्र हो

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्। ऋ० 3.9.9.
(10 52.6, वा० सं० 33 7)

1. वेद यस्त्रीणि विदथान्येषां देवानां जन्म सनुतरा च विप्रः। ऋ० 6 51 2.
2. शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः॥ ऋ० 7.35.11
मां धुरिन्द्रं नाम देवता दिवश्च ग्मश्चापां च जन्तवः। ऋ० 10 49 2.
देवाँ आदित्याँ अदितिं हवामहे ये पार्थिवासो दिव्यासो अप्सु ये। ऋ० 10 65 9.
3. अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इमे एव द्यावापृथिवी त्रयस्त्रिंश्यौ त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः। शत० ब्रा० 4 5 7.2.
4. अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति। शत० ब्रा० 11.6.3.5.
5. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥ ऋ० 1 139.11.
6. तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। नि० 7.5.
7. अग्निः पृथिवीस्थानः। नि० 7.14–9.43.
8. अथातो मध्यस्थाना देवताः। नि० 10.1–11.50.
9. अथातो द्युस्थाना देवताः। नि० 12.1–46.
10. सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः। ऋ० 10 158 1.

सकते है :—'सूर्य द्युलोक से हमारी रक्षा करे, वात अन्तरिक्ष से, और अग्नि पार्थिव लोको से । उसी प्रसग मे आगे चलकर यास्क कहते है कि इन मे से प्रत्येक देवता के अपने-अपने क्रियाकलाप के कारण अनेक अभिधान है, ठीक वैसे ही जैसेकि एक ही व्यक्ति के प्रसगवश होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता—ये नाम पड जाते है । यास्क स्वय इस बात को नही मानते कि सभी देवता तीन प्रतिनिधिभूत देवताओ के विभिन्न पक्ष अथवा उनकी विविध अभिव्यक्तिया है, यद्यपि वे इस विचार से सहमत है कि तीनो स्थलो के देवता एक-दूसरे से देश और व्यापार की दृष्टि से सबद्ध है। यह ध्यान देने की बात है कि देवताओ की इस सूची मे त्वष्टा और पृथिवी के नाम तीनो अधिष्ठानो मे आते है, अग्नि और उषा के नाम पृथिवी और अन्तरिक्ष लोक मे, और वरुण, यम और सविता के नाम अन्तरिक्ष एव द्युलोक मे आते हे ।

विभिन्न वैदिक देवताओ का उनकी आपेक्षिक महत्ता के अनुसार भी वर्गीकरण किया जा सकता है । इस प्रकार के वर्गीकरण का उल्लेख ऋग्वेद के उस मन्त्र मे मिलता है, जहा उन्हे महान् और लघु, युवा और वृद्ध कहा गया है[1] । यह सभव है कि यह मन्त्र उस समय का हो जबकि देवताओ की श्रेणियो के विषय मे वैदिक कवि के विचार पक चुके थे । एक दूसरे मन्त्र मे कवि कहता है कि तुम लोगो मे से न कोई अर्भक है और न कुमार है, तुम सभी महान् हो[2] । उक्त दोनो मन्त्रो मे विरोध नही है । हा, विरोधाभास अवश्य है, क्योकि कौनसा कवि अपने भक्तिभाव की उल्वण दशा मे इन शब्दो के सिवाय और कोई शब्द बरतेगा । फिर भी यह निश्चित है कि दो देवता अन्य सब देवो की अपेक्षा अधिक महान् है और ये दोनो शक्ति मे बराबर-बराबर है । ये दो देवता है रणजय योद्धा इन्द्र और नैतिकता के अधिष्ठाता वरुण। नैतिक पक्ष के प्रधान होने के नाते वरुण का पुराना रूप जोरोस्ट्रियन धर्म मे अहुरमज्दा बनकर सामने आता है जबकि भारत मे विजयालु आर्यों ने अपना देवता रणजय इन्द्र को ठहराया था । वेद मे वरुण को प्राधान्य तभी मिलता है जबकि भौतिक और नैतिक जगत् के व्यापक नियमो के प्रति आदर दिखाया जाता है। इस कोटि के देवता को सामान्य जन-वर्ग का देवता नही माना जा सकता। कुछ विद्वानो के मत मे वरुण और आदित्यगण पुराने युग मे सब से महान देवता थे, किंतु परवर्ती काल मे उनकी महत्ता को इन्द्र ने हडप लिया । कुछ भी हो इस पक्ष की पुष्टि के लिए प्रमाणो की आवश्यकता है। इन्द्र को ऋग्वेद के प्राचीनतम काल मे एक गौण अधीन देवता माना जाता था । यह सत्य है कि अवेस्ता मे अहुरमज्दा सबसे महान् देवता है और इन्द्र एक दानव, किंतु यह सभव है कि मूलत ईरान मे, भले ही भारत-ईरानी काल मे भी, इन्द्र और वरुण दोनो एक

1. नमो॑ म॒हद्भ्यो॒ नमो॑ अर्भ॒केभ्यो॒ नमो॒ युव॑भ्यो॒ नम॑ आशि॒नेभ्यः । ऋ० 1 27.13.
2. न॒हि वो॒ अस्त्य॑र्भ॒को देवा॑सो॒ न कु॑मार॒कः । विश्वे॑ स॒तोम॑हान्त॒ इत् । ऋ० 8 30 1.

कोटि के देवता रहे हो परतु जब ईरानी धर्म मे सुधार किया गया तब अहुरमज्दा को सर्वोच्च स्थान दे दिया गया, और इन्द्र को पृष्ठभूमि मे सरका दिया गया। इन्द्र और वरुण के बाद यज्ञ के दो देवता—अग्नि और सोम का नबर है। इनके निमित्त कहे गये सूक्तो की सख्या के आधार पर कहा जा सकता है कि इन्द्र के साथ ये दोनो भी ऋग्वेद के सर्वाधिक लोकप्रिय देवताओ मे से है, क्योकि ऋग्वेद के लगभग ⅗ सूक्त इन्ही को सबोधन करके गाये गये है। पारिवारिक मण्डलो मे इन्द्र और अग्नि के सूक्त सर्वप्रथम आते ह, जबकि सोम के लिए तो एक पूरा नवाँ मण्डल ही गाया गया है—इस बात से उपर्युक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है। अवशिष्ट देवताओ मे से प्रत्येक के निमित्त कहे गये सूक्तो की गणना, तथा ऋग्वेद मे प्रयुक्त हुए उनके नामो की सख्या के आधार पर इन देवताओ का पांच कक्षाओ मे वर्गीकरण किया जा सकता है —1 इन्द्र, अग्नि, सोम, 2 अश्विन्, मरुत्, वरुण, 3 उषस्, सविता, बृहस्पति, सूर्य, पूषा, 4 वायु, द्यावा—पृथिवी, विष्णु, रुद्र, 5 यम, पर्जन्य। किंतु सख्या के आधार पर किया गया यह निर्णय सर्वांशेन मान्य नही हो सकता। क्योकि वरुण का आह्वान (अधिकाश स्थलो पर मित्र के साथ) लगभग 30 सूक्तो मे हुआ है। उसका नाम कुल मिलाकर 250 बार आता है, जबकि अश्विनो के प्रति 50 सूक्त कहे गये है और उनका नाम 400 से अधिक बार आता है। ऐसा होने पर भी यह कहना असगत होगा कि गरिमा मे अश्विन् वरुण के पासग भी है। उनके आपेक्षिक महत्त्व का आधार यह है कि वे प्रात कालीन प्रकाश के देवता के रूप मे यज्ञ प्रक्रिया के अधिक निकट है। पुन मरुद्गण का महत्त्व इस बात मे है कि उनका सबन्ध इन्द्र के साथ है। अन्य देवताओ के आपेक्षिक महत्त्व को आकने मे भी इसी प्रकार की बातो पर ध्यान देना होगा। इस दृष्टि से देवताओ के महत्त्व को आकने मे कठिनाइया आती है। फलत पद के या महत्त्व के स्तर की दृष्टि से किया गया देवताओ का वर्गीकरण उनके विवरण के लिए सतोषजनक नही ठहरता।

स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रिय देवताओ का वर्गीकरण एक और तरह भी किया जा सकता है और वह प्रकार है—काल। भारतीय काल, भारत-ईरानी काल और भायोरपीय काल—इन तीनो कालो मे से किसी एक के साथ किसी ऐच्छिक गाथात्मक प्रकल्पना का सबन्ध। उदाहरण के लिए—बृहस्पति, रुद्र और विष्णु को निरी भारतीय कल्पना समझा जा सकता है क्योकि इस बात के मानने के लिए कि किन्ही देवताओ की प्रकल्पना भारतीय काल से पहले की है, प्रमाणो की आवश्यकता है। पहले कहा जा चुका है कि कतिपय गाथात्मक प्रकल्पनाए भारत ईरानी काल की है। किंतु यह कहना कि द्यौस् के अतिरिक्त और भी कोई देवता भायोरपीय काल का है, शका से खाली नही है। फलत गाथात्मक प्रकल्पनाओ के रचनाकाल के आधार पर बनाया गया वर्गीकरण सदेहास्पद बना रहेगा।

अलबत्ता मानवीकरण की प्रक्रिया को—जोकि विभिन्न देवताओ मे भिन्न-भिन्न स्तर की पाई जाती है—वर्गीकरण का आधार बनाया जा सकता है, किंतु यहा भी मानवीकरण के स्तर के मध्य विभाजक रेखा खीचना कठिन प्रतीत होता है।

अन्ततोगत्वा हमे देवताओ के प्राकृतिक आधार का सहारा लेकर ही देवताओ का वर्गीकरण करना पडता है। यद्यपि कुछ-एक देवताओ के प्राकृतिक आधार के विषय मे शका सभव है और किसी एक देवता को असगत दृश्य के साथ एकित करने का खतरा भी बना हुआ है, तो भी विभाजन की इस सरणि मे कुछ सुविधाए स्पष्ट है। इनके द्वारा समान स्वरूप के देवताओ को एक वर्ग मे रखा जा सकता है। इससे उनके तुलनात्मक अध्ययन मे सुगमता होगी। फलतः प्रस्तुत विवेचन मे हमने इसी सरणि को अपनाया है। विभिन्न दृश्यो का वर्गीकरण ऋग्वेद मे आनेवाले त्रिविभागीय विभाजन के अनुसार एव इस वेद के प्राचीनतम व्याख्याकार यास्क के अनुसार किया गया है।

द्यु-स्थानीय देवता

द्यौः (§ 11)—

'द्यौ' शब्द का बहुतायत के साथ प्रयोग स्थूल आकाश के लिए हुआ है और इस अर्थ मे यह ऋग्वेद मे 500 वार आया है। 50 वार इसका प्रयोग 'दिन' के अर्थ मे हुआ है। जब इसका मानवीभाव द्युलोक के देवता के रूप मे होता है तब यह पृथिवी के साथ समस्त होकर द्विवचन मे आता है—जैसेकि द्यावा-पृथिवी। यह इसलिए कि ये दोनो विश्व के माता-पिता हैं। ऋग्वेद का कोई भी सूक्त अकेले द्यौ के निमित्त नही कहा गया है। जब भी उसका उल्लेख अलग से हुआ है तभी मानवीकरण प्रायश पितृत्व की भावना मे केन्द्रित हो गया हे। ऐसी दशा मे इसका नाम कर्ता या सवन्ध-कारक मे आता है। सवन्ध-कारक, जो लगभग 50 वार प्रयुक्त हुआ है, अन्य सब कारको के प्रयोगो के जोड से भी अधिक वार आया है। इसका पष्ठीरूप किसी अन्य देवता के नाम से सवद्ध रहता है, जोकि द्यौ का पुत्र या पुत्री कहाता है। इन प्रयोगो मे से लगभग $\frac{1}{3}$ मे द्यौ की पुत्री उषा है, और शेष मे से अश्विन् उसके नपात् है, अग्नि सूनु या शिशु है। पर्जन्य, सूर्य, आदित्यगण, मरुद्गण और अङ्गिरस उसके पुत्र हैं। प्रथमा विभक्ति मे द्यौ 30 वार आता है, किंतु उनमे से अकेले यह केवल 8 वार प्रयुक्त हुआ है, नही तो सामान्यत यह पृथिवी के साथ समस्त होकर आया है अथवा किन्हीं अन्य देवताओ के नामो के साथ जुडकर, जिनमे सर्व-बहुल पृथिवी है। आठ मन्त्रो मे यह तीन बार पिता, एक वार इन्द्र का पिता, एक बार अग्नि या सुरेतम्—जनयिता, वनकर

आता है[1-3]। शेष तीन मन्त्रों में वह एक वृष[4] या एक लोहित वृष है जो नीचे की ओर मुंह करके रांभता है[5]। कहा गया है कि वृत्र-वध का उसने समर्थन किया है[6]। चतुर्थी विभक्ति मे यह नाम आठ बार आया है। इन मन्त्रों में केवल तीन बार वह अकेले आया है, एक बार उसे पिता महान् कहा गया है[7], एक बार बृहत्[8], और एक बार बृहत् सादन[9]। चार बार यह द्वितीया विभक्ति मे मिलता है[10]; जिनमे से दो बार इसका उल्लेख पृथिवी के साथ, एक बार अकेले और एक बार यह कहकर आया है कि अग्नि ने उसे मनुष्यो के लिए गरजाया[11]। फलतः निष्कर्ष निकलता है कि द्यौ का स्वतंत्र उल्लेख प्रायः नही के बराबर है और 90 से अधिक मन्त्रो में से केवल 15 बार पृथिवी के साथ उसका पितृत्व प्रकट अथवा अप्रकट रूप में नहो पाया जाता। ऋग्वेद में उसके मानवीकरण का प्रमुख लक्ष्य उसका पितृत्व है। कतिपय मन्त्रो में द्यौ को वृषभ कहा गया है[12], ऐसा वृषभ जोकि राभता है[13]। ऐसे स्थलों पर देवता को पशु के रूप में देखा गया है (Theriomorphism); क्योकि अब द्यौ एक ऐसा गरजनेवाला पशु है जो पृथिवी को उर्वर बनाता है। द्यौ की उपमा एक बार मोतियों से सजे काले बीज के साथ दी गई है[14]। उस अवस्था में यह रात्रि के आकाश का गमक है। "द्यौ के पास वज्र है" (अशनिमत्); यह उक्ति मानव-आकार-रचना की ओर सकेत करती है। द्यौ बादलो के बीच से मुस्क-

1. मधु द्यौरस्तु नः पिता। ऋ० 1.90.7.
2. द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र। ऋ० 1.164.33.
3. द्यौष्पिता जनिता सत्यमुक्षन्। ऋ० 4.1.10.
सुवीरस्ते जनिता मन्यत द्यौरिन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमो भूत्।
य ईं जजान स्वर्यं सुवज्रमनपच्युतं सदसो न भूम॥ ऋ० 4.17.4.
4. वृषा त्वा वृषणं वर्धतु द्यौर्वृषा वृषभ्यां वहसे हरिभ्याम्। ऋ० 5.36.5.
5. अवोक्षियो वृषभः क्रन्दतु द्यौः। ऋ० 5.58.6.
6. इन्द्रासोमावहिमपः परिष्ठां हथो वृत्रमनु वां द्यौरमन्यत। ऋ० 6.72.3.
7. महे यत् पित्र ईं रसं दिवे कः। ऋ० 1.71.5.
8. अर्चा दिवे बृहते शूष्यं वचः। ऋ० 1.54.3.
9. नमो दिवे बृहते सादनाय। ऋ० 5.47.7.
10. अजा वृत इन्द्रशूरपत्नीर्द्यां च येभिः पुरुहूत नूनम्। ऋ० 1.174.3.
11. त्वमग्ने मनवे द्यामवाशयः। ऋ० 1.31.4.
12. स वह्निः पुत्रः पित्रोः पवित्रवान् पुनाति धीरो भुवनानि मायया।
धेनुं च पृश्निं वृषभं सुरेतसं विश्वाहा शुक्रं पयो अस्य दुक्षत॥ ऋ० 1.160.3.
13. अवोक्षियो वृषभः क्रन्दतु द्यौः। ऋ० 5.58.6.
14. अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्। ऋ० 10.68.11.

रांता है[1] । इस कथन का संकेत ज्योतिर्मय आकाश की ओर है; किंतु इस प्रकार के मन्त्र छिट-पुट ही है । सच पूछिए तो द्यौ की प्रकल्पना में पशु-मानवीकरण और मानव-आकार-रचना के बन्धन प्राय: नही के समान है; अलबत्ता पितृत्व का भाव इसमें प्रबल रूप से विद्यमान रहता है । पिता के रूप में वह माता पृथिवी के संबन्ध से आता है । इस बात का सकेत हमें इस तथ्य में मिलता है कि उसका नाम पृथिवी के साथ द्विवचन द्वन्द्व समास मे, एक वचन मे अकेले की अपेक्षा अधिक बार प्रयुक्त हुआ है । जब वह एकवचन में आया है तब भी बहुधा पृथिवी के नाम के सहित प्रयुक्त हुआ है, और जब कभी वह एकाकी प्रयुक्त हुआ है तभी उसका व्यक्तित्व इतना विकसित नही हो पाया कि एकाकी उसके प्रति कोई सूक्त कहा जाय, यद्यपि पृथिवी के साथ उसके लिए 6 सूक्त कहे गये है । अन्य महान् देवों की न्याई द्यौ को भी कभी-कभी असुर कहा गया है[2] और एक बार[3] उसका आह्वान 'पृथिवी मात:' के समान सबोधन में द्यौष्पित: के रूप में हुआ है । लगभग 20 मन्त्रों में द्यौ शब्द स्त्रीलिङ्ग है; कभी-कभी उस अवस्था में भी, जबकि उसका मानवीकरण हुआ है । पहले निर्देश किया जा चुका है (§ 6) कि द्यौ का मूल सुदूर भायोरपीय काल में निहित है । किंतु इस बात के लिए प्रमाण नही है कि उस सुदूर काल में द्यौ का मानवीभाव वैदिक काल की अपेक्षा अधिक विकसित हो चुका था । अलबत्ता इस प्रकार की धारणा के विपरीत अनेक संकेत सामने आते है । उस सुदूर अतीत में जो भी महान् देवता रहे होंगे वे बहुत हद तक मानवीभाव की प्राथमिक अवस्था तक ही सीमित रहे होंगे और शायद कदाचित् ही प्राकृतिक दृश्यों के दिव्यीकरण की अवस्था से ऊपर उभर पाये हों । विश्व-पिता के रूप में द्यौ पृथिवी माता के साथ अपनी परिधि में सभी दिव्यीकृत प्राकृतिक दृश्यों को समाविष्ट किये रहा होगा; फलत: द्यौ देवता बहुदेववाद के विकास से पूर्व सब से महान् देवता रहे होंगे । किंतु द्यौ को भायोरपीय काल का सब से महान् देवता समझना भ्रम होगा, क्योंकि इसका मतलब यह होगा कि उस सुदूर अतीत मे झीयस् जैसा सर्वोच्च एक नियन्ता और था और साथ ही आरम्भिक एकेश्वरवाद का उत्थान भी तब हो चुका था जबकि हमें इस बात का ज्ञान है कि आरम्भिक ऋग्वैदिक काल में इन दोनों मे से एक भी न था ।

द्यौ शब्द की निष्पत्ति दिव् धातु से है । फलत: इसका अर्थ है 'चमकनेवाला' और इसका सबन्ध है 'देव' शब्द के साथ ।

---

1. द्यौरिव स्मयमानो नभोभिः । ऋ 2.4.6.
2. दिवो अस्तोष्यसुरस्य वीरैः । ऋ० 1.122.1.
   इन्द्राय हि द्यौरसुरो अनम्नतेन्द्राय मही पृथिवी वरीमभिः । ऋ० 1.131.1.
   यथा रुद्रस्य सूनवो दिवो वशन्त्यसुरस्य वेधसः । ऋ० 8.20.17.
3. द्यौ३ष्पितः पृथिवि मातरध्रुक् । ऋ० 6.51.5.

वरुण (§ 12)—

पहले कहा जा चुका है कि वरुण, इन्द्र को छोड़ ऋग्वेद के अन्य सभी देवताओ से महान् है। उनके प्रति कहे गये सूक्तो की सख्या से उनका महत्त्व आंकना असगत होगा, क्योकि अकेले उनका गुणगान मुश्किल से ही एक दर्जन के लगभग सूक्तो मे हुआ है। साख्यिक मापदण्ड से मूल्याकन करने पर वरुण तृतीय कोटि के देवता ठहरेंगे। और यदि उन दो दर्जन सूक्तो को भी, जिनमे कि वे अपने सखा मित्र के साथ आहूत हुए हैं, गणना मे समिलित कर लिया जाय, तब भी महत्ता की दृष्टि से वरुण का स्थान पाचवा ठहरेगा और इस प्रकार वे अश्विनो से भी नीचे मरुद्गणो की श्रेणी मे खिसक जायगे।

वरुण का व्यक्तित्व मानवीय रूप मे शारीरिक पक्ष की अपेक्षा नैतिक पक्ष मे अधिक विकसित हुआ है। उनके शरीर और उपकरणो के वर्णन इने-गिने हैं, क्योकि वरुण के वर्णन मे, अधिक बल उनके कार्यो पर दिया गया है। उनके मुह, आख, भुजाए, हाथ और पैर है। कवि उनके मुह को अग्नि जैसा देखता है[1]। मित्र और वरुण का नेत्र सूर्य-देव है[2]। ऐसा उल्लेख सूक्त के प्रथम मन्त्र मे हुआ है, इससे प्रतीत होता है कि मित्र और वरुण के चिन्तन मे सब से पहले मन मे आनेवाला विचार यही है। सूर्य के प्रति कहे गये एक सूक्त[3] मे वरुण जिस नेत्र के द्वारा मानव-जाति का सर्वेक्षण करते हैं वह नि सदेह सूर्य ही है। अर्यमा के साथ मित्र और वरुण "सूरचक्षस" कहलाये है[4]। यह पद अन्य देवो के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वरुण सुदूर-द्रष्टा[5] और सहस्र-चक्षुप है[6]। मित्र और वरुण अपनी

---

1 अव सिन्धु वरुणो द्यौरिव स्थाद् द्रप्सो न श्वेतो मृगस्तुविष्मान्। ऋ० 7 87 6
अधा न्वस्य संदृशं जगन्वानग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि। ऋ० 7 88 2.

2 चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्ने। ऋ० 1 115 1.
उदु त्यच्चक्षुर्महि मित्रयोराँ एति प्रियं वरुणयोरदब्धम्। ऋ० 6 51 1
उद् वां चक्षुर्वरुण सुप्रतीकं देवयोरेति सूर्यस्ततन्वान्। ऋ० 7 61 1.
उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम्।
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य देवः॥ ऋ० 7 63 1
नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यत। दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत। ऋ० 10 37 1.

3 येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि। ऋ० 1 50 6

4 बृहन्त सूरचक्षसोऽग्निजिह्वा ऋतावृध। ऋ० 7 66 10

5 कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे। मृळीकायोरुचक्षसम्। ऋ० 1 25 5
परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु। इच्छन्तीरुरुचक्षसम्। ऋ० 1 25 16

6 वरुण उग्र सहस्रचक्षा। ऋ० 7.34 10

भुजाओं को फैलाते है[1] और वे सूर्य की रश्मियों से मानो जैसे हाथ से अपने रथ को चलाते हैं। सविता और त्वष्टा की भांति वे सुपाणि हैं। मित्र और वरुण अपने पैरों से तेज चलते है[2] और वरुण अपने ज्योतिष्मान् चरणों से नीचे उतरते हैं[3]। वे यज्ञ में बिछाई कुशा पर बैठते है[4] और अन्य देवताओं की भांति वे और मित्र दोनों सोमपान करते है[5]। वरुण सुनहली चादर ओढ़ते (द्रापी) और एक चमकीला वस्त्र पहनते है[6]। किंतु घी का चमकता हुआ वस्त्र जिसे वे और मित्र पहने हुए है[7], घृत की आहुति का आलंकारिक रूप है। चमकनेवाला वस्त्र भी, जिसे कि वे पहनते हैं[8], हो सकता है घृताहुति का ही प्रतीक हो। शतपथ ब्राह्मण[9] में वरुण एक सुन्दर केशविहीन (bald), पीत-चक्षु, वृद्ध मनुष्य के रूप में दिखाई देते हैं। वरुण के उपकरणों में केवल उनका रथ ही महत्त्वपूर्ण है। इसका वर्णन चमकते हुए सूर्य के रूप में किया गया है[10]। इसकी फड़ें बांस की है, और इसमें एक आसन और एक चाबुक विद्यमान है[11]। उनके इस रथ को सुयुक् घोड़े खींचते है[12]। कवि प्रार्थना करता है कि काश वह वरुण के रथ को पृथिवी पर देख सकता[13]।

मित्र और वरुण का आवास स्वर्णिम है और वह स्वर्ग में है[14]। वरुण

---

1. ता बाहवा सुचेतुना प्रयन्तमस्मा अर्चते। ऋ० 5.64.2.
प्र बाहवा सिसृतं जीवसे नः। श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा। ऋ० 7.62.5.
2. आ पड्भिर्धावतं नरा। ऋ० 5.64.7.
3. स माया अर्चिना पदाऽस्तृणान्नाकमारुहत्। ऋ० 8.41.8.
4. आ नो बर्ही रिशादसो वरुणो मित्रो अर्यमा। सीदन्तु मनुषो यथा। ऋ० 1.26.4.
मित्रश्च नो वरुणश्च जुषेतां यज्ञमिष्टये। नि बर्हिषि सदतां सोमपीतये। ऋ० 5.72.3.
5. यदी सखाया सख्याय सोमैः सुतेभिः सुप्रयसा मादयैते। ऋ० 4.41.3.
6. बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्। ऋ० 1.25.13.
7. घृतस्य निर्णिगनु वर्तते वाम्। ऋ० 5.62.4. प्र वां घृतस्य निर्णिजो ददीरन्। ऋ० 7.64.1.
8. युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे। ऋ० 1.152.1.
9. साक्षादेव वरुणमवयजते शुक्लस्य खलतेर्विक्लिधस्य पिङ्गाक्षस्य मूर्धनि जुहोति। शत० 13.3.6.5.
10. रथो वां मित्रावरुणा दीर्घाप्साः स्यूमगभस्तिः सूरो नाद्यौत्। ऋ० 1.122.15.
11. हिरण्यनिर्णिगयो अस्य स्थूणा वि भ्राजते दिव्यश्वाजनीव।
भद्रे क्षेत्रे निमिता तिल्विले वा सनेम मध्वो अधिगर्त्यस्य॥ ऋ० 5.62.7.
12. आ वामश्वासः सुयुजो वहन्तु। ऋ० 5.62.4.
13. दर्शं रथमधि क्षमि। ऋ० 1.25.18.
14. ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथो रथं सत्यधर्माणा परमे व्योमनि। ऋ० 5.63.1.
आ यद् योनिं हिरण्ययं वरुण मित्र सदथः। ऋ० 5.67.2.

अपने भवन मे बैठकर लोक के अशेष कार्यकलाप का निरीक्षण करते है[1]। उनका और मित्र का सदस महान् है। वह बहुत ही ऊंचा है, और सहस्र खभो पर टिका हुआ है[2]। उनके घर मे सहस्रो दरवाजे है[3]। सर्वदर्शी सूर्य अपने निवास-स्थान से उदित होकर मित्र और वरुण के आवास पर मानवो के कार्य-कलाप की सूचना देने के लिए जाते है[4] और उनके मनोरम भवन मे प्रवेश करते हैं[5]। इसी सर्वोच्च द्युलोक मे पितृगण वरुण की छवि निहारते है[6]। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार विश्व के अधिपति वरुण स्वर्ग मे बैठते और वहा से चहुं ओर के क्षेत्र का सर्वेक्षण करते है।

कभी-कभी वरुण के स्पशो (चरो) का उल्लेख मिलता है। ये स्पश् वरुण के चारो ओर बैठते[7] और दोनो ससारो का निरीक्षण करते है। यज्ञ से परिचित होकर वे स्तोत्रो को जगाते है[8]। मित्र और वरुण के ये स्पश्, जो अलग-अलग घरों मे भेजे जाते है,[9] धोखा देनेवाले नही, अपितु अदब्ध, मनीषी है[10]। अथर्ववेद[11] मे आता है कि वरुण के सदेशवाहक द्युलोक से उतरकर ससार मे विचरते और अपने अगणित नेत्रो द्वारा अशेष जगती के आर-पार देख लेते है। इन स्पशो का प्राकृतिक आधार तारो को समझा जाता है, किंतु ऋग्वेद मे इस मान्यता के लिए कोई प्रमाण नही है। वहा तारो के विषय मे यह कभी नही कहा गया कि वे

द्युक्षं मित्रस्य सादनमर्यम्णो वरुणस्य च। ऋ० 1.136.2.

1. नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। ऋ० 1 25 10
अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा। ऋ० 1 25 11.
2. बृहन्तं गर्तमाशाते। ऋ० 5 68 5
राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्रस्थूण आसाते। ऋ० 2 41 5
3. बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः। सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते॥ ऋ० 7.88 5
4. यदद्य सूर्य ब्रवोऽनागा उद्यन् मित्राय वरुणाय सत्यम्। ऋ० 7 60 1.
अयुक्त सप्त हरितः सधस्थाद्या ईं वहन्ति सूर्यं घृताचीः।
धामानि मित्रावरुणा युवाकुः सं यो यूथेव जनिमानि चष्टे॥ ऋ० 7 60.3
5. प्रियं मित्रस्य वरुणस्य धाम। ऋ० 1.152 4.
6. सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। ऋ० 10 14 8.
7. परि स्पशो नि षेदिरे। ऋ० 1.25 13.
8. परि स्पशो वरुणस्य स्मदिष्टा उभे पश्यन्ति रोदसी सुमेके।
ऋतावानः कवयो यज्ञधीराः प्रचेतसो य इषयन्त मन्म॥ ऋ० 7 87 3
9. स्पशो दधाथे ओषधीषु विक्ष्वृधग्यतो अनिमिषं रक्षमाणा॥ ऋ० 7.61 3
10. सन्ति स्पशो अदब्धासो अमूराः॥ ऋ० 6 67 5.
11. दिव स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्॥ अथ० 4 16 4

सर्वेक्षण करते है और न ही इन स्पशो का सबन्ध रात्रि ही से कही दिखाया गया है। यह प्रकल्पना उन आरक्षियो के आधार पर की गई होगी, जो एक कठोर शासक को चारो ओर से घेरे रहा करते है। स्पश् लोग मित्र और वरुण ही के पास हों, ऐसी बात नही है, वे तो अग्नि,[1] सोम,[2] दैत्यो[3] और देव-सामान्य के चारो ओर भी रहते बताये जाते है[4]। एक मन्त्र मे आदित्यो के लिए आया है कि वे उच्च लोक से निरीक्षको की भाति नीचे देखते है[5]। हो न हो निरीक्षक लोग मूलत: मित्र और वरुण के साथ सबद्ध रहे होगे, इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि ईरानी मिथ्र के अपने निरीक्षक थे और उनके लिए भी स्पश् शब्द का ही प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद मे उल्लिखित[6] स्वर्णिम परो वाला वरुण का दूत नि:सदेह सूर्य ही है।

अन्य प्रतिनिधिभूत—देवो एव यम[7] की भाति वरुण को अकेले अथवा मित्र के साथ कई बार राजा कहा गया है। वे सबके राजा है—मनुष्य और देवता दोनो के[8], समस्त संसार के[9] और सभी सत्ताओ के[10] वरुण सर्वतन्त्रस्वतन्त्र शासक (स्वराज्) है[11]। स्वराज् शब्द बहुधा इन्द्र के सबन्ध मे प्रयुक्त हुआ है, किंतु उससे भी अधिक बार इसका प्रयोग अकेले वरुण के लिए अथवा मित्र-वरुण के लिए हुआ है। यह शब्द अग्नि के लिए कुछ-एक बार और इन्द्र के लिए बहुत बार प्रयुक्त हुआ है, किंतु ऐसे मन्त्रो की सख्या, जिनमे वरुण और मित्र के लिए इस विशेषण का प्रयोग हुआ है, इन्द्र के प्रति कहे गये स्वराज् विशेषणवाले मन्त्रो की संख्या से दुगुनी है। इस बात पर ध्यान देते हुए कि ऋग्वेद मे इन्द्र के निमित्त कहे गये सूक्तो की सख्या वरुण के सूक्तो की अपेक्षा 8 या 10 गुनी है, प्रतीत होता है

1. प्रति स्पशो वि सृज तूर्णितमः। ऋ० 4.4.3.
2. अस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः। ऋ० 9.73.4.
   स्पशः स्वञ्चः सुदृशो नृचक्षसः॥ ऋ० 9.73.7.
3. परि स्पशो अदधात्सूर्येण॥ ऋ० 1.33.8.
4. देवानां स्पश इह ये चरन्ति॥ ऋ० 10.10.8.
5. आदित्या अव हि ख्यताधि कूलादिव स्पशः॥ अथ० 8.47.11.
6. हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतम्॥ ऋ० 10.123.6.
7. अबुध्ने राजा वरुणो वनस्य॥ ऋ० 1.24.7.
   उरुं हि राजा वरुणश्चकार॥ ऋ० 1.24.8.
8. त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा॥ ऋ० 10.132.4.
   त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मर्ताः॥ ऋ० 2.27.10.
9. तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा॥ ऋ० 5.85.3.
10. सुपारक्षत्र: सतो अस्य राजा॥ ऋ० 7.87.6.
11. इदं कवेरादित्यस्य स्वराजो विश्वानि सान्त्यभ्यस्तु मह्ना॥ ऋ० 2.28.1.

कि 'स्वराज्' विशेषण स्वारसिकरूपेण वरुण ही पर फबता है।

इसी प्रकार 'क्षत्र' विशेषण भी मुख्यतया वरुण के लिए आया है। उनके लिए इस विशेषण का प्रयोग, मित्र के साथ प्रायः और अर्यमा के साथ दो बार हुआ है। इस के अतिरिक्त क्षत्र का प्रयोग एक-एक बार अग्नि, बृहस्पति और अश्विनों के लिए भी हुआ है। इसी प्रकार क्षत्रिय शब्द के कुल 5 बार के प्रयोगों में से 4 प्रयोग वरुण या आदित्यों के लिए है और केवल एक देव-सामान्य के लिए है। 'असुर' विशेषण का भी वरुण के लिए अकेले अथवा मित्र के साथ, इन्द्र और अग्नि की अपेक्षा अधिक बार प्रयोग हुआ है; और सूक्तों के अनुपात को ध्यान में रखते हुए यह वरुण ही के लिए उपयुक्त भी प्रतीत होता है। देवताओं में मित्र-वरुण को असुर और अर्य (असुरा अर्या)[1] बताया गया है।

वरुण और मित्र के दिव्य शासन का संकेत प्रायः माया शब्द के द्वारा किया गया है। इस शब्द का तात्पर्य गुप्त मानसिक शक्ति से है, जिसका प्रयोग अच्छे अर्थ में देवों के बारे में और बुरे अर्थ में दानवों के बारे में होता है। इसका सही अंग्रेजी पर्याय Craft शब्द है जिसका तात्पर्य प्राचीन काल में गुप्त मानसिक शक्ति अथवा जादू था और बाद में एक ओर 'कुशलता, कला' और दूसरी ओर 'छल-कपट की चतुराई' बन गया। 'असुर' की भांति 'माया' शब्द का भी ग्राह्य अर्थ मित्र और वरुण के साथ संबद्ध है और बुरा अर्थ दानवों के साथ। गुप्त मानसिक शक्ति अथवा माया के द्वारा वरुण वायु में उत्तान होकर सूर्यरूपी मापदण्ड से पृथिवी को नापते है[2]; वरुण और मित्र उषाओं को प्रेरते[3], सूर्य को आकाश के पार उतारते और उसे बादल एव वर्षा द्वारा धूसर कर देते है। इसी बीच वे मधु-बिन्दु बरसाते है[4], अथवा यों कहिए कि वे द्युलोक से पानी बरसाते और आसुरी माया के द्वारा व्रतों को प्रवर्तमान रखते है। असुर का अर्थ यहा द्यौ या पर्जन्य है। फलत. 'मायिन्' यह विशेषण देवताओं मे मुख्यरूप से वरुण ही के लिए उपयुक्त बैठता है[5]।

1. ता हि देवानामसुरा तावर्या ॥ ऋ० 7.65 2.
2. इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्र वोचम् ।
   मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण ॥ ऋ० 5.85.5.
3. ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन्वृषा मही रोदसी आ विवेश ॥ ऋ० 3 61.7.
4. माया वां मित्रा वरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम् ।
   तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते ॥ ऋ० 5.63.4.
   चित्रेभिरभ्रैरुप तिष्ठथो रवं द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया । ऋ० 5.63.3.
   सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम् । ऋ० 5.63.7.
5. वरुणमिव मायिनम् । ऋ० 6.48.14. अर्व द्विता वरुणो मायी नः सात । ऋ० 7.28.4.
   अयं दशस्यन्नर्येभिरस्य दस्मो देवेभिर्वरुणो न मायी । ऋ० 10.99,10.

जहां एक ओर इन्द्र के साथ अनेक गाथाओं का संबन्ध है वहां दूसरी ओर वरुण के बारे में एक भी गाथा नहीं मिलती। वे मित्र के साथ भौतिक एवं नैतिक व्रतों को संचालित रखते है, इस बात पर बार-बार बल दिया गया है। वरुण प्राकृतिक व्रतों के सर्वोच्च स्वामी है। वे द्युलोक एव पृथिवीलोक को स्थिर करते और सभी लोको मे संचरित रहते है[1]। तीनों द्युलोक और तीनों पृथिवीलोक उन्ही के भीतर निहित है[2] और वे अपने सखा मित्र के साथ अशेष जगती पर शासन करते है[3]; अथवा यों कहिए कि दोनों ससारो को परिवर्तमान करते है[4]। वे सारे ही संसार के सुरक्षक है[5]। वरुण के व्रत से ही आकाश और पृथिवी पृथक् पृथक् विधारित है[6]। मित्र के साथ वे पृथिवी और द्यौ को अथवा द्यु, पृथिवी और वायु को थामे हुए है[7]। उन्होने सोने के दिव्य भूले (प्रेङ्ख हिरण्ययम्) को द्युलोक मे टिकाया और चमकाया है[8]। उन्होने अग्नि को जल मे, सूर्य को आकाश मे और सोम को अश्मा पर उगाया है[9]। उन्होने सूर्य के लिए विस्तृत पथ बनाया है[10]। वरुण ही मित्र और अर्यमा के साथ मिलकर सूर्य के लिए रास्ता बनाते हैं[11]।

त्वं नो मित्रो वरुणो न मायी। ऋ० 10.147.5.

1. अस्तभ्नाद् द्यामसुरो विश्ववेदा अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।
आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि॥ ऋ० 8.42.1.
2. तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः। ऋ० 7.87.5.
3. ऋतेन विश्वं भुवनं वि राजथः। ऋ० 5.63.7.
4. शंसा मित्रस्य वरुणस्य धाम शुष्मो रोदसी बद्बधे महित्वा। ऋ० 7.61.4.
5. देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपाः। ऋ० 2.27.4.
6. द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा। ऋ० 6.70.1.
धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी। ऋ० 7.86 1.
स धाम पूर्व्यं ममे यः स्कम्भेन वि रोदसी।
अजो न धामधारयन्नभन्तामन्यके समे॥ ऋ० 8.41.10.
7. अधारयतं पृथिवीमुत द्यां मित्रराजाना वरुणा महोभिः। ऋ० 5.62.3.
त्री रोचना वरुण त्रींरुत द्यून् त्रीणि मित्र धारयथो रजांसि। ऋ० 5 69.1.
या धर्तारा रजसो रोचनस्योतादित्या दिव्या पार्थिवस्य। ऋ० 5 69.4.
8. गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेङ्खं हिरण्ययं शुभे कम्। ऋ० 7.87.5.
9. हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ। ऋ० 5.85.2
10. उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ। ऋ० 1.24.8.
रदत्पथो वरुणः सूर्याय। ऋ० 7.87.1.
11. आ सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णः। यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः ऋ० 7.60.4.

मित्र और वरुण का ऋत वहां है जहां सूर्य के घोड़े जोड़े जाते हैं[1]। रजस् के मध्य गरजनेवाला 'वात' वरुण ही की आत्मा है[2]।

वरुण ही के व्रत से रोचमान चन्द्रमा रात्रि में विचरता है और आसमान पर टंगे तारे रात्रि में टिमटिमाते और दिन में आंखों से ओझल हो जाते हैं[3]। एक दूसरे मन्त्र[4] में आया है कि वरुण ने रात्रि का आलिङ्गन किया और अपनी माया के बल से प्रभात या 'पौ' को भ्राजित किया है। किंतु इस कथन से वरुण का रात्रि के साथ संबन्ध इतना गहरा नही उभरता जितना कि इस कथन से कि वरुणदेव ही रात्रि और दिन को नियमित एवं विभक्त करते हैं[5]। सच पूछो तो वरुण के साथ उल्लेख सूर्य का है न कि चन्द्रमा या रात्रि का। ऋग्वेद में वरुण दिन और रात दोनों की चमक के स्वामी है, जबकि मित्र केवल दिन के दिव्य प्रकाश के देवता प्रतीत होते है।

उत्तर-वैदिककाल अर्थात् ब्राह्मणों में वरुण का खास तौर से रात्रि-गगन के साथ सबन्ध उभर आया है। उदाहरण के लिए यह आता है कि मित्र ने दिन को जन्म दिया और वरुण ने रात्रि को[6]। साथ ही दिन को मित्र एवं रात्रि को वरुण से सबद्ध बताया गया है। यह मान्यता संभवतः इस नीयत से खड़ी की गई हो कि मित्र का—जिस का प्राकृतिक आधार सभवतः सूर्य था—वरुण से, जिस का प्राकृतिक आधार अस्पष्ट था, भेद साफ़ हो जाय। किंतु इन दोनों का विरोध शतपथ ब्राह्मण[7] में एक और ही प्रकार से दिखाया गया है। शतपथ के अनुसार यह लोक मित्र है और द्युलोक वरुण है।

वरुण के विषय मे कभी-कभी यह भी कहा गया है कि वे ऋतुओं का नियमन करते हैं। वे बारह मासों को जानते है[8]। मित्र, वरुण और अर्यमा के लिए कहा गया है कि इन्होंने शरद्, मास, दिन और रात्रि को अलग-अलग धारण कर रखा है[9]।

---

1. ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुंचन्त्यश्वान्। ऋ० 5.62.1.
2. आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत्। ऋ० 7 87.2.
3. अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुहचिद् दिवेयुः।
   अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति॥ ऋ० 1.24.10.
4. स क्षपः परि षस्वजे न्युस्रो मायया दधे स विश्वं परि दर्शतः। ऋ० 8.41 3.
5. वि ये दधुः शरदं मासमादहर्यज्ञमक्तुं चादृचम्। ऋ० 7 66.11.
6. मित्रोहरजनयद्वरुणो रात्रिम्। तै० सं० 6.4.8 3.
   मैत्रं वा अहर्वारुणी रात्रिः। तै० सं० 2.1.7.4.
7. अयं वै लोको मित्रोऽसौ वरुणः। श० ब्रा० 12.9.2.12.
8. वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। ऋ० 1.25.8.
9. वि ये दधुः शरदं मासमादहर्यज्ञमक्तुं चादृचम्।

ऋग्वेद मे वरुण को जलो का शास्ता बताया गया है। उन्होने सरिताओ को प्रवाहित किया, ये सरिताए वरुण के ऋत का अनुसरण करती हुई सतत प्रवाहित होती रहती हैं[1]। वरुण की माया के बल से सरिताए तीव्र जव से समुद्र मे गिर कर भी उसे भर नही पाती[2]। वरुण और मित्र सरिताओ के पति है[3]। वरुण का ऋग्वेद मे ही समुद्र के साथ सबन्ध गठ गया है। किंतु यह सबन्ध इस सहिता मे सभवत वरुण के अतुल महत्त्वशाली न होने के कारण, कुछ मध्यम सा पड गया है। सामुद्रिक जल मे विराजित वरुण का आकाशस्थ मरुद्गणो, पृथिवीस्थ अग्नि, और अन्तरिक्षस्थ वात के साथ विरोध उभारा गया है[4]। यह कहावत कि सातो नदिया वरुण के मुह मे गिरती हैं, समुद्र के ऊपर अधिक चरितार्थ होती है। यह भी कहा गया है कि (द्यौ = सूर्य) की भाति वरुण भी समुद्र को वेला मे बाधे हुए हैं[5]। वस्तुत वरुण अन्तरिक्षस्थ जल से साधारणतया सबद्ध है। वे गुप्त समुद्र की भाति द्युलोक पर आरोहण करते हैं[6]। मनुष्यो के सत्य और अनृत का अवेक्षण करते हुए वे स्वच्छ एव मधु बरसानेवाले जल मे विचरण करते है[7]। वरुण की वेष-भूषा जल है[8]। वरुण और मित्र उन देवताओ मे से है, जो जल बरसाते हैं, और इस बात के लिए उनके गुण गाये गये हैं। वरुण, (बादल की) मशक से द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष मे पानी छिडकते है[9]। मित्र और वरुण के पास

अनाप्य वरुणो मित्रो अर्यमा क्षत्र राजान आशत। ऋ० 7 66 11

1. प्र सीमादित्यो असृजद्विधर्ता ऋत सिन्धवो वरुणस्य यन्ति।
न श्राम्यन्ति न वि मुचन्त्येते॥ ऋ० 2 28 4.
2. इमामू नु कवितमस्य माया महीं देवस्य नकिरा दधर्ष।
एक यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनय समुद्रम्॥ ऋ० 5 85 6
3. आ राजाना मह ऋतस्य गोपा सिन्धुपती क्षत्रिया यातमर्वाक्॥ ऋ० 7 64 2
4 दिवा यान्ति मरुतो भूम्याऽग्निरय वातो अन्तरिक्षेण याति।
अद्भिर्याति वरुण समुद्रैर्युष्मॉ इच्छन्त शवसो नपात। ऋ० 1 161 14.
5. अव सिन्धु वरुणो द्यौरिव स्थाद्॥ ऋ० 7 87 6
6 स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति नि यदासु यजुर्दधे। ऋ० 8 41 8.
7 यासा राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
मधुश्चुत शुचयो या पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥ ऋ० 7 49 3
8 वना वसानो वरुणो न सिन्धून्। ऋ० 9 90 2
वरुण इदिह क्षयत्तमापो अभ्यनूषत वत्स सशिश्वरीरिव। ऋ० 8 69 11.
सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धव।
अनुक्षरन्ति काकुद सूर्म्य सुषिरामिव॥ ऋ० 8 69 12
अनुक्षरन्ति काकुद सूर्म्य सुषिरामिव॥ ऋ० 8 69 12
9. नीचीनवार वरुण कबन्ध प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्। ऋ० 5 85.3

इरामय कामधेनु है और मधुमयी सरिताएं हैं[1]। उनके पास वर्षा-भरित आकाश और प्रवहमान सलिल हैं[2]। वे चरागाहों पर घी बरसाते हैं और अवकाशों में मधु[3]। वे अवकाश से वर्षा और इरा को नीचे पठाते हैं[4]। दिव्य जल से परिप्लुत वर्षा उन्हीं के यहां से आती है[5]। सच पूछिये तो एक पूरे-के-पूरे सूक्त में उनकी वर्षणशक्ति का गुण-गान किया गया है[6]। संभवतः सलिल एवं वर्षा के साथ संबद्ध होने के कारण ही वरुण को निघण्टु के पांचवें काण्ड में द्युलोकस्थ एवं अन्तरिक्षस्थ देवताओं में गिना गया है। ब्राह्मणों में मित्र और वरुण वर्षा के भी देवता हैं। अथर्ववेद मे वरुण की लोक-शासक शक्ति छिन गई है; और अब वे केवल जल पर शासन करनेवाले रह गये हैं। वे जल के साथ अब भी वैसे ही संबद्ध हैं जैसे सोम-पर्वत के साथ[7]। अब भी वे दिव्य पिता के रूप में वर्षा बरसाते हैं[8]। उनका स्वर्णिम आवास जल में है[9]। वे जल के सर्वोच्च पति हैं। वे और मित्र वर्षा के स्वामी हैं[10]। यजुर्वेद में उन्हे जल का शिशु बताया गया है और जल उनके मातृतम हैं[11]। जल ही वरुण की पत्नियां हैं[12]। मित्र और वरुण जल के नेता हैं[13]। वरुण के व्रतों के विषय में कहा गया है कि वे ध्रुव हैं, क्योंकि धृतव्रत विशेषण प्रधान-

---

उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्ट्यादित्।
समभ्रेण वसत पर्वतासस्तविषीयन्तः श्रथयन्त वीराः॥ ऋ० 5.85.4.

1. इरावतीर्वरुण धेनवो वां मधुमद्वां सिन्धवो मित्र दुह्रे। ऋ० 5.69.2.
2. वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः। ऋ० 5.68.5.
3. आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम्।
मध्वा रजांसि सुक्रतू॥ ऋ० 3.62.16.
4. इळां नो मित्रावरुणोत वृष्टिमव दिव इन्वतं जीरदानू। ऋ० 7.64.2.
5. सं या दानूनि येमथुर्दिव्याः पार्थिवीरिषः। ऋ० 8.25 6.
6. ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथो रथं सत्यधर्माणा परमे व्योमनि।
यमत्र मित्रावरुणावथो युवं तस्मै वृष्टिर्मधुमत्पिन्वते दिवः॥ ऋ० 5.63. पूर्ण सूक्त 5.63 1 आदि
7. अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः। अथ० 3 3.3
8. अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः। अथ० 4.15.12.
9. अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मितः। अथ० 7.83.1.
10. वरुणोऽपामधिपतिः (स मावतु)। अथ० 5.24.4.
मित्रावरुणौ वृष्ट्या अधिपती तौ मावताम्। अथ० 5 24.5.
11. पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः। यजु० 10.7.
12. आपो वरुणस्य पत्नयः। तै० सं० 5 5.4.1.
13. मित्रावरुणौ वा अपां नेतारौ। तै० सं० 6.4.3 2.

तथा वरुण के लिए अकेले, और कभी-कभी मित्र के साथ प्रयुक्त हुआ है। स्वयं देव-गण भी वरुण या वरुण-मित्र और सविता के व्रतों का अनुसरण करते है[1]। अमर देवता भी मित्र और वरुण के अटल व्रतों को टालने में असमर्थ है[2]। मित्र और वरुण ऋत एवं प्रकाश के स्वामी है; वे ऋत के सहारे ऋत को धारण करते हैं[3]। ऋतावृध् विशेषण सब से अधिक उनके लिए; और फिर आदित्यों के लिए अथवा देव-सामान्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। वरुण ऋत के गोपा है[4]। वे और कभी-कभी आदित्य ऋत के गोपा कहे गये है; किंतु इस विशेषण का प्रयोग अग्नि और सोम के लिए भी देखा गया है। प्रमुख रूप से अग्नि के लिए प्रयुक्त ऋतावन् विशेषण अनेक वार मित्र और वरुण के लिए भी आया है। वरुण की शक्ति इतनी प्रभूत है कि न तो उड़ते हुए पक्षी और न प्रवहमान सरिताएं ही इनके साम्राज्य की सीमा का, शक्ति का, और इनके क्रोध का पार पा सकती हैं[5]। आकाश और सरिताए मिलकर भी मित्र और वरुण के 'देवत्व को नही पा सके हैं[6]। वरुण सब को और सभी प्राणियों के आवासों को अपने में समाविष्ट किये हुए है। तीनों स्वर्ग और तीनों पृथिवी वरुण मे निहित है[7]। वरुण सर्वज्ञ है। वे आकाश मे पक्षियो की उड़ान को, समुद्र मे जहाजों के यातायात को, और सुदूरगामी वायु के मार्ग को जानते हैं, और सभी गुप्त वस्तुओं को, जो हो चुकी है या जो होने वाली है—वे देखते है[8]। वे मानवजात के सत्य और अनृत के चितेरे हैं[9]। उनके बिना कोई प्राणी[10]

1. परि धामानि मर्मृशद्वरुणस्य पुरो गये।
   विश्वेदेवा अनु व्रतं नभन्तामन्यके समे॥ ऋ० 8.41.7.
   ये सवितुः सत्यसवस्य विश्वे मित्रस्य व्रते वरुणस्य देवाः॥ ऋ० 10.36.13.
2. न वां देवा अमृता आ मिनन्ति व्रतानि मित्रावरुणा ध्रुवाणि॥ ऋ० 5.69.4.
   धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया॥ ऋ० 5.63.7.
3. ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती। ता मित्रावरुणा हुवे। ऋ० 1.23 5.
4. ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। ऋ० 1.2.8.
5. नहि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्चनामी पतयन्त आपुः।
   नेमा आपो अनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम्॥ ऋ० 1.24.6.
6. न वां द्यावोऽहभिर्नोत सिन्धवो न देवत्वं पणयो नानशुर्मघम्। ऋ० 1.151.9.
7. तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः। ऋ० 7.87.5.
8. वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः। ऋ० 1.25.7.
   वेद वातस्य वर्तनिमुरोर्ऋष्वस्य बृहतः। ऋ० 1.25.9.
   अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा। ऋ० 1.25.11.
9. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्। ऋ० 7.49.3.
10. न हि त्वदारे निमिषश्चनेशे ऋ० 2 28 6

पलक भी नही मार सकता। मनुष्यो की पलके उनकी गिनती मे है और जो कुछ भी मनुष्य सोचता, मनसूबे बाधता या करता है, उन सभी को वरुण चीह्नते है[1]। जो कुछ भी पृथिवी और द्युलोक के मध्य अथवा इनके बाहर स्थित है, उस सभी को वरुण ताडते है। कोई मनुष्य, भले ही वह आकाश के उस पार भाग जाय, वरुण से नही बच सकता[2]। वरुण की सर्वज्ञता अन्य देवताओ मे भी मिलती है, उदाहरण के लिए अग्नि की तुलना इस बात मे वरुण से की गई है[3]।

नैतिक शासक होने के नाते वरुण सभी देवताओ से कही ऊचे है। पाप कर्म से और व्रतो के उल्लङ्घन से वरुण को क्रोध चढता है और वह ऐसा करनेवालो को कडा दण्ड देते है[4]। जिन पाशो के द्वारा वरुण पापियो को बाधते है उनका जहा-तहा उल्लेख मिलता है[5]। ये पाश सात और तीन कडियो के है। ये झूठो को धर बाधते और सत्यवादी को छूते तक नही है[6]। मित्र और वरुण अपने अनेक पाशो को लेकर असत्य को प्रचारते हैं[7]। एक बार उनके विषय मे कहा गया है कि वे इन्द्र की सहायता से पापियो को ऐसे बन्धनो से जूडते है जो रस्सी के बने नही होते[8]। पाश शब्द का प्रयोग अन्य देवताओ मे केवल एक बार अग्नि के साथ हुआ है, जहा उनसे अनुनय किया गया है कि हे अग्नि, आप अपने उपासको के पाशो को ढीला[9]

1. संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्। अथ० 4.16 5.
यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः॥ अथ० 4 16.2.
2. उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः। अथ० 4.16 4.
सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्। अथ० 4 16.5.
3. . त्रिधुं स वेद वरुणो यथा धिया। ऋ० 10 11.1.
4. पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते॥ ऋ० 7.86.3.
किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्॥ ऋ० 7.86.4.
5. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय॥ ऋ० 1 24 15.
उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे॥ ऋ० 1.25.21.
प्र णो मुञ्चतं वरुणस्य पाशात्॥ ऋ० 6.74.4.
प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्॥ ऋ० 10.85 24.
6 ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
सिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥ अथ० 4.16 6.
7. ता भूरिपाशावनृतस्य सेतू दुरत्येतू रिपवे मर्त्याय॥ ऋ० 7.65 3.
8. यौ सेतृभिररज्जुभिः सिनीथः॥ ऋ० 7.84.2.
9. एवास्मदग्ने वि मुमुग्धि पाशान्॥ ऋ० 5 2.7.

कर दो। फलत. पाशोवाली विशेषता वरुण की है। बेर्गेन के अनुसार वरुण के पाशो की प्रकल्पना पानी के बाधो पर आधृत है। किंतु हिलेब्राण्ड्ट के मत से यह रात्रि के पाशो पर अवलम्बित है। किंतु वरुण के पाशो की व्याख्या नैतिक अपराध करनेवालो के ऊपर फेंके आलकारिक पाशो से हो जाती है। मित्र के साथ वरुण को असत्य का अपाकर्ता, अनृत से घृणा करनेवाला, और अनृत के लिए दण्ड देनेवाला कहा गया है[1]। जो लोग मित्र-वरुण की उपासना मे गफलत करते हैं उन्हे वे सजा देते हैं[2]। इसके विपरीत प्रायश्चित्त करनेवालो पर वरुण दया करते है। वे पाप को मानो रस्सी से बाधते और फिर उसे ढीला कर देते हैं[3]। वे मनुष्यो के स्वय किये पापो को ही नही, अपितु पितृ-गण द्वारा किये पापो को भी मुआफ कर देते हैं[4]। वे हर घडी व्रतो को तोडनेवाले जनो के अपराधो को भी क्षमा कर देते हैं[5]; और जो अनजाने उनके व्रतो को तोडते है, उन पर भी वे समय पडने पर दया करते है[6]। वास्तव मे वरुण (और आदित्यो) के निमित्त कहा हुआ कोई भी सूक्त ऐसा नही है, जिसमे कि उनसे अपराधो के लिए क्षमा न मागी गई हो, ठीक ऐसे ही अन्य देवो के प्रति कहे गए सूक्तो मे उन देवताओ से स्वस्ति अथवा कल्याण की भिक्षा मागी गई है।

वरुण के पास 100 और कही-कही इससे भी बढकर 1000 ओषधियां है। इनसे वे मृत्यु को जीतते और भक्तो का पाप-भञ्जन करते हैं[7]। वे जीवन का अन्त कर सकते हैं और चाहे तो इसे बढा भी सकते है[8]। वे अमृत के सिद्धहस्त रक्षक है। पूतमति

1. अवातिरतमनृतानि विश्व ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे ॥ ऋ० 1.152.1.
इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति ॥ ऋ० 7.60 5.
ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः ॥ ऋ० 7.66.13.
2 जनो यो मित्रावरुणावभिध्रुगपो न वां सुनोत्यक्ष्णया ध्रुक्।
स्वयं स यक्ष्मं हृदये नि धत्त आप यदीं होत्राभिरृतावा ॥ ऋ० 1.122.9.
3. वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य। ऋ० 2 28 5.
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्। ऋ० 5 85.7.
सर्वा ता वि ष्य शिथिरेव देवाधा ते स्याम वरुण प्रियासः। ऋ० 5.85.8.
4. अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः ॥ ऋ० 7.86.5.
5 यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्। मिनीमसि द्यविद्यवि ॥ ऋ० 1.25.1.
6. अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥ ऋ० 7.89.5.
7. शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।
बाधस्व दूरे निरृतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत् ॥ ऋ० 1.24.9.
8. अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः ॥ ऋ० 1.24.11.
प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ऋ० 1.25.12.

मानव[1] दूसरे लोक में वरुण और यम को, जो दोनों राजा स्वधा में आनन्द लेते है, देखने की लालसा रखते है[2]।

वरुण अपने उपासकों के प्रति मित्रता का भाव रखते है[3]। उनके उपासक उनके दिव्य आवास में उनके साथ दोस्ती का-सा वार्तालाप करते है, और कभी-कभी वे उन्हें अपनी प्रज्ञा-चक्षु से निहारते भी है[4]।

जिन वैदिक मन्त्रों को यहां उद्धृत किया गया है उनसे वरुण के प्राकृतिक आधार के विषय मे हम किस निर्णय पर पहुंचते है? इन उद्धरणों से और नीचे लिखे मित्र-संबन्धी उद्धरणों से प्रतीत होता है कि ये दोनों देवता सूर्य के निकट संबन्धी है और इन दोनों में भी वरुण अधिक बढे-चढ़े हैं। सच पूछो तो मित्र देवता वरुण में इतने अधिक समाविष्ट हो गये है कि उनकी स्वतन्त्र विशेषताओं का नाम तक कम लिया गया है। हो न हो मित्र के व्यक्तित्व-लोप का मुख्य कारण इस महान् देवता के साथ उनका अटूट संबन्ध है। अवेस्ता के साक्ष्य पर मित्र को सौर-देवता माना गया है। फलतः वरुण मूलतः किसी अन्य प्राकृतिक दृश्य के प्रतिरूप रहे होंगे। यह प्राकृतिक दृश्य संभवतः व्यापक आकाश रहा हो। द्युलोक का असीम गुम्बद द्रष्टा के नेत्रों के समुख इतना विपुल दृश्य उपस्थित करता है कि इसके सामने दिन के समय आकाश के एक लघु भाग में यात्रा करनेवाला सूर्य तुच्छ पड़ जाता है। फलतः यह प्रभूत व्योम कल्पना में सूर्य की अपेक्षा कही अधिक बड़ा देवता दीख पड़ेगा। और सूर्य का आकाश के साथ संबन्ध स्वारसिक है, क्योंकि वह आकाश ही में से होकर प्रतिदिन चलता है और आकाश के सिवाय और कही भी

स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यात्रु द्यावस्ततनन्यादुषसः ॥ ऋ० 7.88.4.
मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥ ऋ० 7.89.1.

1. एवा वन्दस्व वरुणं बृहन्तं नमस्या धीरममृतस्य गोपाम् ॥ ऋ० 8.42.2.
2. प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥ ऋ० 10.14.7.
3. स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यात्रु द्यावस्ततनन्यादुषासः ॥ ऋ० 7.88.4.
क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुरा चित्।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥ ऋ० 7.88.5.
य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन्त्वामागांसि कृणवत्सखा ते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ॥ ऋ० 7.88.6.
4. एता जुषत मे गिरः ऋ० 1.25.18.
अधा न्वस्य संदृशं जगन्वानग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि।
स्वर्यदश्मन्नधिपा उ अन्धोऽभि मा वपुर्दृशये निनीयात् ॥ ऋ० 7.88.2.

दिखाई नही पड़ता। फलत: सूर्य की द्युलोक के नेत्र के रूप में कल्पना करना एक आसान-सी वात थी और यदि मित्र का मौलिक स्वरूप धुंधला न होता और यदि उनका वरुण मे समावेश न हो गया होता तो सूर्य को मित्र का चक्षु बताना नाजायज़ होता। फिर ऋग्वेद मे सूर्य के भी चक्षु होना लिखा है। 'दूर-द्रष्टा' यह विशेषण यदि सूर्य के लिए उचित जचता है तो आकाश के लिए भी उपयुक्त दीखता है; क्योंकि आकाश के विषय मे भी कहा जा सकता है कि वह दिन मे ही नही, अपितु रात में भी चन्द्र-तारकाओं की पलकों द्वारा देखते है। चूकि वरुण अपने प्राकृतिक आधार से दूर जा पड़े हैं इसलिए वे मित्र के साथ ऊंचे आकाश में रथ पर भी चढ़े दीख सकते है। वरुण ही अकेले क्यों? ऋग्वेद का हर महान् देवता रथ पर सवारी करता है। वरुण का घर आकाश-गुम्बद के प्रतिरूप उच्चतम आकाश में होना स्वाभाविक है और उनका वर्षा के साथ सवद्ध होना भी उचित है। अन्त मे किसी भी प्राकृतिक दृश्य का सर्वोच्च शासक के रूप मे विकसित होना उतना आसान नही है जितना कि आकाश का। और चूकि आकाश पृथिवी से बहुत ही ऊंचे पर परिव्याप्त है और नित्यप्रति के आश्चर्यजनक दृश्य उसी मे होते दीख पड़ते हैं, इसलिए उसका मानवीभाव सपन्न हो जाने पर उसी को अहर्निश मानव-जाति के कार्य-कलाप का सर्वेक्षक एवं जगती के ध्रुव नियम का सरक्षक मानना भी स्वारसिक है। इसी प्रकार का विकास हेलेना की गाथा में ज्यौस् (द्यौस्) का उघड़ता दीख पड़ता है। जो आरम्भ मे आकाश का एक विशेषणमात्र था वही वाद में देवों का सर्वोच्च शासक बन गया है। अब यह आकाश की प्रशान्त ऊचाई पर बैठता, बादलों को एकत्र करता, और वज्र धारण करता है; और इसी की इच्छा का दूसरा नाम नियम है।

वे प्राकृतिक दृश्य, जिनके साथ कि ऋग्वेद के दो सबसे महान् देवता मूलत: संवद्ध थे, उनके व्यक्तित्व-भेद का कारण बन जाते है। वरुण, जो कि ठीक समय पर अचूक रूप से आनेवाले दिव्य प्रकाश के दृश्य से सवद्ध है, [पार्थिव एवं नैतिक जगत् के नियमों के सर्वोच्च अधिष्ठाता है।] और चूकि उनका रूप मूलत: नैतिक है इसलिए उनके विषय में गाथा-साहित्य का विकास न होना भी स्वाभाविक ही था। फलत. युद्ध-प्रिय आर्यों को युद्ध में आनन्द लेनेवाले सैनिक के लिए शासक इन्द्र देव की कल्पना करनी पड़ी। सभी जानते हैं कि वैद्युत दृश्य जब-तब विना किसी नियम के घट जाते हैं। इन वैद्युत दृश्यो के साथ निकटत. सवद्ध होने के कारण जहां एक ओर इन्द्र का चरित्र अनियमित-सा बन गया है वहां दूसरी ओर वे ऋग्वेद के अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा कहीं अधिक गाथाओ के केन्द्र बन गये है। उनके द्वारा वरुण देव के दबाये जाने की बात पर, (जिसके प्रतिपादक कि स्वयं प्रोफेसर राथ है), विवेचन आगे चलकर करेंगे। और जब देवताओ के नेतृत्व का सेहरा प्रजापति के सिर जा बंधा तब वरुण की सर्वोच्च शासकता भी क्रमश: धूमिल पड़ती गई और अब रह गया

उनके पास केवल जल का शासन, जोकि मौलिक रूप मे उनके स्वरूप का एक मामूली अश था। फलत उत्तर-वैदिक-कालीन गाथा मे वरुण भारतीय नेप्च्यून (समुद्र के देवता) बन कर रह गये है।

ओल्डनबेर्ग के मत मे वरुण मूलत चन्द्रमा के प्रतिरूप थे। आदित्यो की अपनी सख्या सात ही है और अवेस्ता के अमेषास्पेन्ता के साथ उनका तादात्म्य सुनिश्चित है। इस बात से आरम्भ करके ओल्डेनबेर्ग क्रमश इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि मित्र और वरुण क्रमश. सूर्य और चन्द्र है और छोटे आदित्य पाच नक्षत्रो के प्रतिरूप हैं, मित्र और वरुण भायोरपीय काल के नही, अपितु भारत-ईरानी काल मे सेमेटिक जाति के कुछ लोगो से आर्यो के द्वारा ग्रहण किये गये देवता हैं, क्योकि सेमेटिक लोग ज्योतिर्विद्या मे आर्यो की अपेक्षा अधिक आगे बढे हुए थे। आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया के दौरान मे वरुण की मौलिक विशेषता मे बहुत-कुछ भेद आ गया होगा और वे तभी से उच्च नैतिकता के आरक्षी बन गये होगे। नही तो एक ऐसा देवता, जो स्पष्टत चन्द्ररूप है, मित्र-जैसे देवता को, जोकि सूर्यरूप है, भारत-ईरानी काल मे पीछे कैसे धकेल पाता, और साथ ही इस काल मे उसका स्वरूप इतनी सूक्ष्मता तक कैसे पहुचता जिससे कि वे नैतिकता के क्षेत्र मे भारत मे वरुण के रूप मे और ईरान मे अहुरमज्दा के रूप मे नीति के सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित हो पाते। किंतु इस मत से वेद मे मिलनेवाली वरुण की तात्त्विक विशेषताओं का व्याख्यान नही हो पाता। साथ ही ऐसी कल्पना से वरुण और ओउरनोस (Ouranós) का पारस्परिक सबन्ध भी टूट जाता है।

पहले कहा जा चुका है कि वरुण की कल्पना भारत-ईरानी काल की है (§ 5), क्योकि ईरान का 'अहुरमज्दा' नाम को छोड और सब बातो मे वरुण के समान है। यह सभव है कि वरुण का यह नाम भायोरपीय हो। और यद्यपि सस्कृत वरुण और ग्रीक ओउरनोस (Ouranós) इन दोनो के तद्रूप होने मे ध्वनि सबन्धी कठिनाइया आती है तो भी तुलनात्मक भाषाविज्ञान के प्रकाण्ड विद्वानो ने इनकी तद्रूपता का एकान्तत· तिरस्कार नही किया है।

यह शब्द चाहे भायोरपीय हो अथवा उत्तरकालीन इतना निश्चित है कि यह √वृ धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ आवृत करना है, फलत इस शब्द का अर्थ परिव्यापक है। सायणाचार्य इसकी √वृ धातु से निष्पत्ति मानते हुए इसका अर्थ 'आवृत करनेवाला' या 'दुष्टो को अपने बन्धन मे बाधनेवाला' करते है और[1] तैत्तिरीय सहिता की अपनी टीका मे 'अन्धकार की तरह छिपानेवाला[2]'। किंतु यदि वरुण शब्द भायोरपीय है तो सभवत यह द्यौ का विशेषण रहा हो, और

1 वरुण शब्दस्यान्धकारवदावरकत्वाभिप्रायात्। तै० स० (सायण) 1 8 16 1

2 अन्धकारेणावरणहेतुत्वाद्रात्रेर्वारुणत्वम् । तै० स० (सायण) 2 1 7 4

बाद मे ग्रीक मे आकाश का विशेषण बन गया हो और भारत मे आकाश का एक उत्कृष्ट देवता मान लिया गया हो।

मित्र (§ 13)—

मित्र का वरुण के साथ इतना घनिष्ठ सबन्ध है कि ऋग्वेद[1] मे केवल एक ही सूक्त उनके अकेले के लिए कहा गया है। किंतु उस सूक्त मे भी मित्र की स्तुति कुछ अनिश्चित-सी है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र मे इनके विषय मे कुछ विशेष बाते कही गई है। वे बोलते हुए मित्र (ब्रुवाण) मनुष्यो को एकत्र करते (यातयति) और निर्निमेष दृष्टि से हलवाहो को देखते है (अनिमिषा)[2]।

एक अन्य मन्त्र मे[3] वरुण के समान ही जिसे कि यहा बलवान् और अदब्ध बताया गया है—मित्र के लिए भी शब्दो का प्रयोग हुआ है, जैसेकि 'बोलता हुआ मित्र मनुष्यो को एकत्र करता है'। यदि हम एक अन्य मन्त्र[4] की जहा कि यह बताया गया है कि सौर-देवता सविता 'सभी जीवो को अपनी वाणी सुनाते और उन्हे प्रचोदित करते है', तुलना इस मन्त्र से करें तो ज्ञात होगा कि इस मन्त्र मे मित्र के सौर-देवता होने की ओर सकेत किया गया है। 'यातयज्जन' यह विशेषण ऋग्वेद के तीन अन्य मन्त्रो मे पाया जाता है। उनमे से एक मे यह मित्र-वरुण के लिए द्विवचन मे प्रयुक्त हुआ है[5], दूसरे मे मित्र, वरुण और अर्यमा के लिए[6], और तीसरे मे[7] अग्नि के लिए, जोकि मित्र की भाति मनुष्यो को एकत्र करते है। फलत. निष्कर्ष निकलता है कि यह विशेषता मुख्य रूप से मित्र की है। उस सूक्त मे आगे आता है कि मित्र द्युलोक एव पृथिवी को धारण करते है, पञ्च-जन उनकी आज्ञा का पालन करते हैं, और वे सभी देवताओ को स्थिर करते है। एक बार[8] नियमो की दृष्टि से सविता का तादूप्य मित्र के साथ देखा गया है, और एक अन्य स्थान पर आता है कि मित्र के नियमो से ही विष्णु अपने तीन पदो द्वारा

---

1. मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्र: कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत॥
ऋ० 3.59.1. आदि पूर्ण सूक्त
2. इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्या. । ऋ० 7.60 7.
3. जनं च मित्रो यतति ब्रुवाण. । इन्द्रो वामन्य: पतवीरदब्धः । ऋ० 7.36.2.
4. य इमा विश्वा जातान्याश्रावयति श्लोकेन । प्र च सुवाति सविता ॥ ऋ० 5.82.9.
5. प्रतेत स्थो भुवक्षेमा धर्मणा यातयज्जना । ऋ० 5 72.2.
6. मित्रस्तयोर्वरुणो यातयज्जनोऽर्यमा यातयज्जन: ॥ ऋ० 1.136 3.
7. तमर्हन्तं न सानसिं गृणीहि विप्र शुष्मिणम् । मित्रं न यातयज्जनम् ॥ ऋ० 8 102.12.
8. उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः ॥ ऋ० 5 81.4.

परिक्रमण करते है[1]। इन दोनो मन्त्रो से ज्ञात होता है कि मित्र ही सूर्य के पथ का नियमन करते है। अग्नि जोकि उषा के आगे चलता है, अपने लिए मित्र को उत्पन्न करता है[2]। समिद्ध अग्नि मित्र है[3], उत्पन्न अग्नि वरुण है—किंतु समिद्ध होने पर वही अग्नि मित्र माना जाता है[4]। अथर्ववेद[5] मे सूर्योदय-कालीन मित्र का विरोध सूर्यास्त-कालीन वरुण के साथ दिखाया गया है, अथर्ववेद[6] मे मित्र से प्रार्थना की गई है कि वह प्रात काल के समय शाला को अनावृत करे, जिसे कि वरुण ने रात मे आवृत कर रखा था। इन मन्त्रो मे उस ब्राह्मण-मत का उदय होता दीख पडता है, जिसके अनुसार मित्र का सबन्ध दिन से और वरुण का रात्रि से है। इस मान्यता का आधार यह रहा होगा कि मित्र मुख्य रूप से सूर्य के सहायक हैं और वरुण उनके विरोध मे रात्रि के देवता हैं। दिन के देवता मित्र और रात्रि के देवता वरुण के मध्य का यही विरोध कर्मकाण्ड के ग्रथो मे भी चालू है, जिनमे विधान आता है कि यज्ञयूप मे मित्र को श्वेत एव वरुण को कृष्ण पशु दिया जाना चाहिये[7]। वेद मे मित्र के सौर-देवता होने के जो थोडे-बहुत प्रमाण मिलते हैं उनकी पुष्टि सामान्य ढग से अवेस्ता और पारसी धर्म से हो जाती है। यहा मित्र नि सदेह सूर्य-देव अथवा विशेषत सूर्य से सबद्ध प्रकाश-देव है।

'मित्र' इस नाम की व्युत्पत्ति सदिग्ध है। ऋग्वेद मे इस शब्द का अर्थ साथी माना गया है, और मित्र-देवता को दयालु बताया गया है। वहा मित्र शान्ति के देवता बनकर भी आते है। अवेस्ता मे चरित्र के नैतिक पक्ष मे मित्र सचाई के सरक्षक है। फलत अनुमान होता है कि मित्र शब्द का मौलिक अर्थ 'साथी' रहा होगा और इसका प्रयोग सूर्य के लिए उन्ह प्रकृति की एक दयालु शक्ति समझ कर किया जाता रहा होगा।

सूर्य (§14)—

ऋग्वेद के 14 सूक्त सूर्य के निमित्त रचे गये है। अनेक स्थलो पर इस बात

1. यस्मै विष्णुस्त्रीणि पदा विचक्रम उप मित्रस्य धर्मभिः ॥ वालखिल्य 4 3
2. उषउषो हि वसो अग्रमेषि त्वं यमयोरभवो विभावा ।
   ऋताय सप्त दधिषे पदानि जनयन् मित्रं तन्वे स्वायै ॥ ऋ० 10 8 4
3. मित्रो अग्निर्भवति यत् समिद्धः ॥ ऋ० 3 5 4
4. त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः ॥ ऋ० 5 3 1
5. स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् ॥ अथ० 13 3 13
6. वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्युब्जतु ॥ अथ० 9 3 18
7. मैत्रावरुणीं द्विरूपामालभेत प्रजाकामो मैत्रं वा अहर्वारुणी रात्रिः ॥ तै०सं० 2 1 7 4.
   मैत्रं श्वेतमालभेत वारुणं कृष्णम् ॥ तै० सं० 2 1 9 1.

का निर्णय करना असभव हो जाता है कि सूर्य शब्द से केवल प्राकृतिक दृश्य अभिप्रेत है अथवा उसका मानवीय रूप। फलत यह कहना कठिन है कि वेद में सूर्य देवता का बोध कितनी बार अभिप्रेत है, क्योंकि कई जगह 'सूर्य' इस नाम से भौतिक सौर-मण्डल का भी बोध होता है। सौर-देवताओ मे सूर्य सबसे अधिक स्थूल है, और भौतिक सूर्य के साथ उनका निकट सबन्ध एक जगह भी आख से ओभल नही हो पाया है। आकाश मे सूर्य का ज्वलन्त प्रकाश मानो अमूर्त अग्निदेव का मुख है (अनीक)[1]। सूर्य की चक्षु का उल्लेख अनेक वार आया है[2], किंतु स्वय सूर्य को भी उतनी ही वार मित्र और वरुण की आख बताया गया है, और साथ मे अग्नि की भी[3]। एक जगह उषा के विषय मे आता है कि वह देवताओ के नेत्र को लाती है[4]। चक्षु और सूर्य की पारस्परिक समानता की ओर एक मन्त्र मे निर्देश आता है, जहा कहा गया है कि मृतक की चक्षु सूर्य मे चली जाती है[5]। अथर्ववेद मे सूर्य को चक्षुओ का पति बताया गया है[6]। और उल्लेख आता है कि वे प्राणियों के एक नेत्र है, जो आकाश, पृथिवी और जल के परोवर देखते है[7]। वे दूर-द्रष्टा है[8], सर्वद्रष्टा[9] है, अशेष जगती के सर्वेक्षक हैं[10]। सभी प्राणियो को एव और मर्त्यों

मैत्रावरुणीं द्विरूपामालभेत पशुकामोऽहोरात्रे वै मित्रावरुणा।
मैत्रावरुणीं कृष्णकर्णीमालभेत वृष्टिकामोऽहोरात्रे वै मित्रावरुणा।
अहोरात्रे अनु वर्षत्ये तद्वा अह्नो रूपं यच्छुक्लं यत्कृष्णं तद्रात्रे ॥ मै०सं०11.5.7.
संग्रामे संयत्ते समयकामो मित्रमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति ॥ तै०सं० 2.1.8.4.

1. अग्नेरनीकं बृहतः सपर्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य ॥ ऋ० 10.7.3.
2. अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् ॥ ऋ० 5.40 8.
3. चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ॥ ऋ० 1.115.1.
4. देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम्।
उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता ॥ ऋ० 7.77.3.
5. सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा ॥ ऋ० 10.16.3.
चक्षोः सूर्यो अजायत ॥ ऋ० 10 90.13.
चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः। चक्षुर्धाता दधातु नः ॥ ऋ० 10.158.3.
चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः ॥ ऋ० 10.158.4.
6. सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु ॥ अथ० 5 24 9.
7. सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽतिपश्यति। सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुः ॥ अथ० 13.1.45.
8. शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु ॥ ऋ० 7.35 8.
दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत ॥ ऋ० 10.37.1.
9. सूर्याय विश्वचक्षसे ॥ ऋ० 1.50.2.
10 तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति ॥ ऋ० 4.13.3.

के भले-बुरे कर्मो को वे निहारते है[1] । सूर्य के द्वारा उद्बुद्ध किये जाने पर मनुष्य अपने लक्ष्यो की ओर निकल पडते है और अपने कार्यो को पूरा करने मे व्यस्त हो जाते है[2] । मानवजात के लिए सूर्यदेव उद्बोधक बनकर उदित होते है[3] । वे चर और अचर सभी की आत्मा है[4] । उनके रथ को एक ही घोडा खीचता है । उनके घोडे का नाम एतश है[5] । यह भी कहा गया है कि उनके रथ को अगणित घोडे खीचते है[6], अथवा उनके रथ मे घोडिया[7], सात घोडे,[8] या हरितः नाम की घोडिया[9] या सात तीव्रगामी घोडिया जुडती है[10] ।

सूर्य के पथ का निर्माण उनके लिए वरुण ने किया है[11] अथवा यो कहिए

1. पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥ ऋ० 1 50 7.
ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्नभि चष्टे सूरो अर्य एवान् ॥ ऋ० 6 51.2.
उभे उदेति सूर्यो अभिज्मन् ।
विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपा ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ॥ ऋ० 7.60.2.
उद्वां चक्षुर्वरुण सुप्रतीकं देवयोरेति सूर्यस्ततन्वान् ।
अभि यो विश्वा भुवनानि चष्टे स मन्युं मर्त्येष्वा चिकेत ॥ ऋ० 7.61.1.
2. उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम् ॥ ऋ० 7.63.1.
दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति ॥ ऋ० 7.63.4.
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि ॥ ऋ० 7.63 4.
3. उद्वेति प्रसवीता जनानां महान्केतुरर्णवः सूर्यस्य ॥ ऋ० 7.63 2.
एष मे देवः सविता चच्छन्द यः समानं न प्रमिनाति धाम ॥ ऋ० 7.63.3.
4. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ ऋ० 1.115.1.
विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपाः ॥ ऋ० 7.60.2.
5. समानं चक्रं पर्याविवृत्सन् । यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः ॥ ऋ० 7.63.2.
6. भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य ॥ ऋ० 1.115 3.
न ते अदेवः प्रदिवो नि वासते यदेतशेभिः पतरैरथर्यसि ॥ ऋ० 10 37.3.
अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा ॥ ऋ० 10 49.7.
7. यत्सूर्यस्य हरितः पतन्तीः पुरः सतीरुपरा एतशे कः ॥ ऋ० 5.29 5.
8. आ सूर्यो यातु सप्ताश्वः ॥ ऋ० 5.45 9.
9. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ॥ ऋ० 1 50.8.
अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ ऋ० 1.50 9.
अयुक्त सप्त हरितः सधस्थाद्या ईं वहन्ति सूर्यं घृताचीः ॥ ऋ० 7.60.3.
10. तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पर्शं विश्वस्य जगतो वहन्ति ॥ ऋ० 4.13.3.
11. उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ ॥ ऋ० 1.24.8.

सूर्य एक पक्षी है[1] या वे एक अरुप सुपर्ण है[2], वे उड़ते है[3], वे उड़नेवाले एक बाज है[4] और एक मन्त्र मे तो उन्हे साफ-साफ श्येन बताया गया है[5]। एक मन्त्र मे उन्हें वृषभ एव पक्षी कहा गया है[6] और एक अन्य मन्त्र में उन्हे चितकबरा बैल (गौः पृश्नि.) बताया गया है[7]। एक स्थान पर उन्हे उषा के द्वारा लाया गया श्वेत और चमकीला घोडा बताया गया है[8]। सूर्य की किरणे ही उनके घोड़े है (जिनकी सख्या ७ है)—[9] क्योकि कहा गया है कि सूर्य की किरणे ही (केतवः) उन्हे लाती है। उनकी सात घोडियो को उनके रथ की सात पुत्रिया बताया गया है[10]।

और जगहो पर मौके के अनुरूप सूर्य का वर्णन अचेतन पदार्थ के रूप मे भी हुआ है। वे आकाश के एक रत्न है[11] और उनकी उपमा एक चित्र वर्ण के पत्थर से की गई है जो आकाश के मध्य मे भासमान है[12]। सूर्य एक ज्योतिष्मान् आयुध है, जिसे मित्र और वरुण बादल और वर्षा से आवृत्त करते हैं[13]। वे मित्र और वरुण[14]

---

1. पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया ॥ ऋ० 10.177.1.
   पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति ॥ ऋ० 10.177.2.
2. उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः ॥ ऋ० 5.47.3.
3. उदपप्तदसौ सूर्यः ॥ ऋ० 1.191.9.
4 श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः ॥ ऋ० 7.63.5.
5. रघुः श्येनः पतयदन्धो अच्छा ॥ ऋ० 5.45.9.
6. उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः ॥ ऋ० 5.47.3.
7. आयं गौः पृश्निरक्रमीत् ॥ ऋ० 10.189.1.
   उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश ।
   मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा ॥ ऋ० 5.47.3.
8. देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम् ।
   उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता ॥ ऋ० 7.77.3.
9. तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति ॥ ऋ० 4.13.3, दे० 4.13.4.
10 अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ॥ ऋ० 1.50.9.
11 दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति ॥ ऋ० 7.63.4.
   रुक्मो न दिव उदिता व्यद्यौत् ॥ ऋ० 6.51.1.
12 मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा ॥ ऋ० 5.47.3.
   अथ यद्धु संक्षरितमासीत्सोऽश्मा पृश्निरभवद्धु वै तमश्मेत्याचक्षते ॥
   शत० ब्रा० 6.1.2.3.
13. माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम् ।
   तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि ॥ ऋ० 5.63.4.
14. अनु श्वेतः पूर्विरा शयन ॥ ऋ० 5.62.2.

के वज्र है, वे मित्र और वरुण द्वारा आकाश मे छोडे गये ज्योतिष्मान् रथ है[1]। सूर्य एक-चक्र है[2] और दो मन्त्रो मे 'सूर्य-चक्र' का उल्लेख आता है[3]।

सूर्य अनिशित चराचर के लिए चमकते हैं[4]। वे मनुष्यो और देवताओ के लिए भासित होते है[5]। वे अपने प्रकाश से अन्धकार का विध्वस करते हैं[6]। वे अन्धकार को चर्म की भाति बटोर लेते है[7]। उनकी किरणे अन्धकार को चर्म की भाति पानी मे फेंक देती है[8]। वे अन्धकार के प्राणियो और यातु-धानियो को पराजित करते है[9]। सूर्य की ललाटतप धूप की ओर केवल दो या तीन बार सकेत आये है[10]। और यह इसलिए कि ऋग्वेद मे सूर्य को पीडा देनेवाला देवता नही माना गया है। इस ज्योतिष्पुञ्ज के क्लेशदायी पहलू के लिए अथर्ववेद एव ब्राह्मणो से मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं।

सूर्य दिनो को नापते[11] और आयु के दिनो को बढाते है[12]। वे बीमारी और प्रत्येक प्रकार के दु स्वप्न का नाश करते है[13]। जीवन का अर्थ ही सूर्योदय का दर्शन

---

1. सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम् ॥ ऋ० 5.63.7.
2. मुषाय सूर्यं कवे चक्रमीशान ओजसा ॥ ऋ० 1.175 4.
   यत्रोत बाधितेभ्यश्चक्रं कुत्साय युध्यते । मुषाय इन्द्र सूर्यम् ॥ ऋ० 4.30.4.
3. त्वा युजा नि खिदत्सूर्यस्येन्द्रश्चक्रं सहसा सद्य इन्दो ॥ ऋ० 4 28.2.
   प्रान्यच्चक्रमवृहः सूर्यस्य ॥ ऋ० 5.29 10.
4. उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारण सूर्यो मानुषाणाम् ॥ ऋ० 7 63.1.
5. प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान् ॥ ऋ० 1.50 5.
6. येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमः ॥ ऋ० 10 37.4.
7. चर्मेव यः समविव्यक् तमांसि ॥ ऋ० 7.63 1
8. दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवावाधुस्तमो अप्स्वन्तः ॥ ऋ० 4 13.4.
9. उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।
   अदृष्टान्त्सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ऋ० 1.191.8.
   आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ ऋ० 1.191.9.
   इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् ।
   विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ऋ० 7.104.24.
10. तपन्ति शत्रुं स्वर्ण भूमा ॥ ऋ० 7 34.19.
    घृणा तपन्तमति सूर्यं परः ॥ ऋ० 9.107.20
11. वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः ।
    पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥ ऋ० 1.50 7.
12. सोम राजन् प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि ॥ ऋ० 8 48 7.
13. तेनास्मद्विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुष्वप्न्यं सुव ॥ ऋ० 10.37.4

कि उसे आदित्यों ने—मित्र, वरुण और अर्यमा ने[1] बनाया है। पूषा उनके सन्देशवाहक है[2]। उषा या उषाएं सूर्य, अग्नि और यज्ञ को जन्म देती है[3]। सूर्यदेव इन उषाओं के उत्सङ्ग में से चमकते है[4]। किंतु किन्ही और दृष्टियों से उषा को सूर्य की पत्नी भी बताया गया है[5]।

सूर्य को माता के नाम पर आदित्य, अर्थात् अदिति के पुत्र, या आदितेय भी कहा गया है[6]। किंतु कही-कही उन्हे आदित्यगण से पृथक् भी दिखाया गया है[7]। उनके पिता द्यौ है[8]। देवता से वे जन्मे है। देवताओं ने उन्हे, जबकि वे समुद्र में विलीन थे, वहा से उभारा[9]। अग्नि के ही एक रूप में देवताओं ने उन्हे द्यौ में टांगा है[10]। एक और विचारधारा के अनुसार उनकी उत्पत्ति[11] विश्व-

---

रदत्पृथो वरुण सूर्याय ॥ ऋ० 7 87 1.

1. यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुण सजोषा ॥ ऋ० 7.60.4.

2 यास्ते पूषन्नावो अन्त समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति।
ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य ॥ ऋ० 6 58 3.

3 एषा स्या नव्य मायुर्दधाना गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि।
अग्र एति युवतिरह्रयाणा प्राचिकितत्सूर्यं यज्ञमग्निम् ॥ ऋ० 7.80.2.
पुरस्ताज्ज्योतिर्यच्छन्ती उषसो विभाती।
अजीजनन्त्सूर्यं यज्ञमग्निम् ॥ ऋ० 7 78 3

4 विभ्राजमान उषसामुपस्थाद्रेभैरुदेत्यनुमद्यमान ॥ ऋ० 7.63 3.

5 वाजिनीवती सूर्यस्य योषा ॥ ऋ० 7 75 5.

6 उदगादयमादित्य ॥ ऋ० 1 50 13
उदपप्तदसौ सूर्य पुरु विश्वानि जूर्वन्।
आदित्य पर्वतेभ्य ॥ ऋ० 1 191 9
बण्महाँ असि सूर्य बलादित्य महाँ असि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि ॥ ऋ० 8 101.11.
यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवा सूर्यमादितेयम् ॥ ऋ० 10 88 11.

7 सजोषसा उषसा सूर्येण चादित्यैर्यातमश्विना ॥ ऋ० 8 35 13
सजोषसा उषसा सूर्येण चादित्यैर्यातमश्विना ॥ ऋ० 8 35 15

8 दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत।
दूरेदृशे देवजाताय केतवे ॥ ऋ० 10 37 1.

9 यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन ॥ ऋ० 10 72.7.

10 यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवा सूर्यमादितेयम् ॥ ऋ० 10 88.11.

11. चक्षो सूर्यो अजायत ॥ ऋ० 10 90 13.

पुरुष के नेत्र से हुई है। अथर्ववेद[1] मे तो सूर्य की उत्पत्ति वृत्र तक से भी बताई गई है।

अनेक देवताओ के बारे में आता है कि उन्होने सूर्य को उत्पन्न किया। इन्द्र ने सूर्य को जन्म दिया[2], उन्हे भासित किया एव द्युलोक मे उभारा[3]। इन्द्र और विष्णु ने उन्हे जन्म दिया[4]। इन्द्र और सोम ने उन्हे प्रकाश के साथ ऊपर उभारा[5]। इन्द्र और वरुण ने प्रभूत सूर्य को द्यौ मे उठाया[6]। मित्र और वरुण ने उन्हे उभारा अथवा द्युलोक मे विठाया[7]। सोम ने सूर्य मे प्रकाश का आधान किया[8], सूर्य को जन्म दिया[9], उन्हे चमकाया[10] अथवा उन्हे द्युलोक मे टिकाया[11]। अग्निदेव ने सूर्य की चमक को ऊचाई पर स्थित किया[12]। और उन्हे स्वर्ग मे चढाया[13]। धाता ने सूर्य एवं चन्द्र का निर्माण किया[14]। अङ्गिरसो ने अपने यज्ञो द्वारा सूर्य-चन्द्र को आकाश मे टिकाया[15]। सूर्य की उत्पत्ति से संबद्ध इन सभी मन्त्रो मे साधारण सूर्य के भौतिक प्रकाश की ओर सकेत सुस्पष्ट है।

अनेक मन्त्रो मे सूर्य को आकाश मे उडनेवाले पक्षी के रूप मे देखा गया है।

---

1. वृत्राज्जातो दिवाकरः ॥ अथ० 4.10.5.
2. यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥ ऋ० 2.12.7.
3. सूर्यं हर्यन्नरोचयः ॥ ऋ० 3.44.2.
4. जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम् ॥ ऋ० 7.99.4.
5. इन्द्रासोमा वासयथ उषासमुत्सूर्यं नयथो ज्योतिषा सह ॥ ऋ० 6 72.2.
6. सूर्यमैरयतं दिवि प्रभुम् । इन्द्रावरुणा मदे अस्य मायिनः ॥ ऋ० 7.82.3.
7. अनु व्रतं वरुणो यन्ति मित्रो यत्सूर्यं दिव्यारोहयन्ति ॥ ऋ० 4.13.2.
   माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम् ॥ ऋ० 5.63 4.

   सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम् ॥ ऋ० 5 63 7.
8. अयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः ॥ ऋ० 6 44.23.
   (ओजो-)ऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥ ऋ० 9.97 41.
9. जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य ॥ ऋ० 9 96.5.
10 अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः ॥ ऋ० 9 63 7.
11. आ सूर्यं रोहयो दिवि ॥ ऋ० 9.107.7.
12 ऊर्ध्वं भानुं सूर्यस्य स्तभायन् ॥ ऋ० 10 3 2
13. अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि ॥ ऋ० 10 156.4.
14 सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ॥ ऋ० 10 190 3.
15 य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन्पृथिवीं मातरं वि ।
   सुप्रजास्त्वमङ्गिरसो वो अस्तु ॥ ऋ० 10 62.3.

करता है[1]। सभी प्राणी सूर्य पर अवलम्बित है[2]। आकाश उन्ही के द्वारा ठहरा हुआ है[3]। उन्हे विश्व-कर्मा भी कहा गया है[4]। अपनी महत्ता के कारण वे असुर्य पुरोहित है (असुर्य. पुरोहित.)। उदय के समय उनसे प्रार्थना की जाती है कि वे मित्र, वरुण एव अन्य देवताओ के समक्ष मनुष्यो को निष्पाप घोषित करें[5]। उदय के समय उन्हे वृत्रघ्न इन्द्र के पास जाने के लिए कहा गया है, और जब उन्हे इन्द्र के साथ बुलाया गया है तब उन्ही को वृत्रघ्न कहकर पुकारा गया है[6]।

सूर्य के विषय मे कही गई एकमात्र गाथा का सार है कि इन्द्र ने उनका हनन किया[7] और उनके चक्र को चुरा लिया[8]। हो सकता है कि यह घटाओं के बीच सूर्य के घिर जाने का आलकारिक वर्णन हो।

अवेस्ता मे भी ह्वरे अर्थात् सूर्य (=वैदिक स्वर् जिससे सूर्य की निष्पत्ति हुई और जो ग्रीक helios से सबद्ध है) के शीघ्रगामी घोड़ों को अहुरमज्दा का नेत्र बताया गया है।

सविता (§ 15)—

ऋग्वेद मे सविता के निमित्त ग्यारह सकल और अनेक विकल सूक्त आये है और उनका नाम लगभग 170 वार उल्लिखित हुआ है। इनमे से आठ या नव सूक्त तो पारिवारिक मण्डलो मे आये है, जबकि सूर्य के निमित्त कहे गये सूक्त तीन

1. ज्योक्पश्यात्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ऋ० 4.25 4.
   पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ ऋ० 6.52.5.
2. सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ऋ० 1.164.14.
3. सूर्येणोत्तभिता द्यौः ॥ ऋ० 10.85.1.
4 येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता ॥ ऋ० 10.170.4.
5 यदद्य सूर्य ब्रवोऽनागा उद्यन् मित्राय वरुणाय सत्यम् ॥ ऋ० 7.60.1.
   स सूर्य प्रति पुरो न उद् गा एभिः स्तोमेभिरेतशेभिरेवैः ।
   प्र नो मित्राय वरुणाय वोचोऽनागसो अर्यम्णे अग्नये च ॥ ऋ० 7.62.2.
6. आ प्र द्रव परावतोऽर्वावतश्च वृत्रहन् ॥ ऋ० 8.82.1.
   तीव्रा सोमास आ गहि सुतासो मादयिष्णवः ॥ ऋ० 8.82 2.
   आ त्वंशत्रवा गहि न्युक्थानि च हूयसे ।
   उपमे रोचने दिव ॥ ऋ० 8 82 4.
7. स्वर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत् ॥ ऋ० 10 43 5.
8. मुषाय सूर्यं कवे चक्रमीशान ओजसा ॥ ऋ० 1.175.4.
   यन्नोत बाधितेभ्यश्चक्रं कुत्साय युध्यते ।
   मुषाय इन्द्र सूर्यम् ॥ ऋ० 4.30.4.

को छोडकर और सभी प्रथम और दशम मण्डल मे है। सविता प्रधानरूप से एक हिरण्मय देवता है, उनके सभी अवयवो तथा उपकरणो का वर्णन इसी विशेषण के द्वारा किया गया है। वे हिरण्याक्ष,[1] हिरण्य-हस्त[2], हिरण्य-जिह्व[3] हैं। ये विशेषण खास तौर से उन्ही के लिए प्रयुक्त हुए है। वे हिरण्य-बाहु[4], पृथु-पाणि[5] और सुपाणि[6] हैं। वे मधु-जिह्व है[7] और सुजिह्व[8] भी हैं। एक बार उन्हे अयोहनु भी कहा गया है। वे हरिकेश (पीतकेश) भी हैं, जो अग्नि एव इन्द्र का एक गुण है[9]। वे पीत वर्ण की गाती मारते[10] है। उनके पास स्वर्णिम रथ है, जिसकी फडे तक स्वर्णिम है[11]। यह रथ वैसा ही विश्व-रूप[12] है जैसेकि वे स्वय विश्व-रूप हैं[13]। उनके रथ को दो चमकीले घोडे अथवा इन से अधिक बभ्रु-वर्ण, श्वेत चरणोवाले घोडे खीचते हैं[14]।

ओजस् और विभूति प्रमुख रूप से सविता के गुण है और सुनहरी गति (हिरण्ययी अमति) केवल उन्ही का गुण है[15]। इस विभूति को वे विश्व मे बखे-

1 हिरण्याक्ष सविता देव आगात्। ऋ० 1 35 8
2 हिरण्यपाणि सविता विचर्षणि। ऋ० 1 35 9
हिरण्यहस्तो असुर सुनीथ। ऋ० 1 35 10
3 हिरण्यजिह्व सुवितायु नव्यसे। ऋ० 6 71 3
4 उदुष्य देव सविता हिरण्यया बाहू अयस्त सवनाय सुक्रतु। ऋ० 6 71 1
उदू अयाँ उपवक्तेव बाहू हिरण्यया सविता सुप्रतीका। ऋ० 6 71 5
उदस्य बाहू शिथिरा बृहन्ता हिरण्यया दिवो अन्ताँ अनष्टाम्। ऋ० 7 45 2
5. प्र बाहवा पृथुपाणि सिसर्ति। ऋ० 2 38 2
6 देवोऽनय सविता सुपाणि। ऋ० 3 33 6
7 अयोहनुर्यजतो मन्द्रजिह्व। ऋ० 6 71 4
8 हिरण्यपाणि सविता सुजिह्व। ऋ० 3 54 11
9 सूर्यरश्मिर्हरिकेश पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम्। ऋ० 10 139 1
10 पिशङ्ग द्रापिं प्रति मुञ्चते कवि। ऋ० 4 53.2
11 हिरण्ययेन सविता रथेन। ऋ० 1 35 2
रथ हिरण्यप्रउगं वहन्त। ऋ० 1 35 5
12 अभीवृत कृशनैर्विश्वरूपम्। ऋ० 1 35 4
13 विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कवि। ऋ० 5 81 2
14 याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम्। ऋ० 1 35.3
वि जनाञ्छ्यावा शितिपादो अख्यन् रथ हिरण्यप्रउगं वहन्त। ऋ० 1 35 5
आ देवो यातु सविता सुरत्नोऽन्तरिक्षप्रा वहमानो अश्वै। ऋ० 7 45 1
15 उदुष्य देव सविता ययाम हिरण्ययीममतिं यामशिश्रेत्। ऋ० 7.38 1.

चलते है[1]। वे जलो के नेता है और उनकी प्रेरणा से सलिल विस्तृत होकर प्रवाहित होते हैं[2]। अन्य देवता उनके नेतृत्व का अनुगमन करते है[3]। कोई भी प्राणी, यहां तक कि इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमन् और रुद्र भी उनके विशद व्रत और प्रिय स्वराज्य का उल्लङ्घन नही कर सकता[4]। उनका यशोगान वसुगण, अदिति, वरुण, मित्र और अर्यमन् करते है[5]। पूषन् और सूर्य की भाति सविता चर और अचर के स्वामी है[6]। वे सभी वननीय वस्तुओ के स्वामी है और स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी से अपना आशीर्वाद पठाते है[7]। दो वार उन्हे दमूनस् भी कहा गया है[8]। शेप स्थानों पर इस विशेषण का प्रयोग केवल अग्नि ही तक सीमित रहा है। कुछ अन्य देवताओं की भाति सविता आकाश के धर्ता है[9]। वे सपूर्ण ससार के धरुण है[10]। सविता ने यन्त्रो से पृथिवी को स्थिर कर रखा है और स्तम्भहीन शून्य मे आकाश को टाग रखा है[11]।

सविता को कम-से-कम एक वार तो 'अपां नपात्' भी कहा गया है[12]। इतर

देव इव सविता सत्यधर्मा ॥ ऋ० 10.139 3.

1. आपश्चिदस्य व्रत आ निमृग्रा अयं चिद् वातो रमते परिज्मन् ॥ ऋ० 2 38.2.
2. देवोऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥ ऋ० 3 33 6.
   देवोऽनयत्सविता। सुपाणिः कल्याणपाणिः।···तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः ॥ नि०2.26.
3. यस्य प्रयाणमन्वन्य इद् ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा ॥ ऋ० 5.81.3.
4. वनानि विभ्यो नकिरस्य तानि व्रता देवस्य सवितुर्मिनन्ति ॥ ऋ० 2.38.7.
   न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः ॥ ऋ० 2.38.9.
   अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः कच्चन प्रियम्। न मिनन्ति स्वराज्यम् ॥ ऋ० 5 82.2.
5. अपि ष्टुतः सविता देवो अस्तु यमा चिद् विश्वे वसवो गृणन्ति ॥ ऋ० 7.38.3.
   अभि यं देव्यदितिर्गृणाति सवं देवस्य सवितुर्जुषाणा।
   अभि सम्राजो वरुणो गृणन्त्यभि मित्रासो अर्यमा सजोषाः ॥ ऋ० 7.38 4.
6. जगतः स्थातुरुभयस्य यो वशी ॥ ऋ० 4 53 6.
7. अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम् ॥ ऋ० 1.24 3.
   अस्मभ्यं तद् दिवो अद्भ्यः पृथिव्यास्त्वया दत्तं काम्यं राध आ गात् ॥ ऋ० 2.38.11.
8. देवो नो अत्र सविता दमूना ॥ ऋ० 1.123.3.
   उदु ष्य देवः सविता दमूनाः ॥ ऋ० 6.71.4.
9. दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः ॥ ऋ० 4.53.2.
   धर्ता दिवः सविता विश्ववारः ॥ ऋ० 10.149.4.
10. न प्रमिये सवितुर्दैव्यस्य तद् यथा विश्वं भुवनं धारयिष्यति ॥ ऋ० 4 54.4.
11. सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत् ॥ ऋ० 10.149.1.
12. अपां नपातमवसे सवितारमुप स्तुहि ॥ ऋ० 1.22 6.

स्थानो पर इस विशेषण का प्रयोग अग्नि के लिए ही हुआ है। सभवत इसका प्रयोग इस मन्त्र[2] मे भी उन्ही के लिए हुआ है। यास्क[3] एक मन्त्र की व्याख्या मे कहते है कि सविता यहा मध्यम या अन्तरिक्ष लोक के देवता हैं, क्योकि वे वर्षा के निमित्त कारण है। साथ ही वे यह भी कहते है कि सूर्य (आदित्य जो द्युलोक मे है) का भी सविता कहा गया है। सभवत इस विशेषण के कारण, और क्योकि सविता के पथ को एक वार अन्तरिक्ष मे दिखाया गया है[3], इसलिए सविता को निघण्टु मे द्यु-स्थानीय एव अन्तरिक्ष-स्थानीय दोनो ही प्रकार के देवताओ मे गिना गया है। सविता को एक वार विश्व का प्रजापति भी कहा गया है[4]। शतपथ ब्राह्मण[5] मे मनुष्यो के विषय मे आता है कि वे सविता को तादूप्य प्रजापति से करते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण[6] कहता है कि प्रजापति ने सविता होकर प्राणियों की सृष्टि की। केवल सविता ही जीवन-प्राणन-शक्ति हैं और अपनी गति से (यामभि) वे ही पूषन् बन जाते हैं[7]। उन्ही की सजीवनी शक्ति मे पूषन् गमन करते है और समस्त जीवो का उनके सरक्षक की भाति सर्वेक्षण करते हैं[8]। दो मन्त्रो मे पूषन् और सविता को परस्पर सबद्ध माना गया है[9]। प्रथम मन्त्र मे सभी जीवो का निरीक्षण करनेवाले पूषन् से उनकी अनुकपा के लिए प्रार्थना की गई है और दूसरे मे सविता से प्रार्थना की गई है कि वे उपासको की, जोकि उनकी वरेण्य ज्योति का ध्यान करते है, धी या प्रज्ञा को प्रेरित करे। दूसरा प्रसिद्ध सावित्री मन्त्र है जिसके द्वारा उत्तरकाल मे वेदाध्ययन के आरम्भ मे सविता का आह्वान किया जाता था। सविता के विषय मे यह भी आता है कि वे अपने विधानो द्वारा मित्र बन जाते हैं[10]। सविता का तादूप्य

1. अपां नपात्सविता तस्य वेद ॥ ऋ० 10 149.2.
2. सविता यन्त्रै पृथिवीमरमयदनारम्भणेऽन्तरिक्षे सविता द्यामदृंहत्। अश्वमिवाधुक्षद्-धुनिमन्तरिक्षे मेघम्। कमन्य मध्यमादेवमवक्ष्यत्। आदित्योऽपि सवितोच्यते। नि० 10 32
3 ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता अन्तरिक्षे। ऋ० 1.35 11.
4 दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापति । ऋ० 4 53.2
5 यो ह्येव सविता स प्रजापति । श० ब्रा० 12 3.5 1.
6 प्रजापति भूत्वा प्रजा असृजत। तै० ब्रा० 1 6 4 1.
7 उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत पूषा भवसि देव यामभि । ऋ० 5 81.5
8 तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपा । ऋ० 10 139 1
9 यो विश्वाभि विपश्यति भुवना स च पश्यति ।
स नं पूषाविता भुवद् ॥ ऋ० 3 62 9
तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नं प्रचोदयात् ॥ ऋ० 3 62 10
10 उत मित्रो भवसि देव धर्मभि । ऋ० 5 81 4

कभी-कभी भग के साथ भी दिखाया गया है, किंतु उन स्थलों पर नही जहां कि 'भग' सविता का विशेषण बनकर आया है[1]। भग (जो सपदा के स्रोत है) का नाम अनेक बार सविता के साथ जोड़ दिया जाता है, जिससे एक पद 'सविता भग' या 'भग-सविता' सपन्न हो जाता है। अन्य सहिताओ मे सविता को मित्र, पूषन् और भग से पृथक् रखा गया है। अनेक मन्त्रो मे सूर्य और सविता अविविक्त ढग से एक ही देवता बनकर आते है। इस प्रकार एक कवि कहता है—"सविता देव ने अपनी ज्योति को ऊचा उभारा है और इस प्रकार उन्होने समस्त लोक को प्रकाशित किया है, सूर्य प्रखरता के साथ चमकते हुए द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष को अपनी किरणो से आपूरित कर रहे है[2]। एक और सूक्त[3] के प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ मन्त्र मे सूर्य का वर्णन उन्ही पदो के द्वारा हुआ है (उदा० प्रसवितृ) जो प्रायः सविता के लिए प्रयुक्त होते है, और तृतीय मन्त्र मे तो सविता को साफ़ तौर से सूर्य का तद्रूप कहा गया है। अन्य सूक्तो मे भी दोनो देवताओ को पृथक् करके देखना कठिन हो गया है[4]। निम्न-लिखित समान मन्त्रो मे सविता को सूर्य से पृथक्

1. तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम् ।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥ ऋ० 5 82.1.
स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भगः । ऋ० 5 82.3
उदु ष्य देवः सविता ययाम हिरण्ययीममतिं यामशिश्रेत् ।
नूनं भगो हव्यो मानुषेभिः ॥ ऋ० 7.38.1.
अनु तन्नो जास्पतिर्मंसीष्ट रत्नं देवस्य सवितुरियानः ।
भगमुग्रोऽवसे जोहवीति भगमनुग्रो अध याति रत्नम् ॥ ऋ० 7.38 6.
2. ऊर्ध्वं केतुं सविता देवो अश्रेज्ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वन् ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वि सूर्यो रश्मिभिश्चेकितानः ॥ ऋ० 4.14 2.
3. उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम् ॥ ऋ० 7.63.1.
उद्वेति प्रसवीता जनानाम् ॥ ऋ० 7 63 2.
दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरेअर्थस्तरणिर्भ्राजमानः ।
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः ॥ ऋ० 7.63 4.
4. सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात् ।
अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः ॥ ऋ० 10.158.1-4
जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति ।
पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः ॥
चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः ।
चक्षुर्धाता दधातु नः ॥
चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः । सं चेदं वि च पश्येम ॥

रखा गया है। सविता द्युलोक और पृथिवी दोनों के मध्य से चलते है, वे रोगों को दूर भगाते और सूर्य को प्रेरित करते[1] है। सविता मनुष्यों को सूर्य के समक्ष निष्पाप घोषित करते है[2]। वे सूर्य की किरणों के साथ संमिलित होते है[3] अथवा वे सूर्य की किरणों से चमकते है[4]। मित्र, अर्यमा और भग के साथ सविता से प्रार्थना की गई है कि वे सूर्योदय के समय उपासकों को प्रचोदित करें[5]।

यास्क[6] के अनुसार सविता का काल अन्धकार की निवृत्ति होने के उपरान्त आता है। ऋग्वेद के[7] मन्त्र 5.81.4. की टीका में सायण कहते हैं कि उदय के पूर्व सूर्य को सविता और उदय से अस्त तक उसे सूर्य कहते है। साथ ही सविता के लिए कभी-कभी यह भी कहा है कि वे मनुवर्ग को सोने के लिए प्रेरित करते है[8]। फलतः उनका संबन्ध प्रातःकाल एवं सायंकाल दोनों के साथ होना चाहिए। वस्तुतः एक सूक्त में उनकी स्तुति अस्तगामी सूर्य के रूप में की गई है[9]। इस बात के अनेक सकेत है कि सविता के निमित्त कहे गये सूक्तों का सवन्ध प्रातःकालीन अथवा

ह्वयाम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये ह्वयामि मित्रावरुणाविहावसे।
ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देवं सवितारमूतये॥ ऋ० 1.35.1–11.
उषा उच्छन्ती समिधाने अग्ना उद्यन्सूर्य उर्विया ज्योतिरश्रेत्।
देवो नो अत्र सविता न्वर्थं प्रासावीद् द्विपत्प्र चतुष्पदित्यै॥ ऋ० 1.124.1.

1. हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यम्..................॥ ऋ० 1.35.9.
2. देवो नो अत्र सविता दमूना अनागसो वोचति सूर्याय॥ ऋ० 1.123.3.
3. उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि॥ ऋ० 5.81.4.
4. सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम्॥ ऋ० 10.139.1.
आ सूर्यादभरन् घर्ममेते॥ ऋ० 10.181.3.
अबोध्यग्निज्म उदेति सूर्यो व्युषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा॥ ऋ० 1.157.1.
शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु॥ ऋ० 7.35.8.
शं नो देवः सविता त्रायमाणः॥ ऋ० 7.35.10.
5. यदद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा।
सुवाति सविता भगः॥ ऋ० 7.66.4.
6. सविता व्याख्यातः। तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति॥ नि० 12.12.
7. उदयात् पूर्वभावी सविता, उदयास्तमयवर्ती सूर्य इति॥ ऋ० 5.81.4. (सायण)
8. बृहत्सुम्नः प्रसवीता निवेशनः॥ ऋ० 4.53.6.
निवेशयञ्च प्रसुवञ्च भूम॥ ऋ० 7.45.1.
9. उदु ष्य देवः सविता सवाय शश्वत्तमं तदपा वह्निरस्थात्।
नूनं देवेभ्यो वि हि धाति रत्नमथाभजद्वीतिहोत्रं स्वस्तौ॥ ऋ० 2.38.1. आदि

सायकालीन यज्ञ के साथ है। वे सभी द्विपदो और चतुष्पदो को सुलाते और जागृत करते है[1]। वे अपने अश्वो को उन्मुक्त कर देते और पथिको को आराम देते हे, उनके आदेश से रात्रि आती है, बुननेवाली स्त्री अपने धागो को बटोर लेती है और कुशल मनुष्य अपने अकृत कार्य को अधूरा छोड़ देते है[2]। उत्तरकाल मे पश्चिम दिशा को उनकी अपनी समझा जाने लगा[3], जैसेकि पूर्व दिशा को अग्नि की और दक्षिण दिशा को सोम की समझा जाता था।

सविता नाम की बनावट से झलकता है कि हो न हो यह नाम भारत की अपनी निजू सपत्ति है। इस बात का समर्थन इस तथ्य से होता है कि √सू धातु का, जिससे कि सविता शब्द बना है, इस शब्द के साथ लगातार प्रयोग हुआ है और वह भी एक ऐसे ढग से जोकि ऋग्वेद की अपनी विशेषता है। उन्ही कार्यो की अभिव्यक्ति दूसरे किसी भी देवता के सबन्ध मे किसी और ही धातु से की गई है। साथ ही सविता के सबन्ध मे न केवल √सू धातु का, अपितु इससे निष्पन्न अनेक शब्दो का भी प्रयोग हुआ है, जैसेकि प्रसवितृ और प्रसव। बार-बार आनेवाले इन एक-धातुज प्रयोगो से स्पष्ट हो जाता है कि इस धातु का अर्थ 'प्रेरित करना', 'उद्बुद्ध करना', 'प्रचोदित करना' रहता आया है। इस विशिष्ट प्रयोग के कुछेक उदाहरण यहा दिये जाते है—'सवितृ देव ने प्रत्येक चर वस्तु को उद्बुद्ध किया है' (प्रसवीता)[4]। 'उद्बोधन का स्वामी एकमात्र तू ही है' (प्रसवस्य)[5]। 'सविता ने वह अमरत्व तुम्हारे लिए आविर्भूत किया' (आसुवत्)[6]। 'सवितृ देव हमे उद्बुद्ध करने के लिए उदित हुए हैं' (सवाय)[7]। 'सविता प्रतिदिन तीन बार आकाश से वरदान भेजते है' (सोषवीति)[8]। 'हे सविता, हमे निष्पाप बनाओ' (सुवतात्)[9]। 'सविता

1. यो विश्वस्य द्विपदो यश्चतुष्पदो निवेशने प्रसवे चासि भूमनः । ऋ० 6 71.2.
2. आशुभिश्चिद् यान् वि मुचाति नूनमरीरमदतमानं चिदेतोः ।
अह्यर्षूणां चिन्न्ययाँ अविष्यामनुव्रतं सवितुर्मोक्यागात् ॥ ऋ० 2 38.3.
पुनः समव्यद् विततं वयन्ती मध्या कर्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः । ऋ० 2.38.4.
3. प्रतीचीमेव दिशम् । सविता प्राजानन्नेव वै सविता य एष तपति तस्मादेष प्रत्यङ्ङेति प्रतीचीं ह्येतेन दिशं प्राजानन् प्रतीची ह्येतस्य दिक् ॥ शत० ब्रा० 3.2 3.18.
4 प्रासावीद् देवः सविता जगत् पृथक् । ऋ० 1.157.1.
5. उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इत् । ऋ० 5.81 5.
6. तत्सविता वोऽमृतत्वमासुवत् । ऋ० 1.110.3.
7. उदु ष्य देवः सविता सवाय शश्वत्तमं तदपा वह्निरस्थात् । ऋ० 2.38.1.
8. त्रिरा दिवः सविता सोषवीति । ऋ० 3 56 7.
9. देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवतादनागसः । ऋ० 4.54.3.

के प्रभाव से (सवे) अदिति के प्रति निष्पाप होते हुए हम सब इष्ट वस्तुओ को प्राप्त करे'[1]। 'तू दु स्वप्न को दूर कर (परा सुव), सब कठिनाइयो को दूर कर, और भद्र वस्तुओ को हमे दे' (आसुव)। 'सविता ! हमारे अस्वास्थ्य को दूर करो' (अप साविपत्)[2]। इसी धातु का प्रयोग करके सविता से प्रार्थना की गई है कि वे धन का दान करें[3]। स्पष्ट है कि √सू धातु का यह प्रयोग प्राय सविता के लिए ही हुआ है। किंतु दो या तीन बार इस धातु का प्रयोग सूर्य के सबन्ध मे भी हुआ है[4]। उषा, वरुण, आदित्यगण, मित्र और सविता से युक्त अर्यमा के सबन्ध मे भी इस धातु का प्रयोग मिलता है। इस प्रयोग की बहुलता के कारण ही यास्क सविता की परिभाषा करते हुए कहते है—'सर्वस्य प्रसविता'[5]।

सब प्रयोगो मे से लगभग आधो मे यह नाम 'देव' शब्द के साथ आता है। इससे झलकता है कि यह अब भी एक प्रकार का विशेषण ही था। सविता का अर्थ है—'प्रेरित करनेवाला देवता'। कुछ भी हो दो मन्त्रो मे यह त्वष्टा का विशेषण बनकर भी आता है[6]। यहा 'देवस त्वष्टा सविता विश्वरूप' शब्दो को आमने सामने रखने से एव उन्हे देव शब्द के साथ सबद्ध करने से ज्ञात होता है कि सविता इस मन्त्र मे त्वष्टा के तद्रूप है।

उक्त बातो से यह परिणाम निकलता है कि सविता मूलत भारतीय देव है। यह प्रारम्भ मे सूर्य का एक विशेषणमात्र था, ऐसे सूर्य का, जोकि विश्व मे जीवन और गति के महान् प्रेरक है और जो गति के रूप मे सपूर्ण ससार की सभी गतियो मे प्रमुख है। किंतु सूर्य से पृथक् पडकर सविता उनकी अपेक्षा कही अधिक सूक्ष्म देवता बन गया। वैदिक कवियो की दृष्टि मे सविता सूर्य की दिव्य शक्ति के मानवीय रूप है, जबकि सूर्यदेव एक अधिक स्थूल देवता है। सूर्य देव का नाम सौर-मण्डल-वाचक शब्द के तद्रूप है। इसी कारण सूर्य की कल्पना मे सौर-शरीर का भान बराबर बना रहता है[7]।

ओल्डेनबेर्ग इस विकास क्रम को न मानते हुए कहते है कि सविता प्रेरक-

---

1. अनागसो अदितये देवस्य सवितु सवे। विश्वा वामानि धीमहि ॥ ऋ० 5 82 6
2. वाममद्य सवितर्वाममु श्वो दिवेदिवे वाममस्मभ्य सावी ॥ ऋ० 6 71 6
3 अपामीवा सविता साविषन्न्यक्। ऋ० 10 100 8
4. उद्वेति प्रसवीता जनाना महान् केतुरर्णव सूर्यस्य। ऋ० 7 63 2
नून जना सूर्येण प्रसूता। ऋ० 7 63 4.
5. सविता सर्वस्य प्रसविता। निरुक्त 10 31
6 देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूप। ऋ० 3 55 19, 10 10 5
7. अपामीवा बाधते वेति सूर्यम्। ऋ० 1 35 9.
उषा उच्छन्ती समिधाने अग्ना उद्यन्त्सूर्य उर्विया ज्योतिरश्रेत्। ऋ० 1 124 1.

शक्ति के प्रतिरूप है और सविता की कल्पना मे सूर्य, या उनके पक्ष-विशेष-सबन्धी विचार बाद मे जोडे गये है।

पूषन् (§ 16)—

ऋग्वेद मे पूषन् के नाम का उल्लेख लगभग 120 बार हुआ है और उनके निमित्त आठ सूक्त कहे गये है—पाच छठे मण्डल मे, दो प्रथम मे और एक दशम मण्डल मे। एक सूक्त मे इन्द्र के साथ और एक अन्य सूक्त मे सोम के साथ उनकी देवता-युग्म के रूप मे भी स्तुति हुई है। इस प्रकार साख्यिकी के अनुसार उनका स्थान विष्णु से कुछ ऊचा ही ठहरता है। वैदिक काल के परवर्ती भाग मे और उत्तर-वैदिक काल मे उनका नामोल्लेख क्रमश. कम होता चला गया है। उनका व्यक्तित्व अस्पष्ट और उनकी मानवीय आकार-सबन्धी विशेषताए अल्प है। जब उनसे प्रार्थना की गई है कि 'हे पूषन्! दुष्टो के अगारे को कुचल डालो' तब उनके पैर का उल्लेख किया गया है। उनके दाहिने हाथ का भी उल्लेख मिलता है[1]। रुद्र की भाति उनके भी घघराले बाल है[2] और दाढी है[3]। उनके हाथ मे सुनहरा बर्छा (वाशी) है[4] और वे नोकदार (हालियो जैसी) आर और अष्ट्रा (अकुश) अपने पास रखते हैं[5]। उनके रथ के चक्र, कोश और आसन का उल्लेख मिलता है[6] और उन्हे सर्वोत्तम सारथि माना गया है[7]। बकरे (अजाश्व) उनके रथ को खीचते है[8] वे करम्भ खाते है। सभवत इसी कारण उन्हे दन्तहीन कहा गया है[9]।

1. परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम् । ऋ० 6 54.10.
2. रथीतमं कपर्दिनमीशानं राधसो महः । ऋ० 6 55.2.
3. प्र श्मश्रु हर्यतो दूधोद् वि वृथा यो अदाभ्यः । ऋ० 10 26.7.
4. हिरण्यवाशीमत्तम । ऋ० 1.42.6.
5. या ते अष्ट्रा गोओपशाघृणे पशुसाधनी ॥ ऋ० 6 53.9.
परि तृन्धि पणीनामारया हृदया कवे ॥ ऋ० 6 53 5.
वि पूषन्नारया तुद ॥ ऋ० 6.53 6.
यां पूषन्ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याघृणे ॥ ऋ० 6 53 8.
अजाश्वः पशुपा वाजपस्त्यः । ऋ० 6 58 2.
6. पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽव पद्यते । नो अस्य व्यथते पविः । ऋ० 6.54.3.
7. उत घा स रथीतमः । ऋ० 6 56 2   न्यैरयद् रथीतमः । ऋ० 6.56.3.
8. अस्या ऊ षु ण उप सातये भुवोऽहेळमानो ररिवाँ अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व ॥
ऋ० 1.138 4.
9. तत्पूषा प्राश तस्य दतो निर्जघान तथेदूनं सदास तस्मादाहुरदन्तकः पूषेति ।
शत० ब्रा० 1.7.4.7.

पूषन् सभी जीवों को एक-साथ साफ साफ देख लेते हैं[1]। ऐसा एक बार अग्नि के लिए भी कहा गया है[2]। वे चर और अंचर सभी वस्तुओ की आत्मा है। लगभग यही शब्द सूर्य के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं[3]। वे अपनी माता का ध्यान करते और अपनी बहन से प्रेम करते हैं[4]। ऐसे ही शब्द अग्नि के बारे मे कहे गये है। देवताओ ने प्रेम-विह्वल पूषा को सूर्या के साथ ब्याहा[5]। सभवत सूर्या का पति होने के नाते ही पूषन् देव विवाह-सूक्त मे विवाह-उत्सव के साथ सबद्ध हैं[6]। वहा उनसे अनुरोध किया गया है कि वे दुल्हन का हाथ पकडकर उसे दूर ले जाय और उसके वैवाहिक जीवन को सुखमय बनावें। एक अन्य मन्त्र मे[7] उनसे अनुनय किया गया है कि वे अपने उपासको को कुमारिया प्रदान करें। अपनी अन्तरिक्षस्थ जल मे चलनेवाली स्वर्णिम नावो मे बैठकर वे प्रेम के वशीभूत हो सूर्या के सदेश-वाहक बनते हैं[8]। वे ससार का निरीक्षण करते हुए आगे बढते है[9] और अपना आवास द्युलोक को बनाते हैं[10]। वे एक सरक्षक है जो सविता के आदेश पर चलते हैं और सभी प्राणियो को जानते एव उन्हे देखते है। उनकी स्तुति के एक सूक्त मे पूषन् को रथीतम कहा गया है; उन्होने सूर्य के स्वर्णिम चक्र को नीचे की ओर चलाया है,[11] किंतु यहा सबन्ध कुछ अस्पष्ट-सा है[12]। पूषन् के लिए आघृणि विशेषण अनेक बार आया है। एक बार उन्हे अगोह्य भी कहा है—'दु ख के अयोग्य'; यह विशेषण सविता के लिए विशेष रूप से आता है।

पूषन् का जन्म पथो मे सुदूरतम पथ पर हुआ है—द्युलोक और पृथिवी

---

1. यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति।
   स नः पूषाविता भुवत्। ऋ० 3.62.9.
2. यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। ऋ० 10.187.4.
3. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋ० 1.115.1.
4. मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः। ऋ० 6 55.5.
5. यं देवासो अददुः सूर्यायै कामेन कृतं तवसं स्वञ्चम्। ऋ० 6.58.4.
6. पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्य। ऋ० 10.85.26.
   तां पूषञ् छिवतमामेरयस्व। ऋ० 10.85.37.
7. अविता नो अजाश्वः पूषा यामनियामनि। ऋ० 9.67.10.
8. यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति।
   ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृत श्रव इच्छमानः॥ ऋ० 6.58.3.
9. विश्वमन्यो अभिचक्षाण एति। ऋ० 2.40 5.
10. दिव्यन्यः सदनं चक्र उच्चा। ऋ० 2.40 4.
11. सूरश्चक्रं हिरण्ययम्। न्यैरयद् रथीतमः॥ ऋ० 6.56.3.
12. आदित्योऽपि गौरुच्यते। उतादः परुषे गवि पर्वबति भास्वतीत्यौपमन्यवः॥ निरुक्त 2 6.

वे सुदूर पथ पर। वे अपने दोनो प्रिय निवास स्थानो पर जाकर लौटते हैं और उन्हे जानते है[1]। अपने इस परिज्ञान के सहारे ही वे मृतको को पितरो के सुदूर पथ पर ले जाते है ठीक उसी प्रकार जैसेकि अग्नि और सविता उन्हे सुकर्म करनेवालो के पास ले जाते है। और जहा स्वय पूषन् तथा देवगण निवास करते हैं, पूषा अपने उपासको को वहा सुरक्षापूर्वक रास्ता दिखाते हुए ले जाते है[2]। अथर्ववेद के अनुसार भी पूषन् सुकर्म करनेवालो को देवताओ के सुन्दर लोक मे ले जाते है[3]। जैसे पूषन् मर्त्यवर्ग को वैसे ही उनका बकरा यज्ञ के अश्व को मार्ग दिखलाता है[4]। सभवत पूषन् के इस पथपरिज्ञान ही के आधार पर यह धारणा बनी है कि उनके रथ को अच्युत-पद बकरा खीचता है। पथो के ज्ञाता होने के कारण पूषन् राजमार्गो के सरक्षक है। पथो से खतरो, भेडियो और डाकुओ को हटाने के लिए उनसे प्रार्थना की गई है[5]। इस कारण उन्हे 'विमुचो नपात्' (मुक्ति के पुत्र) कहा गया है। यही विशेषण उनके लिए एक अन्य मन्त्र मे प्रयुक्त हुआ है[6] और दो बार उन्हे विमोचन भी कहा गया है[7]। चूकि वे विमोचन एव विमुचो नपात् है, इस-

---

1. प्रपथे पृथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिव प्रपथे पृथिव्या ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥ ऋ० 10 17 6

2 पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपा ।
स त्वैतेभ्य परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्य सुविदत्रियेभ्य ॥ ऋ० 10 17 3
आयुर्विश्वायु परि पासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देव सविता दधातु ॥ ऋ० 10 17 4.
पूषेमा आशा अनु वेद सर्वा सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।
स्वस्तिदा आघृणि सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्पुर एतु प्रजानन् ॥ ऋ० 10 17 5

3 पूषा मा धात्सुकृतस्य लोके। अथ० 16 9 2
पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपा ।
स त्वैतेभ्य परि ददत्पितृभ्यो ऽग्निर्देवेभ्य सुविदत्रियेभ्य ॥ ऋ० 18 2 54.

4 एष छाग पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्य । ऋ० 1 162 3
अत्रा पूष्ण प्रथमो भाग एति यज्ञ देवेभ्य प्रतिवेदयन्नज । ऋ० 1 162 4

5 स पूषन्नध्वनस्तिर व्यंहो विमुचो नपात्। ऋ० 1 42 1
यो न पूषन्नघो वृको दु ऽशेव आदिदेशति। अप स्म त पथो जहि ॥ ऋ० 1 42 2
अप त्य परिपन्थिन मुषीवाण हुरश्चितम्। दूरमधि स्रुतेरज ॥ ऋ० 1 42 3.

6 एहि वा विमुचो नपात् । ऋ० 6 55 1

7 प्र पूषण वृणीमहे युज्याय पुरूवसुम् ।
स शक्र शिक्ष पुरुहूत नो धिया तुजे राये विमोचन ॥ ऋ० 8 4 15
भेन निर्दारिहि भूरिजारिव क्षुर रास्व रायो विमोचन। ऋ० 8 4 16

लिए उनसे पाप से मुक्ति की प्रार्थना की गई है[1]। शत्रुओं को तितर-बितर करने के लिए, रास्तों को वाजसाति की ओर ले चलने के लिए[2], शत्रुओं को हटाने के लिए, रास्तों को शिव बनाने के लिए, और अच्छे चरागाह तक ले चलने के लिए पूषन् से प्रार्थना की गई है[3]। रास्ते में विनाश से रक्षा तथा शुभ पथ दिखाने के लिए उनका आह्वान किया गया है[4]। वे प्रत्येक पथ के संरक्षक[5] और प्रत्येक पथ के स्वामी हैं[6]। वे पथ-प्रदर्शक हैं (प्रपथ्य)[7]। अतः जो भी कोई यात्रा करता है, वह पूषन् को हविष् प्रदान करता है और ऋग्वेद के सूक्त 6.53 का उच्चारण करता है। और जो कोई भी रास्ते से भटक जाता है, वह पूषन् की शरण जाता है[8]। इसके अतिरिक्त विभिन्न देवों के लिए दिये गये साय-प्रातःकालीन हविष् में से पथस्पति पूषन् का भाग गृह के द्वार पर रख दिया जाता है[9]।

पथिज्ञ होने के कारण पूषन् गुप्त धन को प्रकट करते और उसे सुलभ बनाते हैं[10]। एक मन्त्र में कहा गया है कि उन्होंने गुह्य स्थान में छिपे हुए राजा (सभवतः सोम) को खोज निकाला; और उनसे मांग की गई है कि वे उसे खोये हुए पशु की भांति ले आवें[11]। *इस प्रकार सूत्रों में किसी खोई वस्तु के प्राप्त होने पर पूषन् के* लिए यज्ञ करने का विधान आता है[12]। पूषन् की एक और विशेषता[13] यह है कि

1. वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व। अथ० 6.112.3.
2. वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि। ऋ० 6.53.4.
3. अति नः सश्चतो नय सुगा नः सुपथा कृणु। पूषन्निह क्रतुं विदः॥ ऋ० 1.42.7.
   अभि सूयवसं नय न नवज्वारो अध्वने। पूषन्निह क्रतुं विदः॥ ऋ० 1.42.8.
4. पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन। ऋ० 6.54.9.
   पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः। ऋ० 10.59.7.
5. पथस्पथः परिपतिं वचस्या। ऋ० 6.49.8.
6. युक्ष्मा त्वा पथस्पते। ऋ० 6.53.1.
7. पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा। वा० सं० 22.20.
8. वयमु त्वा पथस्पत इत्यर्थं चर्या चरिष्यन्।
   सं पूषन्निदुपेति नष्टमधिजिगमिषन् मूळ्हो वा॥ आ० गृ० सू० 3.7.8.9.
   अध्वानं गमिष्यन् पूष्णे पथिकृते। शां० श्रौतसूत्र 3.1.9.
9. पूष्णे पथिकृते धात्रे विधात्रे मरुद्भ्यश्चेति देहलीषु। शां० गृ० सू० 2.14.10.
10. आविर्गूळ्हा वसू करत्सुवेदा नो वसू करत्। ऋ० 6.48.15.
11. आ पूषञ्चित्रबर्हिषमाघृणे धरुणं दिवः। आजा नष्टं यथा पशुम्॥ ऋ० 1.23.13.
    पूषा राजानमाघृणिरपगूळ्हं गुहा हितम्। अविन्दच्चित्रबर्हिषम्॥ ऋ० 1.23.14
12. सं पूषन्निदुपेति नष्टमधिजिगमिषन्मूळ्हो वा। आ० गृ० 3.7.9.
13. पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः। ऋ० 6.54.5.

वे पशुओ के पीछे-पीछे चलते और उनकी देखभाल करते हैं। गढ़े में गिर जाने पर लगी चोट से वे पशुओ को बचाते है, उन्हे बिना घाव के घर पहुंचाते और खोये पशुओ को फिर से ढूढ लाते है[1]। वे उनको गढे में गिरने के नुकसान से बचाते, उन्हें अक्षत घर पहुचाते, और नष्ट हुए पशुओ को पुन: प्राप्त कराते है[2]। उनका चाबुक पशुओ को सीधे मार्ग से ले जाता है[3]। संभवतः पशुओं को सीधा ले जाने के विचार से ही हल के सीधे ले जाने का गठजोड भी उनके साथ हो गया है[4]। पूषन् घोड़ों की रक्षा करते[5], भेडो के बालो से वस्त्र बुनते एवं उन्हे पहरनेयोग्य चिकना बनाते हैं[6]। वन्य पशुओं को पूषन् का बताया गया है और उन्हें पशुओं का उत्पादक भी कहा गया है[7]। गौओं के चरागाह मे से भगा ले जाने पर या उनके तितर-वितर हो जाने पर पूषन्-सूक्तो के उच्चारण का विधान आता है[8]।

पूषन् के कुछेक गुण अन्य देवताओ के गुणों जैसे है। वे असुर है[9]। वे शक्तिशाली[10], ओजस्वी[11], तेजस्वी[12], सबल[13] एव निर्बाध[14] है। वे मर्त्यों से परे है

1. पूषन्नु प्र गा इहि। ऋ० 6.54.6.
परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु॥ ऋ० 6.54.10.
अजाश्वः पशुपा वाजपस्त्यो धियंजिन्वो भुवने विश्वे अर्पितः। ऋ० 6.58.2.
स वेद सुष्टुतीनामिन्दुर्न पूषा वृषा।
अभिप्सुरः प्रुषायति व्रजं न आ प्रुषायति॥ ऋ० 10.26.3.
2. माकिर्नेशन्माकीं रिषन्माकीं सं शारि केवटे। अथारिष्टाभिरा गहि॥ ऋ० 6.54.7.
पुनर्नो नष्टमाजतु। ऋ० 6.54.10.
3. या ते अष्ट्रा गोओपशाघृणे पशुसाधनी। ऋ० 6.53.9.
4. इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु। ऋ० 4.57.7.
5. पूषा रक्षत्वर्वतः। ऋ० 6.54.5.
6. वासोवायोऽवीनाम्। ऋ० 10.26.6.
7. पूषा पशूनां प्रजनयिता। मैत्रा० सं० 4.3.7. पूषा पशूनां प्रजनयिता। तै० ब्रा० 1.7.2.4.
8. परि वः सैन्याद् वधाद् व्यावृञ्जन्तु घोषिण्यः। समानस्तस्य गोपतेर्गावो अंशो नवोरिपत् पूषा गा अन्वेतु न इति गाः प्रविष्टमाना अनुमन्त्रयेत। परिपूषेति परिक्रान्तासु।
शां० गृ० सू० 3.9.1.2.
9. स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः। ऋ० 5.51.11.
10. प्र तव्यसो नम उक्तिं तुरस्याहं पूष्ण उत वायोरदिक्षि। ऋ० 5.43.9.
11. स शक्र शिक्ष पुरुहूत। ऋ० 8.4.15.
12. शुष्मन्तो पूषणं वयमिर्यमनष्टवेदसम्। ईशानं राय ईमहे॥ ऋ० 6.54.8.
13. प्रप्र पूष्णस्तुविजातस्य शस्यते महित्वमस्य तवसो न तन्दते। ऋ० 1.138.1.
14. त्वेषं शर्धो न मारुतं तुविष्वण्यनर्वाणं पूषणं सं यथा शता। ऋ० 6.48.15.

और वैभव में देवताओं के तुल्य हैं[1]। वे वीरों के शासक हैं[2], अजेय संरक्षक हैं[3], और युद्ध में सहायक हैं[4]। वे विश्व के रक्षक हैं[5]। वे एक ऋषि, पुरोहित के रक्षक सखा, एवं उपासक के चिरकालीन ध्रुव मित्र हैं[6]। वे बुद्धिमान्[7] और उदार हैं[8]। उनकी उदारता विशेषतया गाई गई है। उनके पास सभी प्रकार के धन हैं[9]। वे धन से संपन्न हैं[10] और धन की वृद्धि करते हैं[11]। कल्याणप्रद प्रदाता तथा सब प्रकार की स्वस्तियों के स्रोत हैं[12]। वे रायस्पोष के दृढ मित्र हैं, और भोजन के सजग वर्धक एवं स्वामी हैं[13]। दस्र विशेषण, जोकि बहुधा अश्विनों के लिए आया है, कहीं-कहीं इनके लिए भी प्रयुक्त हुआ है[14]। दस्म[15], दस्म-वर्चस्[16]—जो विशेषण प्रायः अग्नि और इन्द्र के हैं, पूषन् के साथ भी कई बार प्रयुक्त हुए हैं। दो बार उन्हें

1. पुरो हि मर्त्यैरसि समो देवैरुत श्रिया। ऋ० 6.48.19.
2. क्षयद्वीरं पूषणं सुम्नैरीमहे। ऋ० 1.106.4.
3. पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये। ऋ० 1.89.5.
4. अभि स्यः पूषन् पृतनासु नस्त्वम्। ऋ० 6.48.19.
5. अनष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः। ऋ० 10.17.3.
   सोमापूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्याः।
   जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ॥ ऋ० 2.40.1.
6. ऋषिः स यो मनुर्हितो विप्रस्य यावयत्सखः॥ ऋ० 10.26.5.
   विश्वस्यार्थिनः सखा सनोजा अनपच्युतः॥ ऋ० 10 28 8.
7. आ तत्ते दस्र मन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे॥ ऋ० 1.42.5.
8. पूषा पुरंधिरश्विना धघा पती॥ ऋ० 2.31.4.
9. स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।॥ ऋ० 1.89.6.
10. प्र पूषणं वृणीमहे युज्याय पुरूवसुम्॥ ऋ० 8.4.15.
11. पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे॥ ऋ० 1.89.5.
12. हुवे यत्त्वा मयोभुवं देवं सख्याय मर्त्यः॥ ऋ० 1.138.2.
    पूषा सुबन्धुर्दिव आ पृथिव्या इळस्पतिर्मघवा दस्मवर्चाः॥ ऋ० 6.58.4.
    अस्माकं पूषन्नविता शिवो भव मंहिष्ठो वाजसातये॥ ऋ० 8.4.18.
    अथा नो विश्वसौभग हिरण्यवाशीमत्तम। धनानि सुषणा कृधि॥ ऋ० 1.42.6.
13. इनो वाजानां पतिरिनः पुष्टीनां सखा॥ ऋ० 10.26.7.
14. आ तत्ते दस्र मन्तुमः पूषन्नवो वृणीमहे॥ ऋ० 1.42 5.
    यदुद्य त्वा पुरुष्टुत ब्रवाम दस्र मन्तुमः 6.56.4.
15. न पूषणं मेथामसि सूक्तैरभि गृणीमसि। वसूनि दस्ममीमहे॥ ऋ० 1.42.10.
    ओ षु त्वा ववृतीमहि स्तोमेभिर्दस्म साधुभिः॥ ऋ० 1.138.4.
16. इळस्पतिर्मघवा दस्मवर्चाः॥ ऋ० 6.58.4.

नराशंस भी कहा गया है[1] । यह विशेषण और जगह एकान्ततः अग्नि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। एक बार उन्हें सर्व-व्यापी कहा गया है; एक बार उन्हें विश्वमिन्व (विश्व-प्रेरक) भी कहा गया है। एक बार वे "धी-जवन" भी कहलाये हैं[2], और धी को प्रचोदित करने के लिए उनका आह्वान हुआ है[3], और उनकी आरा को ब्रह्म-चोदनी कहा गया है[4]। केवल पूषन् के साथ बधे विशेषण ये है:—आघृणि, विमोचन, विमुचो नपात्। उनके लिए एक-एक बार ये विशेषण भी आये है—पुष्टिभर, अनष्टपशु, अनष्टवेदस् और करम्भाद्। करम्भाद् विशेषण मे संभवतः कुछ लोगो की पूषन् के प्रति घृणा-दृष्टि प्रतिफलित है[5]। करम्भ (आटे और दही की दोही) जो ऋग्वेद मे तीन बार आया है, पूषन् का भोजन है और यह इन्द्र के भोजन सोम का विरोधी है[6]। फिर भी इन्द्र यदा-कदा इसे ग्रहण करते है[7]। केवल उन दो मन्त्रो मे—जिनमे कि 'करम्भिन्' विशेषण आया है[8]—इसका प्रयोग इन्द्र के हविष् के लिए आया है। एकमात्र पूषन् ही के लिए पशुपा विशेषण का सीधे प्रयोग हुआ है[9]।

जिन देवताओं के साथ युग्म मे पूषन् का आह्वान किया गया है वे केवल सोम[10] और इन्द्र[11] है। इनका पूषन् को एक बार भाई भी बताया गया है[12]। इनके अतिरिक्त पूषन् को सबसे अधिक भग के साथ बुलाया गया है[13], और फिर विष्णु के

1. नराशंसं वाजिनं वाजयन्निह क्षयद्वीरं पूषणं सुम्नैरीमहे ॥ ऋ० 1.106 4.
नरा वा शंसं पूषणमगोह्यम् ॥ ऋ० 10 64 3.
2. पूषेव धीजवनोऽसि सोम ॥ ऋ० 9 88.3.
3. धियं पूषा जिन्वतु विश्वमिन्वः ॥ ऋ० 2.40.6.
4. यां पूषन्ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याघृणे ॥ ऋ० 6.53 8.
5 य एनमादिदेशति करम्भादिति पूषणम् । न तेन देव आदिशे । ऋ० 6.56.1.
अहेळमानो ररिवाँ अजाश्व श्रवस्यतामजाश्व । ऋ० 1 138 4.
6. सोममन्य उपासदत् पातवे चम्वोः सुतम् । करम्भमन्य इच्छति । ऋ० 6.57.9.
7. पूषण्वते ते चकृमा करम्भम् । ऋ० 3 52.7.
8. धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् ।
इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥ ऋ० 3.52.1.
9 अजाश्वः पशुपा वाजपस्त्यः । ऋ० 6.58.2.
10. सोमापूषणा जनना रयीणाम् । ऋ० 2.40.1.
11. इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये । हुवेम वाजसातये । ऋ० 6.57.1.
12. भ्रातेन्द्रस्य सखा मम । ऋ० 6.55 5
13. वि नः पथः सुविताय चियन्त्विन्द्रो मरुतः । पूषा भगो वन्द्यासः । ऋ० 1.00.4.
वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूळती । ऋ० 4 30.24.

साथ[1]। इन मन्त्रो में पूषन् का नाम उपर्युक्त देवताओ के नाम के सामने ही रखा गया है। यथावसर उन्हे कुछ-एक अन्य देवताओ के साथ भी बुलाया गया है।

प्रस्तुत उद्धरणो से यह स्पष्ट नही हो पाता कि पूषन् किस प्राकृतिक दृश्य के प्रतिरूप है। किंतु आरम्भ मे उद्धृत किये अनेक मन्त्रो से सकेतित होता है कि उनका सूर्य के साथ निकट रूप से सबन्ध था। यास्क भी पूषन् को सभी प्राणियो का सरक्षक आदित्य बताते है और वेदोत्तर-कालीन साहित्य मे पूषन् सूर्य के एक पर्याय के रूप मे आते है। सूर्य का पथ पृथिवी से द्युलोक तक फैला हुआ है। देवताओ और पवित्र मनुष्यो की मृतात्माओ का यही निवास स्थान है। अत. यह एक ऐसे सौर-देवता के आविर्भाव का आधार बन सकता है जो प्रेतात्माओ का नेता (जैसे सविता) और पथ-सामान्य का सरक्षक हो। उनके चरित्र का एक और दूसरा पक्ष उनकी देहात-संबन्धी विशेषताओं का निमित्त बन सकता है—जैसेकि पशुओ का नेता और सरक्षक होना—जो उनकी सामान्य विशेषता का—जैसेकि सपदा देना—एक अश है। अवेस्ता मे आनेवाले सौर देवता मिथ्र के देहात-सबन्धी गुण हैं—पशुओ की वृद्धि करना और पथ भ्रष्ट पशुओ को लौटा लाना।

निष्पत्ति की दृष्टि से पूषन् शब्द का अर्थ है 'पोषक'; क्योकि यह पोषणार्थक √पुष धातु से निष्पन्न हुआ है। उनके चरित्र का पोषणात्मक पक्ष उनके विश्ववेदस्, अनष्टवेदस, पुरूवसु, पुष्टिभर आदि विशेषणो से एव धन और सुरक्षा-प्राप्ति के निमित्त किये गये उनके आह्वानो मे सुव्यक्त है[2]। वे विपुल धन के पति है, धन की धारा है, धन के ढेर हैं[3]। किंतु उनसे मिलनेवाली सपत्ति इन्द्र, मरत् और पर्जन्य से मिलनेवाली वर्षा से सबद्ध नही है, प्रत्युत प्रकाश के साथ सबद्ध

पूषा भर्गः प्रभृथे विश्वभोजा आजिं न जग्मुराश्वश्वतमाः। ऋ० 5 41.4.
पूषा भगः सरस्वती जुषन्त। ऋ० 5.46 2.
अहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्। ऋ० 10.125.2.
सविता राष्ट्रं पूषा भगं सरस्वती पुष्टिं त्वष्टा रूपाणि। शत० 11 4 3 3
पूषा भगं भगपतिर्भगमस्मिन्यज्ञे मयि दधातु स्वाहा। कात्या० श्रौ०सू० 5.13 1.

1. उत नो धियो गोअग्राः पूषन् विष्णवेवयावः। कर्ता नः स्वस्तिमतः। ऋ० 1·90 5.
हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं नु शंसं सवितारमूतये। ऋ० 5 46.3
प्र पूषणं विष्णुमग्निं पुरंधिं सवितारमोषधीः पर्वताश्च। ऋ० 6.21 9.
इन्द्रं विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिमादित्यान्द्यावापृथिवी अपः स्वः। ऋ० 7.44.1.
पूषा विष्णुर्महिमा वायुरश्विना। ऋ० 10 66.5.

2. सुवेदा नो वसू करत्। ऋ० 6 43.15.

3. रथीतमं कपर्दिनमीशानं राधसो महः। रायः सखायमीमहे॥ ऋ० 6.55 2.
रायो धारास्याघृणे वसो राशिरजाश्व। ऋ० 6.55 3.

है, जिस पर कि उनके अपने विशेषण घृणि के द्वारा बल दिया गया है। उनसे प्राप्त होनेवाला क्षेम उत्पन्न होता है—उनके द्वारा होनेवाली पृथिवी पर पशुओं और मनुष्यो की रक्षा से और उनके द्वारा ऊर्ध्वलोकस्थ आनन्द के आवासों तक मनुष्यो को ले जाने से। फलतः पूषन् के चरित्र का आधार सूर्य की मृळीक शक्ति है जो प्रधानतया देहाती देवता के रूप मे व्यक्त हुई है।

विष्णु (§ 17)—

विष्णु यद्यपि ब्राह्मणो मे अत्यन्त महत्त्वशाली देवता है, तथापि ऋग्वेद मे उनका स्थान गौण है। किंतु यदि साख्यिक दृष्टि से न देख कर उन पर और पहलुओ से विचार किया जाय तो उनका महत्त्व बहुत बढकर हमारे सामने आता है। साख्यिक दृष्टि से तो वे चतुर्थ कोटि के देवता ठहरेगे, क्योकि उनके निमित्त केवल 5 सपूर्ण सूक्त और कतिपय सूक्ताश कहे गये हैं, और ऋग्वेद मे उनका नाम कुल मिलाकर लगभग 100 बार ही आया है। विष्णु की विग्रहवत्त्व-सबन्धी विशेषताए उनके क्रमण, बृहच्छरीर, एव युवा-कुमार आदि विशेषणो से ख्यापित है[1]। किंतु उनके चरित्र की अपनी विशेषता उनके तीन पद है, जिनका सकेत लगभग बारह बार आया है। उनके 'उरु-गाय' और 'उरु-क्रम' विशेषण भी लगभग 12 बार आये है, और इनका सकेत भी उनके तीन पदो की ओर ही है। अपने तीन पदो द्वारा विष्णु पार्थिव लोको की परिक्रमा करते है। इनमे से दो पद तो मनुष्यो को दीखते हैं, किंतु तीसरा या सर्वोच्च पद पक्षियो की उडान और मर्त्य-चक्षु के उस पार है[2]। उनके इस स्वरूप की रहस्यात्मक अभिव्यक्ति वहा पूरी हो जाती है जहा कहा गया है कि वे अपना तृतीय नाम प्रकाशमय द्युलोक मे धारण करते है[3]। विष्णु का उच्चतम पद अग्नि के उच्चतम पद के तदात्म ही माना गया है; क्योकि विष्णु ही अग्नि के उच्चतम तृतीय पद की रक्षा करते है[4], जबकि दूसरी ओर अग्नि भी विष्णु के उत्तम पद के द्वारा रहस्यात्मक गौओ (सभवत.=बादलो) की रक्षा करते है[5]। विष्णु का उत्तम पद उदार मनुष्यो के लिए द्युलोक मे स्थित चक्षु की[6] न्याई

1. बृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवाकुमारः प्रत्येत्याहवम्। ऋ० 1.155 2.
2. द्वे इदस्य क्रमणे स्वर्दृशो ऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
   तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः॥ ऋ० 1.155 5.
   न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप। ऋ० 7.99.2.
3. दधाति पुत्रोऽवरं परं पितुर्नाम तृतीयमधि रोचने दिवः। ऋ० 1.155.3.
4. विष्णुरित्था परममस्य विद्वाञ्जातो बृहन्नभि पाति तृतीयम्। ऋ० 10.1.3.
5. पदं यद्विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम्। ऋ० 5.3.3.
6. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। ऋ० 1.22.20.

प्रकट है। यह उनका प्रिय आवास है, जहां देवयु उपासक रमते है। मधु का उद्गम वहीं है[1] और देवता वहीं आनन्द लेते है[2]। यह उत्तम पद भूरि-भूरि नीचे की ओर चमकता है। इन्द्र तथा विष्णु का आवास वहां है, जहां अनेक, न थकने-वाली भूरिशृङ्ग गौएं विचरती हैं (सभवत: बादल), और जिसकी ओर गायक ऋषियों की आंख लगी रहती है[3]। इन तीन पदों में ही सारे भुवन निवास करते हैं[4]। ये पद मधु से परिपूर्ण हैं[5], संभवतः इसलिए कि इनमे से तीसरे पद पर मधु का उत्स है। विष्णु उत्तम आवास की रक्षा करते है। यही आवास (पाथ:) उनका प्रिय निवास-स्थान हैं[6]; क्योंकि एक और मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में उसी को उनका निवास-स्थान कहा गया है[7]। एक दूसरे मन्त्र में कुछ अटक के साथ कहा गया है कि विष्णु इस लोक से परे सुदूर स्थान में निवास करते हैं[8]। एक बार वे त्रिषधस्थ कहलाये हैं[9]; जो विशेषण सबसे पहले अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है।

इस बात पर सब विद्वान् एकमत है कि विष्णु के तीन पद सूर्य-पथ के बोधक है। किंतु मूलत: वे किस बात के प्रतिरूप है? विशुद्ध प्रकृतिपरक व्याख्या के अनुसार, जिसे कि अधिकांश योरुपीय विद्वानों तथा यास्क के पूर्ववर्ती [10]और्णवाभ ने स्वीकार किया है—विष्णु के तीन पद सूर्य के उदय, मध्याह्न और अस्त के बोधक हैं। दूसरा मत, जोकि बाद के वेदों में पाया जाता है, और जो यास्क के पूर्ववर्ती विद्वान् शाकपूणि को मान्य था और जो बेर्गेन तथा मैकडानल को स्वीकार है, उसके अनुसार इन तीन पदों से सौर-देवता के तीनों लोकों मे से होकर जाने का मार्ग अभिप्रेत है। प्रथम मत पर यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि विष्णु के तृतीय पद का सूर्यास्त के साथ किसी प्रकार का भी संबन्ध नही बैठता, इसके विपरीत

---

1. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
   उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥ ऋ० 1.154.5.
2. त्रीण्येक उरुगायो वि चक्रमे यत्र देवासो मदन्ति। ऋ० 8.29.7.
3. ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
   अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि॥ ऋ० 1.154.6.
4. यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। ऋ० 1.154.2.
5. यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि। ऋ० 1.154.4.
6. विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथः प्रिया धामान्यमृता दधानः। ऋ० 3 55.10.
7. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्। ऋ० 1.154.5.
8. तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्षयन्तमस्य रजसः पराके। ऋ० 7.100.5.
9. आ यो विवाय सचथाय दैव्य इन्द्राय विष्णुः सुकृते सुकृत्तरः।
   वेधा अजिन्वत् त्रिषधस्थ आर्यमृतस्य भागे यजमानमाभजत्॥ ऋ० 1.156.5.
10. समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः। नि० 12.19.

वह तो उच्चतम पद के तद्रूप है। दूसरा मत ऋग्वेदीय उद्धरणों से समर्थित है और उत्तर-वैदिक-कालीन भारतीय परम्परा उसकी पुष्टि करती है।

विष्णु की विशेषता गति है—यह तथ्य तीन पदों के अतिरिक्त अन्य उक्तियों से भी स्पष्ट है। 'उरु-गाय' और 'उरु-क्रम' विशेषणों का एवं 'विक्रम' इस पद का प्रयोग प्रायः विष्णु के लिए ही हुआ है। अन्तिम पद का प्रयोग सूर्य के लिए भी उस संदर्भ मे हुआ है जहा उन्हे 'चित्र-वर्ण' अश्मा कहा गया है, जोकि द्युलोक के मध्य मे स्थित हैं और जो क्रमण करता है[1]। विष्णु तीव्र-जवस्—एष्, एवया, या एवयावन् भी हैं। इनके सिवाय एष का प्रयोग केवल बृहस्पति के लिए और एवया का प्रयोग केवल मरुतो के लिए हुआ है। तीव्र और विस्तृत गति के साथ संयमितता जुड़ी हुई है। अपने तीनो पदो से क्रमण करने मे विष्णु नियमो का अनुपालन करते हैं[2]। नियमित ढंग से आनेवाले अन्य देवो (अग्नि, सोम, सूर्य, उषस्) की भाति विष्णु 'ऋत के सनातन बीज' (पूर्व्य ऋतस्य गर्भम्) है, ऋतावान् है, और अग्नि, सूर्य, उषस् की भांति वे प्राचीन और नवीन दोनो है[3]। सौर-देवता सविता के लिए प्रयुक्त हुए शब्दो मे ही[4] विष्णु के लिए भी कहा गया है कि उन्होने पार्थिव लोको को मापा[5]। इसके साथ उस उक्ति की तुलना कीजिए जिसमे कहा गया है कि वरुण ने सूर्य के साथ लोको को मापा है। एक मन्त्र[6] मे आया है कि विष्णु ने चक्कर काटते हुए चक्र की भाति अपने 90 घोड़ो (=दिन) को उनके 4 नामो (=ऋतु) के साथ गति दी। इस उक्ति का संकेत 360 दिनो के सौर-वर्ष के अतिरिक्त और किसी तथ्य की ओर होना कठिन है। अथर्ववेद[7] मे विष्णु से प्रार्थना की गई है कि वे यज्ञ मे तपस् का सपर्क करे। ब्राह्मणो के अनुसार विष्णु का कटा हुआ सिर सूर्य बन जाता है। वेदोत्तरकालीन साहित्य मे विष्णु के शस्त्रो मे से

1. मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ। ऋ० 5.47.3.
2. त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्। ऋ० 1.22.18.
3. यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे सुमज्जानये विष्णवे ददाशति। ऋ० 1.156.2.
तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन। ऋ० 1.156.3.
4. यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना। ऋ० 5.81.3.
5. विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि। ऋ० 1.154.1.
यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद्विष्णुर्मनवे बाधिताय। ऋ० 6.49.13.
6. चतुर्भिः साकं नवतिं च नामभिश्चक्रं न वृत्तं व्यतीँरवीविपत्। ऋ० 1.155.6.
द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥ ऋ० 1.164.48.
7. विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा। ऋ० 5.26.7.

एक घूमता हुआ चक्र भी है, जिसे सूर्य जैसा बताया गया है[1]। (तुलना कीजिए ऋ० 5 63 4)। विष्णु का वाहन गरुड है जो पक्षियो मे प्रधान है और अग्नि की भांति ज्योतिष्मान् है। वह गरुत्मत् एव सुपर्ण भी कहाता है। इन दोनो पदो का प्रयोग ऋग्वेद मे सूर्य पक्षी के लिए हुआ है। अन्तत वेदोत्तर-कालीन विष्णु का कौस्तुभ कुछ के अनुसार सूर्य है। इस प्रकार विष्णु यद्यपि अब किसी प्राकृतिक दृश्य से सबद्ध नही रहे, तथापि प्रतीत होता है कि मूलत वे सूर्य थे। सूर्य के साथ उनका तादूप्य चरित्र सामान्य मे नही, प्रत्युत शीघ्रता से चलनेवाले ज्योतिष्पुञ्ज के रूप मे है, जोकि अपने विस्तृत क्रमण से सपूर्ण विश्व की परिक्रमा करता है। विष्णु शब्द का यह आशय उसकी निष्पादक √विष् धातु के अर्थ से भी स्पष्ट हो जाता है। √विष् धातु का प्रयोग ऋग्वेद मे बहुधा हुआ है, और सभी जगह इसका मौलिक अर्थ है—"गतिशील होना"। फलत विष्णु का अर्थ होगा—'गतिमान्', जिस रूप मे कि यह सूर्य का तद्रूप ठहरेगा। इतने पर भी ओल्डेनबेर्ग कहते है कि विष्णु मे सौर-देवता की सभी विशेषताओं का अभाव है, वे प्रारम्भ ही से केवल विस्तृत लोक के परिक्रामक के रूप मे थे, और उनके तीन पदो का समकक्ष कोई भी स्थूल प्राकृतिक दृश्य नही दीख पडता। पदो की तीन सख्या को वे गाथा प्रवण मस्तिष्क की निर्मूति के प्रति उत्कट इच्छा के रूप मे देखते है।

पहले कहा जा चुका है कि विष्णु का उत्तम पद उनका विशिष्ट आवास-स्थान है। सूर्य अपनी अन्य किसी भी अवस्था की अपेक्षा मध्याह्न मे अधिक स्थिर रहते हैं। सूर्य की इसी पराकाष्ठा को निरुक्त मे विष्णुपद कहा गया है। सभवत कुछ इसी प्रकार की बात से सबद्ध हैं उनके गिरिक्षित्, और गिरिष्ठा ये विशेषण, जो एक ही सूक्त[2] मे विष्णु के लिए प्रयुक्त हुए हैं, क्योकि अगले सूक्त[3] मे विष्णु और इन्द्र को 'अदाभ्य' कहा गया है 'जोकि पर्वतो के शिखर पर, एक साधु घोडे के द्वारा खडे है। सभवत यह बात बादलरूप पर्वतो के बीच से नीचे की ओर देखते हुए सूर्य को लक्षित करती है। हो सकता है कि इन्ही उक्तियो के आधार पर विष्णु को बाद मे पर्वतो का पति भी कहा गया हो[4]।

विष्णु ने अपने तीन पद क्यो उठाए—इस बात का वर्णन गौणरूप से आता है। उन्होने पृथिवी-लोक की तीन बार परिक्रमा, पीडित मनु के लिए की, उन्होने

1 सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्। ऋ० 5 63 4

2 प्र तद्विष्णुस्तवते वीर्येण मृगो न भीम कुचरो गिरिष्ठा। ऋ० 1 154 2
प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे। ऋ० 1 154 3

3 या सानुनि पर्वतानामदाभ्या महस्तस्थतुरर्वतेव साधुना। ऋ० 1 155 1
यद्युक्त रमना स्यादधि प्सुभि। ऋ० 5 87 4.

4 विष्णु पर्वतानां मुख्यो [illegible] मावन्त। तै० सं० 3 4 5 1

पृथिवी[1] की परिक्रमा उस पर मनुष्यो का आवास स्थापित करने के लिए की[2], उन्होंने पार्थिव लोको की परिक्रमा जीवन को उरु-गाय बनाने के लिए की[3], इन्द्र के साथ उन्होने 'उरु क्रमण' किया और हमारे जीवन के लिए अन्तरिक्ष एव लोको को विस्तृत बनाया[4]। विष्णु के इस ऋग्वेदीय स्वरूप मे ही उनके वामनावतार के बीज सनिहित है, जिसका वर्णन महाकाव्यो और पुराणो मे विस्तार के साथ मिलता है। ऋग्वेद और पौराणिक काल के मध्य की अवस्था ब्राह्मणो मे पाई जाती है[5], जहा कि विष्णु पृथिवी को देवताओ को लौटा देने के अभिप्राय से छलिया वामन बनते हैं।

विष्णु के चरित्र की दूसरी प्रधान विशेषता है—उनकी इन्द्र के साथ मित्रता। वृत्र-हनन के उद्योग मे कई बार वे इन्द्र के सहयोगी बनते है। इस तथ्य की ख्यापना के लिए एक सपूर्ण सूक्त इन दोनो देवताओ के लिए सवलित रूप से कहा गया है, और इन्द्र का नाम विष्णु के साथ उतने ही बार युग्म रूप मे आया है जितनी बार कि वह सोम के साथ आता है, भले ही सोम का नाम ऋग्वेद मे विष्णु की अपेक्षा बहुत अधिक बार प्रयुक्त हुआ हो। विष्णु और इन्द्र की परस्पर सहचारिता इस बात से भी प्रत्यक्ष है कि केवल विष्णु के निमित्त कहे गये सूक्तो मे इन्द्र ही एक ऐसे देवता हैं जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ढङ्ग से यदा-कदा आ उपस्थित होते है[6]। विष्णु ने अपने तीन पदो का क्रमण इन्द्र ही की शक्ति के द्वारा

---

1 यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद्विष्णुर्मनवे बाधिताय । ऋ० 6 49 13

2 वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन् । ऋ० 7 100 4

3 यः पार्थिवानि त्रिभिरिद्विगामभिरुरु क्रमिष्टोरुगायाय जीवसे । ऋ० 1 155 4

4 इन्द्राविष्णू तत्पनयाय्यं वां सोमस्य मद उरु चक्रमाथे ।
अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथतं जीवसे नो रजांसि ॥ ऋ० 6 69 5

5 वामनो ह विष्णुरास । श० ब्रा० 1 2 5 5
स एतं विष्णवे वामनमपश्यत्तं स्वायै देवताया आलभत ततो वै स इमान्
लोकानभ्यजयत् । तै० स० 2 1 3 1
विष्णुर्यज्ञ । देवताश्चैव यज्ञं चावरुन्धे । वामनो वही दक्षिणा । यद्वही तेनाऽऽग्नेय ।
यद्वामन तेन वैष्णव समृद्ध्यै । तै० ब्रा० 1 6.1 5

6 इन्द्राविष्णू दृंहिता शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम् । ऋ० 7 99 5
ररे वां स्तोमं विदथेषु विष्णो पिन्वतमिषो वृजनेष्विन्द्र । ऋ० 7 99 6
इन्द्राविष्णू सुतपा वामुरुष्यति । ऋ० 1 155 2
जघ्नथुर्नरा पृतनाज्येषु । ऋ० 7 99 4
ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै । ऋ० 1 154 6
या सानुनि पर्वतानामदाभ्या महस्तस्थतुरर्वतेव साधुना । ऋ० 1 155 1

(ओजसा) किया[1] था जिसको पूर्ववर्ती मन्त्र में वृत्रघ्न अथवा इन्द्र के लिए[2] कहा गया है। वृत्र-हनन के पूर्व इन्द्र कहते हैं—"सखा विष्णु! लम्बे-लम्बे डग धरो"[3]। विष्णु के साथ इन्द्र ने वृत्र की हत्या की[4]। विष्णु और इन्द्र ने एक-साथ दास पर विजय प्राप्त की, शम्बर के 99 किलो को तोड़ा और वर्चिन् के साथियो को धराशायी किया[5]। विष्णु इन्द्र के सहज मित्र हैं[6]। अपने मित्र के साथ विष्णु गौओ के घेरे को खोलते है[7]। शतपथ ब्राह्मण में आता है कि इन्द्र वृत्र के ऊपर अपना वज्र-प्रहार करते हैं और विष्णु उनका अनुगमन करते हैं[8]। विष्णु भी इन्द्र के साथ कुछेक एकाकी मन्त्रो मे आहूत हुए हैं[9]। इन्द्र के साथ युग्म मे आकर विष्णु इन्द्र की सोम-पान-शक्ति को एव उनकी विजयो को अंशत. अपना लेते हैं[10]। दूसरी ओर इन्द्र भी कभी-कभी विष्णु की पद-क्रमण-शक्ति को अपना लेते हैं[11]। दोनो को साथ ही ये कार्य सौंपे गये है अन्तरिक्ष का विस्तार, लोको का प्रथन[11], एव सूर्य,

---

मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता । ऋ० 1.61.7.

1. यदा ते विष्णुरोजसा त्रीणि पदा विचक्रमे । ऋ० 8.12.27.
2. यस्मै विष्णुस्त्रीणि पदा विचक्रमे । वालखि० 4.3.
3. अथाब्रवीद् वृत्रमिन्द्रो हनिष्यन्त्सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व । ऋ० 4.18.11.
4. अहिं यद् वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्नृजीषिन् विष्णुना सचानः । ऋ० 6 20.2.
5. दासस्य चिद् वृषशिप्रस्य माया जघ्नथुर्नरा पृतनाज्येषु । ऋ० 7 99 4.
   इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम् ।
   शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान् ॥ ऋ० 7.99 5.
6. इन्द्रस्य युज्यः सखा । ऋ० 1.22.19.
7. व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते । ऋ० 1.156.4.
8. तं विष्णुरन्वतिष्ठत । तै० सं० 6.5.1.2
9. इन्द्राविष्णू मरुतो अश्विनोत । ऋ० 4 2.4.
   इन्द्राविष्णू नृवदु षु स्तवाना शर्म नो यन्तममवद्वरूथम् । ऋ० 4.55.4.
   बृहस्पतिं विश्वान्देवाँ अहं हुव इन्द्राविष्णू अश्विनावाशुहेषसा । ऋ० 8 10 2
   इन्द्राविष्णू मरुतः स्वर्बृहत् ।
   देवाँ आदित्याँ अवसे हवामहे । ऋ० 10 66 4.
10. इन्द्राविष्णू मदपती मदानामा सोमं यातं द्रविणो दधाना । ऋ० 6 69.3.
    जघ्नथुर्नरा पृतनाज्येषु । ऋ० 7.99 4.
    इयं मनीषा बृहती बृहन्तोरुक्रमा तवसा वर्धयन्ती ।
    ररे वां स्तोमं विदथेषु विष्णो पिन्वतमिषो वृजनेष्विन्द्र ॥ ऋ० 7 99 6
11. इन्द्राविष्णू तत्पनयाय्यं वां सोमस्य मद उरु चक्रमाथे ।
    अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथतं जीवसे नो रजांसि ॥ ऋ० 6 69.5

उषस् और अग्नि का उत्पादन[1] । इस मिश्रता के कारण ही इन्द्र विष्णु के समीप सोमपान करते[2] और इस प्रकार उनकी वृष्ण्य शक्ति को बढाते है[3] । इन्द्र ने विष्णु द्वारा तीन प्यालो मे अभि-सुत सोम का पान किया[4], ये प्याले विष्णु के तीन मधु-पूर्ण पदो का स्मरण दिलाते है[5] । विष्णु ने इन्द्र के लिए 100 भैंस[6] या 100 भैंसे और पनीर पकाया[7] । मित्र, वरुण और मरुद्गणो के साथ मिलकर विष्णु इन्द्र का गुण-गान करते है[8] ।

वृत्र-युद्ध मे निरन्तर इन्द्र का साथ देनेवाले परिचारक मरुद्गण भी विष्णु के साथी बन गये है । जब विष्णु ने मादक सोम (सा यज्ञ) का पक्ष लिया, तब मरुद्गण पक्षियों की भाति अपनी-अपनी प्रिय बर्हिषों पर बैठ गये[9] । शीघ्र-जवा विष्णु के प्रभृथ (होम) में मरुतो का भी आह्वान किया गया है[10] । वे शीघ्रगामी विष्णु पर 'दयालु' (मीढुषाम्) है[11] । मरुतो ने इन्द्र को परिपुष्ट बनाया, जबकि पूषन् और विष्णु ने उनके लिए 100 भैंसे पकाये[12] । विष्णु के सायुज्य में मरुत् विधायक बन जाते है;

1. इयं मनीषा बृहती बृहन्तोरुक्रमा तवसा वर्धयन्ती । ऋ० 7.99.6.
जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम् । ऋ० 7.99.4.
2. अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि । ऋ० 8.3.8.
यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये ।
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥ ऋ० 8.12.16.
3. अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवः । ऋ० 8.3.8.
तमस्य विष्णुर्महिमानमोजसांशुं दधन्वान्मधुनो वि रप्शते । ऋ० 10.113.2.
4. त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृम्पत्सोममपिबद्विष्णुना सुतं यथावशत् । ऋ० 2.22.1.
पुरा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन्वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै । ऋ० 6.17.11.
5. यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि । ऋ० 1.154.4.
6. वर्धान्यं विश्वे मरुतः सजोषाः पचच्छतं महिषाँ इन्द्र तुभ्यम् ।
पूषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन् । ऋ० 6.17.11.
7. मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता । ऋ० 1.61.7.
8. त्वां विष्णुर्बृहन्क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः । त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ॥ ऋ० 8.15.9.
9. विष्णुर्यद्धावद्वृषणं मदच्युतं वयो न सीदन्नधि बर्हिषि प्रिये । ऋ० 1.85.7.
10. तान्वो महो मरुत एवयाव्नो विष्णोरेषस्य प्रभृथे हवामहे । ऋ० 2.34.11.
अस्य देवस्य मीळ्हुषो वया विष्णोरेषस्य प्रभृथे हविर्भिः । ऋ० 7.40.5.
11. विद्मा हि रुद्रियाणां शुष्ममुग्रं मरुतां शिमीवताम् ।
विष्णोरेषस्य मीळ्हुषाम् ॥ ऋ० 8.20.3.
12. वर्धान्यं विश्वे मरुतः सजोषाः पचच्छतं महिषाँ इन्द्र तुभ्यम् ।

तब उनकी शक्ति का अनुसरण वरुण और अश्विन् करते है[1]। एक संपूर्ण सूक्त [2] में विष्णु मरुतों के साथ संबद्ध है और प्रयाण के समय उन्ही मरुतों के साथ वे आगे बढ़ते है।

ऋग्वेद के विष्णु-संबन्धी उल्लेखों में से एक में विष्णु के विभिन्न रूपों का यों उल्लेख हुआ है:—'तू हमसे इन रूपों को मत छिपा; क्योंकि युद्ध में तूने एक दूसरा ही रूप धारण किया था।' आगे चलकर उन्हें गर्भो का रक्षक कहा गया है[3] और अन्य देवताओं के साथ गर्भ को स्थिर करने के लिए उन्हें पुकारा गया है[4]। ऋग्वेद 10.184 के बाद आनेवाले परिशिष्ट के तीसरे मन्त्र में एक पाठ के अनुसार विष्णु से प्रार्थना की गई है कि वे गर्भाशय में एक रुचिर पुत्र का आधान करें; एक दूसरे पाठ के अनुसार यह प्रार्थना विष्णु से उनके सर्वोत्तम रूप से संपन्न पुत्र के लिए की गई है।

विष्णु के अन्य गुण तो देव-सामान्य के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। वे सुकृत्तर है[5], वे हत्यारे नही है, वरिष्ठ दाता है[6], उदार है[7], संरक्षक है[8], अदाम्य है[9], अवृक और उदार दानी है[10]। केवल वे ही पृथिवी, द्यु-लोक एवं अशेष भुवनों को धारण किये हुए है[11]। उन्होंने संसार को चारों ओर खूटियों से पक्का बिठाया है[12]। वे वेधस् है[13]।

पूषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन् ॥ ऋ० 6.17.11.

1. तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः । ऋ० 1.156.4.
2. स चक्रमे महतो निरुरुक्रमः समानस्मात्सदस एवयामरुत् ।
   यदायुक्त त्मना स्वादधि ष्णुभिर्विष्पर्धसो विमहसो जिगाति शेवृधो नृभिः ॥
   ऋ० 5.87.4. आदि

   स्वनो न वोऽमवान् रेजयद् वृषा त्वेषो ययिस्तविष एवयामरुत् ॥ ऋ० 5.87.5.
3. अच्छायं वो मरुतः श्लोक एत्वच्छा विष्णुं निषिक्तपामवोभिः । ऋ० 7.36.9.
4. विष्णुर्योनिं कल्पयतु । ऋ० 10 184.1.
5. इन्द्राय विष्णुः सुकृते सुकृत्तरः । ऋ० 1.156.5.
6. अर्वन्ते विष्णवे वयमरिष्यन्तः सुदानवे । ऋ० 8.25.12.
7. अस्य देवस्य मीळ्हुषो वया विष्णोरेषस्य प्रभृथे हविर्भिः । ऋ० 7.40 5.
8. विष्णुर्गोपाः परमं पाति पाथः । ऋ० 3.55.10.
9. विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ॥ ऋ० 1.22.18.
10. इनस्य त्रातुरवृकस्य मीळ्हुषः । ऋ० 1.155.4.
11. य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा । ऋ० 1.154.4.
12. व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः । ऋ० 7.99 3.
13. तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः । ऋ० 1.156.4.

ब्राह्मणो के अनुसार विष्णु के तीन पद पृथिवी, वायु और द्यु-लोक मे पडते है[1]। इन तीन पदो का यजमान अनुकरण करता है। वह तीन विष्णु-पद चलता है पृथिवी से आरम्भ करके द्यु-लोक तक, क्योकि मानव जीवन का लक्ष्य द्यु-लोक ही तो है, सुरक्षित आवास वही है, और सूर्य वही भासते है[2]। इसी प्रकार अवेस्तिक कर्म-काण्ड मे अम्पस्पन्दस् के पृथिवी से लेकर द्यु-लोक तक के पदो का अनुकरण किया जाता है। ब्राह्मणो की एक विशेषता यह है कि इनमे विष्णु की तद्रूपता हमेशा यज्ञ के साथ स्थापित की गई है।

विष्णु से सबद्ध दो गाथाए—जिनका मूल ऋग्वेद मे मिल सकता है—ब्राह्मणो मे पहुच कर विकसित हो गई है। इन्द्र के साथ विष्णु को भी ऋग्वेद मे पराभव करनेवाला असुर कहा गया है। ब्राह्मणो मे देवता और असुर ये दोनो प्रतिद्वन्दी वर्गो के रूप मे आते है। पारस्परिक सघर्ष मे देवता सदैव विजयी नही होते, जैसाकि ऋग्वेद मे देखा जाता है, अपितु वे यदा-कदा पराभूत भी हो जाते हैं। फलत वे अपनी खोई गरिमा को फिर से पाने के लिए छल तक का आचल पकड लेते है। ऐतरेय ब्राह्मण[3] मे उल्लेख है कि इन्द्र और विष्णु ने असुरो से युद्ध करते समय इस बात की सविदा की कि जितने विस्तृत क्षेत्र को विष्णु अपने तीन पगो से नाप लेगे उतना क्षेत्र इनदोनो देवताओ को मिल जाना चाहिए। इस सविदा के अनुसार विष्णु ने इन लोको की, वेद की, और वाणी की परिक्रमा कर डाली। शतपथ ब्राह्मण बतलाता है कि एक बार असुरो ने पृथिवी को जीतकर उसे बाटना आरम्भ कर दिया। यज्ञ-भूत विष्णु को शीर्षस्थानीय करके देवता भी पृथिवी का एक अश मागने के लिए आगे बढे। किंतु असुरो ने उन्हे केवल इतनी भूमि देना स्वीकार किया जितनी पर विष्णु सो सकते हो। तब देवताओ ने यज्ञ-परिमाण विष्णु के साथ यज्ञ करके सपूर्ण पृथिवी को स्वायत्त कर लिया। यहा तीन पगो का उल्लेख नही हुआ है, किंतु एक अन्य मन्त्र[4] मे कहा गया है कि विष्णु ने तीनो लोको की परिक्रमा करके देवताओ के लिए वह शक्ति प्राप्त की जो आज उनके पास वर्तमान है। तैत्तिरीय सहिता कहती है कि विष्णु ने वामन का रूप धारण

---

1 प्रथमेन पदेन पस्पाराऽथेदमन्तरिक्षं द्वितीयेन दिवमुत्तमेनैतान्येवैष एतस्मै विष्णुर्यज्ञो विक्रान्ति विक्रमते। शत० ब्रा० 1 9 3 9

2 अथैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति। शत० ब्रा० 1 9 3 10
अथ सूर्यमुदीक्षते। सैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा। शत० ब्रा० 1 9 3 15

3 इन्द्रश्च ह वै विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते तान्ह स्म जित्वोचतु कल्पामहा इति ते ह तथेत्यसुरा ऊचु सोऽब्रवीदिन्द्रो यावदेवायं विष्णुस्त्रिर्विक्रमते तावदस्माकमथ युष्माकमितरदिति स इमाँल्लोकान्विचक्रमेऽथो वेदानथो वाचम्। ऐ० ब्रा० 6.15.

4 यज्ञो वै विष्णु स देवेभ्य इमां विक्रान्ति विचक्रमे। श० ब्रा० 1.9.3 9.

करके तीनो लोको पर विजय प्राप्त कर ली। विष्णु को वामन का छद्म वेश असुरो की शङ्का को दवाने के लिए धारण कराया गया था। ब्राह्मणो का यही कथानक वेदोत्तर-कालीन साहित्य मे विष्णु के वामनावतार के लिए पथ तैयार करता है।

ब्राह्मणो की एक दूसरी गाथा का मूल[1] ऋग्वेद के दो मन्त्रो मे है। इनका साराश यह है कि विष्णु सोम-पान करके, इन्द्र के द्वारा उत्साहित किये जाने पर वराह (=वृत्र) के 100 भैसो और पनीर को दूर उठा ले गये, इसी वीच इन्द्र ने पर्वत (वादल) को आर-पार तीर से बीध भयानक वराह की हत्या कर डाली। यह गाथा तैत्तिरीय सहिता[2] मे इस प्रकार विकसित हुई है। धन के लुटेरे वराह ने असुरो की सपत्ति को सात पहाडियो के उस पार रख दिया। इन्द्र ने कुशो की एक अटिया तोडकर, इन पहाडियो मे प्रविष्ट होकर वराह का वध किया। यज्ञ-विष्णु, वराह को, देवताओ के यज्ञ के रूप मे, देवताओ के पास ले गये। इस प्रकार देवताओ ने असुरो की सपत्ति हस्तगत कर ली। काठक के समान विषयक मन्त्र मे वराह को एमूषा कहा गया है। यही कहानी कुछ अन्तर के साथ चरक ब्राह्मण मे आती है और इसे सायण ने ऋग्वेद-मन्त्र 1 66 10 के भाष्य मे उद्धृत किया है। यह वराह शतपथ ब्राह्मण[3] मे अपने सृष्टि-रचना-सवन्धी रूप मे आता है, और यहा कहा गया है कि एमूषा इस नाम को धारण करके उसने पृथिवी को जल मे वाहर निकाला। तैत्तिरीय सहिता[4] मे सृष्टि-रचना से सवद्ध वराह का—जिसने कि पृथिवी को आदि जल से वाहर निकाला था—वर्णन प्रजापति के रूप मे हुआ है। गाथा

1 अस्येदु मातु सवनेषु सद्यो मह पितु पपिवाञ्चार्वन्ना।
मुषायद् विष्णु पचत सहीयान् विध्यद् वराह तिरो अद्रिमस्ता॥ ऋ० 1 61.7.
कदू महीरधृष्टा अस्य तविषी कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम्।
इन्द्रो विश्वान् वेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीरभि॥ ऋ० 8 66 10

2 यज्ञो देवेभ्यो निलायत विष्णु रूप कृत्वा स पृथिवी प्राविशत्त देवा हस्तान्सरभ्यैच्छन्तमिन्द्र उपर्युपर्यत्यक्रामत्सोऽब्रवीत्को माऽयमुपर्युपर्यत्यक्रमीदित्यह दुर्गे हन्तेत्यथ कस्त्वमित्यह दुर्गादाहर्तेति सोऽब्रवीद् दुर्गे वै हन्ताऽवोचथा वराहोऽय वाममोष। सप्ताना गिरीणा परस्ताद्वित्त वेद्यमसुराणा बिभर्ति त जहि यदि दुर्गे हन्तासीति स दर्भपुञ्जीलमुद्वृह्य सप्त गिरीन् भित्त्वा तमहन्सोऽब्रवीद् दुर्गाद्वा आहर्ताऽवोचथा एतमाहरेति तमेभ्यो यज्ञ एव यज्ञमाहरद् यत्तद् वित्त वेद्यमसुराणामविन्दन्त तदेक वेद्यै वेदित्वमसुराणाम्। तै० स० 6 2 4 2

3 इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जघान।
श० ब्रा० 14 1.2 11.

4. आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्तस्मिन्प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्।
स इमामपश्यत्तां वराहो भूत्वाऽहरत्॥ तै० स० 7 1 5.1.

का यह विकास तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] में और आगे चला गया है। रामायण और पुराणो की वेदोत्तर-कालीन गाथा मे पृथिवी को उठानेवाला वराह विष्णु का एक अवतार बन गया है।

विष्णु के अन्य दो अवतारो के बीज भी ब्राह्मणों मे मिल जाते है; किंतु वे अभी तक विष्णु के साथ सबद्ध नही हो पाये है। वह मछली, जिसने शतपथ ब्राह्मण मे मनु को जल-प्लावन मे डूबने से बचाया था, महाभारत में प्रजापति के एक स्वरूप की भाति और पुराणो मे विष्णु के अवतार के रूप में आती है। शतपथ ब्राह्मण[2] में प्रजापति अपत्यो की सृष्टि करते समय, आदि जल में भ्रमण करनेवाले कच्छप बन जाते है। पुराणो मे यह कच्छप विष्णु का एक अवतार है, जिसने जल-प्लावन में नष्ट हुए अनेक पदार्थो का पुनरुद्धार करने के निमित्त यह रूप धारण किया था।

शतपथ ब्राह्मण मे कहानी आती है कि यज्ञ-विष्णु सर्वप्रथम यज्ञ-फल को समझ गए और उसके द्वारा देवताओ के सिरमौर बन गये और उनका सिर उन्ही के धनुष् द्वारा कट कर सूर्य बन गया। इस कहानी मे तैत्तिरीय आरण्यक[3] इतना और जोड देता है कि भिषज् अश्विनों ने यज्ञ के सिर को पुनः स्थापित किया और अब देवता पूर्णरूप मे यज्ञिय हविर्दान करके स्वर्ग के उपभोक्ता बने[4]।

ऐतरेय ब्राह्मण मे[5] जनपदों के सिरमौर देवता विष्णु का निम्नतम देवता अग्नि के साथ प्रातीप्य दिखाया गया है, और अन्य सभी देवताओ को उनके मध्य में स्थापित किया गया है। वही ब्राह्मण[6] ऋग्वेद के उस मन्त्र को उद्धृत करके

1. आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तै० ब्रा० 1.1.3.5.
2. स यत्कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। श० ब्रा० 7.5.1.5. सोऽपाम् अन्तरतः कूर्मं भूतं सर्पन्तम्। तमब्रवीत्। तै० आ० 1.23.3.
3. ते देवा अश्विनावब्रुवन्। भिषजौ वै स्थः। इदं यज्ञस्य शिरः प्रति धत्तमिति। तावब्रूतां वरं वृणावहै। ग्रह एव नावत्रापि गृह्यतामिति ताभ्यामेतमाश्विनमगृह्णन्। तावेतद् यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्। यत्प्रवर्ग्यः। तेन सशीर्ष्णा यज्ञेन यजमानाः। अवाशिषोऽरुन्धत। अभि सुवर्गं लोकमजयन्। तै० आ० 5.1.5.6.
4. देवा वै यशस्कामाः सत्रमासताग्निरिन्द्रो वायुर्मखस्तेऽब्रुवन्यन्नो यश ऋच्छात्तन्नः सहासदिति तेषां मखं यश आर्च्छत्तदादायापाक्रामत्तदस्य प्रासहादित्सन्त तं पर्ययतन्त स धनुः प्रतिष्टभ्यातिष्ठत्तस्य धनुरार्त्निरूर्ध्वा पतित्वा शिरोऽच्छिनत्स प्रवर्ग्योऽभवद् यज्ञो वै मखो यत् प्रवर्ग्यं प्रवृञ्जन्ति यज्ञस्यैव तच्छिरः प्रतिदधाति।
पञ्चविंश ब्रा० 7.5.6.
5. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः। ऐ० ब्रा० 1.1.
6. विष्णुर्वै देवानां द्वारपः। ऐ० ब्रा० 1.30.

जहा[1] कि 'विष्णु अपने मित्र की सहायता से गोव्रज को खोलते हैं'। यह कहता है कि विष्णु देवताओ के द्वारपाल है।

विवस्वत् (§ 18)—

विवस्वत् के प्रति ऋग्वेद मे एक भी सकल सूक्त नही मिलता, फिर भी वहा इनका नाम लगभग 30 बार आता है, साधारणतया विवस्वत् इस रूप मे, और पाच बार विवस्वत् इस रूप मे। विवस्वान् अश्विन्[2] और यम[3] के पिता हैं। वेदोत्तर-कालीन साहित्य की भाति स्वय वेद मे भी वे मनु के पिता है—उस मनु के जो मानव जाति के पुरखा है और जिन्हे एक बार विवस्वत् (=वैवस्वत) कहा गया है और जो अथर्ववेद एव ब्राह्मणो मे 'वैवस्वत' इस पैतृक नाम से उभरते है। मनुष्य भी विवस्वान् आदित्य के वशज कहे गये है[4]। देवताओ को भी एक बार विवस्वत् के अपत्य कहा गया है[5]। विवस्वत् की पत्नी सरण्यू है, जो त्वष्टा की पुत्री है[6]। विवस्वान् और मातरिश्वन् को ही अग्नि का सर्वप्रथम साक्षात्कार हुआ था[7]। विवस्वान् के सदेशवाहक एक बार मातरिश्वन् बने है[8], किंतु और सब जगह

---

1. तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः ।
दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते ॥ ऋ० 1.156 4.
2. अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥ ऋ० 10.17.2.
3. अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥ ऋ० 10.14.5.
त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥ ऋ० 10 17.1.
4. ततो विवस्वानादित्योऽजायत तस्य वा इयं प्रजा यन्मनुष्याः ।
तै० सं० 6.5 6.2.
स विवस्वानादित्यस्तस्येमाः प्रजाः । श० ब्रा० 3.1.3.4.
5. परावतो ये दिधिषन्त आप्यं मनुप्रीतासो जनिमा विवस्वतः ।
ययातेर्ये नहुष्यस्य बर्हिषि देवा आसते ते अधि ब्रुवन्तु नः ॥ ऋ० 10 63.1.
6. त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥ ऋ० 10 17.1.
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥ ऋ० 10 17.2.
7. त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर्भव सुक्रतूया विवस्वते । ऋ० 1 31 3.
8. आ दूतो अग्निमभरद् विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः । ऋ० 6 8 4.

यह काम अग्नि का रहा है[1]। अग्नि के बारे मे एक बार आता है कि वे अपने माता पिता (अरणियो) से "विवस्वत् के कवि" के रूप मे उत्पन्न हुए[2]।

विवस्वान् के सदन का पाच बार उल्लेख आया है। देवता[3] और इन्द्र इसमे आनन्द लेते है[4] और वहा स्तोतृ-वृन्द इन्द्र की महत्ता का गुणगान करते है[5] और एक मन्त्र मे जलो की महत्ता का[6]। जहा एक अभिनव सूक्त के लिए[7] यह कहा गया है कि यह 'विवस्वत् की नाभि मे स्थित है' वहा हो सकता है कि इसी तथ्य की ओर सकेत किया गया हो।

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो मे इन्द्र विवस्वान् के साथ सबद्ध है। वे विवस्वान् के स्तोत्र मे आनन्द लेते है[8], और उन्होने अपनी शेवधि को विवस्वान् के पास रख दिया है[9]। विवस्वान् की दस अगुलियो द्वारा इन्द्र द्युलोक से मशक को गिराते है[10]। चूकि इन्द्र का विवस्वान् के साथ इतना निकट सबन्ध है इसलिए उस स्थान मे सोम का होना भी सभव है, और सचमुच नवे मण्डल मे हम सोम को विवस्वान् के निकट सपर्क मे पाते है। सोम विवस्वान् के साथ रहता है[11] और विवस्वान् की पुत्रियो (=अगुलियो) के द्वारा सोम को नितारा जाता है[12]। विवस्वान् की स्तुति

1. होता यद् दूतो अभवद् विवस्वतः। ऋ० 1 58.1.
आशुं दूतं विवस्वतः। ऋ० 4.7 4.
शुचो दूतो विवस्वतः। ऋ० 8.39.3.
अग्निर्जातो अथर्वणा विदद् विश्वानि काव्या।
भुवद् दूतो विवस्वतो वि वो मदे॥ ऋ० 10.21.5.
2. असम्मृष्टो जायसे मात्रोः शुचिर्मन्द्रः कविरुदतिष्ठो विवस्वतः। ऋ० 5.11.3
3. यस्मिन्देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते। ऋ० 10.12.7.
4. आकरे वसोर्जरिता पनस्यतेऽनेहसः स्तुभ इन्द्रो दुवस्यति।
विवस्वतः सदन आ हि पिप्रिये। ऋ० 3.51.3
5. न्यू षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः। ऋ० 1.53.1.
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति। ऋ० 3.47.7.
6 प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः। ऋ० 10.75 1.
7 यद्ध क्राणा विवस्वति नाभा संदायि नव्यसी। ऋ० 1.139.1.
8 मन्दस्वा सु स्वर्णर उतेन्द्र शर्यणावति।
मत्स्वा विवस्वतो मती॥ ऋ० 8 6 39.
9. स शेवधिं नि दधिषे विवस्वति। ऋ० 2 13 6.
10. आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवुः। ऋ० 5 53 6.
11. तमह्यन्भुरिजोर्धिया संवसानं विवस्वतः। पतिं वाचो अदाभ्यम्। ऋ० 9.26.4.
12. नप्तीभिर्यो विवस्वतः शुभ्रो न मामृजे युवा। ऋ० 9.11.5.

से बभ्रु सोम को प्रवाहित होने में प्रोत्साहन मिलता है[1] । सात बहनें (=जल) सोम को विवस्वान् के पथ पर अग्रसर करती है[2] । विवस्वान् का आशीर्वाद पाकर उषा के सौभाग्य (भगम्) को उभारनेवाले सोम की धाराएं छलनी में से वह निकलती हैं[3] ।

विवस्वान् के साथ रहनेवाले अश्विनों से प्रार्थना की गई है कि वे यज्ञ में पधारें[4] । अश्विनों का रथ जुत जाने पर 'दिवो दुहिता' (उषा) उत्पन्न होती है और उत्पन्न होते हैं विवस्वान् के दो रुचिर दिन (सभवतः रात-दिन)[5] ।

विवस्वान् का उल्लेख विष्णु और देवताओं के साथ उपास्यता के लिए भी हुआ है[6] । एक मन्त्र विवस्वान् मे शत्रुता की भावना को दिखलाता है, जहां आदित्यों के उपासक यह प्रार्थना करते है कि वज्र अथवा विवस्वान् का सुशित तीर वृद्धावस्था से पहले उनकी हत्या न करे[7] । किंतु दूसरे एक मन्त्र में विवस्वान् यम से बचानेवाले बताये गए है[8] ।

विवस्वान् शब्द कुछेक बार अग्नि और उषस् का विशेषण बनकर भी आया है और वहां इसका अर्थ है 'चमकीला' । उदाहरणार्थ अग्नि के लिए कहा गया है कि अग्नि ने मानव-पुत्रों को एवं चमकीले चक्षु द्वारा (विवस्वता चक्षसा) द्यु-लोक और जलों को उत्पन्न किया[9] । अग्नि बुद्धिमान्, असीमित एवं विवस्वान् कवि है जो उषा के आने पर झिलमिलाते है[10] । अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वे विवस्वान् का ज्योतिष्मान् पुरस्कार (विवस्वतः राधः) लावे;[11] और मनुष्य कामना करते हैं कि

1. यदीं विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातवे । ऋ० 9.99.2.
2. समु त्वा धीभिरस्वरन् हिन्वतीः सप्त जामयः । विप्रमाजा विवस्वतः । ऋ० 9.66.8.
3. आपानासो विवस्वतो जनन्त उषसो भगम् । सूरा अण्वं वि तन्वते । ऋ० 9.10.5.
4. वावसाना विवस्वति सोमस्य पीत्या गिरा । मनुष्वच्छम्भू आ गतम् । ऋ० 1.46.13.
5. आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना ।
यस्य योगे दुहिता जायते दिव उभे अहनी सुदिने विवस्वतः । ऋ० 10.39.12.
असौ वा आदित्यो विवस्वानेष ह्यहोरात्रे विवस्ते । शत० ब्रा० 10.5.2.4.
6. सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥ ऋ० 10.65.6
7. शं नो मित्रः शं वरुणः शं विवस्वाञ्छमन्तकः । अथ० 19.9.7.
8. विवस्वान्नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु ।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वेषामसवो यमं गुः ॥ अथ० 18.3.62.
9. स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम् ।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् ॥ ऋ० 1.96.2.
10. अमूरः कविरदितिर्विवस्वान्त्सुसंसन्मित्रो अतिथिः शिवो नः । ऋ० 7.9.3.
11. अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य । आ दाशुषे जातवेदो वह । ऋ० 1.44.1.

वे विवस्वत् उषस् के छबीले मुख का दर्शन पावे[1]। इस शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ (वि+√वस्) 'प्रभासित होना' उषस् के लिए विशेष-रूप से जंचता है, जिसका नाम स्वयं उसी धातु से निष्पन्न हुआ है और जिसके संबन्ध में व्युष् और व्युष्टि शब्द बार-बार प्रयुक्त हुए है। विवस्वान् की व्युत्पत्ति शतपथ ब्राह्मण[2] में, "आदित्य विवस्वत् दिन-रात को प्रकाशित करते है" यह कहकर दी है।

यजुर्वेद और ब्राह्मणों में[3] विवस्वान् आदित्य कहलाये है और वेदोत्तर-कालीन साहित्य में यह सूर्य का सामान्य नाम बन गया है।

विवस्वान् की कल्पना भारत-ईरानी काल तक जाती है; वहां ये वीवङ्ह्वन्त (यम के पिता) के तद्रूप हैं। अवेस्ता में वीवङ्ह्वन्त सोम तैयार करनेवाले प्रथम मनुष्य है; आथ्व्य द्वितीय और थ्रित तृतीय हैं (यस्न 9.10)। इनमे से प्रथम और तृतीय तो ऋग्वेद में भी सबद्ध पाये जाते है, जबकि इन्द्र ने मनु, विवस्वान् और त्रित के साथ सोम-पान किया है[4]।

गाथेय व्यक्ति के रूप में विवस्वान् त्रित की भांति ऋग्वेद-काल तक पहुंचते-पहुंचते धुधले पड़ गये है। इस शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए और अश्विनों, अग्नि और सोम के साथ इसके सबन्ध को ध्यान में रखते हुए, एवं इस तथ्य को हृद्गत करते हुए कि उनका सदस् यज्ञ-स्थान है, विवस्वान् के विषय में सबसे अधिक बलवती सभावना यह बनती है कि वे उदय होते हुए सूर्य के प्रति-रूप है। अधिकांश विद्वान् उन्हे केवल सूर्य के रूप में देखते है। कुछ विद्वान् उन्हे प्रकाशमय आकाश का देवता अथवा सौर आकाश मानते है। बेर्गेन के विचार में विवस्वान् के याज्ञिक स्वरूप की कल्पना—जोकि उनमें प्रधान है—अग्नि ही से आरम्भ हो सकती है; जिस अग्नि का सूर्य एक रूप है। ओल्डेनबेर्ग विवस्वान् की अवेस्तिक वीवङ्ह्वन्त के साथ तुलना करके इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि विवस्वान् को प्रकाश-देव मानने के लिए मिलनेवाले प्रमाण अपर्याप्त हैं; और इसलिए वे वस्तुतः प्रथम याज्ञिक है, जोकि मानव-जाति के पूर्वज भी हैं।

आदित्य-गण (§ 19)—

आदित्य-गण के निमित्त छः सकल सूक्त और दो सूक्तांश ऋग्वेद में आये है। फिर भी इन देवताओं का नाम और इनकी संख्या कुछ अनिश्चित-सी है। छः

1. दिदृक्षन्त उषसो यामन्नक्तोर्विवस्वत्या महि चित्रमनीकम् ॥ ऋ० 3.30.13.
2. असौ वा आदित्यो विवस्वानेष ह्यहोरात्रे विवस्ते। श० ब्रा० 10.5.2.4.
3. विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन्मत्स्व। वा० सं० 8.5.
सं यो नो विवस्वानादित्यो यस्य मनुश्च वैवस्वतो यमश्च। मै० सं० 1.6.12.
4. यथा मनौ विवस्वति सोमं शक्रापिबः सुतम्।

कि वे देवताओं द्वारा आकाश में स्थित किये गये है[1]। एक स्थान पर आई हुई गणना में सविता को भी भग, वरुण, मित्र, अर्यमन् इन चार आदित्यों के साथ गिना गया है[2]। फलत यदि ऋग्वेद में आदित्यों की संख्या निश्चयपूर्वक सात ज्ञात थी, तो सूर्य अवश्यमेव सातवे आदित्य रहे होंगे और आठवें मार्तण्ड, जिन्हें अदिति पहले फेंक देती और फिर लौटा लाती है[3]। सभवतः मार्तण्ड अस्तंगामी सूर्य हैं। अथर्ववेद[4] में सूर्य को अदिति का पुत्र कहा गया है और सूर्य तथा चन्द्रमा को आदित्य[5]; और विष्णु का आह्वान उन देवताओ के साथ किया गया है जिन्हें ऋग्वेद में आदित्य संज्ञा मिली है और जो है :—वरुण, मित्र, विष्णु, भग, अंश एवं विवस्वान्[6]। आदित्यों की माता ऋग्वेद में एक बार अदिति न होकर हिरण्यवर्णा मधुकशा है, जो वसुओं की पुत्री है[7]।

ऋग्वेद मे इन्द्र एक बार आदित्यो के प्रमुख वरुण के साथ युग्म में आते हैं[8], और वालखिल्य[9] में तो उन्हे प्रकटरूप से चतुर्थ आदित्य कहा गया है। मैत्रायणीय सहिता[10] में इन्द्र अदिति के पुत्र हैं; किंतु शतपथ ब्राह्मण[11] में उन्हें बारह आदित्यों से पृथक् बताया गया है। आदित्यों में से उनके प्रमुख वरुण ही का

1. यदेदेनमदधुर्यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यमादितेयम् । ऋ० 10.88.11.
2. तन्नु नः सविता भगो वरुणो मित्रो अर्यमा ।
   शर्म यच्छन्तु सप्रथो यदीमहे ॥ ऋ० 8.18.3.
3. देवाँ उप प्रैत् सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत् । ऋ० 10.72.8.
   प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत् । ऋ० 10 72.9.
4. दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा । अथ० 13.2.9.
   दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः ।
   स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुः । अथ० 13.2 37.
5. तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा । ऋ० 8.2.15.
6. इमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम् ।
   अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ अ० 11 6.2.
7. मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः ।
   हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥ ऋ० 9.1.4.
8. स सुक्रतुर्ऋतचिदस्तु होता य आदित्य शवसा वां नमस्वान् । ऋ० 7.85.4.
9. तुरीयादित्य हवनं त इन्द्रियम् । वाल० 4.7.
10. अदितिर्वै प्रजाकामौदनमपचत्सोच्छिष्टमाश्नात्सा वा इन्द्रमन्तरेव गर्भे संन्तमयस्मयेन दाम्नापौम्भत्सोऽपोब्धोऽजायत । मै० सं० 2.1.12.
11. अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ।
    शत० ब्रा० 11.6.3.5.

अकेले उल्लेख हुआ है। किंतु जिस सूक्त मे मित्र का अकेले उल्लेख हुआ है[1], उसमे उन्हे आदित्य एव सूर्य भी कहा गया है। जहा कही दो आदित्यो का एक-साथ उल्लेख हुआ है वहा मित्र-वरुण लिये गए है और एक बार वरुण-इन्द्र। जहा तीन आदित्यो का एक-साथ उल्लेख हुआ है वहा वरुण, मित्र और अर्यमन् अभिप्रेत है, और जहा पाच का हुआ है वहा उपर्युक्त तीन मे सविता और भग जोड दिये गये है। दक्ष केवल उक्त छ आदित्यो की गणना मे आते है। आदित्य प्राय वर्ग मे आहूत होते है और मित्र-वरुण के नाम का साथ ही उल्लेख भी होता है। कई बार वे अन्य गणो के साथ भी आते है जैसे वसु, रुद्र, मरुत् अङ्गिरस्, ऋभु, और विश्वेदेवा के साथ। अनेक स्थलो पर आदित्य शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ मे हुआ है और वहा इसमे सभी देवताओ का सनिवेश हो जाता है। वर्ग के रूप मे इनका सामूहिक चरित्र देवसामान्य के चरित्र जैसा है, क्योकि इसमे इस प्रकार की विशेषताए नही उभर पाई है जैसी कि उनके प्रमुख मित्र और वरुण के चरित्र मे उभर चुकी हैं। सामूहिक रूप मे वे केवल दिव्य प्रकाश के देवता है, उसकी किसी अभिव्यक्ति विशेष के नही, अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा, तारे या उषस् के नही। ओल्डेनबेर्ग की इस कल्पना का आधार कि आदित्य मूलत सूर्य, चन्द्रमा और पाच नक्षत्रो के प्रतिरूप थे, उनकी विशिष्ट सख्या सात है, जो सख्या कि ईरानी अमेषस्पेन्तस् की भी है। यहा यह बात ध्यान देने योग्य है कि दोनो समूहो मे एक भी नाम उभयनिष्ठ नही है, यहा तक कि मित्र भी अमेषस्पेन्तस नही है। इस विषय मे यह भी स्मरणीय है कि आदित्यो की सात सख्या प्राचीन नही है, और यद्यपि रॉथ के प्रभाव से आदित्यो और अमेषस्पेन्तो की तद्रूपता को सामान्यतया विद्वानो ने मान लिया है, तथापि कतिपय विशिष्ट अवेस्ता विद्वानो ने इसका प्रत्याख्यान भी कर रखा है।

ऋग्वेद मे आदित्यो के निमित्त कहे गये कुछ सूक्तो[2] मे केवल मित्र, वरुण और अर्यमन् इन तीन का—जिनका कि सबसे अधिक एकत्र उल्लेख हुआ है—वर्णन हुआ प्रतीत होता है। सुदूरस्थ वस्तु उनके लिए समीप की है, वे ससार के रक्षक देव होने के नाते चर-अचर सब को धारण करते हैं[3]। वे मनुष्यो के हृदयस्थ अच्छे-बुरे को देखते है और ऋतभर मनुष्य को अनृत मे विविक्त करते हैं[4]। वे असत्य

1 प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन। ऋ० 3 59 2

2 इम स्तोम सक्रतवो मे अद्य मित्रो अर्यमा वरुणो जुषन्त।
आदित्यास शुचयो धारपूता ॥ ऋ० 2 27 2

3 अन्त पश्यन्ति वृजिनोत साधु सर्व राजभ्य परमा चिदन्ति। ऋ० 2 27.3
धारयन्त आदित्यासो जगत्स्था देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपा। ऋ० 2 27 4

4 अन्त पश्यन्ति वृजिनोत साधु। ऋ० 2 27.3

से घृणा करते और पाप के लिए दण्ड देते है[1]। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे पाप के लिए क्षमा प्रदान करे[2]; वे या तो अनृत के परिणामों को बदल दें अथवा उसे त्रित आप्त्य मे आक्षिप्त कर दें[3]। वे अपने शत्रुओं के लिए पाश फैलाते है[4]। किंतु अपने उपासकों की वैसे ही रक्षा करते है जैसे "पक्षी अपने शावकों के ऊपर अपने पर फैला कर[5]। उनके परिचारक मानो कवच से सुरक्षित है, जिसके कारण कोई भी तीर उन्हें नही वेध सकता[6]। वे रोग और बाधाओं के निवारक हैं[7] और प्रकाश, दीर्घायु, अपत्य एवं नेतृत्व आदि अनेक वरों के दाता हैं[8]।

उनके वर्णन में प्रयुक्त हुए विशेषण है :—शुचि, हिरण्मय, भूर्यक्ष, अनिमिष, अस्वप्नज एवं दीर्घधी। वे क्षत्रिय, उरु, गभीर, अरिष्ट, धृतव्रत, अनवद्य, अवृजिन, धारपूत, ऋतावन् एवं राजा है।

हों न हो उनका यह नाम उनकी माता अदिति के ऊपर आधृत है और उन्हें बहुधा अदिति के साथ बुलाया भी गया है। यास्क द्वारा सुझाई व्युत्पत्तियों

पाकत्रा स्थन देवा हृत्सु जानीथ मर्त्यम्।
उप द्वयुं चाद्वयुं च वसवः ॥ ऋ० 8.18.15.

1. मा वो भुजेमान्यजातमेनो मा तत्कर्म वसवो यच्चयध्वे। ऋ० 7 52.2.
इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति। ऋ० 7.60.5.
ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः। ऋ० 7.66.13.
2. अदिते मित्र वरुणोत मृळ यद्वो वयं चकृमा कच्चिदागः। ऋ० 2.27.14.
प्र व एको मिमय भूर्यागो यन्मा पितेव कितवं शशास।
आरे पाशा आरे अघानि देवा मा माधि पुत्रे विमिव ग्रभीष्ट ॥ ऋ० 2.29.5.
3. यूयं महो न एनसो यूयमर्भादुरुष्यत। ऋ० 8.47.8.
4. या वो माया अभिद्रुहे यजत्राः पाशा आदित्या रिपवे विचृत्ताः।
अश्वीव ताँ अति येषं रथेन ॥ ऋ० 2.27.16.
5. पक्षा वयो यथोपरि व्यस्मे शर्म यच्छत। ऋ० 8.47.2.
6. न तं तिग्मं चन त्यजो न द्रासदभि तं गुरु।
यस्मा उ शर्म सप्रथ आदित्यासो अराध्वम् ॥ ऋ० 8.47.7.
युष्मे देवा अपि ष्मसि युध्यन्त इव वर्मसु। ऋ० 8.47.8.
7. अपामीवामप स्रिधमप सेधत दुर्मतिम्।
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः ॥ ऋ० 8.18.10.
8. पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्। ऋ० 2.27.11.
शतं नो रास्व शरदो विचक्षेऽश्यामायूंषि सुधितानि पूर्वा। ऋ० 2.27.10.
ये चिद्धि मृत्युबन्धव आदित्या मनवः स्मसि।
प्र सू न आयुर्जीवसे तिरेतन ॥ ऋ० 8.18.22.

में यह भी एक है[1]। इस गण से सबद्ध महत्तर देवताओ का विवेचन पहले आ चुका है; किंतु उन सामान्य आदित्यो का, जिनका व्यक्तित्व पूरी तरह नही उघड पाया है, वर्णन यहा क्रमशः दिया जा सकता है।

अर्यमन् का उल्लेख ऋग्वेद मे यद्यपि लगभग 100 बार आया है, तथापि व्यक्तिगत विशेषताए उनकी इतनी छिपी हुई है कि निघण्टु की देव-नामावलि मे उनका नाम रह-सा गया है। दो मन्त्रों के सिवाय और सब जगह उनका नाम अन्य देवताओ के साथ उल्लिखित हुआ है। अधिकाश स्थलो पर उनका नाम मित्र और वरुण के साथ आया है। लगभग एक दर्जन मन्त्रो मे यह शब्द जातिवाचक की तरह प्रयुक्त हुआ है और तब इसका अर्थ हुआ है 'साथी' अथवा 'वर का परिचर'। मौके-मौके पर अर्यमन् का नाम इस अर्थ मे भी आया है। उदाहरण के लिए एक बार अग्नि का आह्वान इन शब्दो मे हुआ है—'कुमारियो के विवाह के समय तू अर्यमन् है'[2]। अर्यमन् से बना एक विशेषण अर्यम्य (साथी से सबद्ध) और मित्र से बना शब्द मित्र्य (मित्र से सबद्ध) भी प्रयुक्त हुआ है[3]। इस प्रकार अर्यमन् देव की कल्पना महत्तर आदित्य मित्र से मिलती-जुलती-सी है। अर्यमन् नाम भारत-ईरानी काल तक जा पहुंचता है, क्योकि इसका प्रयोग अवेस्ता मे भी मिलता है।

ऋग्वेद मे एक सूक्त प्रमुख रूप से भग के निमित्त कहा गया है, यद्यपि कतिपय अन्य देवता भी इसमे आहूत हुए है। भग का नाम ऋग्वेद मे लगभग 60 बार आता है। इस शब्द का अर्थ है 'देने वाला'। इस अर्थ मे भग शब्द विशेषण के रूप मे, (अनेक स्थलो पर सविता के नाम के साथ) 20 बार से अधिक प्रयुक्त हुआ है। भग देवता को वैदिक सूक्तों मे धन वितरण करनेवाला माना गया है। भग के साथ इन्द्र और अग्नि की तुलना का प्रयोजन है—अन्तिम दोनो देवताओ की दानशीलता का गुणगान। भग शब्द भी ऋग्वेद मे लगभग 20 बार 'दानशीलता', 'सपत्ति', और 'भाग्य' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, जिससे इसकी विग्रहवत्ता पर अस्पष्टता का परदा पड गया है। उदाहरण के लिए एक मन्त्र[4] मे—जहा भग को 'वितरण करनेवाला' (विधर्ता) कहा गया है—यह उक्ति भी मिलती है कि मनुष्य इस देवता के विषय मे कहते हैं—मुझे भग मे भाग मिले, (भग भक्षि)[5]। एक अन्य

1. अदितेः पुत्र इति वा। नि० 2.13.
योऽसौ तपन्नुदेति। स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति। तै० आ० 1.14.1.
2. त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन्गुह्यं बिभर्षि। ऋ० 5 3 2.
3. अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा। ऋ० 5.85.7.
4. प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥ ऋ० 7.41.2.
5. भगो विभक्ता शवसावसा गमत्। ऋ० 5 46 6.

मन्त्र मे, जहा कि उन्हे 'भक्ता' कहा गया हे, उनका आह्वान इसलिए किया गया है कि वे अपने उपासको के प्रति दानशील (भगवान्) बने ।

उपस भग की बहन है[1] । भग का चक्षु किरणो से अलकृत है[2] । विष्णु के लिए सूक्त उसी तरह आविर्भूत होते है जैसे भग के पथ पर[3] । यास्क के अनुसार भग पूर्व मध्याह्न के अधिष्ठाता है[4] । इस नाम का ईरानी रूप 'बघ' (देवता) है जो अहुरमज्दा का विशेषण बन कर आता है । सच पूछो तो यह शब्द भायोरपीय है, क्योकि ओल्ड चर्च स्लावोनिक मे यह 'बोगु' इस रूप मे मिलता है, जिसका अर्थ 'देवता' है । इस बात के लिए प्रमाण नही मिलता कि भायोरपीय काल मे इस नाम से किसी देवता-विशेष का बोध होता था, अलबत्ता 'दानशील देवता' इस अर्थ मे उस सुदूर काल मे भी इसका प्रयोग होता रहा होगा ।

अश शब्द, जो कि ऋग्वेद मे लगभग एक दर्जन बार आता हे, भग का प्राय पर्यायवाची है और इसका अर्थ होता है 'हिस्सा या भाग', और 'भागी' । यह तीन बार देव-नाम के रूप मे प्रयुक्त हुआ है । इन तीनो मन्त्रो मे से केवल एक मन्त्र मे उसके नामोल्लेख के साथ-साथ उसके विषय मे और कुछ भी कहा गया है । यहा अग्नि को अश कहा गया है, जोकि विदथ (दैवी उपासना) मे एक उदार (भाजयु) देवता है[5] ।

दक्ष का उल्लेख देवता के नाम के रूप मे छ बार से अधिक ऋग्वेद मे नही आता। यह शब्द प्राय अग्नि और सोम के विशेषण के रूप मे[6] आता है और इसका उस प्रसङ्ग मे अर्थ होता है 'प्रवीण, दृढ, कुशल, बुद्धिमान्' । विशेष्य की तरह यह शब्द इन अर्थो मे आता है—'प्रवीणता, दृढता, कुशलता अथवा ज्ञान । मानवीय रूप का बोधक होने पर यह प्रवीण या कुशल देवता का वाचक बन जाता है । छ आदित्यो के नामोल्लेखक मन्त्र[7] को छोडकर अन्य जगह उनका उल्लेख केवल प्रथम और[8]

1. भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरुषः सूनृते प्रथमा जरस्व । ऋ० 1 123 5
2 चक्षुर्भगस्य रश्मिभिः । ऋ० 1 136 2
3 विष्णुं स्तोमासः पुरुदस्ममर्का भगस्येव कारिणो यामनि ग्मन् । ऋ० 3 54 14
4 भगो व्याख्यातः । तस्य कालः प्रागुत्सर्पणात् । नि० 12 13
5 त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः ।
त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य सम्भुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः ॥ ऋ० 2 1 4
6 तुभ्यं दक्ष कविक्रतो यानीमा देव मर्तासो अध्वरे अकर्म ।
त्वं विश्वस्य सुरथस्य बोधि सर्वं तदग्ने अमृत स्वदेह ॥ ऋ० 3 14 7
पवमान रसस्तव दक्षो वि राजति द्युमान् । ऋ० 9 61 18
7 शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः । ऋ० 2 27 1
8. तान्पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम् । ऋ० 1 89 3

दशम मण्डल मे हुआ है। एक मन्त्र मे वे अन्य आदित्यो के साथ उल्लिखित हुए है, और एक दूसरे मन्त्र[1] मे मित्र, वरुण एव अर्यमन् के साथ। अदिति का भी जिक्र उनके जन्म के सबन्ध मे हुआ है। एक सृष्टि-रचना-सबन्धी सूक्त[2] मे दक्ष को अदिति से उत्पन्न हुआ बताया गया है, किंतु वही पर यह भी कहा गया है कि अदिति उनसे उत्पन्न हुई है और यह उनकी पुत्री है, देवता बाद मे उत्पन्न हुए है। एक अन्य मन्त्र मे[3] आता है कि सत् और असत् अदिति के उपस्थ मे अर्थात् दक्ष के जन्म-स्थान मे थे। साथ ही अन्त के दो मन्त्रो मे दक्ष और अदिति को विश्व का माता-पिता भी माना गया है। बच्चे अपने माता-पिता के उत्पादक है यह विरोधोक्ति ऋग्वेदीय कवियो के लिए नवीन नही थी। देवताओ के विषय मे कहा गया है कि उनकी शक्ति उनके पिता के लिए है[4] (सा० 'दक्ष है' पिता जिनके')। दक्ष-पितरा इस विशेषण का प्रयोग मित्र-वरुण के लिए भी हुआ है, जिन्हे उसी मन्त्र[5] मे नितरा बुद्धिमान् (सुदक्ष) बताया गया है। इस उक्ति को उस मन्त्र[6] मे और भी अधिक स्पष्ट कर दिया गया है, जहा मित्र-वरुण को 'बुद्धिमत्ता के पुत्र' (सूनू दक्षस्य) एव 'महती शक्ति के बच्चे' (नपाता शवसो मह) कहा गया है। अन्तिम विशेषणो से यह लक्षित होता है कि दक्ष यहा मानवीय विग्रह का बोधक नही, प्रत्युत एक भाववाचक शब्द है जिसका प्रयोग अग्नि के विशेषणो मे हुआ है, जैसे—'दक्षस्य पिता[7] (कुशलता के पिता), या 'शक्ति के पुत्र'। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि साधारण मानव-याज्ञिको को 'दक्ष-पितर' कहा गया है (=वे जिनके पास अपने पिता के लिए कुशलता है)। तैत्तिरीय सहिता मे देव-सामान्य को 'दक्ष-पितर' कहा गया है और शतपथ ब्राह्मण[8] मे दक्ष की तद्रूपता स्रष्टा प्रजापति के साथ स्थापित की गई है।

उषस् (§ 20) :—

प्रात.काल की अधिष्ठात्री देवी उषस् के निमित्त ऋग्वेद मे लगभग 20 सूक्त

1. दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि। ऋ० 10 64 5
2. अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदिति परि। ऋ० 10 72 4
   अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव। ऋ० 10 72 5
3. असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे। ऋ० 10 5.7.
4. सुज्योतिष सूर्य दक्षपितॄननागास्त्वे सुमहो वीहि देवान्। ऋ० 6 50 2.
5. या धारयन्त देवा सुदक्षा दक्षपितरा। ऋ० 7 66.2.
6. नपाता शवसो मह सूनू दक्षस्य सुक्रतू। ऋ० 8 25 5
7. धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमा दधे। दक्षस्य पितरं तना॥ ऋ० 3 27 9
8. स वै दक्षो नाम। श० ब्रा० 2 4 4.2

कहे गये है और उसके नाम का उल्लेख तो 300 बार से अधिक ही हुआ है। नाम की तद्रूपता के कारण उषस् की विग्रहवत्ता स्वल्प मात्रा में हो पाई है। जब उषा देवी के निमित्त सूक्त गाये जाते है तब उनका आधारभूत दृश्य कवि के मन से कदाचित् भी उतर नही पाता है। उषस् की रचना वैदिक काल की सबसे मनोरम कल्पना है और ससार के किसी भी साहित्य में उषा से अधिक आकर्षक चरित्र नही मिलता। उषा के स्वरूप की छटा पौरोहित्य की अटकलों से धूमिल नही हो सकी है और न ही उससे संबद्ध कल्पना यज्ञिय संकेतों के द्वारा आच्छन्न ही हो पाई है। अपने वपुष् को शुभ्र वस्त्रों में आवृत करके नर्तकी की भांति वह अपने वक्षःस्थल का प्रदर्शन करती है[1]। अपनी[2] माता के द्वारा प्रसाधित कुमारी की तरह वह अपनी छवि को फैलाती है[3]। प्रकाश के वसन पहर कर यह कुमारी पूर्व दिशा में प्रकट होती और अपनी आकर्षक छवि को अनावृत करती है[4]। अद्वितीय सौन्दर्य से संपन्न उषा अपने प्रकाश को छोटे-बड़े किसी से भी नही दुराती। मानों स्नान करके झिलमिल करती हुई उदित होकर, अपने सौन्दर्य को प्रदर्शित करती हुई वह अन्धकार को दूर भगाती और प्रकाश के साथ उतरती है[5]। यद्यपि वह पुरानी है फिर भी पुनः पुनः उत्पन्न होने के कारण वह सदा-युवती है; अक्षुण्ण-रूप वर्ण से चमचमाती हुई वह मर्त्यो के जीवन को ढालती रहती है[6]। जैसे पहले दिनो में वह चमकी थी वैसे ही वह आज भी चमक रही है और भविष्य में भी चमकती रहेगी। वह अजर है और अमर है[7]। पुनः-पुनः आती हुई यह युवती विश्व मे सबसे पहले जाग जाती है[8]।

1. अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्। ऋ० 1.92.4.
2. आविर्वक्षः कृणुषे शुम्भमानोषो देवि रोचमाना महोभिः। ऋ० 6.64.2.
3. सुसङ्काशा मातृमृष्टेव योषास्तन्वं कृणुषे दृशे कम्। ऋ० 1.123.11.
4. एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्। ऋ० 1.124.3.
उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधा इवाविरकृत प्रियाणि। ऋ० 1.124.4.
अरेपसा तन्वा शाशदाना नार्भादीषते न महो विभाती। ऋ० 1.124.6.
एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
5. अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्॥ ऋ० 5.80.5.
एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन्योषेव भद्रा नि रिणीते अप्सः। ऋ० 5.80.6.
6. पुनःपुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभि शुम्भमाना।
श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः॥ ऋ० 1.92.10.
शश्वत्पुरोषा व्युवास देव्यथो अद्येदं व्यावो मघोनी।
7. अथो व्युच्छादुत्तराँ अनु द्यूनजरामृता चरति स्वधाभिः॥ ऋ० 1.113.13.
ईयुषीणामुपमा शश्वतीनां विभातीनां प्रथमोषा व्यश्वैत्। ऋ० 1.113.15.
8. पूर्वा विश्वस्माद्भुवनादबोधि जयन्ती वाजं बृहती सनुत्री। ऋ० 1.123.2.

मनुष्यो को सतत सालती हुई वह प्रभासित होती है, वह हो चुकी उपाओ मे अन्तिम है और आने वाली उपाओ मे पहली है[1]। चक्र की भाति वह अनारत नये-नये चक्कर काटती है[2]। वह पद्वत् जगत् को अपनी कनखियो से प्रबुद्ध करती है और पक्षियो को उडने के लिए उकसाती है वह सभी भुवनो का जीवन है, वह सब प्राणियो का प्राण है[3]। वह प्रत्येक प्राणी को अर्थ के लिए उद्बुद्ध करती है[4]। उषाए सोते हुओ को जगाती है और प्राणियो, द्विपदो एव चौपायो को गति के लिए उत्प्रेरित करती है[5]। जब उपस् प्रभासित होती है, तब पक्षि गण अपने नीडो से उड जाते है और मनुष्य भोजन की ढूढ मे निकल पडते है[6]। वह मनुष्यो के पथो को आविष्कृत करती हे और पाचो जनो को प्रबुद्ध करती है[7]। वह सभी प्राणियो को प्रकट करती और सभी के लिए नव-जीवन लाती है[8]। वह दु स्वप्नो को त्रित आप्त्य के यहा भगा देती है[9]। वह रात्रि के कृष्ण वसन का अपसारण करती है[10]। वह अन्धकार को दूर भगाती है[11]। वह दुरात्माओ को और कलुपित अन्धकार को बाधित करती हे[12]। वह अन्धकार से आवृत धन को प्रकट करती और उसे

1. अमिनती दैव्यानि व्रतानि प्रमिनती मनु या युगानि ।
ईयुपीणामुपमा शश्वतीनामायतीना प्रथमोषा व्यद्यौत् ॥ ऋ० 1.124 2
2 चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व । ऋ० 3 61 3
3 जरयन्ती वृजन पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिण । ऋ० 1 48 5
विश्वस्य हि प्राणन जीवन त्वे वि यदुच्छसि सूनरि । ऋ० 1 48 10
वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपच्चतुष्पदर्जुनि । उष प्रारन्नृतूरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि ॥
4. विश्व जीव चरसे बोधयन्ती । ऋ० 1.92 9 ऋ० 1 49 3
उषो रुरुचे युवतिर्न योषा विश्व जीव प्रसुवन्ती चरायै । ऋ० 7 77 1
5 प्रबोधयन्तीररुस ससन्त द्विपाच्चतुष्पाच्चरथाय जीवम् । ऋ० 4 51 5.
6 उत्ते वयश्चिद्वसतेरपप्तन्नरश्च ये पितुभाजो व्युष्टौ । ऋ० 1 124 12
7 व्युषा आव पथ्या जनाना पञ्च क्षितीर्मानुषीर्बोधयन्ती । ऋ० 7 79 1
8 विवर्तयन्ती रजसी समन्ते आविष्कृण्वती भुवनानि विश्वा । ऋ० 7 80 1
एषा स्या नव्यमायुर्दधाना गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि । ऋ० 7 80 2
9. यच्च गोषु दुष्वप्न्य यच्चास्मे दुहितर्दिव ।
त्रिताय तद्विभावर्याप्त्याय परा वह ॥ ऋ० 8 47 14
त्रिताय च द्विताय चोषो दुष्वप्न्य वह । ऋ० 8 47 16
10 अप कृष्णा निर्णिज देव्याव । ऋ० 1 113 14
11. बाधते तमो अजिरो न वोळ्हा । ऋ० 6 64.3
अपो युयुवे मुष्णतो नयन्तारि ता बाधन्ते तम ऊर्म्याया । ऋ० 6 65.2
12 अप द्वेषस्तमो आवरजुष्टमङ्गिरस्तमा पथ्या अजीग । ऋ० 7 75 1.

उदारता से वितरित करती है[1]। प्रबुद्ध होने पर वह आकाश के छोरो को झिलमिला देती है[2]। वह स्वर्ग के द्वार को खोलती है[3]। जैसेकि गौए व्रज को खोलती है वैसे वह अन्धकार के द्वारो को खोल देती है[4]। उसकी भासमान किरणे पशुओ के रेवड़ो जैसी प्रतीत होती है[5]। पशुओ को छिटकाती हुई-सी वह दूर दिखाई पडती है[6]। वह आती है और जाती है, पर अपने इस विधान से उकताती कभी नही। लाल किरणे ऊपर को उडती है, लाल गौए युक्त होती है, लाल उषाएं मानो चिरकाल से वस्त्र बुन रही है, वही वस्त्र जिसे कि वे पहले से बुनती आ रही है। उषस् को गो-माता इसीलिए कहा गया है[7]।

प्रतिदिन वह निश्चित बिन्दु पर उतरती है पर कभी भी ऋत एव देवताओ के विधान को पद-दलित नही करती[8]। वह ऋत के पथ पर सीधे जाती है, पथ से परिचित होने के कारण वह कभी भी पथ-भ्रष्ट नही होती[9]। सभी उपासको को प्रबुद्ध करके और यज्ञाग्नि को सदीप्त करा कर वह देवताओ का भरसक उपकार करती है[10]। उससे प्रार्थना की गई है कि वह केवल श्रद्धालु एव उदार उपासकों को

---

1 सिषासन्ती द्योतना शश्वदागादग्रमग्रमिद्भजते वसूनाम् । ऋ० 1.123 4.
स्पार्हा वसूनि तमसापगूळ्हाविष्कृण्वन्त्युषसो विभातीः । ऋ० 1.123.6.

2. व्यूर्ण्वती दिवो अन्ताँ अबोधि । ऋ० 1 92.11

3 उषो यदद्य भानुना वि द्वारावृणवो दिवः । ऋ० 1.48 15.
भास्वती नेत्री सूनृतानामचेति चित्रा वि दुरो न आवः । ऋ० 1.113 4.

4 गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः । ऋ० 1.92 4.

5 प्रति भद्रा अदृक्षत गवां सर्गा न रश्मयः । ऋ० 4 52 5.

6 पशून्न चित्रा सुभगा प्रथाना । ऋ० 1 92.12.
उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत ।
अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः । ऋ० 1.92.2.

7. माता गवामृतावरी । ऋ० 4 52.2.
उत माता गवामसि । ऋ० 4 52.3.
गवां माता नेत्र्यह्नामरोचि । ऋ० 7.77.2.

8 अमिनती दैव्यानि व्रतानि सूर्यस्य चेति रश्मिभिर्दृशाना । ऋ० 1 92.12.
ऋतस्य योषा न मिनाति धामाहरहर्निष्कृतमाचरन्ती । ऋ० 1.123 9.
अमिनती दैव्यानि व्रतानि । 1.124 2
ते देवानां न मिनन्ति व्रतानि । ऋ० 7.76 5

9. ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति । ऋ० 5 80 4.

10. उषो यदग्निं समिधे चकर्थ वि यदावश्चक्षसा सूर्यस्य ।
यन्मानुषान्यक्ष्यमाणाँ अजीगस्तद्देवेषु चकृषे भद्रमप्नः ॥ ऋ० 1.113 9.

जगावे और अदेव अनुदारो को हमेशा के लिये सोते रहने दे[1]। किंतु कभी कभी कहा गया है कि उषस् अपने उपासको को नही जगाती, अपितु उसके उपासक ही उसे उद्बुद्ध करते है[2]। वसिष्ठो का कहना तो यहा तक है कि उन्होने ही उसे सर्व-प्रथम अपने सूक्तो द्वारा जागृत किया था[3]। एक बार उसे समझाया गया है कि वह आने मे देर न करे ताकि कही सूर्य चोर या शत्रु की भाति उसे परितप्त न कर दे[4]। उससे प्रार्थना की गई है कि वह देवताओ को सोम पान के लिए लावे[5]। फलत देवताओ के लिए कहा गया है कि वे लोग उषस के साथ जागते है[6]।

उषस् एक ऐसे रथ पर चलती है जो झिलमिलाता[7], प्रभासमान, चन्द्रवर्ण[8], सुपेशस्[9], विश्वपिश्[10] (=विश्वरूप), बृहत्,[11] और स्वययुक्त (स्वधया युज्यमानम्) है[12]। कहा गया है कि वह शत रथो पर चढकर चलती है[13]। उसके रथ को ऐसे घोडे खीचते है जो लाल हैं[14], सुयमित है[15] और ठीक ढङ्ग से जोडे गए है[16]। यह भी कहा

1 प्र बोधयोष पृणतो मघोन्यबुध्यमानाः पणयः ससन्तु ।
रेवदुच्छ मघवद्भ्यो मघोनि रेवत्स्तोत्रे सूनृते जारयन्ती ॥ ऋ० 1 124 10
उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान् राधोदेयायोषसो मघोनीः ।
अचित्रे अन्तः पणयः ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये ॥ ऋ० 4 51 3

2 यावयद्द्वेषसं त्वा चिकित्वित्सूनृतावरि ।
प्रति स्तोमैरभुत्स्महि ॥ ऋ० 4 52 4

3. प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा गीर्भिर्विप्रासः प्रथमा अबुध्रन् । 7 80 1

4 व्युच्छा दुहितर्दिवो मा चिरं तनुथा अपः ।
नेत्त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा ॥ ऋ० 5 79 9

5 विश्वान् देवाँ आ वह सोमपीतयेऽन्तरिक्षादुषस्त्वम् । ऋ० 1 48 12

6. आक्रीं सूर्यस्य रोचनाद् विश्वान् देवाँ उषर्बुधः ।
विप्रो होतेह वक्षति । ऋ० 1 14 9

7 उषो अर्वाचा बृहता रथेन ज्योतिष्मता वाममस्मभ्यं वक्षि । ऋ० 7 78 1.

8 चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती । ऋ० 3 61 2

9 सुपेशसं सुखं रथं यमध्यस्था उषस्त्वम् । ऋ० 1 49 2

10. याति शुभ्रा विश्वपिशा रथेन । ऋ० 7 75 6

11. सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रामघे हवम् । ऋ० 1 48 10

12 आस्थाद्रथं स्वधया युज्यमानम् । ऋ० 7 78 4.

13 शतं रथेभिः सुभगोषा इयं वि यात्यभि मानुषान् । ऋ० 1 48 7

14 प्रति द्युतानामरुषासो अश्वाश्चित्रा अदृश्रन्नुषसं वहन्तः । ऋ० 7 75 6

15. आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वाः । ऋ० 3 61 2

16 यूयं हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वैः परिप्रयाथ भुवनानि सद्यः । ऋ० 4 51 5

गया है कि वह घोड़ों द्वारा प्रभासित होती है[1]। लाल गौओं द्वारा भी उसके खींचे जाने का वर्णन मिलता है[2]। घोडे और गौएं दोनों ही संभवत: प्रात:कालीन प्रकाश की लाल किरणों के प्रतिरूप हों; किंतु गौओं से प्राय: सवेरे के लाल बादल लिये जाते है। उषाएं एक दिन में 30 योजन का रास्ता तै कर लेती है[3]।

उषस् का सूर्य के साथ निकट संबन्ध है। उषा ने सूर्य के पथ को उसकी यात्रा के लिये खोला है[4]। वह देवताओं के इस नयन को लाती है और उसके सुन्दर श्वेत घोड़े को आगे ले चलती है[5]। वह सौर प्रकाश के द्वारा झिलमिलाती है[6]; अपने प्रेमी की प्रकाशमय कनखियों द्वारा[7]। उषस् के पीछे-पीछे सविता चमकते हैं[8]। सूर्य उसका अनुसरण वैसे ही करते हैं जैसेकि एक युवक अपनी प्रेयसी के पीछे-पीछे चलता है[9]। वह उस देवता से मिलती है जो उसकी कामना करता है[10]। वह सूर्य की पत्नी है[11]; उषाएं सूर्य की पत्नियां है[12]। इस प्रकार अन्तरिक्ष में सूर्य द्वारा अनुसृत होने के कारण वह सूर्य की पत्नी मानी गई है। किंतु काल में सूर्य के पूर्व आने के कारण मौके-मौके पर उसे उनकी माता भी बताया गया है। उसने सूर्य, यज्ञ और अग्नि को जन्म दिया है[13]। वह सविता को जन्म देने के लिये उत्पन्न हुई है और एक झिलमिलाते पुत्र के साथ आती है[14]। उषस् भग की बहिन है और

---

1. एतावद्वेदुषस्त्वं भूयो वा दातुमर्हसि ।
या स्तोतृभ्यो विभावर्युच्छन्ती न प्रमीयसे सुजाते अश्वसूनृते । ऋ० 5.79.10. इत्यादि
2. उदपप्तन्नरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत । ऋ० 1.92.2.
अवेयमश्वैद् युवतिः पुरस्ताद् युङ्क्ते गवामरुणानामनीकम् । ऋ० 1.124.11.
एषा गोभिररुणेभिर्युजानास्रेधन्ती रयिमप्रायु चक्रे । ऋ० 5.80.3.
3. अनवद्यास् त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परि यन्ति सद्यः । ऋ० 1.123.8.
4. आरैक्पन्थां यातवे सूर्याय । ऋ० 1.113.16.
5. देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम् । ऋ० 7.77.3.
6. उषो यदग्निं समिधे चकर्थ वि यदावश्चक्षसा सूर्यस्य । ऋ० 1.113.9.
7. योषा जारस्य चक्षसा वि भाति । ऋ० 1.92.11.
8. वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति । ऋ० 5.81.2.
9. सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् । ऋ० 1.115.2.
10. एषि देवि देवमियक्षमाणम् । ऋ० 1.123.10.
11. वाजिनीवती सूर्यस्य योषा । ऋ० 7.75.5.
12. कदा नो देवीरमृतस्य पत्नीः सूरो वर्णेन ततनन्नुषासः । ऋ० 4.5.13.
13. अजीजनन्सूर्यं यज्ञमग्निम् । ऋ० 7.78.3.
14. यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् । ऋ० 1.113.1.
रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागात् । ऋ० 1.113.2.

वरुण[1] की जामि है। वह रात्रि की भी बहन[2] अथवा ज्येष्ठ बहिन है[3]। उपस् और रात्रि के नाम प्राय द्वन्द्व मे आते है (उपासा-नक्ता या नक्तोपासा)। उपस् आकाश में उत्पन्न होती है[4]। उसकी उत्पत्ति का स्थान ऋग्वेद मे उसके सबसे अधिक निर्दिष्ट सवन्ध की ओर सकेत करता है और यह है उसका 'दिव. दुहिता' होना[5]। एक बार उसे 'दिव प्रिया' भी कहा गया है[6]।

यज्ञाग्नि नियमित रूप से उप.काल मे समिद्ध होती है, अत इस प्रकरण मे अग्नि उपस् के साथ सहज ही सबद्ध हो जाता है, कभी-कभी सूर्य भी अग्नि मे समाविष्ट हो जाते है, क्योकि वे भी अग्नि ही की एक अभिव्यक्ति है और यज्ञाग्नि-समिन्धन के साथ दिखाई पडते है[7]। अग्नि उपस् के साथ और उससे पहले उपस्थित होते है। उपस् अग्नि को समिद्ध कराती है[8]। इस प्रकार सूर्य की भाति अग्नि को भी उपस् का जार कहा गया है[9]। उपस् के आगमन के समय अग्नि उससे मिलने के लिये जाते और उससे योगक्षेम की याच्ञा करते हैं[10]। उपस् स्वभावत. प्रात-काल के युगल देवता अश्विनो के साथ भी सबद्ध है[11]। वे उसके साथ चलते हैं[12]

1. भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिरुषः सूनृते प्रथमा जरस्व । ऋ० 1.123 5.
2. रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः ।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने ॥ ऋ० 1 113 2.
समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे ।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥ 1.113.3.
निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती ।
अपेदु हासते तमः । ऋ० 10 127.3.
3. स्वसा स्वस्रे ज्यायस्यै योनिमारैक् । ऋ० 1.124 8.
4. व्युषा आवो दिविजा ऋतेनाविष्कृण्वाना महिमानमागात् । ऋ० 7.75.1.
5. त्वं त्येभिरा गहि वाजेभिर्दुहितर्दिवः । ऋ० 1.30.22.
6. एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः । ऋ० 1.46.1.
7. उषा उच्छन्ती समिधाने अग्ना उद्यन्त्सूर्य उर्विया ज्योतिरश्रेत् । ऋ० 1.124.1.
वि नूनमुच्छादसति प्र केतुर्गृहंगृहमुप तिष्ठाते अग्निः । ऋ० 1.124 11.
8. उषो यदग्निं समिधे चकर्थ । ऋ० 1.113 9.
9. शुक्रः शुशुक्वाँ उषो न जारः । ऋ० 1 69.1
उषो न जारः पृथु पाजो अश्रेद्दविद्युतद्दीद्यच्छोशुचानः । ऋ० 7 10 1.
भद्रो भद्रया सचमान आगात्स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात् । ऋ० 10 3 3.
10. आयतीमग्न उषसं विभातीं वाममेषि द्रविणं भिक्षमाणः । ऋ० 3 61.6.
11. सजू रश्विभ्यामुषसा सजूर्यमस्मे धेहि श्रवो बृहत् । ऋ० 1.44 2.
12. वपुर्वपुष्या सचतामियं गीर्दिवो दुहित्रोषसा सचेथे । ऋ० 1.183 2.

और वे उसके मित्र है[1]। उषा का आह्वान उन्हे उद्‌बुद्ध करने के निमित्त किया गया है[2], और कहा गया है कि उषा के स्तवन-सूक्तो ने उन्हे जगाया है[3]। जब अश्विनो का रथ जुडता है, तब 'दिवो दुहिता' उत्पन्न होती है[4]। उषस् एक बार चन्द्रमा के साथ भी सबद्ध हुई है, जो सदैव अपने नव-नवोदय के कारण उषाओ के पूर्व, दिन के केतु की भाति उभरता है[5]।

विभिन्न देवताओ के विषय मे कहा गया है कि उन्होने उषाओ को उत्पन्न या अनावृत किया है। इन्द्र, जो विशेषतया प्रकाश के विजेता है, उनके विषय मे कहा गया है कि उन्होने उषस् को उत्पन्न या समिद्ध किया[6]। किंतु कभी-कभी वे उसके साथ शत्रुता का बरताव भी कर बैठते है। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि उन्होने उसके रथ को तोड डाला है। सोम ने उषाओ को उनके जन्म के समय प्रभावती बनाया[7] और उन्हे अच्छे पति के हाथो सौपा[8], जैसाकि अग्नि के विषय मे कहा गया है[9]। बृहस्पति ने प्रकाश द्वारा अन्धकार को नष्ट करके उषा, स्वर्, और अग्नि को आविष्कृत किया[10]। देवताओ के सहयोगी पूर्व पितृ गणो ने प्रभावशाली सूक्तो द्वारा गूढ प्रकाश को अनावृत किया और उषस् को उत्पन्न किया[11]।

उषा-देवी से बहुधा प्रार्थना की गई है कि वह उपासक के ऊपर प्रकाशित होवे या उसे धन एव अपत्य-सपन्न बनावे, साथ ही उसे सुरक्षा और दीर्घ जीवन

1. सख्राभूदश्विनोरुषाः। ऋ० 4 52.2.
उत सखास्यश्विनोः। ऋ०4 52 3.
2. प्र बोधयोषो अश्विना। ऋ० 8 9 17.
3. उषस्स्तोमो अश्विनावजीगः। ऋ० 3 58 1.
4. रथं यं वामृभवश्चक्रुरश्विना।
यस्य योगे दुहिता जायते दिवः। ऋ० 10 39.12.
5. नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥ ऋ० 10.85.19.
6. यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥ ऋ० 2.12 7.
7. इमं केतुमदधुर्नू चिदह्नां शुचिजन्मन उषसश्चकार॥ ऋ० 6 39.3.
8. अयमकृणोदुषसः सुपत्नीः। ऋ० 6.44.23.
9. यो अर्यपत्नीरुषसश्चकार। ऋ० 7.6 5.
10. सोषामविन्दत्स स्वः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।
ऋ० 10 68 9.
11. त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः।
गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम्॥ ऋ० 7.76 4.

प्रदान करे[1], और कवि के उदार सूरियों को यश-वैभव-सपन्न करे[2]। उषा के उपासक उससे सपत्ति की कामना करते है और कामना करते है कि वे उसके प्रति वैसा ही व्यवहार करे जैसा पुत्र माता के प्रति करते हैं[3]। मृत मनुष्यो की आत्मा सूर्य और उषस् मे जाती है[4]। इन 'अरुणियो' से, जिनकी गोद मे पितृ-गण बैठते है, हो न हो, उषाएं ही अभिप्रेत है[5]।

निघण्टु मे उल्लिखित 16 विशेषणो के अतिरिक्त उषा के और भी अनेक विशेषण मिलते है। वह प्रभावती, ज्योतिष्मती, रोचमाना, श्वेत, अरुषी, हिरण्य-वर्णा, ऋतजाता, इन्द्रतमा, दिव्या एव अमर्त्या है। वह विशेषतया मघोनी है।

उषस् यह शब्द √वस् 'चमकना' इस धातु से निष्पन्न है, और मूलत. यह ओरोरा (Aurora) एव होस (hws) का सजन्मा है।

अश्विन् (§ 21)—

आह्वानो के आकडो की दृष्टि से ऋग्वेद मे इन्द्र, अग्नि और सोम के बाद युगल देवता अश्विनो का स्थान है। उनके निमित्त 50 से अधिक सपूर्ण सूक्त तथा अनेक सूक्ताश कहे गए हैं। उनका नाम 400 से अधिक बार आता है। यद्यपि प्रकाश के देवताओ मे उनका एक विशिष्ट स्थान है और उनका नाम भी भारतीय है तथापि प्रकाश के किसी भी निश्चित दृश्य के साथ उनका सबन्ध इतना अधिक अस्पष्ट है कि उनके मौलिक स्वरूप का निर्धारण करना वेद-व्याख्याताओ के लिए एक पहेली रहती आई है। इसी अस्पष्टता के कारण विद्वानो के मन मे भावना हो जाती है कि इन देवताओ का आदिमूल वेद-पूर्व काल मे खोजा जाना चाहिये। ये देवता यमल[6] एव साथ-साथ आने वाले है। एक सूक्त का तो प्रयोजन ही यह है कि

1 अस्मे रयिं नि धारय। ऋ० 1.30 22
सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिव.।
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती॥ ऋ० 1.48 1

2 ऐषु धा वीरवद् यश उषो मघोनि सूरिषु। ऋ० 5 79.6
उषो ये ते प्र यामेषु युञ्जते मनो दानाय सूरय.।
अत्राह तत्कण्व एषा कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम्॥ ऋ० 1 48.4

3 तस्यास्ते रत्नभाज ईमहे वय स्याम मातुर्न सूनव॥ ऋ० 7 81.4

4 यत्ते सूर्यं यदुषस मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥ ऋ० 10 58 8.

5. आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्य· पितरस्तस्य वस्व· प्र यच्छत त इहोर्जं दधात॥ ऋ० 10 15 7.

6. यमा चिदत्र यमसूरसूत। ऋ० 3 39 3.

इनकी[1] तुलना विभिन्न युगल पदार्थों से की जाय, जैसेकि चक्षु, हाथ, पैर, पर या जोडी मे चलनेवाले पशु-पक्षी, जैसेकि कुत्ते, बकरे, हस और श्येन[2]। तो भी कुछेक मन्त्रो मे उनके मूलत पृथक्-पृथक् होने का सकेत मिलता है। उदाहरण के लिए कहा गया है कि वे नाना प्रकार से उत्पन्न हुए[3] और यत्र-तत्र उत्पन्न (इहेह) हुए। एक को विजयी राजकुमार एव दूसरे को द्यौस् का पुत्र बताया गया है[4]। यास्क भी एक मन्त्र का उद्धरण देते हुए लिखते हैं—'एक को रात्रि-पुत्र और दूसरे को उषा-पुत्र कहते हैं'[5]। स्वय ऋग्वेद के एक मन्त्र[6] मे अकेले 'परि ज्मने नासत्याय' इन शब्दो द्वारा एक अश्विन् का उल्लेख हुआ है।

अश्विन् युवा है[7]। तैत्तिरीय सहिता मे उन्हे देवताओ मे कनिष्ठ बताया गया है। साथ ही वे सनातन भी है। वे प्रकाशमान है[8], शुभस्पति है[9], हिरण्य-ज्योतिवाले है[10]

उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः । ऋ० 10 17.2.

1 ग्रावाणेव तदिदर्थं जरेथे गृध्रेव वृक्षं निधिमन्तमच्छ ।
ब्रह्माणेव विदथ उक्थशासा दूतेव हव्या जन्या पुरुत्रा ॥ ऋ० 2.39 1 इत्यादि

2 अश्विनाविह गच्छतं नासत्या मा वि वेनतम् । हंसाविव पततमा सुताँ उप ।
अश्विना हरिणाविव गौराविवानु यवसम् । हंसाविव पततमा सुताँ उप ।
अश्विना वाजिनीवसू जुषेथां यज्ञमिष्टये ।
हंसाविव पततमा सुताँ उप । ऋ० 5 78 1-3
हारिद्रवेव पतथो वनेदुप सोमं सुतं महिषेवाव गच्छथः ।
सजोषसा उषसा सूर्येण च त्रिर्वर्तिर्यातमश्विना ॥ ऋ० 8 35.7
हंसाविव पतथो अध्वगाविव सोमं सुतं महिषेवाव गच्छथ ॥ ऋ० 8 35.8.
श्येनाविव पतथो हव्यदातये सोमं सुतं महिषेवाव गच्छथ । ऋ० 8 35 9
उष्टारेव फर्वरेषु श्रयेथे प्रायोगेव श्वात्र्या शासुरेथः । ऋ० 10 106 2–10 आदि

3 नाना जाताविरेपसा । ऋ० 5 73 4

4. इहेह जाता समवावशीतामरेपसा तन्वा नामभिः स्वैः ।
जिष्णुर्वामन्यः सुमखस्य सूरिर्दिवो अन्यः सुभगः पुत्र ऊहे ॥ ऋ० 1.181.4.

5. वासात्यो अन्य उच्यते । उषः पुत्रस्त्वन्य । नि० 12.2.

6 परि ज्मने नासत्याय क्षे ब्रवः । ऋ० 4 3 6.

7 न मे हवमा शृणुतं युवाना यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत् । ऋ० 7 67.10

8 आ शुभ्रा यातमश्विना । ऋ० 7 68 1.

9 ताविद् दोषा ता उषसि शुभस्पती । ऋ० 8 22 14
उत नो देवावश्विना शुभस्पती । ऋ० 10 93 6.

10 आ नूनं यातमश्विना रथेन सूर्यत्वचा ।
भुजी हिरण्यपेशसा कवी गम्भीरचेतसा ॥ ऋ० 8 8 2

और मधु-वर्ण है[1]। उनके अनेक रूप हैं[2], वे सुन्दर है[3], कमलो की माला पहनते हैं[4]। वे शीघ्रगामी है[5], मनोजवा है[6], बाज जैसे है[7]। शक्तिमान् एवं अमित शक्तिमान् है[8] और अनेक बार लाल वर्ण के[9] बताए गए है। वे गंभीर चेतनावाले एवं निगूढ मानसिक शक्ति वाले है (मायावी)। अश्विनो के दो अपने विशेषण है: दस्र (आश्चर्यमय), जो प्रायः उन्ही तक सीमित है, और नासत्य। नासत्य का साधारण अर्थ 'न असत्य' किया जाता है, किन्तु दूसरी व्युत्पत्तिया—जैसेकि 'रक्षक' भी की गई हैं। यह शब्द अवेस्ता मे एक राक्षस के नाम की तरह प्रयुक्त हुआ है किंतु इससे आगे और कुछ नही कहा जा सकता। बाद मे ये दोनो विशेषण अश्विन् के पृथक्-पृथक नाम बन गए। रुद्र-वर्तनी (लाल वर्ण के पथवाले) विशेषण उनके लिए विशेष रूप से आया है। देवताओ मे एकमात्र वे ही है, जिनके लिए हिरण्य-वर्तनी (सुवर्ण पथवाले) विशेषण का प्रयोग हुआ है। अन्यथा यह विशेषण केवल दो बार नदियों के लिये आया है।

अश्विन् अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा अधिक वार मधु के साथ सबद्ध हुए हैं; जिसके साथ कि इनका अनेक मन्त्रों मे उल्लेख हुआ है। उनके पास एक चर्म है जो मधु-पूर्ण है। उनके रथ को खीचनेवाले पक्षी मधु से आचित है[10]। अश्विनो ने मधु के 100 घड़े उडेले[11]। मधुमती कशा[12] उनकी अपनी विशेषता है। केवल अश्विनों के रथ को मधु-वर्ण अथवा मधु-वाहन बताया गया है। केवल ये ही दो

---

1. धियंजिन्वा मधुवर्णा शुभस्पती। ऋ० 8 26.6.
2. पुरू वर्पांस्यश्विना दधाना नि पेद्वं ऊहथुराशुमश्वम्। ऋ० 1.117.9.
3. ता वल्गू दस्रा पुरुशाकतमा। ऋ० 6.62 5.
   क उ त्या वल्गू पुरुहूताद्य दूतो न स्तोमोऽविदन्नमस्वान्। ऋ० 6 63 1.
4. गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजौ। ऋ० 10.184.2.
   तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजौ। अथ० 3 22.4.
   अश्विनाविमे हीदं सर्वमाश्नुवातां पुष्करस्रजाविति। शत० ब्रा० 4.1.5.16.
5. प्र मायाभिर्मायिना भूतमत्र नरा नृतू जनिमन् यज्ञियानाम्। ऋ० 6.63.5
6. मनोजवसा वृषणा मदच्युता। ऋ० 8 22.16.
7. श्येनस्य चिज्जवसा नूतनेनाऽऽगच्छतमश्विना शंतमेन। ऋ० 5.78.4.
8. युवं शंक्रा मायाविना समीची निरमन्थतम्। ऋ० 10 24 4.
9. रुद्रा हिरण्यवर्तनी। ऋ० 5 75 3.
10. दृतिं वहेथे मधुमन्तमश्विना। ऋ० 4.45.3.
    हंसासो ये वां मधुमन्तो अस्रिधो हिरण्यपर्णा उहुव उषर्बुधः। ऋ० 4.45.4.
11. शतं कुम्भाँ असिञ्चतं मधूनाम्। ऋ० 1.117.6.
12. आ नू ऊर्जं वहतमश्विना युवं मधुमत्या नः कशया मिमिक्षतम्। ऋ० 1.157.4.

देवता मधु के इच्छुक (मधुयु, माध्वी) या मधुपा कहे गए है। जिस पुरोहित के घर पहुचने के लिए उन्हे निमन्त्रित किया गया है उसे मधु-हस्त बताया गया है[1]। वे मधुमक्षी को मधु देते है[2], जिसके साथ कि उनकी तुलना भी की गई है[3]। अन्य देवो की भांति अश्विन् भी सोम के इच्छुक है[4], और उषस् एव सूर्य के साथ सोम पीने के लिए उनका आह्वान किया गया है[5]। हिलेब्राण्ट के अनुसार मूलत अश्विन् देवता सोमयाग के देवो से बाहर थे।

अश्विनो का रथ सूर्य के रथ जैसा है—यह स्वर्णिम है[6] और इसके सभी अवयव जैसेकि चक्र, अक्ष और रश्मि सब के सब स्वर्णिम है[7]। इसमे एक सहस्र किरणें[8] अथवा अलकार है[9]। इसकी बनावट विचित्र है, क्योकि यह त्रिगुणित है। इसमे तीन चक्र, तीन बन्धुर है और कुछ अन्य हिस्से भी त्रिगुणित है[10]। यह हल्का चलता है[11], विचार से भी तीव्र इसकी चाल है[12]। इसे ऋभुओ ने बनाया था[13]। स्मरण रहे कि केवल अश्विनो का रथ ही त्रिचक्र है। कहा गया है कि जब अश्विन्

1 अध्वर्युं वा मधुपाणिं सुहस्त्यमग्निधं वा धृतदक्षं दमूनसम्।
विप्रस्य वा यत्सवनानि गच्छथोऽत आ यातं मधुपेयमश्विना ॥ ऋ० 10 41.3

2 मधुप्रियं भरथो यत्सरड्भ्यस्ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्। ऋ० 1.112.21.
युवोर्ह मक्षा पर्यश्विना मध्वासा भरत निष्कृत न योषणा। ऋ० 10 40 6

3 सारघेव गवि नीचीनबारे। ऋ० 10 106 10

4 नासत्या तिरोअह्न्यं जुषाणा सोमं पिबतमस्रिधा सुदानू। ऋ० 3 58 7.
अश्विना मधुषुत्तमो युवाकु सोमस्तं पातमा गतं दुरोणे। ऋ० 3 58 9.

5 सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना। ऋ० 8 35 1.

6 हिरण्ययेन पुरभू रथेनेमं यज्ञ नासत्योप यातम्। ऋ० 4 44 4
हिरण्ययेन सुवृता रथेन। ऋ० 4 44 5

7 हिरण्यया वा पवयं प्रुषायन्। ऋ० 1 180 1
हिरण्ययी वा रभिरीशा अक्षो हिरण्ययं।
उभा चक्रा हिरण्यया ॥ ऋ० 8 5 29
रथो यो वा त्रिबन्धुरो हिरण्याभीशुरश्विना। ऋ० 8 22 5

8, सहस्रकेतु वनिनं शतद्वसुम्। ऋ० 1 119 1

9 अर्त सहस्रनिर्णिजा रथेना यातमश्विना। ऋ० 8 8 11

10 त्रिबन्धुरो वृषणा वातरंहा। ऋ० 1 118 1.
त्रिबन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातमर्वाक्। ऋ० 1 118 2.

11 आ नून रघुवर्तनिं रथं तिष्ठाथो अश्विना। ऋ० 8 9 8

12 यो वामश्विना मनसो जवीयान् रथ स्वश्वो विश आजिगाति। ऋ० 1 117.2.

13 रथ य वामृभवश्चक्रुरश्विना। ऋ० 10 39 12.

सूर्या के विवाह मे आये तब उनके रथ का एक चक्र खो गया[1] था।

अश्विन् इस नाम मे 'घोडे रखने' का भाव निहित है, और इस बात के मानने के लिए कोई प्रमाण नही है कि उन्हे अश्विन् इसलिए कहा गया था कि वे घोडे पर चढते थे। उनके रथ को घोडे खीचते है, और बहुधा पक्षी[2] भी जैसेकि (वि, पतत्रिन्)[3] हस, श्येन[4], वयोऽश्व[5], या श्येनाश्व[6] उसमे लगते है। कभी-कभी यह काम पक्षोवाले अश्वो (ककुह)[7] को भी सौपा गया है और एक दो बार रासभ को[8]। ऐतरेय ब्राह्मण[9] मे आता है कि सोम-सूर्या के विवाह मे अश्विनो ने रासभो से युक्त रथ मे बैठकर प्रतियोगिता मे विजय प्राप्त की थी (तुलना कीजिये ऋ० 1 116 7 सायण भाष्य सहित)। उनका रथ द्युलोक के छोर तक पहुचता है और वह पाचो देशो मे व्याप्त है। यह द्युलोक की परिक्रमा करता है[10]। यह एक ही दिन मे द्युलोक और पृथिवी का चक्कर काट लेता है[11], सूर्य और उषस् के रथ के विषय मे भी यही कहा गया है[12]। यह सूर्य की परिक्रमा करता है[13]। अश्विन् के पथ (वर्तिस्) का भी बार-बार उल्लेख हुआ है। वर्तिस् शब्द का प्रयोग एक अपवाद को छोडकर अन्य सभी जगह अश्विनो के लिये हुआ है। परिज्मन् (परिक्रमण) शब्द का प्रयोग भी अनेक बार अश्विनो या उनके रथ के साथ हुआ है, साथ ही इसका प्रयोग वात, अग्नि और सूर्य के साथ भी हुआ है।

---

1 यदयात शुभस्पती वरेय सूर्यामुप। क्वैकं चक्र वामासीत्। ऋ० 10 85 15

2 प्र वा वयो वपुषेऽनु पप्तन्। ऋ० 6 63 6

3. यातमच्छा पतत्रिभिर्नासत्या सातये कृतम्। ऋ० 10 143 5

4 आ वां श्येनासो अश्विना वहन्तु। ऋ० 1 118 4

5 आ वां वयोऽश्वासो वहिष्ठा अभि प्रयो नासत्या वहन्तु। ऋ० 6 63 7

6 तूर्यं श्येनेभिराशुभि। यातमश्वेभिरश्विना। ऋ० 8 5 7

7 उग्रो वां ककुहो ययि। ऋ० 5 73 7

वृच्यन्ते वा ककुहा अप्सु जाता। ऋ० 1 184 3

8 कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञ नासत्योपयाथ। ऋ० 1 34 9

तद्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय। ऋ० 1 116 2

9 गर्दभरथेनाश्विना उदजयताम्। ऐत० ब्रा० 4 7 9

10 त वा रथं वयमद्या हुवेम स्तोमैरश्विना सुविताय नव्यम्। अरिष्टनेमि परि द्यामियानम्। ऋ० 1 180 10

11 रथो ह वामृतजा अद्रिजूत परि द्यावापृथिवी याति सद्य। ऋ० 3 58 8

12 भद्रा अश्वा हरित सूर्यस्य। परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्य। ऋ० 1 115 3

युव हि देवीर्ऋतयुग्भिरश्वै परि प्रयाथ भुवनानि सद्य। ऋ० 4.51.5.

13 याभि सूर्यं परि याथ परावति। ऋ० 1 112 13

अश्विनों के स्थान का विभिन्न प्रकार से निर्देश हुआ है। वे सुदूर से आते है[1]। वे द्युलोक से[2], पृथिवी और द्यु से, द्युलोक और अन्तरिक्ष से[3], वायुलोक से[4], पृथिवी, द्युलोक और समुद्र से[5], वायु से, सुदूर और समीप से आते है[6]। वे द्युलोक के समुद्र पर[7], द्युलोक के सलिल पर, वनस्पति पर, गृह मे एव पर्वत के शृङ्ग[8] पर निवास करते है। वे पीछे, सामने, नीचे और ऊपर से आते है[9]। कभी-कभी अज्ञानवश उनके निवास-स्थान के विषय मे जिज्ञासा प्रकट की गई है[10]। एक स्थान पर[11] उनके तीन पदो का भी उल्लेख आया है; और यह संभवतः इसलिए कि उन्हे दिन मे तीन बार आमन्त्रित किया जाता है।

उनके आविर्भाव का काल प्राय. महत् उप काल बताया गया है; तब जबकि अभी लोहित गौओ के बीच अंधेरा बना रहता है[12]। तब वे पृथिवी पर अवतीर्ण होते और हविष् को स्वीकार करने के लिए अपना रथ जोतते है[13]। उषा उन्हे जगाती है[14]। अपने रथ मे बैठकर वे उषा का अनुसरण करते है[15]। उनके रथ

1 तेन॑ नो वाजिनीवसू परा॒वत॑श्चि॒दा ग॑तम्। ऋ० 8.5 30.
2 दि॒वश्चि॑द् रोच॒नादध्या नो॑ गन्तं स्वर्विदा॥ ऋ० 8 8 7.
3 आ नो॑ यातं दि॒वस्पर्या ऽन्तरि॑क्षादधप्रिया। ऋ० 8 8 4.
यद॒न्तरि॑क्षे यद् दि॒वि यत्पञ्च॒ मानु॑षाँ॒ अनु॑। नृ॒म्णं तद् ध॑त्तमश्विना॥ ऋ० 8.9.2.
4 आ या॑तं नहु॒षस्पर्याऽन्तरि॑क्षात्सुवृ॒क्तिभिः। ऋ० 8 8 3.
5 यत्स्थो दी॒र्घप्र॑सद्मनि॒ यद् वा॒दो रो॑च॒ने दि॒वः।
यद्वा॑ समु॒द्रे अध्याकृ॑ते गृ॒हेऽत॒ आ या॑तमश्विना॥ ऋ० 8 10 1.
6 यद॒द्य स्थः परा॒वति॒ यद॑र्वा॒वत्य॑श्विना।
यद्वा॑ पु॒रू पु॑रुभु॒जा यद॒न्तरि॑क्ष॒ आ ग॑तम्॥ ऋ० 5 73.1.
7 यद॒दो दि॒वो अ॑र्ण॒व इ॒षो वा॒ मद॑थो गृ॒हे। श्रु॒तमिन्मे॑ अमर्त्या॥ ऋ० 8 26.17.
8 यानि॒ स्थाना॑न्यश्विना द॒धाथे॑ दि॒वो य॒ह्वीष्वोष॑धीषु वि॒क्षु।
नि पर्व॑तस्य मू॒र्धनि॒ सद॒न्तेषं॒ जना॑य दा॒शुषे॒ वह॑न्ता॥ ऋ० 7.70 3.
9 आ प॒श्चाता॑न्नास॒त्या पु॒रस्ता॒दाश्वि॑नायातमध॒रादुद॑क्तात्। ऋ० 7.72 5.
10 कुह॒ त्या कुह॒ नु श्रु॒ता दि॒वि दे॒वा नास॑त्या।
कस्मि॒न्ना य॑तथो॒ जने॒ को वा॑ न॒दीना॒ सचा॑॥ ऋ० 5 74 2.
कं या॑थ. कं ह॑ गच्छथः कमच्छा॑ यु॒ञ्जाथे॒ रथ॑म्। ऋ० 5 74.3.
11 त्रीणि॑ प॒दान्य॒श्विनो॑रा॒विः सान्ति॒ गुहा॑ प॒रः। ऋ० 8 8 23.
12 कृ॒ष्णा यद् गोष्व॑रु॒णीषु॒ सीद॑द् दि॒वो नपा॑ताश्विना हु॒वे वा॑म्। ऋ० 10 61.4.
13 या सु॒रथा॑ र॒थीत॑मो॒भा दे॒वा दि॑वि॒स्पृशा॑। अ॒श्विना॒ ता ह॑वामहे॥ ऋ० 1.22 2.
14 प्र बो॑धयोषो अ॒श्विना॑। ऋ० 8 9 17.
15 नू॒वद् द॑स्रा मनो॒युजा॒ रथे॑न पृथु॒पाज॑सा। सचे॑थे अश्विनो॒षस॑म्। ऋ० 8 5.2.

जोतने पर उषा का जन्म होता है । इस प्रकार उनके आविर्भाव का काल उषस् और सूर्योदय के बीच मे प्रतीत होना है । किंतु एक बार सविता को उष काल के पूर्व ही उनका रथ चलाते हुए दिखाया गया है[1] । मौके-मौके पर अश्विनो का आविर्भाव, यज्ञाग्नि का समिन्धन, उषा का आविर्भाव और सूर्य का उदय ये सभी एकसाथ घटित होते बताए गए है[2] । अश्विनो को यज्ञ मे न केवल उनके नियत काल पर अपितु साय, प्रात, मध्याह्न और सूर्यास्त के समय भी आने के लिए निमन्त्रित किया गया है[3] । उनकी दिन के तीनो यज्ञो मे प्रार्थित उपस्थिति पर ही 'त्रि' शब्द की वह क्रीडा निर्भर है जो अश्विनो के निमित्त कहे गये एक सपूर्ण सूक्त मे 'त्रि' शब्द को बार-बार कह कर की गई है[4] । प्रात कालिक देवता होने के कारण अश्विन् अन्धकार का अपसारण करते है[5] और कभी-कभी दुरात्माओ का पीछा करते है[6] । ऐतरेय ब्राह्मण[7] मे उषस और अग्नि की तरह अश्विनो को भी प्रात काल का देवता कहा गया है, और वैदिक कर्मकाण्ड मे वे सूर्योदय के साथ सबद्ध रहते आये है[8] । शतपथ ब्राह्मण मे अश्विनो को लोहित-श्वेत वर्ण का बताया गया है, सभवत इसीलिए उन्हे लोहित-श्वेत वर्ण बकरा प्रदान किया जाता है ।

अश्विन् 'दिवो नपाता' है[9], उनमे से केवल एक को एक बार द्यु का पुन

---

1 युवोर्हि पूर्वं सवितोषसो रथमृताय चित्र घृतवन्तमिष्यति ॥ ऋ० 1 34 10

2 अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्युषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा ।
आ युंक्षातामश्विना यातवे रथ प्रासावीद्देव सविता जगत्पृथक ॥ ऋ० 1 157 1
नि चेदुच्छन्त्यश्विना उषास प्र वां ब्रह्माणि कारवो भरन्ते ।
ऊर्ध्वं भानु सविता देवो अश्रद् बृहदग्नय समिधा जरन्ते ॥ ऋ० 7 72 4.

3 ताविद् दोषा ता उषसि शुभस्पती ता यामन् रुद्रवर्तनी । ऋ० 8 22 14
उतायात सङ्गवे प्रातरह्नो मध्यदिन उदिता सूर्यस्य ।
दिवा नक्तमवसा शन्तमेन नेदानीं पीतिरश्विना ततान ॥ ऋ० 5 76 3

4 त्रिश्चिन्नो अद्या भवत नवेदसा विभुर्वां याम उत रातिरश्विना ।
युवोर्हि यन्त्र हिम्येव वाससोऽभ्यायसेन्या भवत मनीषिभि ॥ ऋ० 1 34 1. इ०

5 तमोहना तपुषो बुध्न एता । ऋ० 3 39 3

6 रक्षोहणा सम्भृता वीलुपाणी । ऋ० 7 73 4
हत रक्षांसि सेधतममीवा । ऋ० 8 35 16

7 एते वाव देवा प्रातर्यावाणो यदग्निरुषा अश्विनौ । ऐत० ब्रा० 2 15

8 श्वेत आश्विनो भवति । श्वेताविव ह्यश्विनौ ।
लोहित आश्विनो भवति तद् यदेतया यजते ॥ श० ब्रा० 5 5 4 1

9 दिवो नपाता सुकृते शुचिव्रता । ऋ० 1 182 1
नासत्या कुह चित्सन्तावर्यो दिवो नपाता सुदास्तराय । ऋ० 1 184 1

बताया गया है । एक बार उन्हे 'सिन्धु-मातरा' भी कहा गया है[1] । साथ ही एक मन्त्र[2] मे उन्हे विवस्वान् और त्वष्टा की पुत्री सरण्यू के यमल पुत्र बताया गया है । विवस्वान् और सरण्यू उदीयमान सूर्य और उषस् के प्रतिरूप प्रतीत होते है । दूसरी ओर सौर देवता पूषन् उन्हे अपना पिता मानते है[3] । उनकी बहन से उषस् का बोध होता है[4] । प्रात प्रकाश के पुरुष देवता के रूप मे वे बहुधा सूर्य के साथ सबद्ध रहते है, जिस काल की सरण्यू अथवा सूर्य की पुत्री सूर्या के रूप मे कल्पना की गई है । सूर्या के ये दो पति है[5], जिन्हे उसने वर-रूप मे चुना था[6] । सूर्या[7] या युवती[8] उनके रथ पर बैठती है । सूर्य की पुत्री उनके रथ पर बैठती है[9] या उन्हे चुनती है[10] । सूर्या को वे अपनी बनाकर रखते है[11], और एक सूर्या का उनके रथ पर बैठकर उन दोनो के साथ चलना अश्विनो की एक विशेषता है । अश्विनी नाम की देवी से सूर्या का ही बोध अपेक्षित है जिसका उल्लेख अन्य देवताओं के साथ[12] भी हुआ है । बाद के एक सूक्त[13] मे आता है कि जब सविता ने सूर्या को पति के हाथो सौंपा,

---

दिवो नपाताश्विना हुवे वाम् । ऋ० 10 61 4

1 या दस्रा सिन्धुमातरा । ऋ० 1 46 2

2 उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यू । ऋ० 10 17 2

3 यदश्विना पृच्छमानावयात त्रिचक्रेण वहतु सूर्याया ।
विश्वे देवा अनु तद् वामजानन्पुत्र पितराववृणीत पूषा ॥ ऋ० 10 85 14

4 स्वसा यद्वा विश्वगूर्ती भराति । ऋ० 1 180 2

5 येन पती भवथ सूर्याया । ऋ० 4 43 6
आ वा पतित्व सख्याय जग्मुषी योषावृणीत जेन्या युवा पती । ऋ० 1 119 5

6 युवो श्रिय परि योषावृणीत सूरो दुहिता परितक्म्यायाम् । ऋ० 7 69 4

7 आ यद्वा सूर्या रथ तिष्ठद् रघुष्यद सदा । ऋ० 5 73 5

8 आ यद्वा योषणा रथमतिष्ठद्वाजिनीवसू । ऋ० 8 8 10

9 त्रिष्ठ वा सूरे दुहिता रुहद् रथम् । ऋ० 1 34 5
आ वा रथ दुहिता सूर्यस्य कार्ष्मेवातिष्ठदर्वता जयन्ती । ऋ० 1 116 17
आ वा रथ युवतिस्तिष्ठदत्र जुष्ट्वी नरा दुहिता सूर्यस्य । ऋ० 1 118 ०
अधि श्रिये दुहिता सूर्यस्य रथ तस्थौ पुरुभुजा शतोतिम् । ऋ० 6 63 5

10 युवो रथ दुहिता सूर्यस्य सह श्रिया नासत्यावृणीत । ऋ० 1 117 13

11 प्र वा रथो मनोजवा इयर्ति तिरो रजास्यश्विना शतोति ।
अस्मभ्य सूर्यावसू इयान । ऋ० 7 68 3

12 उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट । ऋ० 5 46 8

13 सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा ।
सूर्या यत्पत्ये शसन्ती मनसा सविता ददात् ॥ ऋ० 10 85 9

तब सोम उसके वधूयु थे और अश्विन् उसके वर थे। एक अन्य मन्त्र[1] मे आया है कि देवताओ ने पूषन् को सूर्या के लिए दिया। सूर्या के साथ उनका सबन्ध होने के कारण अश्विनो को आमन्त्रित किया गया है कि वे वधू को अपने रथ पर बिठाकर उसके घर तक पहुचा देवे[2]। कुछ और देवताओ के साथ भी उनका आह्वान वधू को गर्भ ठहराने के लिए किया गया है[3]। उन्होने पुस्त्वविहीन पुरुष की पत्नी को अपत्य प्रदान किया था और वन्ध्या गौ के स्तनो मे दूध की धारा बहा दी थी[4]। उन्होने घर मे सठियाई हुई घोषा को पति और अपने प्रिय जनो मे से एक को स्त्री दी थी[5]। अथर्ववेद[6] मे कहा गया है कि वे प्रेमियो को परस्पर मिलाते है।

मूलत अश्विन् देव सूर्य के विलीन प्रकाश को उभारनेवाले, सूर्य का पुनरुद्धार करनेवाले अथवा उसकी रक्षा करनेवाले रहे होगे। ऋग्वेद मे उन्हे सहायता करनेवाले देवता माना गया है। वे त्वरित सहायक और कष्टो से उबारनेवाले है[7]। परोपकार के लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशसा की गई है। विशेषतया वे नाव या नावो के द्वारा समुद्र से पार लगाते है। समुद्र अथवा द्युलोक से धन-स्रावण के लिए भी उनका आह्वान किया गया है[8] और याद करते ही उनका रथ समुद्र से आ पहुचता है[9]। इन प्रकरणो मे समुद्र से दिव्य समुद्र अभिप्रेत है। इन्द्र की भाति न केवल समर-भूमि मे रक्षा करना अपितु सभी प्रकार के कष्टो से आर्त जनो का त्राण करना दिव्य कृपा की शान्तिमय अभिव्यक्ति है। इन्द्र के साथ भी एक बार इनका युद्ध मे सबन्ध रहा है, जहा कि इन्हे वृत्रघ्न बताया गया है। विपत्ति के सहायक होने के नाते ही वे दिव्य भिषग् भी है[10], जो अपने उपचारो से रोगो की शान्ति करते है[11] और अन्धो को फिर से दिखाते है[12]। अन्धो, बीमारो

1 य देवासो अदढु सूर्यायं। ऋ० 6 58 4
2 अश्विना त्वा प्र वहता रथेन। ऋ० 10 85 26
3 गर्भं ते अश्विना देवावा धत्तां पुष्करस्रजा। ऋ० 10 184 2
4 याभिर्धेनुमस्व१ पिन्वथो नरा ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ ऋ० 1 112 3
5 यावर्भगाय विमदाय जाया सेनाजुवा न्यूहतू रथेन। ऋ० 1 116 1
6 स चेत्तयाथो अश्विना कामिना स च वक्षथ। अथ० 2 30 2
7 याभिर्धियोऽवथ कर्मन्निष्टये ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥ ऋ० 1 112 2
क्षिप्रं वा प्रयन्ति गमिष्ठाहुविप्रासो अश्विना पुराजा। ऋ० 1 118 3
8 रयि समुद्रादुत वा दिवस्पर्यस्मे धत्त पुरुस्पृहम्। ऋ० 1 47 6
9 उरु वा रथ परि नक्षति द्यामा यत्समुद्रादभि वर्तते वाम्। ऋ० 1 43 5.
10 उत त्या दैव्या भिषजा श न करतो अश्विना। ऋ० 8.18 8
11 ताभिर्नो मक्षू तूयमश्विना गत भिषज्यत यदातुरम्॥ ऋ० 8 22 10
12 तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आ धत्त दस्रा भिषजावनर्वन्। ऋ० 1 116 16

और पंगुओं के तो वे सहारे है[1] । वे देवताओं के भिषग् हैं और उनके अमरत्व को बनाए रखने के लिए अमोघ रसायन है। वे अपने उपासकों के रोगों की चिकित्सा करते है[2] । सहायक, भिषज् एवं दस्र होने के साथ-साथ वे उदार भी है। वे अपने उपासकोको दीर्घदर्शी बना कर उन्हे वृद्धावस्था को इस तरह प्राप्त कराते है जैसेकि कोई अपने घर मे जाता है। अपने उपासकों को वे धन और अपत्यो से मालामाल कर देते है[3] ।

ऋग्वेद मे अश्विनो की सहायक शक्ति के व्यापक बहुत से उपाख्यान आते है। जरितृ एवं जहित च्यवन ऋषि को उन्होने बुढापे से उबारा था। उन्होंने इस ऋषि को दीर्घजीवी बनाया; उन्हे फिर से जवानी दी; उन्हें फिर से पत्नी का दुलारा बनाया[4] । किस प्रकार च्यवन को युवावस्था में लाया गया—इस विषय मे एक लम्बी कहानी शतपथ ब्राह्मण मे आती है। जीर्ण कलि को भी उन्होने फिर से जवान बनाया था[5] और जब उसने स्त्री ग्रहण की तब उसके साथ उन्होने अपनी मित्रता स्थापित की[6] । युवक विमद के लिए वे रथ पर बैठ कर पत्निया या पत्नी लाये; इसका नाम कमद्यू था[7]; यह पुरुमित्र की अभिजात पत्नी प्रतीत होती है[8] । उन्होने अपने उपासक कृष्णपुत्र विश्वक को खोए पशु की भाति विष्णापू के साथ मिलाया[9] । सबसे अधिक बार आनेवाली कहानी तुग्र के

1. अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्य चिद् युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित् ॥ ऋ० 10.39.3.
2. प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः । अथ० 7 53.1.
यौ देवानां भिषजौ हव्यवाहौ । विश्वस्य दूतावमृतस्य गोपौ ।
तौ नक्षत्रं जुजुषाणोपयाताम् ।
नमोऽश्विभ्यां कृणुमोऽश्वयुग्भ्याम् । तै० ब्रा० 3.1.2.11.
3. प्र वां दंसांस्यश्विनाववोचमस्य पतिः स्यां सुगवः सुवीरः ।
उत पश्यन्नश्नुवन् दीर्घमायुरस्तमिवेज्जरिमाणं जगम्याम् ॥ ऋ० 1.116.25.
आ नो विश्वान्यश्विना धत्तं राधांस्यह्रया । कृतं न ऋत्वियावतः । ऋ० 8.8.13.
4. जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवानात् ।
प्रातिरतं जहितस्यायुर्दस्रादित्पतिमकृणुतं कनीनाम् ॥ ऋ० 1.116.10.
5 युवं विप्रस्य जरणामुपेयुषः पुनः कलेरकृणुतं युवद्वयः । ऋ० 10.39.8.
6. कलिं याभिर्वित्तजानिं दुवस्यथः । ऋ० 1.112 15.
7 यावर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा न्यूहतू रथेन ।
कमद्युवं विमदायोहथुर्युवम् । ऋ० 10 65.12.
8. युवं शचीभिर्विमदाय जायां न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषाम् । ऋ० 1.117.20.
9 अवस्यते स्तुवते कृष्णियाय ऋजूयते नासत्या शचीभिः ।
पशुं न नष्टमिव दर्शनाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय ॥ ऋ० 1.116 23.

पुत्र भुज्यु को मुक्त करने की है, जो समुद्र के मध्य मे या जलवाले बादल (उदमेघे) मे फस गया था और जिसने अन्धकार मे किंकर्तव्यविमूढ होकर इन युवको का आह्वान किया था। सौ पतवारोवाली नाव के द्वारा वे उसे टापू-विहीन समुद्र मे पार ले गये थे। स्वय चलनेवाली अभेद्य नाव के द्वारा, वायु मे उड सकनेवाली नाव के द्वारा, जागरूक एव परोवाली नाव के द्वारा, शतपद और छ. घोड़ोवाले तीन रथो द्वारा, अपने उडनेवाले घोडो के द्वारा, सुयुक्त और मनोजवा रथ के द्वारा, उन्होने उसे उन्मुक्त किया था। एक मन्त्र मे आता है कि लहरो के बीच मे भुज्यु ने अपनी रक्षा के लिए एक वृक्ष को पकड लिया। शत्रुओ के द्वारा घायल होकर बाधे और छिपाये गये, दस दिन और दस रात जल मे डुबाये गये, मृत की तरह परित्यक्त ऋषि रेभ को इन देवताओ ने मुसीबतो से उबारा, और जिस प्रकार स्रुवा से सोम निकाला जाता है वैसे ही उसे भी ऊपर उठाया। उन्होने वन्दन को दारुण कष्टो से उन्मुक्त किया और उसे फिर से सूर्य का प्रकाश दिखाया[1]। उसे एक ऐसे गर्त मे से निकाला जिसमे वह मृतवत् छिपा पडा था[2], या कहिये कि उसे निर्गति से उबारा[3]। उन्होने अत्रि की सहायता की जिसे एक राक्षस ने साथियो समेत एक जलते गर्त मे गिरा दिया था। उसके लिए अश्विनो ने शीतल और शक्तिप्रद पेय दिया, ज्वालाओ से उसकी रक्षा की, और अन्ततोगत्वा उसे युवावस्था की शक्ति प्रदान की और उसे उन्होने अन्धकार से छुडाया। जहा अग्नि के लिए कहा गया है कि उन्होने अग्नि की ताप से रक्षा की वहा तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि अग्नि ने उसे अश्विनो के अनुरोध पर बचाया। अश्विनो ने एक बटेर तक को भेडिये के मुख मे से बचा दिया था।

ऋज्राश्व ने अपने पिता की 101 भेडे मार डाली थी। अत उसके पिता ने उसे अन्धा करके एक भेडिये के सामने फेंक दिया था। अश्विनो ने अपनी स्तुति सुनकर उसे दृष्टि दी[4] और उन्होने पुरावृज् के अन्धेपन और लगडेपन को दूर

युवं नरा स्तुवते कृष्णियाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय। ऋ० 1.117.7
विष्णाप्वं विश्वकायाव सृजथ.। ऋ० 10 65 12

1. उद् वन्दनमैरयत स्वर्दृशे। ऋ० 1 112 5
यद्विद्वांसा निधिमिवापगूळ्हमुद्दर्शतादूपथुर्वन्दनाय। ऋ० 1.116 11
शुभे रुक्मं न दर्शतं निखातमुदूपथुरश्विना वन्दनाय। ऋ० 1 117 5
उद्वन्दनमैरयतं दंसनाभिः। ऋ० 1 118 6
2. युवं वन्दनमृश्यदादुदूपथुः। ऋ० 10 39 8
3. प्र दीर्घेण वन्दनस्तार्यायुषा। ऋ० 1 119 6
युवं वन्दनं निर्ऋतं जरण्यया रथं न दस्रा करणा समिन्वथः। ऋ० 1.119 7.
4. शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार।

किया[1]। जब विश्पला की टांग पक्षी के पर की भांति युद्धस्थल में कट गई तब अश्विनों ने उसे एक लोहे की टांग दी। पिता के घर में ही बूढ़ी हुई घोषा का उन्होंने एक सत्पति के साथ विवाह कराया[2]। एक पुंस्त्वहीन पुरुष की स्त्री को हिरण्यहस्त नाम का पुत्र दिया[3], जिसे एक बार श्याव भी कहा गया है[4]। शयु की गौ को, जिसने कि गर्भ धारण करना बन्द कर दिया था, उन्होंने दूध की धारा दी[5]। पेदु को उन्होंने एक घोड़ा दिया, जो शीघ्रगामी, शक्तिशाली, श्वेत, अद्वितीय, राक्षस-हन्ता एवं इन्द्र के द्वारा प्रचोदित था, और जिसने पेदु के लिए अपरिमित लूट की सामग्री प्राप्त की थी[6]। एक शक्तिशाली घोड़े के सुम में से शत घड़े सुरा या मधु, मानो छलनी में से, बहाकर पज्र कुल के कक्षीवत को उन्होंने आनन्द में सराबोर कर दिया था[7]। उनका एक बड़ा भारी काम मधु के साथ सम्बद्ध है। अथर्वन् के पुत्र दध्यञ्च् के ऊपर उन्होंने घोड़े का सिर रखा; तब उसने त्वष्टा के मधु का उन्हें स्रोत बतलाया। उपर्युक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त और बहुत से व्यक्तियों का भी ऋग्वेद में उल्लेख हुआ है जिन्होंने अश्विनों से सहायता प्राप्त की अथवा उनके साथ मित्रता स्थापित की। इनमें से बहुसंख्यक तो वास्तविक व्यक्तियों के नाम हो सकते हैं, जो उक्त प्रकारों से बचाये गये एवं अच्छे किये गये होंगे। उनकी रक्षा और

तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन् ॥ ऋ० 1.116.16.
शतं मेषान्वृक्ये मामहानं तमः प्रणीतमशिवेन पित्रा।
आक्षी ऋज्राश्वे अश्विनावधत्तं ज्योतिरन्धाय चक्रथुर्विचक्षे ॥ ऋ० 1.117.17.
शुनमन्धाय भरमह्वयत्सा वृकीरश्विना वृषणा नरेति।
जारः कनीन इव चक्षदान ऋज्राश्वः शतमेकं च मेषान् ॥ ऋ० 1.117.18.

1 याभिः शचीभिर्वृषणा परावृजं प्रान्धं श्रोणं चक्षस एतवे कृथः। ऋ० 1.112.8.

2 घोषायै चित्पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्। ऋ० 1.117.7.
युवां ह घोषा पर्यश्विना यती राज्ञ ऊचे दुहिता पृच्छे वां नरा। ऋ० 10.40.5.

3 श्रुतं तच्छासुरिव वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम्। ऋ० 1.116.13.
हिरण्यहस्तमश्विना रराणा पुत्रं नरा वध्रिमत्या अदत्तम्। ऋ० 1.117.24.
श्रुतं हवं वृषणा वध्रिमत्याः। ऋ० 6.62.7
युवं हवं वध्रिमत्या अगच्छतम्। ऋ० 10.39.7

4 श्यावाय पुत्रं वध्रिमत्या अजिन्वतम्। ऋ० 10.65.12

5 शयवे चिन्नासत्या शचीभिर्जसुरये स्तर्यं पिप्यथुर्गाम् ॥ ऋ० 1.116.22.

6 यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।
तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः ॥ ऋ० 1.116.6.

7. कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः। ऋ० 1.116.7.
शफादश्वस्य वाजिनो जनाय शतं कुम्भाँ असिञ्चतं मधूनाम्। ऋ० 1.117.6.

आरोग्य का कारण अश्विन् देवताओं को समझा गया होगा, जोकि दिव्य रक्षक और दैवी भिषक् होने के कारण अनायास ही अचरज-भरे कामोंवाली कहानियों के साथ सबद्ध हो गये होंगे। वेर्गेन और अन्य विद्वानों का यह कहना कि अश्विनों से सबद्ध सभी आश्चर्यमय कार्य सौर दृश्य एव घटनाओं के मानवीय प्रतिरूप है (जैसेकि अन्धे को दृष्टि दान का तात्पर्य है सूर्य को अन्धकार से उवारना), हलका जचता प्रतीत होता है। किंतु सभव है कि अत्रि-कथा का विलीन सूर्य की पुन प्राप्तिरूप घटना के साथ सबन्ध पक्का रहा हो।

अश्विनों के भौतिक आधार के सबन्ध मे ऋषियों की भाषा इतनी अधिक अस्पष्ट है कि प्रतीत होता है कि वे स्वय भी इस बात को न समझ पाये हों कि इन दोनों देवताओं का आधार कौनसा भौतिक दृश्य है। प्रात काल के अन्य देवताओं का—जैसेकि रात्रिनाशक अग्नि, प्राणबोधक उषस् और उदीयमान सूर्य-आह्वान अपेक्षाकृत अधिक रोचक ढग से किया गया है। इन देवताओं को 'घोडे रखनेवाला' (अश्विन्) इसलिए कहा गया होगा कि घोडे, किरणों के—विशेषत सूर्य की किरणों के—प्रतीक हैं। किंतु असल मे वे किसके प्रतिरूप हैं इस समस्या का समाधान तो यास्क के परिचित व्याख्याकारों के लिए भी दुर्लभ हो चुका था। यास्क ने (निरुक्त मे)[1] लिखा है कि कुछ लोग उन्हे द्यु और पृथिवी (जैसाकि शतपथ ब्राह्मण[2] मे भी कहा गया है) मानते है, कुछ—दिन रात्रि, कुछ सूर्य-चन्द्रमा, जबकि ऐतिहासिक उन्हे धार्मिक कार्य करनेवाले दो राजा मानते हैं।

यास्क का अपना मत स्पष्ट नही है। रॉथ के विचार से यास्क का तात्पर्य इन्द्र और सूर्य से है, गोल्डस्टुकर के विचार से उनका तात्पर्य तमस् और प्रकाश के बीच की अवस्था से है। यह अवस्था एक द्वैत को प्रस्तुत करती है जो उनके युगल स्वरूप का सजातीय है। यही मेरियान्थियस और हॉप्किंस का भी मत है। हॉप्किंस की दृष्टि मे यह सभव प्रतीत होता है कि अपृथक्त्वेन सबद्ध यह युगल उप काल के पूर्ववर्ती धुंधले प्रकाश का प्रतिरूप रहा हो, जो प्रकाश कि आधा अन्धकार और आधा प्रकाश होता है, और इसलिए अश्विनों मे से केवल एक को द्यौस् का पुत्र कहा गया है। अन्य विद्वानों के मत मे अश्विनों का तादात्म्य सूर्य-चन्द्र के साथ है। मानहार्ट और बोलासिन का अनुसरण करते ओल्डेनबेर्ग इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि अश्विनों का भौतिक आधार सुबह का तारा रहा होगा, क्योंकि अग्नि, उषा और सूर्य के अतिरिक्त यही एक दूसरा "प्रात प्रकाश" है। अश्विनों का काल, उनका प्रकाशमय स्वरूप, उनके द्वारा की जानेवाली द्युलोक-परिक्रमा, इस मत

1 द्यावापृथिव्यावित्येके। अहोरात्रावित्येके। सूर्याचन्द्रमसावित्येके। राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिका। नि० 12 1.

2 अथ यदश्विनाविति इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षम्। शत० ब्रा० 4.1.5 16

मे ठीक बैठते हैं, किंतु उनका द्वित्व फिर भी अव्याख्यात ही रह जाता है।

सायकालीन तारे के साथ प्रात कालिक तारे की याद स्वाभाविक है, किंतु ये दोनो तारे पृथक्-पृथक् है जबकि अश्विन् देवता युग्म मे चलते हैं। किंतु ऋग्वेद के एक दो मन्त्रो मे अश्विन् देवता पृथक पृथक् भी आते है। और यद्यपि वैदिक उपासना मे प्रात काल का अपना अनूठा ही महत्त्व है—जबकि सायकाल का महत्त्व नही के बराबर है[1]—तथापि अश्विनो का आह्वान यत्र-तत्र[2] प्रात और साय दोनो वेलाओ मे हुआ है। चौस् के पुत्र अश्विनो जैसे—जो अपने घोडो पर बैठकर आकाश के छोर तक जाते है और जिनके एक बहन है, देवता ग्रीक गाथा मे जीअस् के पुत्र, हेलेना के भाई दो प्रसिद्ध घुडसवार है और लैट्टिक ईश्वर के दो पुत्र है, जो अपने घोडो पर चढकर सूर्य की पुत्री को अपने लिए या चन्द्रमा के लिए व्याहने आते है। लैट्टिक गाथा मे सुवह के तारे के विषय मे कहा गया है कि वह सूर्य की पुत्री को देखने के लिए आया। जैसे दो अश्विनो ने एक सूर्या का व्याहा था, वैसे ही दो लैट्टिक ईश्वर-पुत्रो ने एक सूर्य सुता से शादी की थी। वे भी समुद्र से लघानेवाले और सूर्य को या उनकी पुत्री को उन्मुक्त करनेवाले हैं। यदि यह बात सत्य है तो अश्विनो का रक्षक स्वरूप सुवह के तारे के उस पक्ष से उद्भूत हुआ होगा, जिसमे कि वह अन्धकार के कष्ट से उन्मुक्ति का अग्रदूत बन कर आता है। वेवर के मत मे अश्विन् जेमिनी तारामण्डल के युगल तारों के प्रतिरूप हैं। अन्त मे, गेल्डनर का कहना है कि अश्विन् किसी भी प्राकृतिक दृश्य के प्रतिरूप नही है, अपितु ये दोनो देवता सहायता करनेवाले भारत के अपने दो सत है।

'धुधला प्रकाश' और 'सुवह का तारा' इन दोनो के धरातल पर इन देवताओ की उत्पत्ति मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। कुछ भी हो यह सभव है कि अश्विन् देवता स्वरूप से (चाहे नाम से नही) भायोरपीय काल के देवता हैं।

अन्तरिक्षस्थ देवता

इन्द्र (§ 22)—

इन्द्र वैदिक भारतीयो के प्रियतम राष्ट्रिय देवता हैं। उनकी महत्ता इसी तथ्य से लक्षित है कि ऋग्वेद म लगभग 250 सूक्त उनका गुणगान करने के लिए कहे गये हैं। यह सख्या अन्य किसी भी देवता के निमित्त कहे गये सूक्तो की सख्या

---

1 प्रातर्यजध्वमश्विना हिनोत न सायमस्ति देवया अजुष्टम्। ऋ० 5 77 2

2 ताविद्दोषा ता उषसि शुभस्पती ता यामन् रुद्रवर्तनी। ऋ० 8 22 14
यो वां परिज्मा सुवृदश्विना रथो दोषामुषासो हव्यो हविष्मता। ऋ० 10 39 1
युवं मृगेव वारणा मृगण्यवो दोषा वस्तोर्हविषा नि ह्वयामहे। ऋ० 10.40 4.

से अधिक है, और सकल ऋग्वेद के सूक्तो की सख्या का लगभग चतुर्थांश है। और यदि उन सूक्तो को भी ले लिया जाय जिनके एक अश मे इन्द्र का स्तवन हुआ है या जिनमे वे किसी अन्य देवता के साथ आये है तो यह सख्या 300 के आस पास पहुच जाती है। इन्द्र का नाम भारत ईरानी-काल की देन हे। इन्द्र का अर्थ अनिश्चित है, इस से किसी भी प्राकृतिक दृश्य का बोध नही होता। फलत इन्द्र का स्वरूप अत्यन्त मानवीय बनकर गाथात्मक कल्पना से चमचमा उठा है। सचमुच उनका मानवीय विकास अन्य किसी भी वैदिक देवता की अपेक्षा अधिक निखरा हुआ है। और सच पूछिये तो उनके स्वरूप का लक्ष्यार्थ पर्याप्त रूप से स्पष्ट है। प्रथमत वे विद्युत् के देवता हैं। अवर्षा और अन्धकार के राक्षसो पर विजय पाना और इसके परिणाम-स्वरूप जल को प्रवाहित करना अथवा प्रकाश का प्रसार करना उनके स्वरूप के गाथात्मक तत्त्व हैं। गौणरूप से इन्द्र युद्ध के देवता है और वे भारत के आदि-वासियो के ऊपर विजय प्राप्त करने मे आर्यो का सहायता करते रहे है।

वे मध्यम लोक के प्रधान देवता है। वे वायु मे व्याप्त हैं[1]। निघण्टु ने उन्हे केवल मध्यस्थानीय देवताओ मे गिना है। वे अग्नि, इन्द्र (या वायु), सूर्य की त्रयी मे वायु के प्रतिनिधि हैं।

इन्द्र की अनेक शारीरिक विशेषताओ का उल्लेख हुआ है। उनके शरीर, शिर, भुजाए और हाथ है। उनकी सोम पान शक्ति के वर्णन के प्रसङ्ग मे उनके उदर का निरूपण किया गया है[2]। सोम पान के पश्चात् उनके उदर की तुलना एक ह्रद से की गई है[3]। उनके शिप्र को बहुधा लक्षित किया गया है, सुशिप्र या शिप्रिन् विशेषण बहुसख्या मे उन्ही के लिए आये है। सोम-पान के उपरान्त वे अपने जबडे पीसने लगते है। जब वे मदमत्त हो आगे बढते है तब उनकी मूछें ताव के साथ हिलती है[4]। उन्हे हरिकेश[5] और हरिश्मश्रु कहा गया है[6]। उनका शरीर

1 अभीमवन्वन् स्वभिष्टिमूतयोऽन्तरिक्षप्रां तविषीभिरावृतम्।
इन्द्रं दक्षास ऋभवो मदच्युतं शतक्रतुं जवनी सूनृतारुहत्॥ ऋ० 1 51 2

2 यस्मादिन्द्राद् बृहत किं चनेमृते विश्वान्यस्मिन् सम्भृताधि वीर्या।
जठरे सोमं तन्वी सहो महो हस्ते वज्रं भरति शीर्षणि क्रतुम्॥ ऋ० 2 16 2

3 ह्रदा इव कुक्षय सोमधाना। ऋ० 3 36 8

4 उभे चिदिन्द्र शूर मन्दसानस्त्रिबंधुकेषु पाहि सोममिन्द्र।
प्र दोधुवच्छ्मश्रुषु प्रीणानो याहि हरिभ्या सुतस्य पीतिम्॥ ऋ० 2 11 17
प्र श्मश्रु दोधुवदूर्ध्वथा भूद्वि सेनाभिर्दयमानो वि राधसा। ऋ० 10 23 1

5 त्वं त्वमहर्यथा उपस्तुत पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभि। ऋ० 10 96 5
हरिश्मशारुर्हरिकेश आयस। ऋ० 10 96 8

6 इन्द्र श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते। ऋ० 10 23 4

हरित है। इन्द्र-विषयक एक सूक्त मे आद्योपान्त हरि शब्द के साथ शब्द-क्रीडा की गई है। कभी-कभी उन्हे हिरण्यवर्ण बताया गया है[1]। हिरण्यबाहु[2] और आयस-हस्त विशेषणो का प्रयोग भी हुआ है। उन्ही के लिए आये[3] वज्रबाहु शब्द द्वारा तो उनका स्मरण बहुधा आया है। विशेषतया उनकी बाहे आजानु लम्बी[4], महान् शक्ति-शाली एव सुडौल है। उनके मनमोहक रूप मे सूर्य की लोहित प्रभा चमचमाती है[5]। वे जैसा चाहे बन जाते है[6]।

वज्र तो निरपवाद उनका अपना अस्त्र है। विद्युत् की कडक ही गाथात्मक रूप मे वज्र कहाती है। बहुधा वर्णन आता है कि वज्र को उनके लिए त्वष्टा ने बनाया था[7], किंतु साथ ही यह भी आता है कि उशना ने इसे बनाकर इन्द्र को अर्पित किया था[8]। ऐतरेय ब्राह्मण[9] के अनुसार देवताओ ने ही इन्द्र को वज्र दिया था। यह पानी से आवृत होकर समुद्र मे रहता है। इसका स्थान सूर्य के नीचे है[10]। साधारणतया इसे आयस बताया गया है[11], किंतु कभी-कभी हिरण्यय[12], हरित[13],

---

1 इन्द्रो वज्री हिरण्ययः । ऋ० 1 7.2.

2 इन्द्रो न वज्री हिरण्यबाहुः । ऋ० 7 34 4

3 येन शुष्णं मायिनमायसो मदे दुध्र आभूषु रामयन् नि दामनि । ऋ० 1 56 3.
सुदद्धि हरिशिप्रो य आयसः । ऋ० 10 96 4.

4 पृथू करस्ना बहुला गभस्ती । ऋ० 6 19 3
यून ऊर्ध्वं हवामहे सुप्रकरस्नमूतये । ऋ० 8 32 10

5. हरित्वता वर्चसा सूर्यस्य श्रेष्ठै रूपैस्तन्वं स्पर्शयस्व ।
अस्माभिरिन्द्र सखिभिर्हुवानः ।
सध्रीचीनो मादयस्वा निषद्य ॥ ऋ० 10.112.3

6 यथावशं तन्वं चक्र एषः । ऋ० 3 48 4
रूपंरूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम् । ऋ० 3 53 8
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । ऋ० 6 47 18

7 त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष । ऋ० 1 32 2.

8 यं ते काव्य उशना मन्दिनं दाद् वृत्रहणं पार्यं ततक्ष वज्रम् । ऋ० 1 121.12.
सहस्रभृष्टिमुशना वधं यमत् । ऋ० 5 34 2

9 देवा वै प्रथमेनाह्नेन्द्राय वज्रं समभरन् । ऐत० ब्रा० 4.1.

10 अयं यो वज्रः पुरुधा विवृत्तोऽवः सूर्यस्य बृहतः पुरीषात् । ऋ० 10 27.21

11 अयच्छथा बाह्वोर्वज्रमायसमधारयो दिव्या सूर्यं दृशे । ऋ० 1.52 8.

12 इन्द्रस्य वज्रः श्नथिता हिरण्ययः । ऋ० 1 57 2.

13 हर्यश्वो हरितं धत्त आयुधमा वज्रं बाह्वोर्हरिम् । ऋ० 3 44.4.
सो अस्य वज्रो हरितो य आयसः । ऋ० 10 96 3.

या अर्जुन[1] बनकर भी यह सामने आता है। यह चतुष्कोण है[2], शतकोण है, शत-पर्व है[3], और सहस्र-भृष्टि[4] है। यह निशित है[5] और वह भी चाकू से अधिक; जैसे सांड अपने सींगों को घिसकर तेज करता है वैसे ही इन्द्र भी इसे पैनाते है[6]। इसका उल्लेख अश्मन् या पर्वत की भांति हुआ है[7]। इन्द्र के वज्र की उपमा आकाशस्थ सूर्य से दी गई है। वज्र शब्द से बने अथवा उसके साथ समस्त होकर बने विशेषणों का प्रयोग इन्द्र ही तक सीमित है; वज्रभृत्, वज्रवत्, वज्र-दक्षिण विशेषण निरपवाद उन्ही के लिए आये है। किंतु वज्र-बाहु या वज्र-हस्त और इन सबसे भी अधिक प्रचलित वज्रिन् रुद्र, मरुद्गण और मन्यु के लिए भी क्रमशः एक-एक बार आये है।

कभी-कभी इन्द्र धनुष और बाण हाथ मे लेकर सामने आते हैं[8]। इनके इषु स्वर्णिम हैं, सहस्रभृष्टि है और हजारों परोंवाले है। इन्द्र के पास एक अङ्कुश भी है जिससे वे धन बांटते है[9] और जिसका प्रयोग वे कभी-कभी शस्त्र के रूप मे भी करते है[10]। उनके पास एक जाल भी है, जिससे वे अपने सभी शत्रुओं को पराजित कर देते है[11]।

---

1. इन्द्रो हर्यन्तमर्जुनं वज्रं शुक्रैरभीवृतम् । ऋ० 3 44 5.
2. वृषा वृषन्धिं चतुरश्रिमस्यन् । ऋ० 4 22 2.
3. वज्रेण शतपर्वणा । ऋ० 8 6.6
4. अभ्येनं वज्र आयसः सहस्रभृष्टिरायत । ऋ० 1.80.12.
5. तिग्मं तस्मिन्नि जहि वज्रमिन्द्र । ऋ० 7.18.18.
6. वावृधानो वज्रमिन्द्रो गभस्त्योः क्षद्मेव तिग्ममसनाय सं श्यत् । ऋ० 1.130.4.
   शिशीते वज्रं तेजसे न वंसगः । ऋ० 1.55.1.
7. प्र वर्तय दिवो अश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि ।
   प्राक्तादपाक्तादधरादुदक्तादभि जहि रक्षसः पर्वतेन ॥ ऋ० 7.104.19.
8. आ बुन्दं वृत्रहा ददे । ऋ० 8 45.4.
   तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा । ऋ० 10.103 2.
   स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन ।
   संसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ऋ० 10.103.3
9. दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि । यजमानाय सुन्वते । ऋ० 8.17.10.
   यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः । अथ० 6 82.3.
10. इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः । ऋ० 10.44.9.
11. अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः ।
   तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ अथ० 8 8.5.
   बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः ।

इन्द्र एक सुनहरे रथ पर चलते हैं। इसकी गति विचार से भी कहीं अधिक तेज है[1]। रथेष्ठा विशेषण निरपवाद रूप से इन्द्र के लिए ही आया है। उनके रथ को दो हरे घोड़े खींचते हैं। 'हरी' इस पद का प्रयोग बहुतायत से हुआ है; और बहुसंख्यक स्थलों पर इसका अर्थ इन्द्र के घोड़े हैं। कतिपय मन्त्रों में इनकी संख्या दो से लेकर शत, सहस्र, या ग्यारह शत तक बताई गई है[2]। ये घोड़े 'सूर्य-चक्षसः' हैं[3]। वे अपने जबड़ों को चपचपाते एवं हिङ्कार करते हैं[4]। वे लहराती अयालवाले[5] अथवा हिरण्यवर्ण केशवाले हैं[6]। उनके बाल मयूर के परों जैसे या मयूर-पुच्छ की तरह के हैं[7]। वे झटपट लम्बा रास्ता तै कर डालते हैं और

तेन शत्रूनभि सर्वान्न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥ अथ० 8.8.6.
बृहत्ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य ।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया ॥ अथ० 8.8.7.
अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान् ।
तेनाहमिन्द्र जालेनामूँस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥ अथ० 8.8.8.

1. यस्ते रथो मनसो जवीयानेन्द्र तेन सोमपेयाय याहि । ऋ० 10.112.2.
2. आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः ।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः ॥ ऋ० 2.18.4.
आ विंशत्या त्रिंशता याह्यर्वाङा चत्वारिंशता हरिभिर्युजानः ।
आ पञ्चाशता सुरथेभिरिन्द्रा षष्ट्या सप्तत्या सोमपेयम् ॥ ऋ० 2.18.5.
आशीत्या नवत्या याह्यर्वाङा शतेन हरिभिरुह्यमानः ।
अयं हि ते शुनहोत्रेषु सोम इन्द्र त्वाया परिषिक्तो मदाय ॥ ऋ० 2.18.6. आदि०
आ वां सहस्रं हरय इन्द्रवायू अभि प्रयः ।
वहन्तु सोमपीतये । ऋ० 4.46 3.
युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश । ऋ० 6.47.18.
ये ते सन्ति दशग्विनः शतिनो ये सहस्रिणः ।
अश्वासो ये ते वृषणो रघुद्रुवस्तेभिर्नस्तूयमा गहि ॥ ऋ० 8.1.9.
आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये ।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥ ऋ० 8.1.24.
3. आ त्वा वहन्तु हरयो वृषणं सोमपीतये । इन्द्र त्वा सूरचक्षसः ॥ ऋ० 1.16.1.
4. शश्वदिन्द्रः पोप्रुथद्भिर्जिगाय नानदद्भिः शाश्वसद्भिर्धनानि ॥ ऋ० 1.30.16.
5. युक्ष्वा हि केशिना हरी । ऋ० 1.10.3.
6. हरी हिरण्यकेश्या । ऋ० 8.32 29.
7. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः । ऋ० 3 45 1.
आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या । ऋ० 8 1.25.

इन्द्र को वे वैसे ही ले जाते है जैसे कि श्येन के पर श्येन पक्षी को[1]। ये घोडे स्तुतियो द्वारा जोते जाते है[2], जिसका अर्थ यह हुआ कि इन्द्र को यज्ञ मे आह्वानो द्वारा लाया जाता है। जहा-तहा यह भी आया है कि इन्द्र को सूर्य के घोडे ले जाते है[3] अथवा उन्हे वायु के घोडे[4] ले जाते है। इन्द्र वायु के सारथि है[5], अथवा रथ पर बैठे वे उनके साथी है[6]। इन्द्र के रथ और घोडो को ऋभुओ ने बनाया था[7]। एक बार कहा गया है कि इन्द्र को स्वर्णिम कशा दी गई थी[8]।

यो तो सारे ही देवता सोम के अभिलाषी है[9]। पर इन्द्र की सोम-लिप्सा तो सर्वोपरि है[10]। सोम पीने के लिए उन्होने इसकी चोरी तक कर डाली थी[11]। क्या देव और क्या मानव कोई भी उन जैसा सोम-पाता नही है[12]। इस बात मे उनकी बराबरी यदि कोई कर पाता है तो वह है वायु। सोम इन्द्र का प्रियतम पेय है[13]। बहुतायत से आनेवाला सोमपा या सोमपावन विशेषण उनका अपना है, फिर भी इसका प्रयोग कुछेक बार अग्नि और बृहस्पति के लिए (जबकि वे इन्द्र के साथ

1. न क्षोणीभ्यां परिभ्वे त इन्द्रियं न समुद्रैः पर्वतैरिन्द्र ते रथः।
न ते वज्रमन्वश्नोति कश्चन यदाशुभिः पतसि योजना पुरु ॥ ऋ० 2 16 3.
आ त्वा मदच्युता हरी श्येनं पक्षेव वक्षतः। ऋ० 8.34 9.
2. हरी नु कं रथ इन्द्रस्य योजमायै सूक्तेन वचसा नवेन। ऋ० 2 18 3
3. अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा। ऋ० 10 49.7
4 युजानो अश्वा वातस्य धुनी देवो देवस्य वज्रिवः। ऋ० 10.22 4
त्वं त्या चिद्वातस्याश्वागा ऋज्रा त्मना वहध्यै। ऋ० 10 22 5
5 शतेना नो अभिष्टिभिर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः। वायो सुतस्य तृम्पतम् ॥ ऋ० 1 46 2.
नियुवाणो अशस्तीर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथिः।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥ ऋ० 4 48 2
6 या वां शतं नियुतो याः सहस्रमिन्द्रवायू विश्ववाराः सचन्ते। ऋ० 7 91 6
7. तक्षन् रथं सुवृतं विद्मनापसस्तक्षन हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू।
तक्षन् पितृभ्यामृभवो युवद्वयः ॥ ऋ० 1 111 1
अनवस्ते रथमश्वाय तक्षन्। ऋ० 5 31 4
8. घृर्पणस्ते अभीशवो वृषा कशा हिरण्ययी। ऋ० 8 33 11
9. इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। ऋ० 8 2 18
10 अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय। ऋ० 1 104.9
11. त्वष्टारमिन्द्रो जनुषाभिभूयाऽऽमुष्या सोममपिबच्चमूषु। ऋ० 3 48 4
आमुष्या सोममपिबच्चमू सुतम्। ऋ० 8 4 4
12, इन्द्र इत्सोमपा एक इन्द्रः सुतपा विश्वायुः। अन्तर्देवान्मर्त्यांश्च। ऋ० 8.2 4.
13. इदं ते अन्नं युज्यं समुक्षितं तस्येहि प्र द्रवा पिब। ऋ० 8 4 12

सवद्ध होते हैं), भी हुआ है, और केवल एक बार वायु के लिए अकेले। सोम के विषय मे उल्लेख आता है कि वह इन्द्र को पृथिवी और आकाश को धारण करने अथवा पृथिवी को विस्तृत बनाने के लिए उत्तेजित करता है[1]। किंतु बहुधा यह उन्हे अपेक्षाकृत निम्न कोटि के कार्यो के सपादन के लिए मद-मत्त बनाता है; उदाहरणार्थ—वृत्र-वध जैसे सामरिक कार्य के लिए[2] और शत्रुओ पर विजय पाने के लिए[3]। इन्द्र के लिए सोम-पान इतना अधिक आवश्यक है कि जिस दिन वे जन्मे थे उसी दिन उनकी माता ने उन्हें पीने के लिए सोम दिया था, अथवा उन्होने स्वय ही सोम-पान कर लिया था[4]। वृत्र-वध के लिए तो उन्होंने तीन ह्रदो का सोम पी डाला था[5]। कहा तो यहा तक गया है कि उन्हो ने एक ही घूट मे तीस ह्रदो का पेय पी डाला था। एक सकल सूक्त मे[6]—जो कि स्वगत भाषण के रूप मे है—इन्द्र सोम

1. अवंशे द्यामस्तभायद् बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ऋ० 2.15.2.
2 अस्य मदे अहिमिन्द्रो जघान। ऋ० 2.15.1.
अस्य मन्दानो मध्वो वज्रहस्तोऽहिमिन्द्रो अर्णोवृतं नि वृश्चत्। ऋ० 2 19 2.
स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु॥ ऋ० 6.47.1.
अयं स्वादुरिह मदिष्ठ आस यस्येन्द्रो वृत्रहत्ये ममाद।
पुरूणि यश्च्यौत्ना शम्बरस्य वि नवतिं नव च देह्यो३ हन्॥ ऋ० 6 47.2.
3 किमस्य मदे किम्वस्य पीताविन्द्रः किमस्य सख्ये चकार।
रणा वा ये निषदि किं ते अस्य पुरा विविद्रे किमु नूतनासः॥ ऋ० 6 27.1.
यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि। ऋ० 7.22.2.
आ नो भर दक्षिणेनाऽभि सव्येन प्र मृश। ऋ० 8.81 6.
4 यज्जायथास्तदहरस्य कामेऽंशोः पीयूषमपिबो गिरिष्ठाम्।
तं ते माता परि योषा जनित्री महः पितुर्दम आसिञ्चदग्रे॥ ऋ० 3 48 2.
उपस्थाय मातरमन्नमैट्ट तिग्ममपश्यदभि सोममूधः। ऋ० 3 48 3.
अद्रोघ सत्यं तव तन्महित्वं सद्यो यज्जातो अपिबो ह सोमम्। ऋ० 3 32 9.
त्वं सद्यो अपिबो जात इन्द्र मदाय सोमं परमे व्योमन्। ऋ० 3 32.10.
अस्य पिब यस्य जज्ञान इन्द्र मदाय क्रत्वे अपिबो विरप्शिन्। ऋ० 6.40.2
जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच।
एन्द्र पप्राथोर्वन्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ॥ ऋ० 7.98.3.
5 त्री साकमिन्द्रो मनुषः सरांसि सुतं पिबद् वृत्रहत्याय सोमम्। ऋ० 5 29 7.
पूषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन् वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै। ऋ० 6 17.11
6. इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति। कुवित्सोमस्यापामिति। ऋ० 10.119.1.

पीने के उपरान्त आनेवाले सवेगो का वर्णन करते है। किंतु जैसे अत्यधिक सोम-पान मनुष्य को ग्लान कर देता है, उसी प्रकार स्वय इन्द्र भी सोम पान के सीमातीत व्यसन के कारण कष्ट झेलते है और तब उन्हे देवगण सौत्रामणि यज्ञ द्वारा अच्छा करते है। इन्द्र मधु मिश्रित दूध भी पीते है[1]।

साथ ही वे बैल का मास भी खा जाते है[2]—एक बैल का[3], बीस बैलो का[4] या सौ भैसो का[5], या अग्नि मे भुने हुए 300 भैसो को[6] वे खा जाते है। यज्ञ मे तो वे अपूप[7] और धाना[8] खाते है। धाना तो उनके घोडो का भी प्यारा दाना है[9]।

इन्द्र के विषय मे बहुधा आता है कि उन्हो ने जन्म लिया। दो सपूर्ण सूक्तो मे उनके जन्म का विवरण दिया गया है[10]। एक बार कहा गया है कि उनकी इच्छा होती है कि वे अस्वाभाविक ढग से उत्पन्न हो, सीधे अपनी माता की कोख से नही[11]। यह बात सभवत बादल के छोरो मे विद्युत् चमकने की घटना से सबद्ध हो। उत्पन्न होते ही वे आकाश को प्रकाशित कर देते हैं[12]। उत्पन्न होते ही वे सूर्य के

1 मध्वा सपृक्ता सारघेण धेनवस्तूयमेहि द्रवा पिब। ऋ० 8 4 8
2 पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन् हूयमान। ऋ० 10 28 3
3. अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं नि षिञ्चम्। ऋ० 10 27 2
4 उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्। ऋ० 10 86 14
5 पचच्छत महिषाँ इन्द्र तुभ्यम्। ऋ० 6 17 11
6 सखा सख्ये अपचत्तूयमग्निरस्य क्रत्वा महिषा त्री शतानि। ऋ० 5 29 7
7 अपूपमद्धि सगणो मरुद्भि सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्। ऋ० 3 52 7
प्रति धाना भरत तूयमस्मै पुरोळाशं वीरतमाय नृणाम्। ऋ० 3 52 8
8, दिवेदिवे सदृशीरद्धि धाना। ऋ० 3 35 3
धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्... ऋ० 3 43 4
धानावदिन्द्र सवन जुषाण सखा सख्यु शृणवद् वन्दनानि। ऋ० 3 43 4
इमा धाना घृतस्नुवो हरी इहोप वक्षत। इन्द्रं सुखतमे रथे। ऋ० 1 16 2
9 कृता धाना अत्तवे ते हरिभ्याम्। ऋ० 3 35 7
हरिवते हर्यश्वाय धाना। ऋ० 3 52 7
10 सद्यो ह जातो वृषभ कनीन प्रभर्तुमावदन्धस सुतस्य।
साधो पिब प्रतिकाम यथा ते रसाशिर प्रथम सोम्यस्य॥
ऋ० 3 48 1 आदि

अयं पन्था अनुवित्त पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे।
अतश्चिदा जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे क ॥ ऋ० 4 18 1 आदि पू सू
11 नाहमतो निरया दुर्गहैतत् तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि। ऋ० 4 18 2
12. जज्ञानो हरितो वृषा विश्वमा भाति रोचनम्। ऋ० 3 44 4

चक्र को गति देते हैं[1]। उत्पन्न होते ही वे अजेय योद्धा बन जाते हैं[2] और जन्म-काल से ही वे निर्बाध-गति हैं[3]। उनके उत्पन्न होने पर अचल पर्वत, द्युलोक और पृथिवी कांपने लगते हैं[4]। उनके जन्म लेने पर द्यावा-पृथिवी कम्पित हो उठे[5] और सभी देवता भयभीत हो गए। उनकी माता का उल्लेख जहां-तहां हुआ है। एक बार उसे (गृष्टि) गौ कहा गया है[6] और इन्द्र को उसका बछड़ा। उन्हें गार्ष्टेय वृषभ भी कहा गया है[7]। एक बार उन्हें निष्टिग्री का पुत्र बताया गया है[8]। सायणाचार्य के अनुसार निष्टिग्री अदिति का विशेषण है। अथर्ववेद[9] के अनुसार अग्नि और इन्द्र की माता एकाष्टका है जो प्रजापति की पुत्री है। इन्द्र के पिता वे ही हैं जो अग्नि के[10]। वे अग्नि, द्यौस् और पृथिवी के पुत्र हैं। ऋग्वेद[11] की एक व्याख्या के अनुसार इन्द्र के पिता—जिन का वहां दो बार उल्लेख हुआ है, द्यौस् है। इसी प्रकार का निष्कर्ष इन्द्रसूक्त के उस मन्त्र[12] से निकलता है जहां कहा गया है कि "जहां से

---

1. सूर्यश्चक्रं प्र वृहज्जात ओजसा। ऋ० 1 130 9
2 जातं यत्त्वा परि देवा अभूषन् महे भराय पुरुहूत विश्वे। ऋ० 3 51 8
परो यत्त्वं परम आजनिष्ठाः परावति श्रुत्यं नाम बिभ्रत्।
अतश्चिदिन्द्रादभयन्त देवा विश्वा अपो अजयद्दासपत्नीः॥ ऋ० 5 30 5
आ बुन्दं वृत्रहा ददे जातः पृच्छद् वि मातरम्। क उग्राः के ह शृण्विरे। ऋ० 8 45 4
तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये।
बृहद्गायन्त सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम्॥ ऋ० 8 66 1
जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः। ऋ० 10 113 4
3 भतीदं विश्वं भुवनं ववक्षिथाशत्रुरिन्द्र जनुषा सनादसि। ऋ० 1 102 8
अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे। ऋ० 10 133 2
4 अस्येदु भिया गिरयश्च दृळ्हा द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते। ऋ० 1 61 14.
5. तव त्विषो जनिमन् रेजत द्यौ रेजद् भूमिर्भियसा स्वस्य मन्योः। ऋ० 4 17 2.
6 गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागामनाधृष्यं वृषभं तुम्रमिन्द्रम्।
अरीळ्हं वत्सं चरथाय माता स्वयं गातुं तन्व इच्छमानम्॥ ऋ० 4 18 10.
7 सं गार्ष्टेयो वृषभो गोभिरानट्। ऋ० 10 111 2
8 निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये। ऋ० 10 101 12.
9. एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्। अथ० 3 10 12.
इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः। अथ० 3.10.13
10. यद्वित्था महिमा वामिन्द्राग्नी पनिष्ठ आ।
समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेहमातरा॥ ऋ० 6 59 2.
11. सुवीरस्ते जनिता मन्यत द्यौरिन्द्रस्य कर्ता स्वपस्तमो भूत्। ऋ० 4 17 4
12. तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः। ऋ० 10 120 1.

इस भयावह देवता की उत्पत्ति हुई वह लोको मे सर्वोच्च था। बताया जाता है कि उनके पिता ने ही उनके लिए वज्र बनाया था[1] । इस विषय मे दूसरी जगह आता है कि इसे त्वष्टा ने बनाया था। इन्द्र अपने पिता के गृह मे सोम-पान करते हैं, और उनकी माता ही उन्हे सोम देती है। उन्होने त्वष्टा के घर मे भी सोमपान किया था[2] । इन्द्र ने जन्म लेकर त्वष्टा को पराजित किया और सोम को चुरा कर प्यालो मे पिया । इन्द्र ने अपने पिता का पैर पकड कर उन्हे धरती पर दे मारा। उसी मन्त्र मे उनसे पूछा गया है कि वह कौन था जिसने उनकी माता को विधवा बनाया था[3] । इन मन्त्रो से यह स्पष्ट झलकता है कि इन्द्र के पिता, जिन्हे वे सोम के निमित्त मारते है, स्वय त्वष्टा है[4]। देवताओ के साथ उनका विरोध सभवत इस कारण है कि वे सहसा अथवा बलात् सोम को प्राप्त करना चाहते है।

इन्द्र की उत्पत्ति के विषय मे विभिन्न मत प्रस्तुत किये गये है। कहा गया है कि देवताओ ने एक राक्षस का नाश करने के लिए उन्हे उत्पन्न किया था[5] । किंतु यहा √जन् धातु का प्रयोग नि सदेह 'नियत करना' इस आलकारिक अर्थ मे हुआ है[6] । एक वार इन्द्र और कुछ अन्य देवताओ का जनक सोम को बताया गया है[7] । पुरुष-सूक्त के अनुसार इन्द्र और अग्नि विश्व पुरुष के मुख से आविर्भूत हुए है [8] । शतपथ-ब्राह्मण[9] के अनुसार अग्नि, सोम और परमेष्ठिन् की भाति इन्द्र को भी प्रजापति ने उत्पन्न किया है । तैत्तरीय-ब्राह्मण मे आता है कि प्रजापति ने इन्द्र को देवो के बाद बनाया था[10] ।

---

1. सास्मा अरं बाहुभ्या य पिताकृणोद् विश्वस्मादा जनुषो वेदसस्परि ।
   येना पृथिव्या नि क्रिविं शयध्यै वज्रेण हत्व्यवृणक् तुविष्वणि ॥ ऋ० 2 17 6
2 त्वष्टुर्गृहे अपिब सोममिन्द्र । ऋ० 4 18 3
3. कस्ते मातरं विधवामचक्रच्छयु कस्त्वामजिघासच्चरन्तम् ।
   कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद् यत्प्राक्षिणा पितरं पादगृह्य ॥ ऋ० 4 18 12.
4 त्वष्टा चित्तव मन्यव इन्द्र वेविज्यते भियाऽर्चन्ननु स्वराज्यम्। ऋ० 1 80 14
5 घ्नन् वृत्राणां जनयन्त देवा । ऋ० 3 49 1
6 त त्वा स्तोमेभिरुदभिर्न वाजिनं देव देवा अजनन्त्सास्युक्थ्य । ऋ० 2 13 6
   जात यत्त्वा परि देवा अभूषन् महे भराय पुरुहूत विश्वे । ऋ० 3 51 8
7 सोम पवते जनिता मतीना जनिता दिवो जनिता पृथिव्या ।
   जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णो ॥ ऋ० 9 96 5
8 मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत । ऋ० 10 90 13
9 ता वा एता प्रजापतेरधि देवता असृज्यन्ताग्निरिन्द्र सोम परमेष्ठी प्राजापत्य ।
   शत० ब्रा० 11 1 6 14
10 प्रजापतिरिन्द्रमसृजतानुजावर देवानाम् । तै० ब्रा० 2 2 10 1

अग्नि इन्द्र के यमल भाई है, पूषन् भी उनके भाई है[1]। इन्द्र के भतीजो का भी उल्लेख मिलता है[2], किंतु उनसे किस का तात्पर्य है यह बात अनिश्चित है।

इन्द्र की पत्नी के विषय मे भी कुछ सकेत मिलते है[3]। उस सूक्त मे, जिसमे कि वह इन्द्र से वार्तालाप करती हुई प्रस्तुत की गई है, उसका नाम इन्द्राणी है[4]। यह नाम देवियो के नामो का उल्लेख करनेवाले कतिपय अन्य मन्त्रो मे भी आता है[5]। शतपथ ब्राह्मण[6] स्पष्ट शब्दो मे इन्द्राणी को इन्द्र की पत्नी बतलाता है। किंतु ऐतरेय ब्राह्मण प्रासहा और सेना को इन्द्र की पत्निया बतलाता है[7]। ये दोनो इन्द्राणी ही के तद्रूप है[8]। पिशल के मत मे ऋग्वेद तथा वेदोत्तर-कालीन साहित्य मे इन्द्र-पत्नी का असली नाम शची है। अथर्ववेद[9] मे एक आसुरी का उल्लेख आता है, जिसने इन्द्र को देवताओ मे से नीचे खीच लिया था। काठक के अनुसार विलिस्तेङ्गा नामक दानवी पर मोहित होकर इन्द्र असुरो मे रहने के लिए चले

---

1. भ्रातेन्द्रस्य सखा मर्म। ऋ० 6 55 5
2 भ्रातु पुत्रान् मघवन् तित्विषाण। ऋ० 10 55 1
3 तेन जायामुपप्रिया मन्दानो याह्यन्धसो योजा न्विन्द्र ते हरी। ऋ० 1 82 5
पूषण्वान् वज्रिन्त्समु पत्न्यामद। ऋ० 1 82 6
जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु। ऋ० 3 53 4
अपा सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते। ऋ० 3 53 6
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा। ऋ० 10 86 9
वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते। ऋ० 10 86 10
4 इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्। ऋ० 10 86 11
नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते। ऋ० 10 86 12
5 इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानीं स्वस्तये। ऋ० 1 22 12
इन्द्राणीमह्व ऊतये वरुणानीं स्वस्तये। ऋ० 2 32 8
उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट्। ऋ० 5 46 8
6 इन्द्राणी ह वाइन्द्रस्य प्रिया पत्नी। शत० ब्रा० 14 2 1 8
7 सेना वा इन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता प्रासहा नाम। ऐत० ब्रा० 3 22 7
8 सेना ह नाम पृथिवी धनंजया। विश्वव्यचा अदिति सूर्यत्वक्।
इन्द्राणी देवी प्रासहा ददाना।
सा नो देवी सुहवा शर्म यच्छतु। तै० ब्रा० 2 4 2 7-8
इन्द्राणी पत्या सुजित जिगाय सेना ह नाम पृथिवी धनंजया विश्वव्यचा अदिति सूर्यत्वक्। इन्द्राणी प्रासहा सञ्जयन्ती तस्यै त एना हविषा विधेम॥ मै० सं० 4 12 1
9. येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि। अथ० 7 38 2

गये, वहा स्त्रियो के बीच वे स्त्री का वेष तथा पुरुषो के बीच पुरुष का वेष बना लेते थे।

इन्द्र का सवन्ध अन्य बहुत से देवताओ के साथ है। उनके प्रमुख मित्र और सहायक मरुद्गण हैं। अनेक मन्त्रो मे मरुतो का वर्णन युद्ध-कार्यो मे इन्द्र के सहायक के रूप मे हुआ है। इन देवताओ के साथ इन्द्र का इतना घनिष्ठ सवन्ध है कि मरुत्वत् विशेषण, जो कभी-कभी अन्य देवो के लिए भी आया है, इन्द्र के लिए अपनी खास चीज है। मरुत्वत् एव मरुद्गण इनके सामने आते ही इन्द्र का बोध हो जाना स्वाभाविक-सा है[1]। देवता-द्वन्द्व मे इन्द्र अन्य किसी भी देवता की अपेक्षा अग्नि के साथ कही अधिक बार आया है। यह है भी स्वाभाविक ही, क्योकि विद्युत् अग्नि ही का एक अपना रूप है। इन्द्र के लिए यह भी कहा गया है कि उन्हो ने दो पाषाणो मे से अग्नि उत्पन्न की[2] अथवा अग्नि को जल मे निगूढ रखा पाया[3]। अग्नि के बाद इन्द्र का सब से अधिक सवन्ध वरुण और वायु के साथ है। सोम, बृहस्पति, पूषन् और विष्णु के साथ इन्द्र का सवन्ध कुछ कम है। विष्णु इनके गाढे मित्र है और वे कभी-कभी वृत्र-युद्ध मे इनका साथ देते है।

तीन या चार मन्त्रो मे इन्द्र का तादूप्य स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से सूर्य के साथ किया गया है। उत्तम पुरुष मे बोलते हुए[4] इन्द्र एक बार कहते है कि वे ही मनु थे, वे ही सूर्य थे। एक बार उन्हे सीधे ही सूर्य कहा गया है[5] और एक दूसरे मन्त्र मे सूर्य और इन्द्र का एकत्र आह्वान इस प्रकार किया गया है कि मानो वे दोनो एक ही व्यक्ति हो। एक मन्त्र मे इन्द्र के लिए सवितृ विशेषण प्रयुक्त हुआ है[6]। शतपथ ब्राह्मण[7] भी एक बार इन्द्र की तद्रूपता सूर्य के साथ स्थापित करता है और वृत्र की चन्द्रमा के साथ।

अनेक मन्त्रो मे इन्द्र के विशाल आकार का उल्लेख आता है। जब इन्द्र ने दो असीम लोको को पकडा तब वे उनके मुट्ठी भर ही हुए[8]। वे द्युलोक, पृथिवी एव

1. मरुत्वतो अप्रतीतस्य जिष्णोरजूर्यतः प्र ब्रवामा कृतानि ॥ ऋ० 5 42 6
   वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः । ऋ० 9 65 10
2. यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः । ऋ० 2 12 3
3. निधीयमानमपगूळ्हमप्सु प्र मे देवानां व्रतपा उवाच ।
   इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम् ॥ ऋ० 10 32 6
4. अहं मनुरभवं सूर्यश्च । ऋ० 4 26.1.
5. स सूर्यः पर्युरू वरांस्येन्द्रो ववृत्याद्रथ्येव चक्रा । ऋ० 10 89 2
6. ऋतं देवाय कृण्वते सवित्र इन्द्रायाहिघ्ने न रमन्त आपः । ऋ० 2 30 1
7. तद्वा एष एवेन्द्रः । य एष तपत्यथैष एव वृत्रो यच्चन्द्रमा । शत० ब्रा० 1 6 4 18
8. इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत्संगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते । ऋ० 3 30 5

अन्तरिक्ष से महत्त्व मे आगे बढ जाते है[1]। दोनो लोक (रोदसी) उनके केवल आधे के बराबर है[2]। द्युलोक एव पृथिवी उनकी मेखला (कक्ष्या) के लिए पर्याप्त नही होते[3]। यदि पृथिवी दश गुनी और विस्तृत होती तो इन्द्र के बराबर हो पाती[4]। यदि इन्द्र के पास सौ द्युलोक एव सौ पृथिवी-लोक होते तो न तो हजार सूर्य ही उनकी बराबरी कर पाते और न दोनो लोक ही।

उनकी महत्ता एव शक्ति की प्रशसा बडे ही अच्छे शब्दो मे की गई है। उत्पन्न और उत्पन्न होनेवालो मे कोई भी उनके तुल्य नही[5]। कोई भी व्यक्ति, पार्थिव या दिव्य, न तो ऐसा उत्पन्न ही हुआ है और न उत्पन्न होगा ही जो उनकी बराबरी कर सके[6]। देव या मानव कोई भी न उनसे बढकर है और न उनके समान ही[7]। न तो पूर्वकाल के, न उत्तरकाल के, न ही निकट भूत के प्राणी उनकी महिमा का अन्त पा सके है[8]। न तो देवता न मनुष्य और न जल ही उनकी शक्ति की अवधि तक पहुच पाये हैं[9]। देवताओ में कोई भी उनके तुल्य ज्ञात नही हुआ है, कोई भी भूत या वर्तमानकाल मे उत्पन्न व्यक्ति उनकी तुलना नही कर सकता[10]। वे देवताओ को अतिक्रान्त कर जाते है[11]। महिमा और शक्ति मे सभी देवता उनके समुख घुटने टेक देते है। पुराण देवताओ ने भी उनके दिव्य वैभव एव राजकीय गरिमा के लिए अपनी शक्तिया समर्पित कर दी थी[12]। सभी देवता उनके कृत्यो एव मन्तव्यो को शिथिल करने मे असमर्थ रहते है, यहा तक कि वरुण और

1 प्र मज्मना दिव इन्द्र पृथिव्या ।
प्रोरोर्महो अन्तरिक्षाद् ऋजीषी ॥ ऋ० 3 46 3

2 अर्धमिद्स्य प्रति रोदसी उभे । ऋ० 6 30 1
नहि मे रोदसी उभे अन्य पक्ष चन प्रति । ऋ० 10 119 7

3 अर रोदसी कक्ष्येऽनास्मै । ऋ० 1 173 6

4 यदिन्न्विन्द्र पृथिवी दशभुजिरहानि विश्वा ततनन्त कृष्टय ।
अत्राह ते मघवन् विश्रुत सहो द्यामनु शवसा बर्हणा भुवत् ॥ ऋ० 1 52 11

5 न ही न्वस्य प्रतिमानमस्त्यन्तर्जातेषूत ये जनित्वा । ऋ० 4 18 4

6 न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते । ऋ० 7 32 23

7 सत्यमित्तन्न त्वावाँ अन्यो अस्तीन्द्र देवो न मर्त्यो ज्यायान् । ऋ० 6 30 4

8 न ते पूर्वे मघवन्नापरासो न वीर्यं नूतन कश्चनाप । ऋ० 5 42 6

9 न यस्य देवा देवता न मर्ता आपश्चन शवसो अन्तमापु । ऋ० 1 100 15

10 अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदान ।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥ ऋ० 1 165 9

11 प्र मात्राभी रिरिचे रोचमान प्र देवेभिर्विश्वतो अप्रतीत । ऋ० 3 46 3

12 देवाश्चित्ते असुर्याय पूर्वेऽनु क्षत्राय ममिरे सहासि । ऋ० 7 21 7

सूर्य भी उन के शासन मे सीमित है[1]। मित्र, अर्यमन् और वरुण के शत्रुओ का नाश करने के निमित्त इन्द्र का आह्वान किया गया है[2] और कहा गया है कि युद्ध के द्वारा उन्हो ने देवताओ के लिए पर्याप्त स्थल प्राप्त किया। एकमात्र इन्द्र ही सपूर्ण विश्व के स्वामी है[3]। गतिमानो और प्राणवानो के वे पति है[4]। वे गतिमान् वस्तुओ तथा मनुष्यो के राजा है, चलनेवालो और देखनेवालो के वे नेत्र है[5]। वे मानव जातियो और देवो के नेता है[6]। अनेक वार उन्हे विश्व का शासक कहा गया है[7] और इससे भी अधिक वार उन्हे स्वतन्त्र शासक बताया गया है[8]। एक पुराने ऋषि की भाति अपने ओज से वे अकेले ही शासन करते है[9]। कतिपय वार उन्हे असुर विशेषण दिया गया है[10]। इन्द्र के अपने अनेक निजी विशेषण उनकी असीम शक्ति के द्योतक है। 'शक्र' (शक्तिशाली) का प्रयोग इन्द्र के लिए लगभग 40 बार हुआ है और अन्य देवताओ के लिए केवल 5 बार। 'शचीवत्' इन्द्र के लिए लगभग 15 बार प्रयुक्त हुआ है जबकि अन्य देवताओ के लिए केवल दो बार। 'शचीपति' जो ऋग्वेद मे 11 बार आता है केवल एक अपवाद[11] को छोडकर सभी जगह इन्द्र के साथ सबद्ध है। अपवादरूप मे यह अश्विनो के लिए प्रयुक्त हुआ है, जहा उनसे प्रार्थना की गई है कि वे उपासको को शक्ति प्रदान करे (शचीभि)। इन्द्र के लिए एक मन्त्र मे 'शचीपते शचीनाम्' इस अतिरञ्जित उक्ति का प्रयोग हुआ है। यह विशेषण वेदोत्तरकालीन साहित्य मे चलता आया

1 यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः। ऋ० 1 101 3
न यस्येन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतमर्यमा न मिनन्ति रुद्रः। ऋ० 2 38 9
2 त्व ह त्यदृणया इन्द्र धीरोऽसिर्न पर्व वृजिना शृणासि।
प्र ये मित्रस्य वरुणस्य धाम युज न जना मिनन्ति मित्रम् ॥ ऋ० 10 89 8
प्र ये मित्र प्रार्यमण दुरेवा प्र सगिर प्र वरुण मिनन्ति।
न्य१मित्रेषु वधमिन्द्र तुम्र वृषन् वृषाणमरुष शिशीहि ॥ ऋ० 10 89 9
3 एको विश्वस्य भुवनस्य राजा। ऋ० 3 46 2
4 यो विश्वस्य जगत प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत्। ऋ० 1 101 5
5 त्व विश्वस्य जगतश्चक्षुरिन्द्रासि चक्षुष। ऋ० 10 102 12
6 इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणा विशा दैवीनामुत पूर्वयावा। ऋ० 3 34 2
7 भुवः सम्राळिन्द्र सत्ययोनि। ऋ० 4 19 2
8 युध्मस्य ते वृषभस्य स्वराज। ऋ० 3 46 1
9 ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा। इन्द्र चोष्कूयसे वसु ॥ ऋ० 8 6 41
10 त्व राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नॄन् पाह्यसुर त्वमस्मान्। ऋ० 1 174 1
11 प्राचीमु देवाश्विना धिय मेऽमृध्रा सातये कृत वसूयुम्।
विश्वा अविष्ट वाज आ पुरधीस्ता न शक्त शचीपती शचीभि ॥ ऋ० 7 67 5

है, जहां यह 'शची (इन्द्रपत्नी) के पति' का बोधक है। पिशल तो इस अर्थ को स्वयं ऋग्वेद में पाते हैं। बहुतायत से प्रयुक्त होनेवाला 'शतक्रतु' विशेषण ऋग्वेद में 60 बार आता है; जिनमें से केवल दो अपवादों को छोड़कर इसका सभी जगह इन्द्र के साथ संबन्ध है। अधिकांश स्थलों पर 'सत्पति' विशेषण इन्द्र के लिए आया है। इन्द्र के पराक्रम और ओज के वर्णन में भी अन्य अनेक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। वे बलवान् (तवस्), तेज (नृतु), विजयी (तुर), शूर तथा असीम ओजवाले हैं[1]। उनका पराक्रम निर्बाध है[2]। वे हाथी की भांति शक्ति से आवृत हैं और भयावह सिंह की भांति शस्त्रों से सुसज्जित है[3]। वे युवक हैं; वे अजर एवं पूर्व्य हैं।

इन्द्र के व्यक्तिगत गुणों और उनके गरिमान्वित चरित्र का विवेचन करने के उपरान्त हम उस महान् गाथा पर आते हैं जो उनके स्वरूप का आधार है। सोम-पान से मत्त होने के बाद मरुतों द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर इन्द्र अवर्षण राक्षसों के प्रधान के साथ युद्ध में भिड़ जाते हैं। इस राक्षस-श्रेष्ठ को अधिकांश स्थलों पर वृत्र (निरोधक) एवं अहि (सर्प या राक्षस) कहा गया है। एक भयावह युद्ध होता है। जब इन्द्र अपने वज्र से वृत्र पर आघात करते है तब द्यावापृथिवी भय से प्रकम्पित हो उठती है[4]। इन्द्र के वज्र-निर्माता त्वष्टा भी इन्द्र के क्रुद्ध होने पर कांपने लगते हैं। इन्द्र अपने वज्र से वृत्र का भेदन कर डालते हैं[5]। वे अपने वज्र से उसकी पीठ पर प्रहार करते है[6]; अपने नुकीले अस्त्र से उसके मुंह पर चोट करते है[7], और उसके मर्मस्थलों को ढूढ लेते है[8]। उन्होंने पानी के

1. पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः॥ ऋ० 1.11.4.
2. इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्। ऋ० 1.84.2.
3. मृगो न हस्ती तविषीमुषाणः सिंहो न भीम आयुधानि बिभ्रत्। ऋ० 4.16.14.
4. इमे चित्तव मन्यवे वेपेते भियसा मही। ऋ० 1.80.11.
अरेजेतां रोदसी भियाने कनिक्रदतो वृष्णो अस्य वज्रात्। ऋ० 2.11.9.
अध द्यौश्चित् ते अप सा नु वज्राद् द्वितानमद् भियसा स्वस्य मन्योः। ऋ० 6.17.9.
5. अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन। ऋ० 1.32.5.
वि वृश्चद् वज्रेण वृत्रमिन्द्रः। ऋ० 1.61.10.
जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव। ऋ० 10.89.7.
6. अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान। ऋ० 1.32.7.
इन्द्रो वृत्रस्य दोधतः सानुं वज्रेण हीळितः। ऋ० 1.80.5.
7. वृत्रस्य यद् भृष्टिमता वधेन नि त्वमिन्द्र प्रत्यानं जघन्थ। ऋ० 1.52.15.
8. येभिर्वृत्रस्येषितो विवेदामर्मणो मन्यमानस्य मर्म। ऋ० 3.32.4.

परिवृत करनेवाले[1] अथवा पानी के चारों ओर लेटनेवाले (परिशयानम्) वृत्र का हनन किया[2]; उन्हों ने पानी के ऊपर लेटनेवाले दानव को पराभूत किया[3]। उन्हों ने ऐसे वृत्र का वध किया, जो जल में छिपा हुआ था, जो जलों को तथा आकाश को रोके हुए था[4]। उन्होंने वज्र से जलों को रोकनेवाले वृत्र पर वैसे ही आघात किया जैसे वृक्ष पर विद्युत् गिरती हो[5]। फलतः अप्सुजित् भी उनके विशेषणों में से एक है।

इन्द्र वर्तमान काल में वृत्र का वध करते है या वैसा करने के लिए उनका आह्वान किया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि उनका युद्ध अनवरतरूप से नवीन होता चला जाता है। यह प्राकृतिक दृश्य के सतत नवीभाव का ही गाथात्मक प्रतिरूप है। वृत्र का वध करके उन्हों ने अनेक उषाओं और शरदों तक प्रवाहित होने के लिए सरिताओं को उन्मुक्त कर दिया है[6], अथवा भविष्य में ऐसा करने के लिए उनसे प्रार्थना की गई है। वे पर्वतों को विदीर्ण कर देते है और इस प्रकार सरिताओं को प्रवाहित करते और गौओं को घेर से बाहर निकाल देते है[7]; यहां तक कि अपने वज्र के रव से भी[8]। जब उन्हो ने महान् पर्वत को विदीर्ण किया, तब सरिताए प्रवाहित हो चली और दानव मर गया, और दमित स्रोत, जोकि पर्वतो के स्तन है, छलछला उठे[9]। उन्होने दानव का वध किया, महान् पर्वत का भेदन किया, कुए को ऊपर किया और दमित जलों को प्रवाहित किया। जिन स्रोतो को वे मुक्त करते है वे बधी गौओं की तरह के है[10], अथवा

त्वं चिदस्य क्रतुभिर्निषत्तममर्मणो विददिदस्य मर्म । ऋ० 5.32 5.

1. अहिं यद् वृत्रमपो वव्रिवांसं हन्नृजीषिन् विष्णुना सचानः । ऋ० 6.20.2.
2. अहन्नहिं परिशयानमर्णः । ऋ० 4.19.2.
3. अहिमोहानमप आशयानं प्र मायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्रः । ऋ० 5.30 6.
4. गुहा हितं गुह्यं गूळ्हमप्स्वपीवृतं मायिनं क्षियन्तम् ।
   उतो अपो द्यां तस्तभ्वांसमहन्नहिं शूर वीर्येण ॥ ऋ० 2.11.5.
5. अध्वर्यवो यो अपो वव्रिवांसं वृत्रं जघानाशन्येव वृक्षम् । ऋ० 2 14.2.
6. पूर्वीरुषसः शरदश्च गूर्ता वृत्रं जघन्वाँ असृजद्वि सिन्धून् । ऋ० 4.19.8.
7. त्वं तमिन्द्र पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन् पर्वशश्चकर्तिथ ।
   अवासृजो निवृताः सर्तवा अपः ॥ ऋ० 1.57.6.
   बिभेद गिरिं नवमिन्न कुम्भमा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः । ऋ० 10.89.7.
8. वज्रस्य यत्ते निहतस्य शुष्मान् स्वनाच्चिदिन्द्र परमो ददार । ऋ० 6 27.4.
9. महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद् वः सृजो वि धारा अव दानवं हन् । ऋ० 5 32.1.
   त्वमुत्साँ ऋतुभिर्बद्बधानाँ अरंह ऊधः पर्वतस्य वज्रिन् । ऋ० 5.32.2.
10. गा न व्राणा अवनीरमुञ्चत् । ऋ० 1.61.10.

बोलती हुई गौओ की भाति समुद्र की ओर प्रवाहित होते है[1]। उन्होने गौओ और सोम को जीता एव सात सरिताओ को प्रवाहित किया[2]। वे बन्दी जल को उन्मुक्त करते है[3]। वे दानव के द्वारा बाधित सरिताओ को प्रवाहित करते है[4] उन्होने सरिताओ के लिए अपने वज्र से मार्ग बनाया[5], जल की बाढ को समुद्र की ओर प्रवाहित किया[6]। वृत्र द्वारा ग्रस्त सलिलो को प्रवाहित किया। वृत्र वध करके उन्होने सलिल[7] के बन्द द्वार का उद्घाटन किया[8]। उनके वज्र 90 सरिताओ मे विकीर्ण हैं[9]। इन्द्र-वृत्र के युद्ध का और इन्द्र द्वारा जल-मोचन का उल्लेख ऋग्वेद मे बार-बार आता है। इस गाथा के परिवर्तन एक सूक्त[10] मे आद्योपान्त सूचित किये गये है। एक अन्य सूक्त मे वृत्र-युद्ध का विवरण पूरा दिया गया है[11]। वृत्र के साथ युद्ध करना इन्द्र का विशिष्ट कार्य है, इस तथ्य का सकेत उस शैली मे प्राप्य है, जिसमे ऋग्वेद के प्रथम दो मन्त्रो मे इन्द्र-वृत्र युद्ध का साराश दिया गया है —"मै इन्द्र के कृत्यो की घोषणा करूगा, जिन्हे वज्र धारण करनेवाले ने पहले-पहल किया —उन्होने पर्वत पर परिशयान दानव का वध किया, जलो को उन्मुक्त किया, पर्वतो के उदर विदीर्ण किये। भौतिक पदार्थो को प्राय आलकारिक पदो के द्वारा सूचित किया गया है—वज्र, पर्वत, जल या सरिताए, जबकि विद्युत्, मेघगर्जन, मेघ, वर्षा (वृष्टि, वर्षा या √वृष) का सीधा उल्लेख प्राय नही के बराबर हुआ है[12]। प्रवाहित की गई सरिताए बहुधा पार्थिव है, किंतु इसमे सदेह नही कि ऋग्वेद मे जल और सरि-

1 वाश्रा इव धेनव स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः । ऋ० 1 32 2
2 अजयो गा अजय शूर सोममवासृज सर्तवे सप्त सिन्धून । ऋ० 1 32 12
अवासृजस्सर्तवे सप्त सिन्धून । ऋ० 2 12 12
3 वज्रेण हत्वा निरप ससर्ज । ऋ० 1 103 2
4 सृजो महीरिन्द्र या अपिन्व परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वी । ऋ० 2 11 2
5 वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम् । ऋ० 2 15 3
6 स माहिन इन्द्रो अर्णो अपा प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम् । ऋ० 2 19 3
7 सृज सिन्धूँरहिना जग्रसानान् । ऋ० 4 17 1
8 अपा बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद् ववार । ऋ० 1 32 11
9 वि ते वज्रासो अस्थिरन्नवर्ति नाव्या३ अनु । ऋ० 1 80 8
10 इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् ।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या नि शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ऋ० 1 80 1 आ
11 इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम् ॥ ऋ० 1 32 1 आ पृ मृ
12 अभि स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यतो रघ्वीरिव प्रवणे ससुरूतयः । ऋ० 1 52 5

ताए बहुतायत से अन्तरिक्षस्थ अथवा दिव्य माने गये हैं[1]। कवि की इच्छा है कि वह वृत्र-गाथा को ऐसी शब्दावली में व्यक्त करे जो अन्य देवताओं के लिए प्रयुक्त शब्दावली से कुछ भिन्न हो। किंतु साथ ही इन्द्र के द्वारा उन्मुक्त हुए जलों की मात्रा इतनी अधिक है कि 'वर्षा' के स्थान पर 'सरित्' शब्द का प्रयोग किये बिना कवि से नहीं रहा जाता। इन्द्र के द्वारा उन्मुक्त की गई 'गौएं' अनेक स्थलों पर जलों की स्थापक हो सकती हैं, क्योंकि जलों की तुलना मौके-मौके पर रांभनेवाली गौओं के साथ की गई है। उदाहरणार्थ, कहा गया है कि इन्द्र ने दानव को मारकर मनुष्यों के लिए गौएं प्राप्त की[2]। प्रकरण से प्रतीत होता है कि जब यह वर्णन आता है कि इन्द्र ने वज्र की सहायता से गौओं को प्रकाश के साथ अन्धकार में से निकाला, तब तो तात्पर्य जलों से होता है[3]; किंतु अन्य स्थलों पर गौओं का संबन्ध इन्द्र के द्वारा की गई प्रकाश-प्राप्ति के साथ लगाया जा सकता है, क्योंकि रात्रि की कालिमा में से प्रस्फुटित होनेवाली उषा की लाल किरणों की उपमा बन्द बाड़े में से निकलते हुए पशुओं के साथ बहुत बार आती है। यद्यपि ऋग्वेद में अभ्र शब्द से गम्य बादलों का कोई विशेष महत्त्व नहीं है तथापि यह अस्वीकार्य नहीं कि वे, जलपूर्ण होने के कारण, गाथात्मक ढंग से बहुधा गाय के रूप में हमारे सामने आते हैं। इसी प्रकार ऊधर्, उत्स, कबन्ध, कोश तथा अन्य अनेक शब्दों से इन्हीं को सूचित किया गया है। और जब यह कहा जाता है कि इन्द्र के जन्म के समय गौएं रांभी तब तात्पर्य इन मेघों ही से है।

फिर भी इन्द्र-गाथा में बादल बहुधा पर्वत अथवा गिरि के रूप में आते हैं। वे ऐसे पर्वत हैं जिन पर दानव निवास करते हैं[4] अथवा जहां से इन्द्र उन्हें नीचे गिरा देते हैं[5]। इन्द्र अपने लक्ष्यवेधी बाणों को इन्हीं पर्वतों पर से छोड़ते हैं। गौओं

वृत्रस्य यद्भ्रणे दुर्गृभिश्वनो निजघन्थ हन्वोरिन्द्र तन्यतुम्। ऋ० 1 52 6
नोत स्वर्वृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक्। ऋ० 1 52 14

1 जेष. स्वर्वतीरप.। ऋ० 1 10 8
तव त्यन्नर्यं नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्यं कृतम्। ऋ० 2 22 4.

2 तद्धि हव्यं मनुषे गा अविन्ददहन्नहिं पपिवाँ इन्द्रो अस्य। ऋ० 5.29 3
जघन्वाँ उ हरिभिः संभृतक्रतविन्द्र वृत्रं मनुषे गातुयन्नपः। ऋ० 1 52 8

3 युजं वज्रं वृषभश्चक्र इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसो गा अदुक्षत्। ऋ० 1 33 10

4 अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणम्। ऋ० 1 32 2
यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्। ऋ० 2 12 11

5 अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेरुग्रो अवाभरत्। ऋ० 1 130 7
उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि। अवाहन्निन्द्र शम्बरम्॥ ऋ० 4 30 14
अवं गिरेर्दासं शम्बरं हन्। ऋ० 6 26 5

को उन्मुक्त करने के लिए उन्होने पर्वत को विदीर्ण कर दिया[1]। साथ ही यह बादल एक ऐसी चट्टान (अद्रि) है, जो गौओ को परिवृत किये हुए है और जिसे इन्द्र अपने स्थान से प्रच्युत करते है[2]। इन्द्र ने अद्रि को ढीला करके गौओ को सुलभ बनाया[3]। उन्होने पहाड (अश्मन्) के अन्दर बद्ध गौओ को मुक्त किया[4]। मेघाद्रि या मेघ पर्वत स्थिर और जलविहीन बादलो का और मेघ गौए गतिमान् और शब्द करनेवाले बादलो के प्रतिरूप प्रतीत होते है। ओल्डेनबेर्ग का विचार है कि ऋग्वेदीय कवियो के लिए इन्द्र-वृत्र गाथा मे आने वाले पर्वत तथा सरिताए पृथिवीस्थ है, यद्यपि वे इस बात को स्वीकार करते है कि मूलत वे अन्तरिक्ष-स्थानीय थे और उत्तरकाल तक भी वैसे ही समझे जाते रहे है।

विद्युत्-तूफान की गाथात्मक कल्पना मे मेघ भी बहुधा वायु मे स्थित दानवो के पुर बन जाते है। उनकी संख्या 90 या 99 या 100 बतलाई गई है[5]। ये पुर् गतिमान्[6], शारद[7], धातु के बने हुए[8] अथवा पाषाण[9] हैं। इन्द्र इन्हे भेद डालते है[10]। इसीलिये पुरभिद् विशेषण इन्द्र के लिये प्रयुक्त हुआ है। एक मन्त्र[11] मे उन्हे पुरभिद् तथा साथ ही जल का प्रेमी कहा गया है। एक दूसरे मन्त्र मे इस गाथा के विभिन्न पक्षो का एकत्र उल्लेख हुआ है—उन्होने वृत्र का वध किया, दुर्ग को तोडा, नदियो के लिये मार्ग बनाए, पर्वत को विदीर्ण किया, और अपने

---

1 य कृन्तदिद्वि योन्यं त्रिशोकाय गिरिं पृथुम्।
गोभ्यो गातुं निरेतवे ॥ ऋ० 8 45 30

2 महामद्रिं परि गा इन्द्र सन्तं नुत्था अच्युतं सदसस्परि स्वात्। ऋ० 6 17 5

3 सतीनमन्युरश्रथायो अद्रिं सुवेदनामकृणोर्ब्रह्मणे गाम्। ऋ० 10 112 8

4 यस्य गा अन्तरश्मनो मदे दृळ्हा अवासृज। ऋ० 6 43 3
अश्मानं चिच्छवसा दिद्युतो वि विदो गवामूर्वमुस्रियाणाम्। ऋ० 5 30 4

5 अध्वर्यवो य शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः। ऋ० 2 14 6
दिवोदासाय नवतिं च नवेन्द्र पुरो व्यैरच्छम्बरस्य। ऋ० 2 19 6
द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा। ऋ० 8 17 14

6 त्वं पुरं चरिष्ण्वं वधैः शुष्णस्य सं पिणक्। ऋ० 8 1 28

7 पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः। ऋ० 1 131 4
सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्त्। ऋ० 1 174 2
सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्त्। ऋ० 6 20 10

8 हत्वी दस्यून्पुर आयसीर्नि तारीत्। ऋ० 2 20 8

9 शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्। ऋ० 4 30 20

10 त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः। ऋ० 1 51 5

11 सध्रीचीः सिन्धुमुशतीरिवायन्त्सनाज्जार आरितः पूर्भिदासाम्। ऋ० 10 111 10

मित्र को गौए दी[1]।

वृत्र-गाथा की महत्ता ही के कारण इन्द्र का प्रमुख विशेषण 'वृत्रहन्' बन गया है। ऋग्वेद मे इसका उनके लिए प्रयोग लगभग 70 बार हुआ है। अग्नि ही एक मात्र दूसरे देवता है जिनके लिए इसका प्रयोग अनेक बार हुआ है, और अग्नि के लिए इस विशेषण के प्रयोग का आधार यह है कि ये भी इन्द्र के साथ द्वन्द्व मे बार बार सबद्ध हुए है। सोम के लिए आनेवाले इस विशेषण के प्रयोग स्पष्टतः गौण है। यद्यपि कभी-कभी स्पष्ट शब्दो मे इस बात का उल्लेख मिलता है कि वृत्र को इन्द्र ने अकेले ही अपनी शक्ति से मारा[2] तथापि अन्य देवता भी उनके इस वीर कृत्य मे उनका हाथ बटाते दीख पडते है। फिर भी सेहरा इस काम का इन्द्र ही के सिर पर है। सामान्यत देवता लोग किसी कार्य या युद्ध मे[3] अथवा वृत्र-वध मे[4] उन्हे अपना अग्रसर करते हुए कहे गए है। देवताओ ने वृत्र-वध मे इन्द्र की शक्ति को बढाया[5] उन्होने इन्द्र मे ओज का सचार किया[6] अथवा उनके हाथो मे वज्र दिया है[7]। किंतु सबसे अधिक बार तो उन्हे इस काम के लिए मरुतो से प्रेरणा मिली है[8]। यहा तक कि वृत्र से भयभीत होकर जब अन्य सभी

---

1. जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव रुरोज पुरो अरदन्न सिन्धून्।
बिभेद गिरिं नवमिन्न कुम्भमा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भि ॥
ऋ० 10 89 7

2 वधीं वृत्रं मरुत इन्द्रियेण स्वेन भामेन तविषो बभूवान्। ऋ० 1 165 8
स्वेना हि वृत्र शवसा जघन्थ। ऋ० 7 21 6
एता त्या ते श्रुत्यानि केवला यदेक एकमकृणोरयज्ञम्। ऋ० 10 138 6

3 प्र वीर्येण देवताति चेकिते विश्वस्मा उग्र कर्मणे पुरोहित । ऋ० 1 55 3
अध त्वा विश्वे पुर इन्द्र देवा एकं तवसं दधिरे भराय। ऋ० 6 17 8

4 इन्द्रं वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुर । ऋ० 8 12 22

5 विश्वे देवासो अध वृष्ण्यानि तेऽवर्धयन्सोमवत्या वचस्यया।
रद्धं वृत्रमहिमिन्द्रस्य हन्मनाग्निर्न जम्भैस्तृष्वन्नमावयत् ॥ ऋ० 10 113 8

6 तस्मिन्नृम्णमुत क्रतुं देवा ओजांसि स दधु । ऋ० 1 80 15
दिवो न तुभ्यमन्विन्द्र सत्रासुर्यं देवेभिर्धायि विश्वम्। ऋ० 6 20 2
मयि देवासोऽवृजन्नपि क्रतुम्। ऋ० 10 48 3
त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे। ऋ० 10 120 3

7 तस्मै तवस्य१मनु दायि सत्रेन्द्राय देवेभिरर्णसातौ। ऋ० 2 20 8

8 इन्द्रस्य शर्धो मरुतो य आसन्। येभिर्वृत्रस्येषितो विवेद। ऋ० 3 32 4
अवर्धयन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र। ऋ० 10 73 1
पुरू शसेन वावृधुष्ट इन्द्रम्। ऋ० 10 73 2

देवता भाग गये[1] तब मरुद्गण ने ही उनका साथ दिया था। किंतु एक मन्त्र में मरुतो द्वारा भी इन्द्र को छोड़ दिया गया दिखाया गया है[2]। वृत्र-युद्ध में अग्नि, सोम और विष्णु अनेक बार इन्द्र के सहायक बनते हैं। यहां तक कि पृथिवीस्थ पुरोहित भी वृत्र-युद्ध मे इन्द्र का साथ देते है[3]। उपासकों ने (जरिता) इन्द्र के हाथ में वज्र धारण कराया[4], और यज्ञ ने वृत्र-वध मे वज्र की सहायता की[5]। सूक्त, स्तुति, उपासना तथा सोम भी इन्द्र के ओज को बराबर बढ़ाते रहे है।

इन्द्र वृत्र के अलावा और बहुत-से छोटे-बड़े दानवों के साथ भी युद्ध में प्रवृत्त होते है। इनमें से उरण नामक राक्षस के, जिसका उल्लेख केवल एक बार हुआ है[6], 99 बांह है; विश्वरूप के तीन सिर और छः नेत्र है[7]। किंतु यह आवश्यक नही है कि इन्द्र उन्हें वज्र से ही मारे। उदाहरणार्थ अर्बुद को वे अपने पैरों तले कुचलते अथवा हिम में दबाकर मारते है[8]। कभी-कभी यह भी कहा गया है कि इन्द्र दानव-सामान्य की हत्या करते हे। इस प्रकार कहावत है कि वे अपने चक्र से असुरों का उन्मूलन करते है; अपने वज्र से वे राक्षसों को उसी तरह समाप्त करते है जैसे कि अग्नि सूखे वन को[9]। द्रोहियों का पराजय तो उनके बाएं हाथ का काम है[10]।

---

1. वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः ।
मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि ॥ ऋ० 8 96.7.
उत माता महिषमन्ववेनदमी त्वा जहति पुत्र देवाः । ऋ० 4.18.11.
इन्द्रो वै वृत्रं हनिष्यन्सर्वा देवता अब्रवीदनु मोपतिष्ठध्वमुप मा ह्वयध्वमिति तथेति तं हनिष्यन्त आद्रवन्सोऽवेन्मां वै हनिष्यन्त आद्रवन्ति हन्तेमान्भीषया इति तानभिप्राश्वसीत्तस्य श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अद्रवन् मरुतो हैनं नाजहुः ।
ऐ० ब्रा० 3.20.
2. क्व नूनं कध प्रियो यदिन्द्रमजहातन । को वः सखित्व ओहते । ऋ० 8.7.31
3. युजं हि मामकृथा आदिदिन्द्र शिरो दासस्य नमुचेर्मथायन् । ऋ० 5.30.8.
इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः । ऋ० 10.44.9.
4. आ ते वज्रं जरिता बाह्वोर्धात् । ऋ० 1.63.2.
5. यज्ञस्ते वज्रमहिहत्य आवत् । ऋ० 3.32.12.
6. अध्वर्यवो य उरणं जघान नव चख्वांसं नवतिं च बाहून् । ऋ० 2.14.4.
7. स इद्दासं तुवीरवं पतिर्दन्षळक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत् । ऋ० 10.99.6.
8. महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा । ऋ० 1.51.6.
हिमेनाविध्यदर्बुदम् । ऋ० 8 32.26.
9. अग्निर्न शुष्कं वनमिन्द्र हेती रक्षो नि धक्ष्यशनिर्न भीमा । ऋ० 6.18.10.
10. द्रुहं जिघांसन्ध्वरसमनिन्द्रां तेतिक्ते तिग्मा तुजसे अनीका । ऋ० 1.23.7.

जल की मुक्ति के साथ ही प्रकाश, सूर्य और उषस् के जीतने का भी संबन्ध है। इन्द्र ने प्रकाश को और दिव्य जलो को जीता[1]। वृत्र की हत्या के लिए तथा प्रकाश की प्राप्ति के लिए इनका आह्वान बार-बार किया गया है। आयस वज्र के द्वारा वृत्र-वध करने के उपरान्त उन्होने मनुष्य के लिए सलिल को प्रवाहित किया और सूर्य को उसके भासमान रूप मे द्युलोक मे स्थापित किया[2]। दानव-हन्ता इन्द्र ने जल के परिप्लाव को समुद्र की ओर प्रवाहित किया, सूर्य को जन्म दिया और गौओ को हासिल किया[3]। दानवो का वध करने के उपरान्त उन्होने सूर्य तथा सलिलों को पाया[4]। दानवराज का वध करके और पर्वतो से जलों को उन्मुक्त करके उन्होंने सूर्य, आकाश और उषस् को जन्म दिया[5]। जब इन्द्र ने वायुमण्डल मे से दानव को उडाया तो सूर्य जगमगा उठा[6]। यो तो सूर्य प्रायः युद्ध के परिणाम-स्वरूप चमकते है, तथापि इन्द्र के शस्त्र के रूप मे भी उनका नाम आता है; क्योकि इन्द्र सूर्य की किरणो द्वारा दानवों को जला डालते हैं[7]। वृत्र-युद्ध का उल्लेख किये बिना भी इन्द्र के लिए कहा गया है कि उन्होने प्रकाश को[8] अन्धकार मे[9] पाया। इन्द्र सूर्य के जनक

अधि ष्णुनां बृहता वर्तमानं महो द्रुहो अप विश्वायु धायि। ऋ० 4 28 2

1. ससानासं स्वरपश्च देवीः। इन्द्रं मदन्त्यनु धीरणासः। ऋ० 3 34 8
2 वृत्रं यदिन्द्र शवसावधीरहिमादित्सूर्यं दिव्या रोहयो दृशे। ऋ० 1 51 4
जघन्वाँ उ हरिभिः संभृतक्रतविन्द्र वृत्रं मनुषे गातुयन्नपः।
अयच्छथा बाह्वोर्वज्रमायसमधारयो दिव्या सूर्यं दृशे॥ ऋ० 1 52 8.
3. स माहिन इन्द्रो अर्णो अपां प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम्। ऋ० 2 19 3
4 अजनयत्सूर्यं विदद् गाः॥ ऋ० 2 19 3 दे० 3 34 8 ऊपर
ससानात्यां उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम्।
हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून्प्रार्यं वर्णमावत्॥ ऋ० 3.34 9
5. यदिन्द्राहन्प्रथमजामहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोत मायाः।
आत्सूर्यं जनयन् द्यामुषासं तादीत्ना शत्रुं न किला विवित्से॥ ऋ० 1 32 4.
साकं सूर्यं जनयन्द्यामुषासम्। ऋ० 6 30 5
6 निरग्नयो रुरुचुर्निरु सूर्यो नि सोम इन्द्रियो रसः।
निरन्तरिक्षादधमो महामहिं कृषे तदिन्द्र पौंस्यम्॥ ऋ० 8 3 20
7 इन्द्र. सूर्यस्य रश्मिभिन्यर्शसानमोषति। ऋ० 8 12 9
8 अविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय। ऋ० 3 34 4
येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ। ऋ० 8 15 5
विदत्स्व१र्मनवे ज्योतिरार्यम्। ऋ० 10 43 4.
9. स्व१र्यद् वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः।

है[1] । उन्होंने शुक्र-ज्योति सूर्य को आकाश मे स्थित किया[2] । उन्होंने सूर्य को प्रकाशित किया[3] और उन्हें आकाश में आरोहित कराया[4] । उन्होंने सूर्य को प्राप्त किया[5] अथवा उन्होंने सूर्य को अन्धकार में पाया, जहां कि वह निवास कर रहा था[6] । साथ ही इन्द्र ने सूर्य के लिए पथ भी तैयार किया[7] ।

सूर्य की भाति उषा का आविर्भाव भी इन्द्र करते हैं[8] । उन्होंने उषाओं और सूर्य को प्रकाशित किया है[9] । उन्होंने उषस् और सूर्य के द्वारा अन्धकार को खोल दिया[10] । वे सूर्य के द्वारा उषस् को चुरा लेते है[11] । उषस् और सूर्य के साथ[12] अथवा केवल सूर्य के साथ[13] उल्लिखित गौएं, जिन्हें इन्द्र प्राप्त करते, उन्मुक्त करते, अथवा जीत लेते है, संभवत: जल अथवा मेघ की उतनी प्रतिरूप नहीं है जितनी कि वे प्रात:कालीन किरणों की; और बेर्गेन तथा कतिपय अन्य विद्वानों के अनुसार प्रात:-

---

अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ ॥ ऋ० 4.16.4.

1. क्षपां वस्ता जनिता सूर्यस्य । ऋ० 3.49.4.
2. यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः । ऋ० 8.12.30.
3. इन्द्रः सूर्यमरोचयत् । ऋ० 8.3.6.
4. इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि । ऋ० 1.7.3.
5. स मन्युमीः समदनस्य कर्ताऽस्माकेभिर्नृभिः सूर्यं सनत् । ऋ० 1.100.6.
   सनत्सूर्यं सनदपः सुवज्रः । ऋ० 1.100.18.
6. सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम् । ऋ० 3.39.5.
7. इन्द्रः किल श्रुत्या अस्य वेद स हि जिष्णुः पथिकृत्सूर्याय । ऋ० 10.111.3.
8. यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः । ऋ० 2.12.7.
   इन्द्रः सुयज्ञ उषसः स्वर्जनत् । ऋ० 2.21.4
   इन्द्रो नृभिरजनद् दीद्यानः साकं सूर्यमुषसं गातुमग्निम् । ऋ० 3.31.15.
   जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः । ऋ० 3.32.8.
9. हर्यन्नुषसमर्चयः सूर्यं हर्यन्नरोचयः । ऋ० 3 44.2.
10. वि वरुषसा सूर्येण गोभिरन्धः । ऋ० 1.62.5.
11. मुष्णन्नुषसः सूर्येण स्तवानश्नस्य चिच्छिश्नथत्पूर्व्याणि । ऋ० 2.20.5.
12. येभिः सूर्यमुषसं मन्दसानोऽवासयोऽप दृळ्हानि दर्द्रत् ।
    महामद्रिं परि गा इन्द्र सन्तं नुत्था अच्युतं सदसस्परि स्वात् ॥ ऋ० 6.17.5.
13. वि गोभिरद्रिमैरयत् । ऋ० 1.7.3.
    आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि । ऋ० 6.17.3.
    स मातरा सूर्येणा कवीनाम् । उदुस्रियाणामसृजन्निदानम् । ऋ० 6.32.2.
    उदाज उस्रा अपिबो मधु प्रियम् ।
    शुशोच सूर्य ऋतजातया गिरा । ऋ० 10.138.2.

कालीन लाल बादलो की। उस्रिया एव अप्या गौओ[1] से सभवत जल अभिप्रेत है, किंतु विशिष्ट मन्त्रो मे उनसे प्रात कालीन किरण अथवा मेघ अभिप्रेत है। इन्द्र को देखते ही उषाए उनसे मिलने को गई, जबकि वे गौओ के स्वामी बने[2]। जब उन्होंने वृत्र का मानमर्दन किया तभी रात्रि की गौए (धेना) दृष्टिगम्य बनी[3]। कतिपय मन्त्रो मे उषस् का उल्लेख ऐसे शब्दो मे हुआ है जो गोविजय की ओर ध्यान दिलाते हैं। उदाहरणार्थ उषस् अन्धकार को उसी प्रकार खोलती है जैसे गौए गोव्रज को खोलती हैं[4]। उषस् दृढ अद्रि के द्वारो को खोलती है[5]। गौए उषाओं की ओर राभती हैं[6]। अङ्गिरा ऋषियो ने उषस् के गोव्रज को ऊचाई पर पहुचकर उद्घाटित किया[7]। सूर्य के साथ उषा की उत्पत्ति का उल्लेख कभी-कभी उन्ही मन्त्रो मे हुआ है, जिनमे कि सलिलो की विजय मनाई गई है[8]। इस प्रकार विद्युत् तूफान के बवडर मे से निकलनेवाले सूर्य के साथ सबद्ध विचारो मे और रात्रि के अन्धकार से उन्मुक्त होनेवाले सूर्य सबन्धी विचारो मे अनजाने ही एक समिश्रण-सा हो गया प्रतीत होता है। इन्द्र की गाथा मे यह द्वितीय तत्त्व पहले तत्त्व का ही प्रसृत रूप प्रतीत होता है।

विद्युत् तूफान के मध्य सपादित हुए इन्द्र के क्रिया-कलापो की अभिव्यक्ति कही-कही अधिक स्पष्ट रूप से सपन्न हुई है। कहा गया है कि इन्द्र ने द्युलोक की विद्युतो को बनाया[9] और जलो के प्रवाह नीचे की ओर प्रवृत्त किये[10]।

वृत्र-युद्ध और गौओ तथा सूर्य की जीत के साथ सोम की जीत का सबन्ध भी उभर आया है। जब इन्द्र ने अहि को वायु, अग्नि, सूर्य और सोम से दूर भगाया, तब इन्द्रिय रस प्रदीप्त हो उठा। दानव पर विजय करने के उपरान्त उन्होने सोम को अपने पेय रूप मे वरा[11]। दानवो पर विजय पाने के बाद सोम

1. य उस्रिया अप्या अन्तरश्मनो निर्गा अकृन्तदोजसा। ऋ० 9 108 6
2. त जानती प्रत्युदायन्नुषास पतिर्गवामभवदेक इन्द्र। ऋ० 3.31 4
3. इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीति। आविर्धेना अकृणोद् राम्याणाम्। ऋ० 3 34.3
4. गावो न व्रज व्युषा आवर्तम। ऋ० 1 92 4
5. वि दृळ्हस्य दुरो अद्रेरौर्णो। ऋ० 7 79 4
6. प्रति गाव उषस वावशन्त। ऋ० 7 75 7
7. इदा हि त उषो अद्रिसानो गोत्रा गवामङ्गिरसो गृणन्ति। ऋ० 6 65.5
8. यम्रो द्रुनस्यसुपर्णो रिप्रप। ऋ० 10 138 1
9. यश्चाभृमा जनयो दिव्युता दिव उरूर्वां अभित सास्युक्थ्य। ऋ० 2 13 7
10. अधराचीनमकृणोदपामप। ऋ० 2 17.5
11. यद्धा यदिन्द्र प्रथमा व्याश वृत्रं जघन्वाँ अवृणीत सोमम्। ऋ० 3.36.8

उनकी निजी सपत्ति वन गया' और वे सोम मधु के राजा वन गये[2]। उन्होने ग्रावा द्वारा अभिपुत सोम को अनावृत किया और गौओ को (घेर से) वाहर निकाला[3]। उन्होने सोम को गौओ के साथ ही जीता[4]। द्युलोक मे उन्होने गुप्त अमृत को पाया[5]। उन्होने लोहित गौओ (उस्रियायाम) मे मधु को एकत्र पाया[6]। आमा गाय पके दूध के साथ विचरण करती है और लोहित गाय मे सभी स्वाद सनिहित है, जिन्हे इन्द्र ने भोग के लिए वहा स्थापित किया है[7]। इन्द्र ने 'आमा' काली या लोहित[8] गौओ[9] मे पके दूध का निधान किया, और उन गौओ के लिए उन्होने द्वार खोल दिये[10]। इस विपय के अधिकाश स्थलो पर इन्द्र के अखिल सृष्टि-विपयक कार्यों का वर्णन हुआ है, फलत लक्षित होता है कि इन मन्त्रो मे मौलिक रूप से मेघ की ओर सकेत है।

इन्द्र ने चलायमान पर्वतो और पृथिवी को स्थिर किया[11]। एक परवर्ती रचना मे आता है कि इन्द्र ने पर्वतो के पर काट लिये। ये पर्वत पुराने युग मे जहा चाहते उतर पडते थे और पृथिवी को कपा देते थे। इनके कटे पर ही गरजनेवाले वादल वन गये[12]। वेदोत्तरकालीन साहित्य की यह एक प्रिय गाथा वन गई है। पिशल के अनुसार इसका मूल ऋग्वेद के[13] मन्त्र मे है। इन्द्र ने ही आकाश के प्रकाशमान लोक को स्थित किया[14]। उन्होने पृथिवी को सभाला और द्युलोक को

1. यदेददेवीरसंहिष्ट माया अथाभवत्केवल सोमो अस्य। ऋ० 7 98 5
2 राजाभवन्मधुन सोम्यस्य। ऋ० 6 20 3.
3. अपावृणोद्धरिभिरद्रिभि सुतमुद्गा हरिभिराजत। ऋ० 3 44 5
4 अजयो गा अजय शूर सोमम्। ऋ० 1 32 12.
5 अय त्रिधातु दिवि रोचनेपु त्रितेपु विन्ददमृतं निगूळ्हम्। ऋ० 6 44 23
6 इन्द्रो मधु सभृतमुस्रियाया पद्वद् विवेद शफवन्नमे गो। ऋ० 3 39 6.
7. विश्वं स्वाद्म सभृतमुस्रियायां यत्सीमिन्द्रो अदधाद् भोजनाय। ऋ० 3 30 14.
8. आमासु चिद्दधिषे पक्वमन्त पय कृष्णासु रुशद् रोहिणीपु। ऋ० 1 62 9.
9 यो गोपु पक्वं धारयत्। ऋ० 8 32 25
10. औणोर्दुर उस्रियाभ्यो वि दृळ्हो दूर्वाद् गा असृजो अङ्गिरस्वान्। ऋ० 6 17 6.
11 य पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् य पर्वतान् प्रकुपितॉं अरम्णात्। ऋ० 2 12 2.
गिरींरज्रान् रेजमानॉं अधारयत्। ऋ० 10 44 8
12. इन्द्र पक्षानच्छिनत्तैरिमामदृंहद् ये पक्षा आसंस्ते जीमूता अभवन्। मै० स० 1.10 13.
13. इन्द्रज्येष्ठान् बृहद्भ्य पर्वतेभ्य क्षयॉं एभ्य सुवसि पस्त्यावत।
यथायथा पतयन्तो वियेमिर एवैव तस्थु सवितः सवाय ते॥ ऋ० 4 54.5.
14 इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च।
स्थिराणि न पराणुदे॥ ऋ० 8 14 9.

स्तम्भित किया है[1]। जैसे दो चक्र धुरी के द्वारा अलग-अलग रहते है वैसे ही इन्द्र ने द्युलोक और पृथिवीलोक को पृथक-पृथक् सभाल रखा है[2]। वे द्यु और पृथिवी को[3] चर्म की भाति फैलाते है[4]। इन्द्र द्यु और पृथिवी के जनक है[5]। अपने महान् गुह्य नाम से ही उन्होने भूत और भव्य को जन्म दिया[6] और क्षणमात्र मे असत् को सत् मे परिवर्तित कर दिया[7]। द्युलोक और पृथिवी के पृथक्करण को और इन दोनो के विधारण को कभी-कभी इन्द्र के द्वारा एक राक्षस पर पाई विजय का परिणाम भी बताया गया है[8]। उस राक्षस ने इन दोनो को एक जगह जकड रखा था[9]। वृत्र से युद्ध करने के लिए जब इन्द्र आविर्भूत हुए तब उन्होने पृथिवी को प्रसृत और आकाश को स्थिर किया। अहि हन्ता ने जब सरिताओ के लिए मार्ग खोला तब उन्होने पृथिवी को द्युलोक के लिए दृष्टिगोचर बनाया[10]। अन्यत्र कहा गया है कि इन्द्र ने गुप्त द्यावापृथिवी का आविर्भाव किया, अथवा प्रकाश और जलो के साथ इन दोनो को जीता[11]। सभवत इस प्रकार की धारणाओ का आरभबिन्दु इस बात मे है कि प्रकाश खिलने पर आख का व्यापारक्षेत्र विस्तृत हो जाता है, जिससे आकाश और धरती अलग-अ ग होते प्रतीत होते है, जोकि अधकार के कारण अब तक एक जगह मिश्रित हु पडे थे।

वज्रपाणि इन्द्र को जोकि युद्ध मे अन्तरिक्षस्थ दानवो को छिन्न-भिन्न करते है, योद्धा लोग अनवरत आमन्त्रित करते है[12]। युद्ध के प्रमुख देवता होने के नाते उन्हे भौम शत्रुओ के साथ युद्ध करनेवाले आर्यो के सहायक के रूप मे और सभी

---

1. अधारयत्पृथिवी विश्वधायसमस्तभ्नान्मायया द्यामवस्रस । ऋ० 2 17 5
2 यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वक् तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् । ऋ० 10 89 4
3 इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव । ऋ० 8 3 6
4 उभे यत्समवर्तयत् । इन्द्रश्चर्मेव रोदसी । ऋ० 8 6 5
5 जनिता दिवो जनिता पृथिव्या । ऋ० 8 36 4
अय स यो वरिमाण पृथिव्या वर्ष्माण दिवो अकृणोदय स । ऋ० 6 47 4
6 महत्तन्नाम गुह्य पुरुस्पृग् येन भूत जनयो येन भव्यम् । ऋ० 10 55 2
7 असच्च सन्मुहुराचक्रिरिन्द्र । ऋ० 6 24 5
8 आद् रोदसी वितर वि ष्कभायत् सविव्यान श्चिद् भियसे मृग क ।
जिगर्तिमिन्द्रो अपजर्गुराण प्रति श्वसन्तमव दानव हन ॥ ऋ० 5 29 4
9 य इमे रोदसी मही सम्रीची समजग्रभीत् । तमोभिरिन्द्र त गुह । ऋ० 8 6 17
10 अधाकृणो पृथिवीं सदृशे दिवे यो धौतीनामहिहन्नारिणक्पथ । ऋ० 2 13 5
11 सत्रासाह वरेण्य सहोदा ससवास स्वरपश्च देवी ।
ससान य पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्र मदन्त्यनु धीरणास ॥ ऋ० 3 34 8
12 तमिद्वरो वि ह्वयन्ते समीके । ऋ० 1 21 3

देवताओं की अपेक्षा कही अधिक बार आमंत्रित किया गया है। वे आर्य-वर्ण के रखवाले और काले-वर्ण के उपदस्ता[1] है। उन्होंने 50,000 कृष्ण-वर्णों का अपाकरण किया और उनके दुर्गों को छेद-भेद डाला[2]। उन्होंने दस्युओं को आर्यों के सम्मुख झुकाया[3] और आर्यों को उन्होंने भूमि दी[4]। सप्त सिन्धु मे वे दस्यु के शस्त्रों को आर्यों के समुख पराभूत करते है। अन्य देवता तो आर्यों के रक्षक रूप में केवल यहां-वहां ही उल्लिखित हुए है: जैसेकि अश्विन्[5], अग्नि, अथवा अन्य विश्वेदेव[6]।

साधारण ढंग से तो इन्द्र को अद्वितीय उदारचेता सहायक[7], उपासकों के मुक्तिदाता और उनके अधिवक्ता, उनकी शक्ति[8], उनकी सुरक्षा की भित्ति इन रूपों में चित्रित किया गया है। उनके मित्र को कभी भी कोई क्षति नही पराभूत करती[9]। अनेक बार तो इन्द्र को उपासकों का मित्र अथवा कभी-कभी उनका भाई भी वताया गया है[10]। उन्हें पिता[11] या पिता-माता भी कहा गया है। पूर्व युग में वे पितरों के मित्र थे[12]; उनके लिए एक बार प्रयुक्त हुए कौशिक विशेषण[13] से ज्ञात होता है कि वे कुशिकों की संतति पर विशेष कृपा रखते थे।

---

1. इन्द्रः सम सु यजमानमार्यं प्रावद्विश्वेषु शतमूतिराजिषु स्वर्मीळ्हेष्वाजिषु ।
   मनवे शासदव्रतान् त्वचं कृष्णामरन्धयत् । ऋ० 1.130.8.
2. पञ्चाशत् कृष्णा नि वपः सहस्रात्कं न पुरो जरिमा वि दर्दः । ऋ० 4.16.13.
3. त्वं ह नु त्यददमायो दस्यूँरेकः कृष्टीरवनोरार्याय । ऋ० 6.18.3.
4. अहं भूमिमददामार्याय । ऋ० 4.26.2.
5. यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा ।
   अभि दस्युं बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय ॥ ऋ० 1.117.21.
6. नू म आ वाचमुप याहि विद्वान् विश्वेभिः सूनो सहसो यजत्रैः ।
   ये अग्निजिह्वा ऋतसाप आसुर्ये मनुं चक्रुरुपरं दसाय ॥ ऋ० 6.21.11.
7. न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः । ऋ० 1.84.19.
   प्रप्र वस्त्रिष्टुभमिषं मन्दद्वीरायेन्दवे । धिया वो मेधसातये पुरंध्या विवासति ।
   ऋ० 8.69.1.
8. त्वे अपि क्रतुर्मम । ऋ० 7.31.5.
9. न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदाचन । ऋ० 10.152.1.
10. परा याहि मघवन्ना च याहीन्द्र भ्रातरुभयत्रा ते अर्थम् । ऋ० 3.53 5.
11. सखा पिता पितृतमः पितॄणाम् । ऋ० 4.17.17.
    मां हवन्ते पितरं न जन्तवः । ऋ० 10.48.1.
12. त्वं ह्या३पिः प्रदिवि पितॄणाम् । ऋ० 6.21.8.
    जुष्टी नरो ब्रह्मणा वः पितॄणामक्षमव्ययं न किला रिषाथ । ऋ० 7.33.4.
13. आ तू न इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिब । ऋ० 1.10.11.

जो द्रविप् दान नही करते, इन्द्र उन्हें नहीं चाहते[1]। किंतु पूतात्मा मनुवर्ग को वे कल्याण और धन-जन देते है[2]। उनसे यह प्रार्थना भी की गई है कि वे इतर उपासकों की ओर न देखे[3] किंतु फिर भी सारे ही मनुष्य उनसे लाभ उठाते है[4]। उनके दोनों हाथ धन से भरपूर है[5]। वे धन के अटूट कोप है[6]। वे अपने उपासकों पर धन की वर्षा उसी प्रकार करते है जैसे कि कोई मनुष्य अंटकवे के द्वारा पेड़ को हिलाकर पके फलों को नीचे गिराता है[7]। कोई भी देवता या मर्त्य देने की चाह-वाले उस इन्द्र को भीषण वृषभ के समान नहीं रोक सकते, वे धन के आगार है[8]; और सारे ही धन-पथ उन्ही की ओर अग्रसर होते है जैसे अशेष नदियां समुद्र की ओर जाती है[9]। एक सूक्त में आद्योपान्त इन्द्र-प्रदत्त विविध धनों की तालिका मिलती है[10]। अन्य देवताओं की भांति इन्द्र से भी गाय और घोड़े वार-वार मांगे गये है[11]। गोपति विशेषण प्रधानरूप से उन्ही पर फवता है। उनके युद्धों को वार-वार 'गविष्टि' (गौओं की इच्छा) कहा गया है[12] और उनकी देय वस्तुए उनकी विजयों की प्रतिफल समझी जाती है[13]। इन्द्र पत्नियां भी देते

---

1. नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः। ऋ० 10.42.4.
2. सो अप्रतीनि मनवे पुरूणीन्द्रो दाशद्दाशुषे हन्ति वृत्रम्। ऋ० 2.19 4.
दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु। ऋ० 2.22 3
इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद् राध उपस्तुतश्चिदर्वाक्॥ ऋ० 7.27 3.
3. मो षु त्वामत्र बहवो हि विप्रा नि रीरमन् यजमानासो अन्ये। ऋ० 2.18.3.
4. सन्ति ह्यर्य आशिष इन्द्र आयुर्जनानाम्।
अस्मान्नक्षस्व मघवन्नुपावसे धुक्षस्व पिप्युषीमिषम्॥ ऋ० 8.54.7.
5. उभा ते पूर्णा वसुना गभस्ती। ऋ० 7.37.3.
6. प्र बोधय जरितर्जारमिन्द्रम्। कोशं न पूर्णं वसुनान्यृष्टम्। ऋ० 10.42.2.
7. वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव धूनुहीन्द्र संपारणं वसु। ऋ० 3 45.4.
8. इन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वो अर्णवम्। ऋ० 1.51.1.
9. सं जग्मिरे पथ्या रायो अस्मिन्त्समुद्रे न सिन्धवो यादमानाः ऋ० 6.19.5.
10. जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥ ऋ० 10.47.1.
11. सेमं नः काममापृण गोभिरश्वैः शतक्रतो। ऋ० 1.16.9.
यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी। ऋ० 1.101 4.
12. न परि वाधो हरिवो गविष्टिषु। ऋ० 8.24.5.
13. अयं शृण्वे अध जयन्नुत घ्नन्नयमुत प्र कृणुते युधा गाः। ऋ० 4.17.10.
समिन्द्रो गा अजयत्सं हिरण्या समश्विया मघवा यो ह पूर्वीः। ऋ० 4 17.11.

हैं[1] और पुत्र भी[2]। उदारता उनकी अपनी बपौती है यहां तक कि 'मघवन्' विशेषण ऋग्वेद मे इनका अपना ही बन गया है; और वेदोत्तर-कालीन साहित्य में तो यह इनका नाम ही बन गया है। इन्द्र के लिए 'वसुपति' विशेषण भी बार-बार आता है।

यद्यपि इन्द्र की अपनी प्रधान गाथा वृत्र-युद्ध ही है, तथापि 'शौर्य-वीर्य' के कर्ता होने के नाते उनके साथ और बहुत-सी कहानियां भी जुड़ गई है। कुछ मन्त्रों में इन्द्र का उषस् के साथ विरोध दिखाया गया है। यहां तक कि उन्होंने उषस् का अनस् तोड़ डाला था[3]। उन्होंने उषस् का अनस् तहसनहस कर डाला था और उसके मन्दगामी (घोड़ो) को अपने तीव्रजवा घोड़ों के द्वारा तितर-बितर कर दिया[4] था। इन्द्र के वज्र से भयभीत होकर उषस् अपने अनस् को छोड़ भागी[5]। अभद्र विचार करने वाली 'दिवो दुहिता' को कुचल डालने का आरोप भी इन्द्र पर हुआ है। उषा का अनस् विपाश् नदी पर टूटा हुआ पड़ा है और भयभीत उषस् वहां से भाग जाती है[6]। इस गाथा का आधार विद्युत्-तूफान के द्वारा उषस् के आच्छादन में निहित प्रतीत होता है। किंतु इस व्याख्या के विरोध में बेर्गेन का कथन है कि उषस् को आच्छादित करनेवाले इन्द्र नही, प्रत्युत एक राक्षस हैं; और इन्द्र के अचूक अस्त्र वज्र का प्रयोग वृत्र-युद्ध तक ही सीमित करना अन्याय है। उपसहार मे वे कहते हैं कि देर करनेवाली उषा को पराभूत करके उदित होनेवाले सूर्य को ही इस गाथा में इन्द्र-विजय के रूप में ढाला गया है[7]।

1. गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्राः । जनीयन्तो जनिदामक्षितोतिम् । ऋ० 4.17.16.
2. समिन्द्र राया समिषा रभेमहि । सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया । ऋ० 1.53.5.
3. अवाहन्निन्द्र उषसो यथानः । ऋ० 10.73.6.
4. ·········वज्रेणान उषसः सं पिपेष ।
अजवसो जविनीभिर्विवृश्चन्त्सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥ ऋ० 2.15.6.
5. इन्द्रस्य वज्रादबिभेदभिश्नथः प्राक्रामच्छुन्ध्यूरजहादुषा अनः । ऋ० 10.138.5.
6. एतद्घेदुत वीर्यमिन्द्र चकर्थ पौंस्यम् ।
स्त्रियं यद्दुर्हणायुवं वधीर्दुहितरं दिवः ॥ ऋ० 4.30.8.
दिवश्चिद् घा दुहितरं महान्महीयमानाम् ।
उषासमिन्द्र सं पिणक् ॥ ऋ० 4.30.9.
अपोषा अनसः सरत्संपिष्टादह बिभ्युषी ।
नि यत्सीं शिश्नथद् वृषा ॥ ऋ० 4.30.10.
एतदस्या अनः शये सुसंपिष्टं विपाश्या ।
ससार सीं परावतः ॥ ऋ० 4.30.11. देखो 2.15.6. ऊपर
7. व्युच्छा दुहितर्दिवो मा चिरं तनुथा अपः ।

तीव्रजवा एतश और हरित अश्वो द्वारा वहन किये जाते सूर्य के साथ होनेवाली प्रतियोगिता को झलकानेवाली गाथा मे इन्द्र की सूर्य के साथ कलह दिखाई गई है। सूर्य आगे वढते है पर इन्द्र उनके मार्ग मे बाधा डालते हैं। सूर्य के रथ का एक चक्र तिडक जाता है और इस बात का उत्तरदायी इन्द्र को ठहराया जाता है। इसी गाथा से सभवत. इस बात का भी सबन्ध है कि इन्द्र ने सूर्य के हरित अश्वो को रोक दिया[1]। सोम-विजयक गाथा से भी इन्द्र का सबन्ध स्पष्ट है, क्योकि श्येनपक्षी अमृत के इस पान को उन्ही के पास लाता है। एक और गाथा, जिसके सकेत अनेक स्थलो पर मिलते है, और जिसके विवरण मे एक पूरा सूक्त[2] मिलता है, इन्द्र द्वारा पणियो की गौओ को स्वतन्त्र करने के विषय मे है। ये राक्षस, धर्म-पथ पर आरूढ हुए याज्ञिको से अपनी गौए छिपानेवाले अनुदारचेता मनुष्यो के प्रतिरूप प्रतीत होते हैं। ये राक्षस गौओ को रसा नदी के सुदूर पार एक गुहा मे छिपाकर रखते हैं। इन्द्र की दूती सरमा गौओ की ढूढ मे निकलती है और उन्हे वहा पाकर इन्द्र की ओर से उनकी माग करती है। किंतु पणि तो निरे सूम ठहरे, वे उसे चिढाते हैं। एक अन्य मन्त्र[3] मे आता है कि इन्द्र ने गौए पाने की लालसा से वल के अभेद्य दुर्ग को तोड डाला और उसमे छिपे पणियो पर विजय पाई। अन्य स्थलो पर गौओ का अवरोधक वल को बताया गया है, इसे भी इन्द्र ने मार भगाया था। किंतु इस प्रसग मे पणियो का उल्लेख नही है[4]। वल के भेदन मे, उसके दुर्ग के विदारण मे और गौओ के उन्मोचन के कार्यो मे अङ्गिरस् लोग इन्द्र की सहायता करते हैं।

इन्द्र के द्वारा दासो या दस्युओ पर पाई विजय के आशिक सकेत जहा-तहा मिलते हैं। मौलिक रूप मे तो ये लोग मानवीय शत्रु है, जिनका रग काला है[5], जो अनास् है[6] अदेव तथा अयज्वा है। यद्यपि इन्द्र के द्वारा पाई गई व्यक्तिगत दस्युविजय के वर्णनो मे गाथात्मक तत्त्व घुल-मिल कर अस्पष्ट-से हो गये हैं,

---

नेत्त्वा स्तेन यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा ॥ ऋ० 5.79 9.

1. सूरश्चिदा हरितो अस्य रीरमदिन्द्रादा कश्चिद्भयते तवीयस । ऋ० 10 92 8.

2 किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरि पराचैः ।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयासि ॥ ऋ० 10 108.1.

3. रुजदरुग्ण वि वलस्य सानु पणीँ वचोभिरभि योधदिन्द्र । ऋ० 6 39.2.

4 यो गा उदाजदपधा वलस्य । ऋ० 2 12.3.
अपावृणो वल इन्द्र व्रजो गो. पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार । ऋ० 3.30 10.
दे० 1 130 8 पृ० 152.

5. स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनीः पुरन्दरो दासीरैरयद्वि । ऋ० 2.20 7.

6. अनासो दस्यूँरमृणो वधेन । ऋ० 5.29.10.

तथापि इन गाथाओं का आधार पार्थिव एव मानवीय है। क्योंकि जहां एक ओर वृत्र का वध मनुष्य सामान्य के हितार्थ दिखाया गया है वहां जिनके लिए या जिनके साथ इन्द्र ने दास या दासो को पराभूत किया वे खुले मानव व्यक्ति हैं। इन्द्र के ये शत्रु पुरोहितो के पूर्वज नही प्रत्युत राजकुमार योद्धा हैं, जो सभवतः ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हो। उदाहरणार्थ; दिवोदास अतिथिग्व सुप्रसिद्ध राजा सुदास् के पिता है और उनका दास शत्रु कुलितर-पुत्र शम्बर है। किंतु जिन मन्त्रो मे दास शब्द का प्रयोग उस अहि के लिए हुआ है, जिससे कि इन्द्र सलिल को स्वतन करते हैं,[1] या इसका प्रयोग तीन सिर और छः नेत्रोंवाले उस दैत्य के लिए हुआ है, जिसके साथ कि त्रित का युद्ध होता है[2] अथवा उस व्यस के लिए हुआ है, जिसने कि इन्द्र के हनु पर आघात किया था[3] वहां नि.सदेह दास शब्द वास्तविक दैत्यों का वोधक है। नमुचि और उसी कोटि के अन्य दासों का विवरण दास-अध्याय मे किया जायगा।

एक और गाथा, जो सर्व-साधारण के लिए महत्त्व की नही है, किंतु जिसकी कल्पना किसी उत्तरकालीन ऋग्वेदीय कवि के द्वारा की गई प्रतीत होती है; इन्द्र और वृषाकपि की है, जिसके कुछ अस्पष्ट-से विवरण ऋग्वेद[4] मे मिलते है। उद्दिष्ट सूक्त मे इन्द्र और उनकी पत्नी इन्द्राणी के मध्य एक वन्दर (वृपाकपि) के विषय मे विवाद होता है। यह कपि इन्द्र का विश्वासभाजन है और इसने इन्द्राणी को आघात पहुंचाया है। फिर भी अन्त मे वृपाकपि को वचा लिया जाता है और वह निकल भागता है। वाद मे सन्धि हो जाती है और वह लौट आता है। वी० व्राड्के के अनुसार यह कथा एक व्यंग है; जिसमे इन्द्र और इन्द्राणी इन नामो से कोई राजकुमार और राजकुमारी अभिप्रेत हैं।

ऐतिहासिक तथ्य-सपन्न गाथाओ मे एक वह गाथा है जिसमे इन्द्र तुर्वशी और यदु को सहीसलामत नदियो के पार उतार देते हैं[5]। वे दोनो परस्पर-सवद्ध दो आर्य

1. सृजो महीरिन्द्र या अपिन्वः परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वीः ।
अमर्त्यं चिद्दासं मन्यमानमवाभिनदुक्थैर्वावृधानः ॥ ऋ० 2.11.2.
2. स इद्दासं तुवीरवं पतिर्दन्षळक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत् ।
अस्य त्रितो न्वोजसा वृधानो विपा वराहमयोअग्रया हन् ॥ ऋ० 10.99 6.
3. ममच्चन ते मघवन्व्यंसो निविविध्वाँ अप हनू जघान ।
अधा निविद्ध उत्तरो बभूवाञ्छिरो दासस्य सं पिणग्वधेन ॥ ऋ० 4.18 9.
4. वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।
यत्रामदद्वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ऋ० 10.86.1.
5. त्वं धुनिरिन्द्र धुनिमतीर्ऋणोरपः सीरा न स्रवन्तीः ।
प्र यत्समुद्रमति शूर पर्षि पारया तुर्वशं यदुं स्वस्ति ॥ ऋ० 1.174.9.

जत्थों के उन्नायक हैं, और इन्हीं के नाम पर इन जत्थों का नाम पड़ा है। किंतु कहीं-कहीं कवियों ने इन जत्थों को परस्पर-विरोधी दिखाकर इनका वर्णन किया है। इस प्रकार का भेदगर्भ दृष्टिकोण किसी हद तक इन जातियों की ऐतिहासिकता का परिचायक है। इस प्रकार के प्रसंगों में भारत के युद्ध-देवता विदेशों की ओर अग्रसर होनेवाले आर्यों के संरक्षक बन कर सामने आते हैं। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि इन्द्र ने सुश्रवस् के साथ 20 सेना-नायकों और उनके 60099 योद्धाओं को अपने रथ के पहिये से दरड़ डाला। राजा सुदास् की लड़ाई के वर्णन तो सच-मुच ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं। इस प्रसङ्ग में कहा गया है कि इन्द्र ने दाशराज्ञ समर में सुदास् की सहायता की[1]; यह सहायता उन्होंने सुदास् के पुरोहित तृत्सु की स्तुतियों से प्रसन्न होकर की थी और इसी के परिणाम-स्वरूप उन्होंने उनके शत्रुओं को परुष्णी नदी में डुबा दिया था[2]।

अन्ततः, ऋग्वेद के एक सूक्त[3] में आता है कि अपाला नाम की एक युवती ने नदी के किनारे सोम पाया और अपने दांतों से इसका सवन करके इसे इन्द्र के लिए प्रस्तुत किया; इन्द्र अपाला के पास आये और उन्होंने उसकी इच्छाओं को पूर्ण किया।

ध्यान से विचार करने पर ज्ञात होता है कि शारीरिक पौरुष और भौतिक लोक पर आधिपत्य इन्द्र की ये दो प्रमुख विशेषताएं है। शौर्य-वीर्य उनकी बपौती है, जबकि शीलसंपन्न स्वाराज्य वरुण का धन है। इन्द्र एक दिगन्तव्यापी शासक हैं; किंतु उनका यह शासकत्व सनातन नियमों के प्रवर्धन में नही खिला है, और न ही वह नैतिक शासन की स्थापना में उघड़ा है; वह तो उनकी अबाध युद्ध-लालसा में प्रस्फुटित हुआ है। तब जबकि इनकी बलवती भुजाए विजय लाभ करती हैं; उनकी असीम उदारता में उभरा है—जबकि वे मनुष्यों का सर्वोच्च कल्याण सम्पादित करते है, उनकी दानशीलता में चमका है—जबकि वे सोम से मत्त होकर अपने उपासक याज्ञिकों को मनचाहे पुरस्कार देते है। उनके निमित्त कहे गये सूक्तों की बहुसख्या में उनके चरित्र के इन्ही पक्षों का कुछ उतार-चढाव के साथ वर्णन किया गया है और ये सूक्त कदाचित् ही सोम-हवन की परिधि से बाहर जा

1. एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः। ऋ० 7.33.3.
2. ईयुरर्थं न न्यर्थं परुष्णीमाशुश्चनेदभिपित्वं जगाम।
   सुदास इन्द्रः सुतुकाँ अमित्रानरन्धयन्मानुषे वध्रिवाचः॥ ऋ० 7.18.9.
   वि सद्यो विश्वा दृंहितान्येषामिन्द्रः पुरः सहसा सप्त दर्दः।
   व्यानवस्य तृत्सवे गयं भाग्जेष्म पूरुं विदथे मृध्रवाचम्॥ ऋ० 7.18.13.
3. नह्यन्यं बळाकरं मर्डितारं शतक्रतो।
   त्वं न इन्द्र मृळय॥ ऋ० 8.80.1. इत्यादि पूर्ण सूक्त –

पाये हैं। कुछ भी हो उनका वर्णन वरुण की न्याईं नैतिक उत्कर्ष की दृष्टि से नहीं हुआ है। फिर भी अनेक सूक्तों में वरुण के विशिष्ट कार्यों का कर्तृत्व इन्द्र में निक्षिप्त किया गया है। अपेक्षाकृत बाद के मण्डलों में कुछ सूक्त ऐसे भी मिलते है जिनमें इन्द्र के नैतिक चरित्र का दिग्दर्शन कराया गया है और उनके प्रति श्रद्धा का भाव प्रकट किया या कराया गया है[1]। अनीश्वरवादियों की अविश्वास भावना के विरोध में इन्द्र के अस्तित्व में विश्वास प्रकट किया गया है[2]। ऋग्वेद के एक बाद के मन्त्र में यह भी आता है कि इन्द्र ने तप के द्वारा स्वर्लोक की प्राप्ति की थी[3]।

इन्द्र के स्वरूप की बढ़ी-चढ़ी मानवीयता के कारण उनके चरित्र में कतिपय ऐन्द्रिय और अनैतिक तत्त्व आ घुसे है जो उस नैतिक परिपूर्णता के विपरीत जा पड़ते हैं, जो अन्यत्र उनके लिए वर्णन की गई है और जो एक वैदिक देवता के चरित्र के लिए आवश्यक भी है। इस चारित्रिक असामञ्जस्य का कारण क्या है? इसका उत्तर इन्द्र-विषयक विभिन्न मन्त्रों को एक लम्बे काल-क्रम में तरतीबवार रखकर और यह धारणा बनाकर कि इन मन्त्रों में प्रलंब काल विभिन्न नैतिक स्तर झलक्ते है, नही दिया जा सकता; क्योकि यह चारित्रिक असामञ्जस्य तो एक ही कवि के शब्दों में, और एक ही मन्त्र में व्यक्त है। इसका सबन्ध मुख्यत: उनके सोम-पान से है। एक मन्त्र में कहा गया है कि इन्द्र सब-कुछ देखते और सुनते हैं, वे मनुष्यों के उत्साह को आंकते है। पर दूसरे ही मन्त्र में उनके उदर का वर्णन किया गया है—जोकि ओजप्रद पेय से परिपूर्ण है। एक संपूर्ण सूक्त[4] में, जो स्वगत भाषण के रूप में है, इन्द्र सोम-पान से मत्त होकर अपनी महत्ता और शक्ति पर दर्प-भरे शब्द बोलते है। एक स्थल पर तो यहां तक कहा गया है कि एक बार अत्यधिक सोम-पान के कारण इन्द्र को अपच का रोग हो गया था। सोम में बौराकर इन्द्र ने पितृहत्या तक कर डाली थी—इस बात का भी वर्णन मिलता है। इन्द्र के असामान्य सोम-व्यसन का नैतिक दृष्टि से मूल्यांकन करते समय यह बात याद रखनी चाहिए कि वैदिक कवियों की दृष्टि में सोम-पान से उत्पन्न होने वाला उन्माद धार्मिक उन्माद था; और इस उन्माद ही के कारण सोम को अमृतत्व का

---

1. अधा चन श्रद् दधति त्विषीमत इन्द्राय वज्रं निघनिघ्नते वधम्। ऋ० 1.55.5.
2. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥ ऋ० 2.12.5.
3. तुभ्येदमिन्द्र परि षिच्यते मधु। त्वं तपः परितप्याजयः स्वः। ऋ० 10.167.1.
येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः।
इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम्॥ ऋ० 10.159 4.
4. इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति।
कुवित्सोमस्यापामिति॥ ऋ० 10.119.1. इत्यादि पूर्ण सूक्त

पेय कहा गया था। संभवतः इन्द्र की कल्पना एक ऐसे देवता के रूप मे, जो सोम-पान करके विश्व के बड़े-से-बड़े अनहोने काम कर देते है जैसे धरती-आकाश को स्थित करना, सोम के इसी मादक पक्ष से उद्भूत होती है[1]। इन्द्र देव पर होने वाले सोम के प्रभाव के साथ कवि की नैतिक सहानुभूति मे उस युग का नैतिक स्तर किसी सीमा तक प्रतिबिम्बित है। दूसरी ओर ऋग्वैदिक इन्द्र के चरित्र मे प्रेम-लीला का अभाव है; और इस बात के संकेत ब्राह्मणो मे भी नही के बराबर है। अलबत्ता यहां उन्हें 'अहल्यायै जार' अवश्य कहा गया है। यह बात स्वाभाविक है कि सोम-सवन-विषयक कविता में इन्द्र के व्यक्तित्व का तृष्णा-पक्ष उल्वण बन कर गायक के सामने आवे।

रॉथ के मत में प्राचीनतर देव-समुदाय से संबद्ध वरुण का परपरागत महत्व ऋग्वैदिक काल मे पहुंचकर इन्द्र पर संक्रमित हो गया। ह्विटनी इसी मत के अनुयायी हैं। इस बात का अशतः आधार यह है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल में वरुण के निमित्त एक भी सूक्त नही कहा गया है, जबकि उसमे इन्द्र के निमित्त 45 सूक्त कहे गये है। किंतु स्मरण रहे कि उसी मण्डल मे दो सूक्त (126, 185) ऐसे हैं, जिनमे वरुण का गुणगान दो आदित्यो के साथ हुआ है, और उसी मण्डल के अनेक एकाकी मन्त्रो मे वरुण का आह्वान अथवा सकेतन अन्य देवताओ के साथ किया गया है। सूक्तो की सख्या पर आधृत तर्कसगत प्रतीत नही होता, क्योकि ऋग्वेद के सभी पूर्वतर मण्डलो मे इन्द्र के निमित्त कहे गये सूक्तो की सख्या वरुण-सूक्तो की अपेक्षा बहुत अधिक है। तृतीय मण्डल मे वरुण के निमित्त एक भी सूक्त नही कहा गया है, जबकि उसमे इन्द्र के लिए 22 सूक्त आये है। द्वितीय मण्डल मे वरुण-सूक्त 1 और इन्द्र-सूक्त 23 है। साथ ही ये दोनो मण्डल मिलकर भी दशम मण्डल से कही छोटे पडते है। यह सत्य है कि वरुण का उल्लेख दशम मण्डल मे पूर्व मण्डलो की अपेक्षा कम बार हुआ है। इस तथ्य के अतिरिक्त और कोई भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रमाण इस बात की पुष्टि मे नही मिलता कि ऋग्वेद-रचना-काल मे, कालक्रम से इन्द्र ने वरुण के महत्व पर अधिकार करके उन्हे पीछे धकेल दिया हो। ऋग्वेद के प्राचीनतर भाग के एक सूक्त[2] मे कथोपकथन के रूप मे इन्द्र-वरुण के बीच कटुता की बाते आई है। विद्वानो की दृष्टि मे इस सूक्त के कथोपकथन मे इन दोनो देवताओ के आपेक्षिक उत्कर्ष की अधिकता एवं न्यूनता का क्रम प्रतिफलित है जो कि वरुण से हटकर इन्द्र पर आ गया है।

---

1. अवंशे द्यामस्तभायद् बृहन्तमा रोदसी अपृणदन्तरिक्षम्।
स धारयत्पृथिवीं पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार॥ ऋ० 2.15.2.

2. मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः।
क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः॥ ऋ० 4.42.1. पू० सू०

किंतु अन्तिम मण्डल में आनेवाले एक सूक्त के कथोपकथन से इस बात की पुष्टि नही होती। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जहां एक ओर भारत-ईरानी काल में सभवतः इन्द्र की अपेक्षा वरुण की महत्ता कहीं अधिक थी, वहां दूसरी ओर ब्राह्मणों[1] एवं महाकाव्यों में इन्द्र स्वर्ग के प्रधान देवता बन गये हैं; और ब्रह्मा-विष्णु-शिव की पौराणिक त्रयी के समय में भी अपने इसी स्थान पर बने रहते है, यद्यपि यहां पहुंचकर वे इनके अधीन हो जाते हैं। अथर्ववेद के काल तक पहुंचते-पहुंचते वरुण अपने उच्च पद से च्युत हो जाते हैं। फलतः ऋग्वैदिक काल में भी इन्द्र का महत्त्व क्रमशः अधिक व्यापक होता रहा होगा। वेन्फे और ब्रील के अनुसार वैदिक काल में इन्द्र ने प्राचीन देवता द्यौस् के महत्त्व को आत्म-सात् किया था। संभवतः भारत-ईरानी त्रित आप्त्य के संबन्ध में यह मत अधिक उचित हो सकता है। क्योंकि यद्यपि त्रित आप्त्य का ऋग्वेद में बहुत कम उल्लेख हुआ है तो भी उसमें उन्हें उसी प्रकार के विजयकर्म करते दिखाया गया है जैसे कि इन्द्र ने किये है। इतना ही नही, कहीं-कही तो गाथा में वे इन्द्र से भी बढ़-चढ़ कर महत्त्वशाली दीख पड़ते हैं।

इन्द्र का नाम अवेस्ता में केवल दो बार आया है। वहां वे देवता नही, अपितु दानव बनकर आते हैं। साथ ही वहां उनका स्वरूप भी कुछ अनिश्चित-सा है। इन्द्र का निजी वैदिक विशेषण वृत्रघ्न भी वेरेथ्रघ्न के रूप में अवेस्ता में आता है। किंतु वहां इसका इन्द्र या विद्युत्-तूफान की गाथा के साथ संबन्ध नहीं है। वहां तो यह केवल 'युद्ध के देवता' का बोधक है। फलतः संभव है कि भारत-ईरानी काल में वृत्रघ्न इन्द्र की तरह का कोई देवता रहा हो। यह भी संभव है कि भायोरपीय काल मे द्युलोक की गर्जन के देवता के साथ-साथ एक और स्पष्ट-तर विद्युत्-देवता रहा हो, जिसका आकार महान् रहा हो; जो अधिक खाने-पीने वाला रहा हो और जो अपने विद्युत्-वज्र के द्वारा दानवों का हनन करता रहा हो।

इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। किंतु यह सभव है कि इसकी निष्पत्ति उसी धातु से हुई हो जिससे कि 'इन्दु' (बूंद) शब्द की हुई है।

त्रित आप्त्य (§ 23)—

त्रित आप्त्य के निमित्त ऋग्वेद में एक भी सूक्त नही आया है, किंतु 29 सूक्तों में आनेवाले 40 मन्त्रों में उनका सामयिक उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद के चार सूक्तों में आप्त्य विशेषण सात बार त्रित के साथ अथवा उसके स्थान पर आता है[2]।

1. अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इम मेवाभिषिञ्चामहा इति तथेति तद्वै तदिन्द्रमेव ॥ ऐत० ब्रा० 8.12
2. प्र सक्षणो दिव्यः कण्वहोता त्रितो दिवः सजोषा वातो अग्निः। ऋ० 5.41.4.

सब से अधिक वार उनका उल्लेख इन्द्र के साथ हुआ है। सात वार उनकी अग्नि के साथ तुलना या तद्रूपता की गई है। अनेक वार वे मरुतो के साथ आते है और दस वार पेय अथवा देवता सोम के साथ उनका सबन्ध जोडा गया है। त्रित के विषय मे यह भी उल्लेख आता है कि सोमपान की शक्ति से उन्होने वृत्र का भेदन किया था[1]।

वृत्र-विजय मे मरुतो ने त्रित और इन्द्र की सहायता की[2]। इस प्रकार का वीरकृत्य त्रित की विशेपता रहा होगा, क्योकि इसका उल्लेख उदाहरण के रूप मे हुआ है। वृत्र-युद्ध मे जब इन्द्र ने वृष्टि-निरोधक दानव पर आघात किया तो उन्होने उसे उसी प्रकार विदीर्ण कर दिया जैसे त्रित वल के घेरो को विदीर्ण करते हैं[3]। अत जिस मनुष्य की इन्द्र और अग्नि सहायता करते है, वह त्रित की भाति प्रवल वाधाओ को निरस्त कर देता है[4]। त्रित आप्त्य ने अपने पैतृक अस्त्रो के वल पर और इन्द्र के द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर त्वष्टा के त्रिशीर्ष पुत्र से युद्ध किया और उसका वध किया एव गौओ को उन्मुक्त किया[5]। निम्न मन्त्र मे इन्द्र ठीक वही कार्य करते है, क्योकि वे त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप के तीन सिरो पर आघात करते है और गौओ को स्वायत्त करते है। इन्द्र (अथवा सभवत अग्नि) ने दारुण शब्द करनेवाले त्रिशीर्ष और षट्नेत्र वाले राक्षस का दमन किया, और उनकी शक्ति से शक्तिमान् होकर त्रित ने आयस वज्र के द्वारा[6] वराह (=राक्षस) को मार डाला[7]। यहा भी दोनो देवताओ के द्वारा सपादित कार्य तद्रूप है। इन्द्र

पुनि र आप्त्यो यजत सदा॑नो वर्धा॑त्स शस नर्यो॑ अभिष्टौ। ऋ० 5 41 9
वृष्णो॑ अस्तोपि भूम्यस्य गर्भ॑ त्रितो नपा॑तमुपा सुंवृक्ति। ऋ० 5 41 10
त्रिते ष्वप्न्य सर्वमाप्त्ये परिं दद्मस्यनेहसो व ऊतय सु ऊतयो॑ व ऊतय।
ऋ० 8 47 15 आदि

अस्य त्रित क्रतु॑ना वव्रे अन्त। ऋ० 10 8 7.

1. पितु नु स्तो॑प महो धर्मा॑ण तवि॑षीम्।
यस्य॑ त्रितो व्योजसा वृत्र विप॑र्वमर्द॑यत्॥ ऋ० 1 187 1
2 अनु त्रितस्य युध्य॑त शुष्म॑मावन्नुत क्रतुम्। अभिन्द्र वृत्रतू॑र्ये॥ ऋ० 8 7 24
3 भिनद्वलस्य॑ परिधीँ॑ रिव त्रित। ऋ० 1 52 5
4 इन्द्रा॑ग्नी यमव॑थ उभा वाजेषु मर्त्य॑म्।
दृळ्हा चित्स प्रभे॑दति द्युम्ना वाणी॑रिव त्रित॥ ऋ० 5.86 1
5 स पित्र्याण्यायु॑धानि विद्वानिन्द्रे॑षित आप्त्यो अभ्य॑युध्यत्।
त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान्त्वाष्ट्रस्य॑ चिन्नि ससृजे त्रितो गा॥ ऋ० 10 8 8
6 त्व वृत्रमाशया॑न सिरा॑सु महो वज्रे॑ण सिष्वपो वराहु॑म्। ऋ० 1 121.11
7. अस्य त्रितो न्वोज॑सा वृधानो विपा वराहमयो॑ अग्रया हन्। ऋ० 10 99 6

ने राक्षस के यहा से त्रित के लिए गौए प्रकट की[1]। इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को त्रित के हाथो मे सौप दिया[2]। सोम-सवन करनेवाले त्रित के द्वारा शक्तिमान् किये जाने पर इन्द्र ने अर्बुद को नीचे ढकेला और अङ्गिराओं के साथ वल का भेदन किया[3]। जब बलवान् मरुद्गण आगे बढते हैं और विद्युत् की चमक झमालती है तब त्रित गर्जन करते हैं और पानी जोर का शब्द[4]। मरुत् सूक्त के दो अस्पष्ट मन्त्रो मे कहा गया है कि मरुतो का प्रकाशमय पथ त्रित के प्रकट होने[5] पर प्रभासित हो जाता है और प्रतीत होता है कि त्रित अपने रथ पर बिठाकर मरुतो को लाते है[6]। एक अग्निसूक्त[7] मे मरुतो के लिए कहा गया है कि उन्होने त्रित को अपनी (मरुतो की) सहायता करने की सोचते हुए पाया। जब त्रित आकाश मे ध्माता की भाति अग्नि को धमित करते है तब अग्नि की लपटे ऊपर उठती हैं और अग्नि भभक उठता है[8]। वे जब गृहो मे उत्पन्न होते है तब युवक की भाति प्रकाश के केन्द्र बन जाते है और आवासो मे अपनी प्रतिष्ठा करते है। त्रित (लपटो से) परिवेष्टित होकर अपने स्थान पर बैठ गये[9]। त्रित का निवास स्वर्ग मे भी बताया गया है। उनका निवास-स्थान गुप्त है[10]। यह सुदूर है, क्योकि उपस् और आदित्यो से प्रार्थना की गई है कि वे उपासक के दुष्कर्म

1. अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि । ऋ० 10.48 2.
2. अस्मभ्यं तत्त्वाष्ट्रं विश्वरूपमरन्धयः साख्यस्य त्रिताय । ऋ० 2.11.19.
3. अस्य सुवानस्य मन्दिनस्त्रितस्य न्यर्बुदं वावृधानो अस्तः ।
अवर्तयत्सूर्यो न चक्रं भिनद् वलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान् ॥ ऋ० 2.11.20
4. प्र वो मरुतस्तविषा उदन्यवो वयोवृधो अश्वयुजः परिज्रयः ।
सं विद्युता दधति वाशति त्रितः स्वरन्त्यापोऽवना परिज्रयः ॥ ऋ० 5 54 2.
5 चित्रं तद्वो मरुतो याम चेकिते पृश्न्या यदूधरप्यापयो दुहुः ।
यद्वा निदे नवमानस्य रुद्रियास्त्रितं जराय जुरतामदाभ्याः ॥ ऋ० 2 34.10.
6. ताँ इयानो महि वरूथमूतय उप घेदेना नमसा गृणीमसि ।
त्रितो न यान् पञ्च होतॄनभिष्टय आववर्तदवराञ्चक्रियावसे ॥ ऋ० 2.34.14.
7. नि यस्य ते प्रयसा स्याजर धक्षोर्न वाता. परि सन्त्यच्युताः ।
आ रण्वासो युयुधयो न सत्वनं त्रितं नशन्त प्र शिषन्त इष्टये ॥ ऋ० 10 115 4.
8. अध स्म यस्यार्चयः सम्यक् संयन्ति धूमिनः ।
यदीमह त्रितो दिव्युप ध्मातेव धमति ॥ ऋ० 5.9.5
9. इमं त्रितो भूर्यविन्ददिच्छन् वैभूवसो मूर्धन्यघ्न्यायाः ।
स शेवृधो जात आ हर्म्येषु नाभिर्युवा भवति रोचनस्य ॥ ऋ० 10 46 3.
नि पस्त्यासु त्रितः स्तभूयन् परिवीतो योनौ सीददन्तः । ऋ० 10 46.6.
10. उप त्रितस्य पाष्यो३ रभक्त यद्गुहा पदम् । ऋ० 9.102.2.

तथा दु स्वप्न को त्रित आप्त्य के यहा ले जायें[1]। उनका यह आवास सूर्यलोक मे प्रतीत होता है। क्योकि कवि कहता है, "मेरा उद्भव-स्थान वहा फैला हुआ है जहा वे सात किरणे है, त्रित आप्त्य उसे जानते है।

उसी सूक्त मे[2] त्रित के लिए वर्णन आता है कि वे कूप मे गिरा दिये गये थे और सहायता के लिए देवताओ से प्रार्थना कर रहे थे। बृहस्पति ने उनकी पुकार सुनकर उन्हे कष्ट से मुक्त किया। एक अन्य मन्त्र[3] मे त्रित एक गर्त मे से अपने पिता से प्रार्थना करते है और अपने पैतृक अस्त्रो की माग करते हुए आगे बढते हैं। अगले मन्त्र[4] मे वे विश्वरूप से लडते है। इन्द्र के लिए कहा गया है कि उन्होने विष्णु, त्रित आप्त्य या मरुतो के साथ सोम-पान किया[5] और प्रशसा के एक सूक्त मे त्रित के साथ वे आनन्दित हुए[6]। नवम मण्डल मे त्रित सोम-सोता के विशिष्ट रूप मे आते है। उनके चरित्र का यह पक्ष शेष ऋग्वेद मे केवल एक बार सूचित किया गया है[7]। सोम को त्रित के द्वारा पवित्र किया जाता है[8]। त्रित की युवतिया (अगुलिया) हरित बूदो को इन्द्र के द्वारा पिये जाने के लिए उत्तेजित करती[9] हैं। त्रित के दो सवन-पाषाणो के समीप सोम का गुह्य स्थान है[10]। सोम से प्रार्थना की गई है कि धन-सरित् को त्रित के पृष्ठ पर लावे[11]। सोम ने बहनो के साथ

1. यदाविर्यदपीच्यं देवासो अस्ति दुष्कृतम्।
त्रिते तद्विश्वमाप्त्य आरे अस्मद्दधातन ॥ ऋ० 8 47.13.
यच्च गोषु दु ष्वप्न्यं यच्चास्मे दुहितर्दिव ।
त्रिताय तद्विभावर्याप्त्याय परा वह ॥ ऋ० 8 47 14

2 त्रित कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये।
तच्छुश्राव बृहस्पति कृण्वन्न हूरणादुरु वित्त मे अस्य रोदसी। ऋ० 1 105 17

3 अस्य त्रित क्रतुना वव्रे अन्तरिच्छन् धीतिं पितुरेवै परस्य।
स चस्यमान पित्रोरुपस्थे जामि ब्रुवाण आयुधानि वेति ॥ ऋ० 10 8 7

4 द्रे० 10 8 8 पृ० 161

5 यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये।
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभि ॥ ऋ० 8 12 16

6 यथा मनो विवस्वति सोमं शक्रापिब सुतम्। बा० खि० 4 1.

7 अस्य सुवानस्य मन्दिनस्त्रितस्य न्यर्बुदं वावृधानो अस्त । ऋ० 2 11 20

8 भुवत् त्रितस्य मर्ज्यो भुवदिन्द्राय मत्सर । ऋ० 9 34 4.

9 आदीं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभि । इन्दुमिन्द्राय पीतये। ऋ० 9 32 2
एत त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभि । इन्दुमिन्द्राय पीतये। ऋ० 9 38 2

10 द्रे० 9 102.2 पृ० 162

11 त्रीणि त्रितस्य धारया पृष्ठेष्वेरया रयिम्। ऋ० 9 102 3

सूर्य को त्रित की चोटी (सानु) पर चमकाया[1] । वे सोमलता को पीसते हैं—उस वृष को, जो पर्वतो पर रहता है और जिसे भैसे की भाति चोटी पर पवित्र किया जाता है। जब वह गरजता है तब सूक्त उसके साथ चलते है। त्रित वरुण का समुद्र मे भरण करते है[2] । जब सोम मधु को उडेलते हैं तब वे त्रित के नाम का ऊचे स्वर मे उच्चारण करते हैं[3] ।

अनेक मन्त्रो मे तो त्रित के मौलिक स्वरूप के विषय मे कुछ भी नही, जाना जा सकता है। उदाहरणार्थ उनका नाम कुछ नाम-गणनाओ मे आता है, जिनसे उनके विषय मे कोई भी निश्चयात्मक सूचना नही मिलती[4] । अन्य दो मन्त्रो की व्याख्या अनिश्चित-सी है, क्योकि उनका पाठ अशुद्ध-सा प्रतीत होता है। वरुण सूक्त के अन्तर्गत एक मन्त्र मे त्रित के लिए आता है कि उनमे सभी काव्य (बुद्धिमत्ता) उसी प्रकार केन्द्रित है जैसे चक्र मे नाभि[5] । एक अन्य मन्त्र मे त्रित के लिए आता है कि उन्होंने एक दिव्य अश्व को जोडा, जिसे सूर्य मे से घडा गया था और जो यम के द्वारा दिया गया था। इस अश्व को परवर्ती मन्त्र मे यम, सूर्य और त्रित के तद्रूप बताया गया है, इसे गुह्य व्रत के द्वारा बनाया गया था[6] । अथर्ववेद के आधे दर्जन मन्त्रो से, जिनमे कि त्रित का उल्लेख आता है—उनके विषय मे निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नही होता। उनके पढने से इतनी ही धारणा बनती है कि त्रित एक सुदूर स्थित देवता है, जिनमे मानव जाति के पाप या स्वप्न प्रक्षिप्त कर दिये गये है[7] । त्रित का वर्णन दीर्घायु देनेवाले के रूप मे

---

1. स त्रितस्याधि सानवि पवमानो अरोचयत् । जामिभिः सूर्यं सह ॥ ऋ० 9 37 4.

2 त मर्मृजान महिषं न सानावंशुं दुहन्त्युक्षणं गिरिष्ठाम् ।
त वावशानं मतयं सचन्ते त्रितो बिभर्ति वरुणं समुद्रे ॥ ऋ० 9 95 4.

3 त्रितस्य नाम जनयन् मधु क्षरत् । ऋ० 9 86 20.

4 उत व शर्मुशिजामिव श्मस्यहिर्बुध्न्यो ऽजएकपादुत ।
त्रित ऋभुक्षा सविता च नो दधेऽपा नपादाशुहेमा धियाशमि ॥ ऋ० 2 31.6
प्र सक्षणो दिव्य कण्वहोता त्रितो दिव सजोषा वातो अग्नि । ऋ० 5 41 4.
नरा वा शंसं पूषणमगोह्यमग्नि देवेद्धमभ्यर्चसे गिरा ।
सूर्यामासा चन्द्रमसा यमं दिवि त्रित वातमुषसमक्तुमश्विना ॥ ऋ० 10 64 3

5 यस्मिन्विश्वानि काव्या चक्रे नाभिरिव श्रिता ।
त्रित जूती सपर्यत … . . … .. ॥ ऋ० 8 41 6

6 यमेन दत्त त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत् ।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्व वसवो निरतष्ट ॥ ऋ० 1 163 2.
असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन । ऋ० 1.163 3

7. त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टा । अथ० 19 56 4.

हुआ है[1]। नि.सदेह यह एक ऐसी विशेषता है जो त्रित के चरित्र मे उनके सोम-सोता होने के नाते प्रविष्ट हो जाती है, क्योकि सोम अमृतत्व का पेय है। ब्राह्मणो मे त्रित को तीन देवो मे से एक कहा गया है, इस देवत्रयी के अन्य दो देवता हैं, अग्निपुत्र एकत और द्वित[2]। ऋग्वेद 1.105 के भाष्य मे सायणाचार्य शाट्यायनीयो की कहानी उद्धृत करते है, जिसमे वे ही तीन भाई ऋषि है, और उनमे से त्रित अन्य दोनो के द्वारा कूप मे गिरा दिये गये है। अत यह स्पष्ट है कि यहा इन तीनो नामो का सख्यापरक अर्थ है। द्वित स्वय ऋग्वेद मे आता है—एक बार त्रित के साथ[3], और एक बार अग्निसूक्त मे[4] अकेले ही, और प्रत्यक्षरूप मे अग्नि का तद्रूप बनकर। नैघण्टुक की देव-सूची मे त्रित के नाम का उल्लेख नही हुआ है। यास्क[5] इस शब्द का अर्थ करते है 'अत्यन्त विकसित बुद्धिवाला' (√तृ धातु)। अथवा एकत, द्वित, त्रित इन तीन भाइयो की ओर लक्ष्य करके यास्क इसका सख्यापरक अर्थ करते हैं। एक अन्य परिच्छेद[6] मे वे त्रित का अर्थ करते है 'त्रिलोक मे रहने-वाला इन्द्र'।

ऋग्वेद के उद्धरणो की परीक्षा करके हम पाते है कि इन्द्र और त्रित तीन या चार मन्त्रो मे एक ही कार्य करते है और वह कार्य है—राक्षस-वध। एक मन्त्र मे त्रित इन्द्र के द्वारा विवश किये जाते है और दूसरे मे इन्द्र त्रित के द्वारा प्रोत्सा-हित। और साथ ही यह भी आया है कि इन्द्र दो बार त्रित के स्थानापन्न बने। पुनश्च, त्रित मरुतो के साथ विद्युत् तूफान के साथ सबद्ध होते है। इसके अतिरिक्त वे अग्नि को प्राप्त करते, स्वर्ग मे अग्नि को समिद्ध करते, और स्पष्टत अग्नि के रूप

---

1. व्युं त्रितो जरिमाणं न आनट्। तै० सं० 1 8 10 2.
2. अथ योऽयमेतर्ह्यग्निः स भीषा निलिल्ये सोऽप प्रविवेश तं देवा अनुविद्य सहसै-वाद्भ्य आनिन्यु सोऽपोऽभितिष्ठेवा वष्टूता स्थ या अप्रपदन स्थ याभ्यो वो मामकाम नयन्तीति तत आप्त्याः सबभूवुस्त्रितो द्वित एकतः। शत० ब्रा० 1 2 3 1.
शश्वद्धैनं त्रित एव जघानात्य ह तदिन्द्रोऽमुच्यत देवो हि स। शत० ब्रा० 1 2 3 2.
व्युं त्रितो जरिमाणं न आनट्। तै० सं० 1 8 10 2.
सोऽङ्गारेणापः। अभ्यपातयत्। तत एकतोऽजायत। स द्वितीयमभ्यपातयत् ततो द्वितोऽजायत। स तृतीयमभ्यपातयत्। ततस्त्रितोऽजायत। यदद्भ्योऽजायन्त। तदाप्त्यानामाप्त्यत्वम्। तै० ब्रा० 3 2 8 10-11.
3. त्रिताय च द्विताय चोषो दुःष्वप्न्यं वह। ऋ० 8 47 16.
4. द्विताय मृक्तवाहसे स्वस्य दक्षस्य मंहना। इन्दुः स धत्त आनुषक्। ऋ० 5 18 2.
5. त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव। अपि वा संख्या नामैवाभिप्रेतं स्यात् एकतो द्वितस्त्रित इति त्रयो बभूवु। नि० 4 6
6. त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रो वृत्र विपर्वाण व्यर्दयति। नि० 9 25

मे मनुष्यो के मध्य अपना आवास बनाते है। उनका आवास सुदूर और गुप्त है, और सोम के निकट है। नवम मण्डल मे सोम-सोता के रूप मे त्रित इन्द्र से कुछ विलग जाते है, क्योकि इन्द्र केवल सोम-पाता हैं, सोम के सोता नही। त्रित के सजातीय व्यक्ति अवेस्ता मे थ्रित हैं जो एक मनुष्य है। एक बार यस्न मे उन्हे सोम-सोताओ मे तीसरा मनुष्य बताया गया है, जिसने भौतिक ससार के लिए होम (=सोम) प्रस्तुत किया (आथ्व्य=आप्त्य दूसरे मनुष्य है) और एक बार वेन्दिदाद मे उन्हे प्रथम वैद्य बताया गया है, जिन्हे अहुरमज्दा ने दश सहस्र ओषधिया दी थी जोकि अमृतत्व के वृक्ष, श्वेत होम के चारो ओर उगती है। दो मन्त्रो (यस्न 5.72, 13.113) मे थ्रित को शायुभद्रि का पुत्र कहा गया है। उन मन्त्रो मे से एक मे उल्लेख मिलता है कि वे अपा नपात् (पृथिवीस्थ स्थान विशेष) मे निवास कर रहे थे। इससे झलकता है कि त्रित सोम के साथ भारत-ईरानी काल ही मे सबद्ध हो गये थे। त्रित के कार्य का अन्य पक्ष—अर्थात् उनकी त्रिशीर्षता, षण्णेत्रता और उनके द्वारा किया गया राक्षस या अहि का वध—अवेस्ता मे एक सबद्ध व्यक्ति थ्रेतोन मे आक्षिप्त हो गये हैं, जोकि तीन मुख, तीन सिर और छ नेत्रवाले दानव को मारते है। यह उल्लेखनीय है कि जब थ्रेतोन दहाक के विरुद्ध अभियान करते हैं तब उनके साथ दो भाई हो लेते है जो उन्हे पथ मे मार डालने का उद्योग करते हैं। त्रित शब्द ध्वनि की दृष्टि से ग्रीक शब्द त्रितोस् (तीन) का सजातीय है। इसका अर्थ 'तृतीय' समझा जाता था। यह इस बात से प्रतीत होता है कि ऋग्वेद मे इसके साथ द्वित शब्द आया है और ब्राह्मणो मे इन दोनो के अतिरिक्त 'एकत' भी कही से उठ बैठा है। त्रित के साथ त्रीणि का सयोग[1] भी इसी बात की ओर सकेत करता है। यह सभव है कि ऋग्वेद के एक मन्त्र[2] मे त्रित शब्द के बहुवचन रूप का अर्थ 'तृतीय' हो।

त्रित के साथ सतत आनेवाला विशेषण 'आप्त्य' 'आप्' से निष्पन्न हुआ प्रतीत होता है। फलत यह 'अपा नपात्' का पर्याय दीख पड़ता है। सायण (ऋग्वेद 8 47.15 के भाष्य मे) इसकी व्याख्या करते है 'जलोका पुत्र'। त्रित का एक दूसरा विशेषण 'वैभूवस', जो रचना मे पैतृक-सा प्रतीत होता है और जिसका प्रयोग केवल एक बार हुआ है, सोम के साथ सपुक्त किया जा सकता है[3]।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि त्रित विद्युत् के देवता थे। विद्युत् अग्नि का तृतीय या वायुगत रूप है। मूलरूपेण यह अग्नि, वायु या इन्द्र और सूर्य की देवत्रयी का मध्यम-स्थानीय है। प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया के अनु-

1. त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि। अथ० 5.1.1 दे० 9 102 3 पृ० 163
2 त्रितेषु विन्दद्मृत निगूळ्हम्। ऋ० 6 44.23
3 दे० 10 46 3. पृ० 162.

सार इन्द्र ने, जो मूलतः त्रित के तद्रूप से थे, त्रित को निकाल बाहर किया जिसका परिणाम यह हुआ कि ऋग्वेद मे भी त्रित को एक महत्त्वहीन स्थान मिल पाया। यदि यह निष्कर्ष सही है तो त्रित और सोम के मौलिक सबन्ध का तात्पर्य होगा—विद्युत् के द्वारा स्वर्ग से सोम का लाना (जैसाकि सोम-श्येन गाथा मे है)। फिर भी ठोस प्रमाण के अपर्याप्त होने के कारण आप्त्य के विषय मे अनेक प्रकार के विभिन्न मत उत्पन्न हो गये है। इनमे से कुछेक का ही उल्लेख करना यहा पर्याप्त होगा। रॉथ त्रित को जल और वायु का देवता मानते है। हिलेब्राण्ड्ट उन्हे प्रकाशमय आकाश का देवता मानते है। पेरी उन्हे तूफान का देवता—जोकि इन्द्र से भी प्राचीनतर है—बताते है। पिशल पहले यह मानते थे कि आप्त्य समुद्र और जलो के देवता है। किंतु बाद मे उन्होने यह विचार व्यक्त किया कि त्रित मूलत एक मानव भिषक् थे जो बाद मे देवता के रूप मे परिवर्तित कर दिये गये। हार्डी त्रित को चन्द्र-देव मानते है।

अपां नपात् (§ 24)—

'अपा नपात्' नामक देवता के निमित्त एक सपूर्ण सूक्त[1] कहा गया है, और जलो के सूक्त के दो मन्त्रो मे इनका आह्वान हुआ है। इनका नामोल्लेख ऋग्वेद मे कुल 30 बार हुआ है। प्रकाशमान जलपुनो के चारो ओर जल विराजमान है। युवक के चारो ओर युवक जल जाते है। तीन देविया उस दिव्य व्यक्ति को भोजन देना चाहती है। वे प्रथम माताओ का दूध पीते है[2]। उस वृषभ ने उनके भीतर गर्भाधान किया। वह बच्चा दूध पीता है और वे उसका चुम्बन करती है[3]। जलो का पुत्र जलो मे बलवान् होकर बाहर चमकता है[4]। वह बिना ईंधन के जल मे प्रकाशित होता है[5]। विद्युत् से परिवेष्टित होकर 'अपा नपात्' तिरछे गिरते हुए जलो की गोद मे चढते है। उन्हे लेकर शीघ्रगामी स्वर्णिम जल उनके चारो ओर

1. उपेमसृक्षि वाजयुर्वचस्यां चनो दधीत नाद्यो गिरो मे।
अपां नपादाशुहेमा कुवित्स सुपेशसस्करति जोषिषद्धि ॥ ऋ० 2 35 1. आ पू सू.
2 तमू शुचि शुचयो दीदिवांसमपां नपातं परि तस्थुरापः। ऋ० 2.35 3.
तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः। ऋ० 2 35 4
अस्मै तिस्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम्।
कृता इवोप हि प्रसर्स्रे अप्सु स पीयूषं धयति पूर्वसूनाम् ॥ ऋ० 2 35.5
3. स ईं वृषाजनयत्तासु गर्भं स ईं शिशुर्धयति तं रिहन्ति। ऋ० 2.35 13
4 सो अपां नपादूर्जयन्नप्स्वन्तर्वसुदेयाय विधते वि भाति। ऋ० 2 35.7
5. दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु। ऋ० 2.35 4
यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तः। ऋ० 10.30 4.

फिरते है[1]। 'अपा नपात्' रूप, दर्शन और वर्ण से स्वर्णिम है। हिरण्मयी योनि से आविर्भूत होकर वे आते और अपने उपासको को भोजन देते हैं[2]। उन्नतम पद पर खडे होकर वे सदैव अमन्द प्रभा से प्रभासित होते हैं। तीव्र गति वाले जल अपने पुत्र के लिए घी का भोजन लेकर अपने वस्त्रो समेत चारो ओर उडते हैं[3]। अपा नपात्, जिन्हे युवतिया प्रज्वलित करती हैं, जिनका वर्ण स्वर्णिम है, और जिनका भोजन घी है, उनका मुखडा गुप्त रूप से बढता है[4]। उनके पास एक गौ है जो उन्ही के घर मे भरपूर दूध देती है[5]। मनोजवा घोडे उन्हे ले जाते है[6]। अपा नपात् नदियो से सबद्ध है (नाद्य)। अपा नपात् ने सभी प्राणियो को, जो उन्ही की शाखाए है[7], जन्म दिया है। अपा नपात् सूक्त के अन्तिम मन्त्र मे इस देवता का आह्वान अग्नि के रूप मे हुआ है, फलत उसे उनका तद्रूप ही होना चाहिए। इसके विपरीत कतिपय सूक्तो मे अग्नि का आह्वान अपा नपात् के रूप मे हुआ है[8]। अग्नि जलो के पुत्र हैं[9]। वे उन जलो के पुत्र है जो पृथिवी पर प्रिय पुरोहित की तरह

1 अपा नपाद्धा ह्यस्थादुपस्थं जिह्मानामूर्ध्वो विद्युत वसान ।
तस्य ज्येष्ठ महिमान वहन्तीर्हिरण्यवर्णा परि यन्ति यह्वी ॥ ऋ० 2 35 9.
क इम वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातृर्जनयत स्वधाभि ।
बह्वीना गर्भो अपसामुपस्थान्महान्कविर्निश्चरति स्वधावान् ॥ ऋ० 1 95 4
आविष्टयो वर्धते चारुरासु जिह्मानामूर्ध्व स्वयशा उपस्थे ।
उभे त्वष्टुर्बिभ्यतुर्जायमानात्प्रतीची सिंह प्रति जोषयेते ॥ 1 95 5
2 हिरण्यरूप स हिरण्यसदृगपा नपात्सेदु हिरण्यवर्ण ।
हिरण्ययात्परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै ॥ ऋ० 2 35 10
3 अस्मिन्पदे परमे तस्थिवासमध्वस्माभिर्विश्वहा दीदिवासम् ।
आपो नप्त्रे घृतमन्न वहन्ती स्वयमत्कै परि दीयन्ति यह्वी ॥ ऋ० 2 35 14
4 तदस्यानीकमुत चारु नामापीच्य वर्धते नप्तुरपाम् ।
यमिन्धते युवतय समित्था हिरण्यवर्ण घृतमन्नमस्य ॥ ऋ० 2 35 11
5 स्व आ दमे सुदुघा यस्य धेनु स्वधा पीपाय सुभ्वन्नमत्ति । ऋ० 2 35 7
6 उत नोऽहिर्बुध्न्यो मयस्क शिशु न पिप्युषीव वेति सिन्धु ।
येन नपातमपा जुनाम मनोजुवो वृषणो य वहन्ति ॥ ऋ० 1 186 5
7. अपा नपादसुर्यस्य मह्ना विश्वान्यर्यो भुवना जजान । ऋ० 2 35 2
वया इदन्या भुवनान्यस्य प्र जायन्ते वीरुधश्च प्रजाभि । ऋ० 2 35 8
8 अग्नेरनीकमप ऽ आविवेशापान्नपात् प्रतिरक्षन्नसुर्यम् ।
दमेदमे समिध यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहा ॥ वाज० स० 8 24
9 सखायस्त्वा ववृमहे देव मर्तास ऊतये ।
अपा नपात सुभग सुदीदितिं सुप्रतूर्तिमनेहसम् ॥ ऋ० 3 9 1

बैठते है[1]। किंतु उनका परस्पर भेद भी किया गया है। अपां नपात् के अनुकूल अग्नि वृत्र के ऊपर विजय प्रदान करते है[2]। अपा नपात् यहा मानो दूसरे के शरीर से सम्मिलित होते है[3]। आशुहेमन् विशेषण, जो अपा नपात् के लिए तीन वार प्रयुक्त हुआ है, केवल एक बार ही अग्नि के लिए आया है।

अपा नपात् का उल्लेख देव-नामो की अनेक गणनाओ के क्रम मे भी आता है, विशेषतया *अज एकपाद्*[4], *अहिर्बुध्न्य*[5] *और सविता*[6] *के साथ।* यह विशेषण सविता के लिए एक वार प्रयुक्त हुआ है और यह सभवत: इसलिए कि सविता अग्नि के उर्वरक पक्ष के प्रतिरूप है।

अपां नपात्, जो स्वर्णिम है, विद्युत् से परिवेष्टित है, उन्नतम स्थान मे रहते हैं, गुप्त स्थान मे वढते है, प्रभासित होते है, जलो के अपत्य है, पृथिवी पर अवतरित होते हैं और अग्नि के तद्रूप है, अग्नि के विद्युत्-पक्ष के प्रतिरूप प्रतीत होते है—उस अग्नि के जो बादलो मे छिपे हैं। क्योकि अग्नि को प्रत्यक्षत: अपा नपात् के साथ-साथ 'अपा गर्भ' का भी अभिधान मिला है[7]। इस रूप मे वे मानवीय आवासो मे रखे गये हैं[8]। उनका निवास-स्थान जलो मे है[9], और इन्हे दो अरणिया उत्पन्न करती है, ये ओषधियो और जलो के गर्भ है[10]। अग्नि को 'अद्रेः सूनु' भी कहा गया है[11], जो मुश्किल से ही विद्युत् के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु

1. अपां नपाद्यो वसुभिः सह प्रियो होता पृथिव्यां न्यसीदद् ऋत्वियः। ऋ० 1.143.1
2. स सत्पतिः शवसा हन्ति वृत्रमग्ने विप्रो वि पणेर्भर्ति वाजम्।
यं त्वं प्रचेत ऋतजात राया सजोषा नप्त्रापां हिनोषि॥ ऋ० 6 13.3
3. सो अपां नपादनभिम्लातवर्णोऽन्यस्येवेह तन्वा विवेश। ऋ० 2.35 13.
4. दे० 2 31 6. पृ० 164
शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपाः॥ ऋ० 7 35 13.
5. दे० 1.186 5. पृ० 168, दे० 2 31 6 पृ० 164 दे० 7.35 13 ऊपर
6. उत स्य देवः सविता भगो नोऽपां नपादवतु दानु पप्रिः।
त्वष्टा देवेभिर्जनिभिः सजोषा द्यौर्देवेभिः पृथिवी समुद्रैः॥ ऋ० 6 50 13
7. अमूरः कविरदितिर्विवस्वान्सुसंसन्मित्रो अतिथिः शिवो नः।
चित्रभानुरुषसां भात्यग्रेऽपां गर्भः प्रस्व आ विवेश॥ ऋ० 7.9 3
गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम्॥ ऋ० 1 70 2
8. अधा ह्यग्निर्मानुषीषु विक्ष्वपां गर्भो मित्र ऋतेन साधन्। ऋ० 3 5 3
9. अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। गर्भे सञ्जायसे पुनः॥ ऋ० 8 43.9.
10. अपां गर्भं दर्शतमोषधीनां वना जजान सुभगा विरूपम्। ऋ० 3 1 13
11. यज्ञा साहं दुर्य इषेऽग्नि पूर्वस्य शेवस्य। अद्रेः सूनुमायुमाहुः। ऋ० 10 20 7.

का सम्बन्ध स्थापित करता है—उस विद्युत् का जो कि मेघ पर्वतों से आविर्भूत होती है। अग्नि के दिव्य और पार्थिव रूपों के विपरीत, इनके तृतीय रूप के विषय में उल्लेख आता है कि यह जलों में, समुद्र में, द्युलोक के स्रोत में, जलों की गोद में समिद्ध होता है[1]। वस्तुतः दिव्य अग्नि का जलों में आवास वैदिक गाथा के सुनिश्चित तथ्यों में से एक है। त्रित के लिए प्रयुक्त आप्त्य पद की भी कुछ इसी प्रकार से व्याख्या इसकी उचित प्रतीत होती है।

अपा नपात् भारतीय गाथा की रचना न होकर भारत-ईरानी काल तक जाता है। अवेस्ता में अपा नपात् जलों की एक आत्मा (Spirit) है। यह जलों की गहराई में रहती है, स्त्रियों के द्वारा परिवृत है और अनेक बार उनके साथ इसका आह्वान किया गया है। यह तीव्र घोड़ों पर चलता है, साथ ही समुद्र की गहराई में उसने प्रकाश को पकड़ा था। स्पिगेल के अनुसार अवेस्ता में अपा नपात् का आग्नेय रूप लक्षित होता है। दर्मेस्टेटर के अनुसार ये मेघ से उत्पन्न विद्युत् के रूप में अभिव्यक्त हैं। एल० वी० श्रॉडर इस मत से सहमत हैं। ओल्डेनबेर्ग के मत में अपा नपात् मूलतः जल के साधारण प्रेत थे जो जल-जात अग्नि—जो एक पूर्णतः भिन्न प्राणी है—के साथ अज्ञान के कारण तद्रूप बन गये। इस मत का आधार है—अपा नपात् के निमित्त कहे गये दो सूक्तों में से एक सूक्त का कर्मकाण्ड में जलीय क्रियाओं से सम्बद्ध होना, तथा ऋग्वेद (2 35) में भी इनके जलीय स्वरूप का प्रधान होना। दूसरी ओर हार्डी का अनुसरण करते हुए हिल्लेब्राण्ट् कहते हैं कि अपा नपात् चन्द्रमा है। मैक्समूलर के अनुसार अपा नपात् सूर्य अथवा विद्युत् हैं।

मातरिश्वन् (§ 25)—

मातरिश्वन् के लिए ऋग्वेद में एक भी सूक्त नहीं आता। ऋग्वेद में इनके नाम का उल्लेख 27 बार हुआ है, जिनमें से 21 बार तो इसके सबसे बाद के भागों में, 6 बार तृतीय मण्डल में और एक बार षष्ठ मण्डल में। इन प्राचीनतर छः मंत्रों में मातरिश्वन् या तो अग्नि के तद्रूप हैं अथवा वे इसके उत्पादक हैं। यद्यपि मातरिश्वन् से सम्बद्ध गाथा का आधार अग्नि और इसके मानवीकृत रूप का विभेद है, तथापि इस गाथा की मीमांसा से प्रकट होता है कि वे

यमापो अद्रयो वना गर्भमृतस्य पिप्रति ।
सहसा यो मथितो जायते नृभिः पृथिव्या अधि सानवि ॥ ऋ० 6 48 5
। दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः ॥ ऋ० 10 45 1
विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ ॥ ऋ० 10 45 2

दोनो तद्रूप है। ऋग्वेद के परवर्ती मण्डलो मे भी इस प्रकार की सामग्री नही मिलती जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि मातरिश्वन्-विषयक जो धारणाए अन्य सहिताओ मे तथा वेदोत्तरकालीन साहित्य मे बनी है वे ऋग्वेद मे पूरी तरह प्रकट हो चुकी थी।

तीन मन्त्रो मे मातरिश्वा नाम अग्नि के लिए आया है[1]। सभवत यही बात इसके उस प्रयोग पर भी लागू होती है जहा यह एक अग्नि-सूक्त के अन्तिम मन्त्र मे सबोधन रूप मे आया है। एक अन्य मन्त्र मे जहा इस शब्द की व्याख्या दी हुई है, इन्हे अग्नि का एक रूप कहा गया है—'दिव्य गर्भ के रूप मे इन्हे तनूनपात् कहा गया है, उत्पन्न होकर ये नराशस बन जाते हैं। जब इन्हे मातरिश्वन् का अभिधान प्राप्त होता है तब ये अपनी माता मे सृष्ट होते है। वे अग्नि की त्वरित उडान बन जाते है[2]। आगे कहा गया है—'एक ही सत् के विषय मे विप्र नाना प्रकार की बातें करते है—वे उसे अग्नि, यम, मातरिश्वन् कहते है[3]। एक स्थल पर मातरिश्वन् बृहस्पति के एक रूप बनते है जिस बृहस्पति का ताद्रूप्य अग्नि के साथ अनेक बार स्थापित किया गया है। उदाहरणार्थ यज्ञ मे बृहस्पति मातरिश्वन् के रूप मे आविर्भूत हुए[4]।

कुछ स्थलो पर मातरिश्वन् की अग्नि से पृथक्ता दिखाई गई है। वे (अग्नि) परमे व्योमन् मे उत्पन्न होकर मातरिश्वन् के रूप मे आविर्भूत हुए[5]। 'अग्नि प्रथमत मातरिश्वन् और विवस्वत् के समक्ष प्रकट हुए, पुरोहित के चयन करने पर दोनो लोक प्रकम्पित हो गए[6]'। ज्योतिष्पुञ्जो मे सर्वोच्च अग्नि अपनी ज्वाला से

समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन्॥ ऋ० 10 45 3

1 मित्रो अग्निरीड्यो मातरिश्वाऽऽदूतो वक्षद् यजथाय देवान्। ऋ० 3 5 9
त शुभ्रमग्निमवसे हवामहे वैश्वानर मातरिश्वान मुक्थ्यम्। ऋ० 3 26 2
स मातरिश्वा पुरुवारपुष्टिर्विदद् गातु तनयाय स्वर्वित्।
विशा गोपा जनिता रोदस्योर्देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम्॥ ऋ० 1 96 4

2 तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो नराशसो भवति यद्विजायते।
मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीमणि॥ ऋ० 3 29 11.

3 इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु॥ ऋ० 1 164 46

4 बृहस्पति स ह्यञ्जो वरासि विभ्वाभवत्समृते मातरिश्वा। ऋ० 1 190 2

5 स जायमान परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने।
अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचि पृथिवी अरोचयत्॥ ऋ० 1 143 2

6 त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर्भव सुक्रतूया विवस्वते।

गगन को धारण करते है, जबकि मातरिश्वन् गुप्त हविर्वाट् को समिद्ध करते हैं[1]। यह मन्त्र उस मन्त्र के ठीक बाद आता है, जिसमें कि अग्नि को मातरिश्वन् कहा गया है। एक ही क्रम में आनेवाले मन्त्रों में इस प्रकार की असंगति की एकमात्र व्याख्या यह है कि परवर्ती मन्त्र में जिस मातरिश्वन् शब्द का प्रयोग अग्नि के एक विशिष्ट मानवीय रूप के लिए हुआ है, उसी का प्रयोग पूर्ववर्ती मन्त्र में उनके एक विशेषण के रूप मे हुआ है। मातरिश्वन् भृगु के लिए उपहार रूप में यशस्वी होता को लाया, जो यज्ञ-संग्राम की पताका है और द्विजन्मा दूत है[2]। मातरिश्वा एक (अग्नि) को आकाश से लाये, और श्येन ने दूसरे (सोम) को चट्टान में से निकाला[3]। मातरिश्वा यज्ञ के पुरोहित स्वर्गस्थ अग्नि को लाये[4], मातरिश्वा (और) देवताओ ने अग्नि की सृष्टि की, जिसे भृगुओ ने मनुष्यों के लिए प्रथम यजनीय देव के रूप में आविर्भूत किया[5]। उस अग्नि को मातरिश्वा देव मनुष्य के लिए सुदूर से लाये है[6]। विवस्वत् के दूत मातरिश्वा वैश्वानर अग्नि को सुदूर से लाये हैं, जिसे बलवान् (देव) ने जलों की गोद मे जकड़ लिया था[7]। मातरिश्वा घर्षण से उत्पन्न होने वाले गुप्त अग्नि को, देवताओं के यहां से लाये है[8]। मातरिश्वा ने घर्षण द्वारा गुप्त अग्नि को आविर्भूत किया[9]। अग्नि को मातरिश्वा ने घर्षण द्वारा उत्पन्न किया और उसे मनुष्यों के आवासों में स्थापित किया[10]।

अरेजेतां रोदसी होतृवूर्येऽसघ्नोर्भारमयजो महो वसो ॥ ऋ० 1 31.3.

1. उदस्तम्भीत्समिधा नाकमृष्वोऽग्निर्भवन्नुत्तमो रोचनानाम्।
यदी भृगुभ्यः परि मातरिश्वा गुहा सन्तं हव्यवाहं समीधे ॥ ऋ० 3.5.10.

2. वह्निं यशसं विदथस्य केतुं सुप्राव्यं दूतं सद्योअर्थम्।
द्विजन्मानं रयिमिव प्रशस्तं रातिं भरद् भृगवे मातरिश्वा ॥ ऋ० 1.60.1.

3. आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः। ऋ० 1.93.6.

4. ऋतावानं यज्ञियं विप्रमुक्थ्यमा यं दधे मातरिश्वा दिवि क्षयम्।
तं चित्रयामं हरिकेशमीमहे सुदीतिमग्निं सुविताय नव्यसे ॥ ऋ० 3.2.13.

5. द्यावा यमग्निं पृथिवी जनिष्टामापस्त्वष्टा भृगवो यं सहोभिः।
ईळेन्यं प्रथमं मातरिश्वा देवास्ततक्षुर्मनवे यजत्रम् ॥ ऋ० 10.46.9.

6. यं मातरिश्वा मनवे परावतो देवं भाः परावतः। ऋ० 1.128.2.

7. अपामुपस्थे महिषा अगृभ्णत विशो राजानमुप तस्थुर्ऋग्मियम्।
आ दूतो अग्निमभरद् विवस्वतो वैश्वानरं मातरिश्वा परावतः ॥ ऋ० 6.8.4.

8. ससुवांसमिव त्मनाऽग्निमित्था तिरोहितम्।
ऐनं नयन्मातरिश्वा परावतो देवेभ्यो मथितं परि ॥ ऋ० 3.9.5.

9. यदीमनु प्रदिवो मध्व आधवे गुहा सन्तं मातरिश्वा मथायति। ऋ० 1.141.3.

10. मथीद् यदीं विभृतो मातरिश्वा गृहेगृहे श्येतो जेन्यो भूत्। ऋ० 1.71.4.

इन्द्र ने त्रित के लिए अहि से गौएं उत्पन्न की और दध्यञ्च् (तथा) मातरिश्वन् के लिए गोव्रज प्रदान किया[1]।

बाद के सूक्तों में कतिपय ऐसे अस्पष्ट मन्त्र हैं जिनसे मातरिश्वा के चरित्र पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। इन मन्त्रों में से दो में वे सोम-पावक और सोम-पाता के रूप कल्पित हुए प्रतीत होते हैं[2]। और एक अन्य मन्त्र में उनका उल्लेख उन पितरों के साथ हुआ है जिनके साथ इन्द्र ने सोम पान किया था[3]। इन्द्र की तुलना इनके साथ एक बार कार्य-कुशल ऋभुओं के रूप में की गई है[4]। यह तुलना संभवतः मातरिश्वा की अग्नि उत्पादन करने की कुशलता को दृष्टि में रखकर की गई हो[5]। विवाह-सूक्त के एक मन्त्र[6] में भी कार्य-कुशलता की यह धारणा वर्तमान प्रतीत होती है जहां कि दो प्रेमियों में हार्दिक मिलन कराने के लिए अन्य देवों के साथ मातरिश्वा का आह्वान किया गया है। अन्त में, एक अत्यन्त अस्पष्ट मन्त्र[7] में मातरिश्वा को असीम और सलिल कहा गया है (सलिल विशेषण का प्रयोग अथर्ववेद में वात के लिए अनेक बार हुआ है)। ये दोनों विशेषण मातरिश्वा-विषयक परवर्ती धारणा के पूर्व-रूप को प्रस्तुत करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से मातरिश्वा अग्नि के एक पक्ष के मानवीय रूप प्रतीत होते हैं, जोकि इसी के साथ प्रोमेथियस् की भांति गुप्त अग्नि को स्वर्ग से पृथिवी पर लाये थे। इनका प्राकृतिक आधार विद्युत् के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? उन्हें जो स्वर्ग से पृथिवी[8] पर जानेवाला विवस्वान् का दूत बताया गया है,

---

मथीद् यदीं विष्टो मातरिश्वा होतारं विश्वाप्सुं विश्वदेव्यम्।
नि यं दधुर्मनुष्यासु विक्षु स्व१र्ण चित्रं वपुषे विभावम्॥ ऋ० 1 148 1

1 अहमिन्द्रो रोधो वक्षो अथर्वणस्त्रिताय गा अजनयमहेरधि।
अहं दस्युभ्यः परि नृम्णमा ददे गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने॥ ऋ० 10 48 2

2 यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम्।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना॥ ऋ० 9 67 31
घर्मा समन्ता त्रिवृतं व्यापतुस्तयोर्जुष्टिं मातरिश्वा जगाम। ऋ० 10 114 1

3 पृषध्रे मेध्ये मातरिश्वनीन्द्र सुवाने अमन्दथाः। वा० खि० 4 2

4 प्रास्तौद् ऋष्वौजा ऋष्वेभिस्ततक्ष शूरः शवसा।
ऋभुर्न क्रतुभिर्मातरिश्वा॥ ऋ० 10 105 6

5 दे० 10 46 9 पृ० 172

6 समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥ ऋ० 10 85 47

7 अकूपारः सलिलो मातरिश्वा। ऋ० 10 109 1

8 दे० 6 8 4 पृ० 172

उसकी व्याख्या भी इस बात से हो जाती है। अथर्ववेद में भी मातरिश्वा शब्द अग्नि के गुह्य नाम के रूप में प्राप्त होता है[1]। किंतु साधारणतः इस संहिता में[2] शेष दो संहिताओं में, और ब्राह्मणों तथा सम्पूर्ण परवर्ती साहित्य में मातरिश्वा शब्द से वायु का बोध होता है। इस परिवर्तन का आदि-बिन्दु ऊपर उद्धृत एक मन्त्र में दिखाया जा चुका है[3]। मातरिश्वा के रूप में माता मे निर्मित होकर अग्नि वायु की तीव्र उड़ान बन गए। एक अन्य स्थान पर क्रुद्ध सर्प जैसे वायुस्थ अग्नि की तुलना गतिमान् वायु के साथ की गई है[4]। इस प्रकार की उक्तियों से मातरिश्वा का अर्थ 'वायु' बन गया प्रतीत होता है।

मातरिश्वा का सजातीय शब्द किसी भी भायोरपीय भाषा में उपलब्ध नही होता। फलतः इसे हर प्रकार से विशुद्ध भारतीय समास समझा जा सकता है जैसे कि मातरिश्वरी, ऋजिश्वन्, दुर्गृभिश्वन् आदि हैं। 'मातरिश्वा यदमिमीत मातरि'—में इस शब्द की व्युत्पत्ति-संबन्धी व्याख्या आदरणीय है। इसका संभवतः अर्थ है 'माता के अन्दर बढ़नेवाला (√शू बढ़ना, जिससे शिशु बालक तथा अन्य शब्द निष्पन्न होते हैं)। अग्नि के लिए भी कहा गया है कि वे माताओं के अन्दर बढ़ते है।—वन् प्रत्यय में समाप्त होनेवाले अनेक शब्दों (जैसे प्रातरित्वन्) के प्रभाव के कारण मातरिश्वन् शब्द में द्वितीय अक्षर से तृतीय पर उदात्त स्वर का विपर्यय सभव है। मातृ पद से अधोऽरणि अथवा विद्युन्मय मेघ लिये जा सकते हैं। किंतु इन दोनों मे भी द्वितीय तात्पर्य ही अधिक संभव प्रतीत होता है, क्योकि मातरिश्वन् का आगमन द्युलोक से होता है। यास्क[5] मातरिश्वा को वायु का बोधक मानते हैं, और इस समास का विच्छेद वे इस प्रकार करते है—मातरि (अन्तरिक्षे)+श्वन् (√श्वस्, श्वास लेना या आशु √अन् तेज़ी से श्वास लेना); जिसका अर्थ है "अन्तरिक्ष में श्वास लेनेवाला" वायु।

अहिर्बुध्न्यः (§ 26)—

गहराई के सर्प अहिर्बुध्न्य का नामोल्लेख केवल विश्वेदेवा सूक्तों में हुआ

1. यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत्प्रदहन्विश्वदाव्यः ।
   यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात्क्वेवासीन्मातरिश्वा तदानीम् ॥ अथ० 10.8 39.
   अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः सलिलान्यासन् । अथ० 10.8.40.
2. यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान् ।
   वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥ अथ० 12.1.51.
3. दे० 3.29.11. पृ० 171.
4. हिरण्यकेशो रजसो विसारेऽहिर्धुनिर्वात इव ध्रजीमान । ऋ० 1.79.1.
5. आदिन्मातॄराविशद् यास्वा शुचिरहिंस्यमान उर्विया वि वावृधे ।

है और ऋग्वेद मे यह कुल 12 बार आया है। यह नाम अकेले बहुत कम आता है। पाच बार इसका उल्लेख अज एकपाद् के साथ, तीन बार अपा नपात्, तीन बार समुद्र और दो बार सविता के साथ हुआ है। केवल तीन मन्त्रो[1] मे वे अकेले आते हैं। जहा कही उनके साथ केवल एक अन्य देवता का उल्लेख हुआ है वहा वे देवता अपा नपात्[2] अथवा अज एकपाद्[3] है। और जहा अहिर्बुध्न्य और अज एकपाद् का उल्लेख एक ही मन्त्र मे हुआ है, वहा[4] (केवल अशत अपवाद के साथ) वह एक दूसरे के समानाधिकरण हुआ है। उन देव-नामो की गणनाओ मे, जिनमे कि अहिर्बुध्न्य का नाम आता है, निम्नलिखित प्रमुख है — अज एकपाद्, अहिर्बुध्न्य, समुद्र, अपा नपात्, पृश्नि[5], अहिर्बुध्न्य, अज एकपाद्, त्रित, ऋभुक्षन्, सविता, अपा नपात्[6], समुद्र, सरित्, रजस्, वायु, अज एकपाद्, तनयित्नु अर्णव, अहिर्बुध्न्य, विश्वेदेवा[7]। इन सबन्धियो के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अहिर्बुध्न्य एक अन्तरिक्षस्थ देवता हैं, और नैघण्टुक मे इनकी गणना मध्यम-स्थानीय या वायु-स्थानीय देवताओ मे हुई भी है। किंतु उनके विषय मे और अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उनके एकाकी उल्लेखो का अनुशीलन करना आवश्यक है। उनके विषय मे सबसे अधिक रहस्यो को उघाडनेवाले मन्त्र मे कवि कह उठा है —'तू अपने उक्थ, अर्थात् मन्त्रो से अब्ज अर्थात् सलिल मे उत्पन्न हुए अहि की स्तुति करता है, जो अन्तरिक्ष मे सरिताओ के बुध्न पर अधिष्ठित हैं[8]। इससे सूचित होता है कि अहिर्बुध्न्य अन्तरिक्ष-सागर के

मातरिश्वा वायु । मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति ।
मातर्याश्वनितीति वा । नि० 7 26

1 मा नोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धादस्माकं भूदुपमातिवनिः । ऋ० 5 41 16
अब्जामुक्थैरहिं गृणीषे बुध्ने नदीनां रजःसु षीदन् । ऋ० 7 34 16
मानोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायो । ऋ० 7 34 17

2 दे० 1 186 5 पृ० 168

3 अज एकपात् सुहवेभिर्ऋक्वभिरहिः शृणोतु बुध्न्यो३ हवीमनि । ऋ० 10 64 4.

4 समुद्रः सिन्धू रजो अन्तरिक्षमज एकपात् तनयित्नुरर्णवः ।
अहिर्बुध्न्यः शृणवद् वचांसि मे विश्वे देवास उत सूरयो मम ॥ ऋ० 10 66 11

5. दे० 7.35 13 पृ० 169

6 दे० 2 31 6 पृ० 164

7 दे० 10 66 11, 7 34 16 ऊपर

8 मानोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धान्मा यज्ञो अस्य स्रिधदृतायो । ऋ० 7 34 17
उत नो नक्तमपां वृषण्वसू सूर्यामासा सदनाय सधन्या ।
सचा यत्साद्येषामहिर्बुध्नेषु बुध्न्यः ॥ ऋ० 10 93 5

सलिलो मे निवास करते है। यास्क बुध्न का अर्थ 'अन्तरिक्ष' करते है, जबकि सायण इसे 'स्थान' अथवा अन्तरिक्ष बताते है[1]। इसके ठीक बाद आनेवाले मन्त्र मे अहिर्बुध्न्य से प्रार्थना की गई है कि वे अपने उपासको को रिप् अर्थात् हानि के गर्त मे न डाले और ऋतायु पुरुष के यज्ञ को क्षति से बचावे और इन्ही शब्दो का प्रयोग उनके लिए एक अन्य मन्त्र में भी किया गया है[2]। इससे प्रतीत होता है कि उनके स्वभाव मे किसी सीमा तक नाशक तत्त्वों का सनिवेश भी विद्यमान है। नही तो अहि पद का प्रयोग तो साधारणतया केवल वृत्र के लिए ही आता है। वृत्र के विषय मे वर्णन आता है कि वह जलों को आवृत करके उनमें परिप्लुत हो जाता है, वह उनमें निवास करता है अथवा वह अन्तरिक्ष के बुध्न पर रहता है[3]। अहि को अन्तरिक्ष (सायण 'उदक') (मेघों का) विधूनन करनेवाला बताया गया है[4]। यह भी वर्णन आता है कि अग्नि व्यापक रजस् के बुध्न मे आविर्भूत हुए है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि अहिर्बुध्न्य मूलतः अहिवृत्र से भिन्न नही थे, यद्यपि उनका आह्वान एक देवता के रूप मे आता है, जोकि 'अपा नपात्' जैसे लगते है; और जहां उनके चरित्र के नाशक पक्ष का सकेत मिल जाता है। परवर्ती वैदिक साहित्य मे अहिर्बुध्न्य को अग्नि गार्हपत्य के साथ जोड दिया गया है[5]; और वेदोत्तर-कालीन साहित्य मे अहिर्बुध्न्य रुद्र का एक नाम बन जाता है और तब यह शिव का विशेषण बनकर आता है।

अज एकपाद (§ 27)—

अज एकपाद् अहिर्बुध्न्य के ही निकट संबन्धी है। इनका नाम पांच बार अहिर्बुध्न्य के साथ और एक बार उनसे पृथक् आता है। ऋग्वेद[6] मे आहूत देवता—'पावी

1. बुध्नमन्तरिक्षम्। नि० 10 44
2. मानोऽहिर्बुध्न्यो रिषे धादस्माकं भूदुपमातिवनिः। ऋ० 5 41.16
3 परी घृणा चरति तित्विषे शवोऽपो वृत्वी रजसो बुध्नमाशयत्।
   वृत्रस्य यत्प्रवणे दुर्गृभिश्वनो नि जघन्थ हन्वोरिन्द्र तन्यतुम्॥ ऋ० 1.52 6
4. दे० 1.79 1 पृ० 174.
5. समुद्रोऽसि विश्वव्यचाऽ अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य।
   वाज० सं० 5 33

   एष ह वा अहिर्बुध्न्यो यदग्निर्गार्हपत्यः। ऐ० ब्रा० 3.36.
   अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपायेति। अमीन्वाव सा तान्यंक्रमत।
   तान् प्रजापतिः पर्यगृह्णात्। तै० ब्रा० 1.1.10 3.
6. पावीरवी तन्यतुरेकपादजो दिवो धर्ता सिन्धुरापः समुद्रियः।
   विश्वे देवासः शृणवन् वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्या॥ ऋ० 10......

रवी, एकपाद् अज, दिवो धर्ता, सिन्धु, समुद्रियः, आपः, विश्वेदेवाः, सरस्वती'—उसी वेद के मन्त्र में आहूत देवताओं के लगभग तद्रूप है, जैसे—समुद्र, नदी, वायु-लोक, अज एकपाद्, तन्यतु अर्णव, अहिर्बुध्न्य और विश्वेदेवा[1]। इन दोनों मन्त्रों से सूचित होता है कि अज एकपाद् अन्तरिक्षस्थ देवता हैं। तथापि नैघण्टुक 5.6. में इनकी गणना द्युस्थानीय देवताओं में की गई है। अथर्ववेद में कहा गया है कि अज एकपाद् ने द्यावापृथिवी को दृढ़ किया[2]। तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] का कथन है कि अज एकपाद् पूर्व में उदित हुए है। इस परिच्छेद के व्याख्याकार ने अज एकपाद् को एक प्रकार की अग्नि बताया है, किंतु दुर्गाचार्य इसका अर्थ करते हैं 'सूर्य'। यास्क अज एकपाद् के आधार के विषय में स्वयं अपना कुछ भी मत नहीं प्रकट करते। उन्होंने केवल अज का अर्थ किया है 'अजन' (गतिमान् करनेवाला) और एकपाद् का अर्थ दिया है 'एक पैरवाला' या 'जो एक पैर से रक्षा या पान करते है'। गृह्यसूत्रों में यद्यपि अज एकपाद् का स्वतन्त्र देवता के रूप में अस्तित्व प्रायः नहीं के बराबर रह गया था, तथापि गृह्य अनुष्ठानों में अहिर्बुध्न्य के समान अज एकपाद् के लिए भी हविष् का प्रदान होता था[4]। महाकाव्यों में अजैकपाद् रुद्र के ग्यारह नामों में से एक नाम है और यहां पहुंच कर वह शिव का विशेषणमात्र रह गया है।

राथ और ग्रासमान, अज एकपाद् को तूफान का प्रेत मानते है और इस नाम का अनुवाद करते है 'एक पैरवाला, हांकनेवाला, या तूफ़ान उत्पन्न करने-वाला'। ब्लूमफ़ील्ड और विक्टर हेनरी के मत मे अज एकपाद् सौर-देवता है। हार्डी के अनुसार अज एकपाद् 'अकेले चलनेवाला बकरा' चन्द्रमा है। बेर्गेन इस शब्द का अर्थ करते है 'अजन्मा (अज), जिसके केवल एक पैर है'। और वे इसका तात्पर्य लगाते है उस देवता से, जो अद्वितीय एकान्त रहस्यमय स्थान मे निवास करते हैं। किंतु यदि एक और अटकल लगाई जाय तो इस नाम का अर्थ होगा 'एक पैरवाला बकरा' जो मूलतः विद्युत् का आलंकारिक अभिधान रहा होगा—बकरा शब्द मेघ-पर्वत में उसकी त्वरित-गति का बोधक है और 'एक पैर' विद्युत् की एक रेखा का लक्षक है जोकि पृथिवी पर ठोकर मारती हुई गिरती है।

रुद्र (§ 28)—

ऋग्वेद में रुद्र को गौण स्थान मिला है। इनके निमित्त कहे गये सकल सूक्त

1. दे० 10.66.11. पृ० 175.
2. तत्रं शिश्रियेऽज एकपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन। अथ० 13.1.6.
3. अज एकपादुदगात्पुरस्तात्। तै० ब्रा० 3.1.2.8.
4. पायसमैन्द्रं श्रपयित्वापूपाँश्चापूपैस्तीरवाज्य भागाविष्ट्वा ज्याहुतीर्जुहोतीन्द्रायेन्द्राण्या-

केवल 3 है, अशत सूक्त एक है, एव सोम के साथ एक अन्य सूक्त में भी इसका नाम आता है। इनका नामोल्लेख लगभग 75 बार हुआ है।

ऋग्वेद मे इनकी शारीरिक विशेषताए निम्नस्थ है। इनके एक हाथ है[1], इनकी भुजाए[2], और अवयव दृढ एव सनद्ध है[3]। इनका रग भूरा (बभ्रु) है[4]। इनके होठ सुन्दर है[5], और (पूषन् की भाति) इनके बाल घुघराले है[6]। इनका आकार आखो को चौंधिया देनेवाला है[7] और इनके रूप अनेक है[8]। ये द्युतिमान् सूर्य की भाति एव स्वर्ण की भाति चमकते है[9]। ये स्वर्णिम आभूषणो से प्रसाधित है[10] और भाति-भाति के रूपोवाला निष्क पहनते है[11]। ये रथ पर बैठते है। परवर्ती सहिताए—विशेषतया वाजसनेयि सहिता, इनके साथ कुछ और विशेषताओ को जोड देती है जैसेकि—वे सहस्राक्ष है[12], उनके उदर, मुख, जिह्वा और दान

अजायैकपदेऽहिर्बुध्न्याय। पार० गृ० सू० 2.15 2.

1. क्वऽस्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः॥ ऋ० 2 33 7.
2. श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो।
पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि॥ ऋ० 2.33.3.
नमस्ते रुद्र मन्यवऽउतो तऽइषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः। वा० सं० 16 1.
3. स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः। ऋ० 2 33 9.
4. हवीमभिर्हवते यो हविर्भिरव स्तोमेभी रुद्रं दिषीय।
ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायै॥ ऋ० 2 33 5
5. दे० 2 33 5. ऊपर।
6. इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥ ऋ० 1 114.1.
7. दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसा नि ह्वयामहे।
हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि शर्म वर्म च्छर्दिरस्मभ्यं यंसत्॥ ऋ० 1 114 5
8. दे० 2 33 9 ऊपर।
9. यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते। ऋ० 1 43 5
10. दे० 2 33 9 ऊपर।
11. अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥ ऋ० 2.33 10.
स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्।
मृळा जरित्रे रुद्र स्तवानोऽन्यं ते अस्मन्नि वपन्तु सेनाः॥ ऋ० 2 33.11.
12. असौ यो अवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः... नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।

अथ० 11.2.7.

हैं[1]। उनका उदर काला और पीठ लाल है[2]। वे नील-कण्ठ है[3]। वे नीले बालों वाले (नील-शिखण्ड) हैं[4]। वे ताम्र और लोहित वर्ण के हैं[5]। वे चर्म पहने हुए हैं[6] और पर्वतों पर रहते है[7]।

ऋग्वेद में रुद्र के शस्त्रों का उल्लेख आता है। एक स्थान पर कहा गया है कि उनके हाथ में वज्र है[8]। उनका विद्युत्-कृपाण (दिद्युत्) आकाश से छूटकर पृथिवी पर भ्रमण करता है[9]। यह भी कहा गया है कि उनके पास धनुष्-बाण[10] है,

---

नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य। अथ० 11.2.3.
नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे। वा० सं० 16 8.

1. अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वायां आस्या य ते। दुद्भ्यो गन्धाय ते नमः। अथ० 11.2.6.
2. नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम्। अथ० 15.1.7.
नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन।
द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति॥ अथ० 15.1.8.
3. असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः। वा० सं० 16.7.
4. रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत्।
प्राशं प्रति प्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ अथ० 2.27.6.
5. दे० वा० सं० 16.7. ऊपर।
6. एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि।
अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाऽहिंसन्नः शिवोऽतीहि॥ वा० सं० 3.61
मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव।
परमे वृक्षऽआयुधं निधाय कृत्तिं वसानऽआचर पिनाकं बिभ्रदागहि॥ वा०सं० 16.51
7. या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥ वा० सं० 16.2.
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्॥ वा० सं० 16 3.
शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत्॥ वा० सं० 16.4.
8. दे० 2.33.3. पृ० 178.
9. या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्ष्मया चरति परि सा वृणक्तु नः।
सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः॥ ऋ० 7 46 3.
10. दे० 2.33 10-11 पृ० 178.
तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य।
यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य॥ ऋ० 5 42.11.
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ। ऋ० 10.125.6.

जो स्थिर और तीव्र-गतिवाले है[1] । उनका आह्वान कृशानु और तीर चलाने-वालो के साथ हुआ है[2] । जिन मन्त्रो मे इन्द्र की तुलना रथ मे बैठे हुए अस्ता अर्थात् तीरंदाज़ से की गई है वहा हो सकता है अभिप्राय इन्ही से हो[3] । अथर्व-वेद मे इन्हे अस्ता भी बताया गया है[4] । अथर्ववेद और अन्य परवर्ती वैदिक साहित्य मे उनके शरु, अस्त्र, वज्र या चक्र का पुन पुन सकेत मिलता है ।

रुद्र के विषय मे सबसे अधिक बार कथित बातो मे से एक है—उनका मरुतो के साथ साहचर्य । वे उनके पिता हैं[5], मरुतो के बारे मे उल्लेख मिलता है कि वे रुद्र के पुत्र हैं, और अनेक बार उन्हे 'रुद्रा' या 'रुद्रिया' भी कहा गया है। रुद्र ने रुक्मवक्षस् मरुतो को पृश्नि (सा माध्यमिका वाक्) के शुक्ल ऊधस् से उत्पन्न किया[6] । रुद्र कभी भी मरुतो के युद्ध-कौशल से सपृक्त नही होते क्योकि वे राक्षसो के साथ युद्ध मे प्रवृत्त ही नही होते । त्र्यम्बक विशेषण जो वेदोत्तर कालीन साहित्य मे शिव का एक प्रमुख विशेषण बन गया है, वैदिक साहित्य ही मे रुद्र के लिए प्रयुक्त हो चुका है[7], और प्रतीत होता है कि ऋग्वेद[8] ही मे एक बार रुद्र त्र्यम्बक बन चुके है। इस शब्द का अर्थ है 'वह जिसके तीन माताए है'[9] इस बात का जगत् के तीन भागो मे विभाजन से सबन्ध दीख पडता है । वेदोत्तरकालीन शिव-पत्नी अम्बिका का नामोल्लेख सर्वप्रथम वा० स०[7] मे हुआ है, किंतु यहा यह रुद्र की पत्नी नही अपितु उनकी बहन बनकर आती है।

---

1 इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने ।
अषाळ्हाय सहमानाय वेधसे तिग्मायुधाय भरता शृणोतु न ॥ ऋ० 7 46 1

2 कृशानुमस्तॄन् तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे । ऋ० 10 64 8

3 तिष्ठद्धरी अध्यस्तेव गर्ते वचो युजा वहत इन्द्रमृष्वम् । ऋ० 6 20 9
दे० 2 33 11 पृ० 178

4 यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रु शर्वोऽस्ता नीलशिखण्ड । अथ० 6 93 1
तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् । अथ० 15 5 1
एनं भिष्वास प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति । अथ० 15 5 2 15 आदि

5 इदं पित्रे मरुतामुच्यते वच स्वादो स्वादीयो रुद्राय वर्धनम् । ऋ० 1 114 6
उप ते स्तोमान्पशुपा इवाकरं रास्वा पितर्मरुतां सुम्नमस्मे । ऋ० 1 114 9
आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु । प्रजायेमहि रुद्र प्रजाभि । ऋ० 2.33 1

6 रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्या शुक्र ऊधनि । ऋ० 2 34 2

7. भवं रुद्रमदीमहि अवं देवं त्र्यम्बकम् । वा० सं० 3 58

8 त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मा मृतात् ॥ ऋ० 7 59 12

9. त्री षधस्था सिन्धवस्त्रि कवीनामुत त्रिमाता विदथेषु सम्राट् । ऋ० 3 56 5

शिव-पत्नी के स्थायी नाम उमा और पार्वती सर्वप्रथम सभवत तैत्तिरीय आरण्यक और केनोपनिषद् मे आते है।

ऋग्वेद के एक मन्त्र[1] मे अग्नि के साथ तद्रूपित देवताओ मे से एक रुद्र भी हैं। अग्नि के साथ उनका तादूप्य अथर्ववेद[2], तैत्तिरीय सहिता और शतपथ ब्राह्मण[3] मे किया जा चुका है। रुद्र शब्द बहुधा विशेषण के रूप मे भी आता है और अनेक स्थलो पर तो यह अग्नि के गुण-विशेष का वाचक भी बनता है, यद्यपि अश्विनो के विशेषण-रूप मे इसके प्रयोग और भी बहुल हैं। अनेक अन्य नामो के साथ-साथ सर्व और भव ये दो नाम भी वाजसनेयि-सहिता[4] मे रुद्र के लिए आये है। ये दोनो नाम अथर्ववेद मे आ चुके है और वहा रुद्र के नाशक शरु एव विद्युत् की ओर सकेत किया गया है[5]। किंतु इन मन्त्रो मे वे एक दूसरे से, और सच पूछिए तो रुद्र से भिन्न देवताओ के रूप मे आये प्रतीत होते है। भव और सर्व को तो एक सूत्र-परिच्छेद मे रुद्र के पुत्र भी बताया गया है और शाखायन श्रौतसूत्र[6] मे इनकी तुलना शिकार के लिए उत्कट इच्छा रखनेवाले घातुक भेडिये से की गई है। वाजसनेयि सहिता[7] मे अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, सर्व, ईशान, महादेव, उग्रदेव तथा अन्य देवताओ की गणना एक ही देव के अनेक रूपो की न्याई हुई है। शतपथ ब्राह्मण मे रुद्र, सर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महान् देव ये अग्नि

1 त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिव । ऋ० 2 1 6

2 तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये। अथ० 7 87 1

3 अग्निर्वै रुद्र । शत० ब्रा० 6 1 3 10
अग्नैव सर्वोऽग्नि सस्कृत स एषोऽत्र रुद्रो देवता। शत० ब्रा० 9 1 1 1

4 नमो भवस्य हेत्यै जगता पतये नम । वा० स० 16 18
नमो भवाय च रुद्राय च नम शर्वाय च पशुपतये च। वा० स० 16 28

5 दे० अथ० 2 27 6 पृ० 179 दे० अथ० 6 93 1 पृ० 180
भवा शर्वावस्यता पापकृते कृत्या कृते। दुष्कृते विद्युत देवहेतिम्। अथ० 10 1 23
भवाशर्वौ मृडत माभि यात भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायता मा वि स्राष्ट मा नो हिंसिष्ट द्विपदो मा चतुष्पद ॥ अथ० 11 2 1
धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम्।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्या दिशीतत ॥ अथ० 11 2 12

6 यावरण्ये पतयतो वृकौ जजभताविव।
महादेवस्य पुत्राभ्या भव शर्वाभ्या नम ॥ शा० श्रौ० सू० 4 20 1

7 अग्निं हृदयेनाशनिं हृदयाग्रेण पशुपतिं कृत्स्नहृदयेन भवं यक्ना। शर्वं मतस्नाभ्यामीशानं मन्युना महादेवमन्त पर्शव्येनोग्रं देव वनिष्ठुना वसिष्ठहनु शिङ्गानि कोश्याभ्याम्। वाज० स० 39 8

के आठ रूप बनकर आये है[1], एक अन्य स्थल पर सर्व, भव, पशुपति और रुद्र को अग्नि के नाम कहा गया है[2]। अशनि जो उपर्युक्त नामो में से एक है और जो शतपथ ब्राह्मण[3] मे कुमार का एक नाम बनकर आया है, उसी ब्राह्मण में विद्युत् के अर्थ मे भी आता है, किंतु शांखायन ब्राह्मण में इसका अर्थ 'इन्द्र' किया गया है। पशुपति विशेषण रुद्र के लिए वाजसनेयि-संहिता, अथर्ववेद, एवं परवर्ती साहित्य में प्रयुक्त हुआ है; और यह संभवत: इसीलिए हुआ हो कि गृह से बाहर के पशु रुद्र के लिए आक्रमणीय होते है, और उनकी रक्षा का भार उन्ही पर छोड़ दिया जाता है।

रुद्र के लिए ऋग्वेद में आता है कि वे मृग की भांति भीम[4] एवं उपहत्नु अर्थात् घातक है[5]। वे द्युलोक के अरुप वराह है[6]। वे वृषभ है[7]। वे बृहत्[8], दृढ़[9], बलवानों में वलिष्ठ[10], अषाढ अर्थात् अजेय[11], अमेय शक्तिवाले[12], और त्वरितगति[13]

1. तान्येतान्यष्टावग्नि रूपाणि। शत० ब्रा० 6.1.3 18.
2. अग्निर्वै स देवस्तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आ चक्षते भव इति यथा बाहीकाः पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति। शत० ब्रा० 1.7.3.8.
3. तमब्रवीदशनिरसीति। तद् यदस्य तन्नामाकरोद् विद्युत्तद्रूपमभवद् विद्युद्वा अशनिः। शत० ब्रा० 6.1.3.14.
4. दे० 2.33.9, 2.33.11. पृ० 178.
   उग्रं मरुद्भी रुद्रं हुवेम। ऋ० 10.126.5.
5. दे० 2 33.11. पृ० 178.
6. 1.114.5. पृ० 178.
7. दे० 2.33.7. पृ० 178.
   प्र बभ्रवे वृषभाय श्वितीचे महो महीं सुष्टुतिमीरयामि।
   नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिर्गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम॥ ऋ० 2 33.8
   एवा बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि। ऋ० 2.33 15.
8. इन्द्रं नो अग्ने वसुभिः सजोषा रुद्रं रुद्रेभिरा वहा बृहन्तम्।
   आदित्येभिरदितिं विश्वजन्यां बृहस्पतिमृक्वभिर्विश्ववारम्॥ ऋ० 7.10.4.
9. कद् रुद्राय प्रचेतसे मीळ्हुष्टमाय तव्यसे।
   वोचेम शंतमं हृदे। ऋ० 1.43.1.
   दे० 1.114.1. पृ० 178
10. दे० 2.33 3 पृ० 178
11. दे० 7.46 1. पृ० 180
12. दे० 2 33.10. पृ० 178
13. प्र रुद्रेण ययिना यन्ति सिन्धवस्तिरो महीमरमतिं दधन्विरे। ऋ० 10.92.5

है और त्वेष[1] है। वे युवा हैं[2], और ऋष्व, अजर एवं सुपुम्न हैं[3]। उन्हे असुर[4] अथवा द्युलोक का सबसे महान् असुर कहा गया है[5]। वे स्वयशस्[6], क्षयद्वीर[7], और इस प्रभूत जगत् के ईशान हैं[8], वे जगत्-पिता है[9]। वे अपने साम्राज्य के मानव-जात के शुभाशुभ को देखते है[10]। वे सरिताओ को धरती पर प्रवाहित करते है और गर्जन-तर्जन करते हुए वहा की हर वस्तु को ओदी करते है[11]। वे प्रचेतस् है[12], वे कवि है[13], और उनका हाथ मृडयाकु है[14]। अनेक बार उन्हे मीढवस् कहा गया है[15], और परवर्ती वेदो मे तो इस शब्द का प्रयोग हुआ ही केवल रुद्र के लिए है। वे कामो के पूरक हैं, वे प्रदीप्त अन्नादि के देनेवाले है। वे कल्याणकारी 'शिव' हैं[16]।

---

1 त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधं वङ्कुं कविमवसे नि ह्वयामहे।
आरे अस्मद् दैव्यं हेळो अस्यतु सुमतिमिद् वयमस्या वृणीमहे ॥ ऋ० 1 114 4

2. दे० 2 33 11. पृ० 178
युवा पिता स्वपा रुद्र एषा सुदुघा पृश्नि सुदिना मरुद्भ्य । ऋ० 5 60 5

3 भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ।
बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नमृधग्घुवेम कविनेषितास ॥ ऋ० 6 49 10

4 दे० 5 42 11 पृ० 179

5 दे० 2 1 6 पृ० 181

6 तद् रुद्राय स्वयशसे। ऋ० 1 129 3
स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन।
येभि शिव स्ववाँ एवयावभिर्दिव सिषक्ति स्वयशा निकामभि ॥ ऋ० 10 92 9

7 दे० 1 114 1 पृ० 178
मृळा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते। ऋ० 1 114 2

8 ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद् रुद्रादसुर्यम्। ऋ० 2 33 9

9 दे० 6 49 10 ऊपर

10 स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मन साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति।
अवन्नवन्तीरुप नो दुरश्चराऽनमीवो रुद्र जासु नो भव ॥ ऋ० 7 46 2

11 प्र रुद्रेण ययिना यन्ति सिन्धवस्तिरो महीमरमतिं दधन्विरे।
येभि परिज्मा परियन्नुरु ज्रयो वि रोरुवज्जठरे विश्वमुक्षते ॥ ऋ० 10 92 5

12 दे० 1 43 1 पृ० 182

13 दे० 1 114 4 ऊपर

14 दे० 2 33 7 पृ० 178 दे० 6 49 10 ऊपर

15 अश्याम ते सुमतिं देवयज्यया क्षयद्वीरस्य तव रुद्र मीढ्व । ऋ० 1 114 3

16 दे० 10 92 9 ऊपर

ऋग्वेद मे अनेक बार रुद्र की अनुदारता के भी सकेत मिलते है, क्योकि उनके निमित्त कहे गए सूक्तो मे उनके भीषण अस्त्रो से भीति और उनके अमर्ष से भय के भाव झलकते हैं। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे क्रोध मे आकर अपने उपासको, उनके माता पिताओ, उनके अपत्यो एव परिजनो, पशुओ एव अश्वो की क्षति न करें[1]। इसके विपरीत उनसे कहा गया है कि वे उनके अश्वो को छोड दें[2], अपने क्रोध एव वज्र को उपासको की ओर से लौटा ले और उनसे दूसरो को ध्वस्त करे[3]। उनसे अनुनय किया गया है कि क्रोध आने पर भी वे अपने वज्र को लौटा लें, और अपने उपासको, उनके बाल-बच्चो और गौओ को किसी भी प्रकार की क्षति न पहुँचायें[4], और उन सबसे अपने गोघ्न और नृघ्न वज्र को दूर ही रखें[4]। उनके दौर्मनस्य एव मन्यु से भय प्रदर्शित किया गया है[5], और उनसे विनती की गई है कि वे मानव-जाति के पैरवाले सहायको (अवस) के प्रति दयालु हो[6]। उपासक प्रार्थना करते है कि वे नीरोग बने रहे और उन पर रुद्रदेव की कृपा बनी रहे[7]। उन्हे भिषक्तम कहकर उनसे माग की गई है कि वे अपनी भेषजो से स्तोताओ को वीर नर प्रदान करें। एक स्थान पर उनके लिए नृघ्न विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है[8], और एक सून-परिच्छेद मे तो यह भी आया है कि ये महाभाग कभी-कभी

1 मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥ ऋ० 1 114 7
मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥ ऋ० 1 114 8

2 अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत प्र जायमहि रुद्र प्रजाभिः। ऋ० 2 33 1

3 दे० 2 33 11 पृ० 178
परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात्।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ ॥ ऋ० 2 33 14

4 प्रजावती सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः ॥ ऋ० 6 28 7

5 मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूती।
उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि ॥ ऋ० 2 33 4
उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान् त्वक्षीयसा वयसा नाधमानम्।
घृणीवच्छायामरपा अशीयाऽऽविवासेय रुद्रस्य सुम्नम् ॥ ऋ० 2 33 6
दे० 2 33 15 पृ० 182

6 अवसाय पद्वते रुद्र मृळ। ऋ० 10 169 1

7 दे० 2.33 1, 2.33 6 ऊपर।

8 प्र वो रुद्राय नृघ्ने। ऋ० 4 3 6

मनुष्यो को मारने तक की ठान लेते है । रुद्र का दौर्मनस्य परवर्ती वैदिक साहित्य मे और भी भीम बनकर उघडता है । बार-बार उनके अमर्ष से विभीषिका दिखाई गई है[1]। उनका आह्वान किया गया है कि वे दिव्य अग्नि के द्वारा अपने उपासको को नष्ट न करें और अपनी विद्युत् को कही और फेक देवे[2] । यहा तक वर्णन मिलता है कि वे ज्वर, कासिका (खासी), हेति और विष के द्वारा जन-जानपदो को सालते है[3] । रुद्र के कुत्तो का भी, जो खुलेमुह घूमते, भौकते-फिरते एव अपने शिकार को विना चबाये ही निगल जाते है, उल्लेख मिलता है[4] । यहा तक कहा गया है कि देवगण भी एक बार रुद्र के सज्य धनुष और शरु को देखकर काप उठे थे, और डर रहे थे कि कही वे उन्हे भी धराशायी न कर दे[5] । अपने महादेव रूप मे रुद्र पशुओ की हत्या करते है । एक अन्य ब्राह्मण-परिच्छेद मे उल्लेख मिलता है कि वे सभी भयानक तनुओ के सभार अथवा समवाय से बने हैं[6] । सभवत उनके इसी अप्रशस्त स्वभाव के कारण उन्हे ब्राह्मणो और सूत्रो मे अन्य देवो की कोटि से पृथक् रखा गया है। जब देवताओ ने स्वर्ग प्राप्त किया तब रुद्र वास्तु (बस्ती) मे ही रह गये थे[7] । वैदिक यज्ञो मे देवताओ के लिए हविष् देने के उपरान्त अवशिष्ट हविष् बहुधा रुद्र को दी जाती है[8] । उनके गणो को जो

---

1 दे० वा० स० 3 61 पृ० 179

2 मा नों रुद्र तक्मना मा विषेण मा न स स्रा दिव्येनाग्निना ।
अन्यत्रास्मद्विद्युतं पातयैताम् ॥ अथ० 11 2 26 दे० अथ० 10 1 23 पृ० 181

3 यस्यं तक्मा कासिका हेतिरेकमश्वस्येव वृषण क्रन्द एति ।
अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै ॥ अथ० 11 2 22 दे० अथ० 11 2 26 ऊपर ।
यास्ते शत धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिता । तासां त सर्वासा वय निर्विषाणि ह्वयामसि ।
अथ० 6 90 2

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रु शर्वोऽस्ता नीलशिखण्ड ।
देवजना सेनयोत्तस्थिवासस्ते अस्माक परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥ अथ० 6 93 1.

4 नम श्वभ्य श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नम । वा० स० 16 28

5 तस्माद्देवा अबिभयुर्यद्वै नोऽयं न हिंस्यादिति । शत० ब्रा० 9 1 1 1
तस्माद्देवा अबिभयु । शत० ब्रा० 9 1 1 6

6 तेषा या एव घोरतमास्तन्व आसस्ता एकधा समभरस्ता सभृता एष देवोऽभवत्त दस्यैतद्भूतवन्नाम । ऐ० ब्रा० 3 33 1

7 यज्ञेन वै देवा दिवमुपोद क्रामन्नथ योऽय देव पशूनामीष्टे स इहाहीयत तस्माद् वास्तव्य इत्याहुर्वास्तौ हि तदहीयत ॥ शत० ब्रा० 1 7 3 1

8 अथैनमद्भिरभ्युक्ष्याभावर्ष्यं जपेत् य पशूनामधिपती रुद्रस्तन्तिचरो वृषा ।
पशूनस्माक मा हिंसीरेतदस्तु हुतं तव स्वाहा" इति गोभिल गृह्यसूत्र 1 8 28

मनुष्यो और पशुओ पर व्याधि जरा और मृत्यु के साथ आक्रमण करते हैं, शिकार की शोणितमिश्र अतडिया दी जाती है[1], जैसेकि यज्ञो मे दानवो के निमित्त उनके यज्ञाश रूप मे शोणित दिया जाता है[2]।

परवर्ती ग्रन्थो मे रुद्र का आवास साधारणतया उत्तर मे माना गया है, जबकि अन्य देवो का आवास पूर्व मे है। सभवत अपने इस अप्रशस्त स्वभाव के कारण ही रुद्र ऋग्वेद मे, केवल एक स्थल पर, चार मन्त्रो के छोटे-से सूक्त मे अन्य देवता (सोम) के साथ देवता-द्वन्द्व मे आते है।

वाजसनेयि सहिता मे रुद्र के अन्य वहुसख्यक विशेषणो के साथ-साथ कतिपय अभद्र विशेषणो का भी उल्लेख हुआ है। उन्हे स्तायुपति, स्तेन-पति एव तस्कर-पति कहा गया है[3]। सच पूछिये तो, इन विशेषणो द्वारा प्रदर्शित उनका चरित्र वेदोत्तर-कालीन शिव के भयावह, अशुचि एव वीभत्स चरित्र के पास जा पहुचता है।

इतना होने पर भी रुद्र राक्षस की भाति केवल अशिव ही नही है। ऋग्वेद मे उनके लिए यह उल्लेख भी मिलता है कि वे देवताओ के यहा से आनेवाले अमर्ष और एनस् को निवृत्त करते है[4]। उनका अनुनय न केवल आपत्ति से बचाने के लिए, अपितु कल्याण (शम्) प्राप्ति के लिए भी किया गया है[5]। उनकी रोग-निवारिणी शक्ति का पुन पुन उल्लेख मिलता है। वे औषध देते है[6]। वे प्रत्येक

यत्र भुज्यते त समूह्य निर्हृत्यावोक्ष्य त देशममत्रेभ्यो लेपान्सकृत्याद्भि ससृज्योत्तरत शुचौ देशे रुद्राय निनयेत्। एवं वास्तु शिव भवति। आप०ध०सू० 2 2 4 23

1. तेषु लोहितमिश्रमूवध्यमवधाय। रुद्रसेनाभ्योऽनुदिशाति। आघोषिण्य प्रतिघोषिण्य स घोषिण्यो विचिन्व य श्वसना क्रव्याद् एष वो भागस्त जुषध्व स्वाहेति। शा० श्रौ० सू० 4 19 7 एव 8

2 असना रक्ष ससृजतादित्याह रक्षा स्येव तस्वेन भागधेयेन यज्ञान्निरवदयते। ऐ० ब्रा० 2 7 1

3 स्तेनानां पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नम। वा०स० 16 20 नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नम। वा० स० 16 21

4 दे० 1 114 4 पृ० 183 दे० 2 33 7 पृ० 178

5 स्वस्ति नो रुद्र पात्वंहस। ऋ० 5 51 13 दे० 2 33 6 पृ० 184
यच्छ च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु। ऋ० 1 114 2
शं न करत्यर्वते सुगं मेषाय मेष्ये।
नृभ्यो नारिभ्यो गवे॥ ऋ० 1 43 6

6 स्थिराभिर्भेषजा रास्यस्मे। ऋ० 2 33 12

ओपधि के शासक है[1] और वे सहस्रो ओपधिया रखते है[2]। वे अपने हाथ मे वरणीय भेपज लिये हुए हैं[3], और उनका हाथ यशस्कर एव पीयूपमय है[4]। वे अपनी ओपधियो से वीरो को उत्साहित करते है, क्योकि वे वैद्यो के मूर्धन्य है[5], और उनकी सौख्यकारी ओपधियो के द्वारा उनके उपासक 'शत हिमा' पर्यन्त जीने की आशा करते हैं[6]। उनसे अनुरोध किया गया है कि वे अपने उपासको के परिवारो से व्याधियो को दूर रखें[7] और द्विपदो और चतुष्पदो के प्रति मीठे वने, जिससे कि सभी ग्रामवासी सुपुष्ट एव अनातुर वने रहे[8]। इस सवन्ध मे रुद्र के दो असामान्य विशेपण हैं 'जलाप' और जलाप-भेपज (=पीयूपपाणि)[9]। रोगो की सभवत यह ओपध वर्षा है[10]। रुद्र की यह विशेपता उनके स्वभाव का एक अटूट घटक है, इस तथ्य का अभिज्ञान ऋग्वेद के सूक्त (8 29)[11] मे होता है जिसमे सभी देवो की विशेपताए गिनाई गई है। इसी सूक्त के पूर्व मन्त्र मे रुद्र को शुचि, उग्र, पीयूप-पाणि एव हाथ मे आयुध लिये दिखाया गया है। रुद्र की विद्युत् और उनकी भेपजो का एक मन्त्र मे साथ-साथ उल्लेख आया है[12]। जलाप रुद्र का और उनके गणो का उपासको पर कृपा करने के लिए आह्वान किया गया है[13]। मरुत् भी एक

---

1. दे० 5 42 11 पृ० 179.
2 दे० 7 46 3 पृ० 179
3 दे० 1 114 5 पृ० 178
4 दे० 2 33 7 पृ० 178
5 दे० 2 33 4. पृ० 184
6 त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभि शत हिमा अशीय भेपजेभि । ऋ० 2 33 2
7. दे० 7 46 2. पृ० 183
8 दे० 1 114 1 पृ० 178
9 गाथपतिं मेधपति रुद्र जलापभेपजम् । तच्छयो सुम्नमीमहे ॥ ऋ० 1 43 4.
दे० अथ० 2 27 6 पृ० 179
10. अतीयाम निदस्तिर स्वस्तिभिर्हित्वावद्यमराती ।
वृष्टवी श योराप उस्रि भेपज स्याम मरुत सह ॥ ऋ० 5 53 14
अत्रं द्वके अव त्रिका दिवश्चरन्ति भेपजा ।
क्षमा चरिष्ण्वेकक भरतामप यद्रपो द्यौ पृथिवि क्षमा रपो मोपुते किं चनाममत् ॥
ऋ० 10 59 9
11 तिग्ममेको बिभर्ति हस्त आयुधं शुचिरुग्रो जलापभेपज । ऋ० 8 29 5
12 या ते दिद्युदवसृष्टा दिवस्परि क्षमया चरति परि सा वृणक्तु न ।
सहस्रं ते स्वपिवात भेपजा मा नस्तोकेपु तनयेपु रीरिप ॥ ऋ० 7 46 3
13 शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाप । ऋ० 7 35 6

अन्य मन्त्र मे शुचि और शतम भेषज रखने के कारण रुद्र से सबद्ध दिखाये गये है[1]। रुद्र की उपचार-शक्ति का उल्लेख कही-कही अन्य सहिताओ मे भी मिलता है[2], किंतु उनके विघटक व्यापारो की अपेक्षा उनकी उपचार शक्ति का उल्लेख कम हुआ है। सूत्रो मे पशुओ की बीमारी का उपचार या निरोध करने के लिए रुद्र-यज्ञो का विधान किया गया है ।

ऋग्वेद के उद्धरणो से यह स्पष्ट नही हो पाता कि रुद्र का प्राकृतिक आधार क्या है। साधारणतया इन्हे तूफान का देव समझा जाता है। किंतु इन्द्र के विपरीत रुद्र का वज्र क्रूर है। इन्द्र का वज्र केवल अपने उपासको के शत्रुओ पर पडता है। फलत. प्रतीत होता है कि रुद्र मूलत तूफान के शुचि एव भद्र पक्ष के नही, अपितु उसके घातक वैद्युत पक्ष के प्रतिरूप थे। इस मान्यता के द्वारा उनके घातक शस्त्र का, और 'मरुतो के पिता या प्रमुख' इस अभिधान का आधार स्पष्ट हो जाता है, क्योकि मरुत् का शस्त्र विद्युत् है और कहा गया है कि मरुत् विद्युत् के हस्कार (अट्टहास) दीप्तिकर एव दीप्यमान अन्तरिक्ष से उत्पन्न हुए है[3]। उनके दया-प्रवण एव भैषज्य कार्यो का आधार अशतः तूफान के प्रशामक और भूमि को उर्वर बनानेवाले व्यापार रहे होगे, कुछ इसी प्रकार की प्रक्रिया ने उनके क्रोध-प्रशमनार्थ की गई प्रार्थनाओ द्वारा उनके सौख्यपरक 'शिव' विशेषण को जन्म दिया होगा, जोकि आगे चलकर रुद्र के ऐतिहासिक उत्तराधिकारी देवता का वेदोत्तर-कालीन गाथा मे परिनिष्ठित नाम बनकर देश के समुख आया है। इसी मान्यता से ऋग्वेद मे मिलनेवाले रुद्र और अग्नि के निकट सबन्ध की भी व्याख्या हो जाती है।

वेबर मानते है कि रुद्र प्रारम्भ मे तूफान-गर्जन के प्रतिरूप थे (अत रुद्र के बहुवचन रूप का अर्थ होता है 'मरुद्गण')। किंतु अग्नि का गर्जन भी तो इसी प्रकार का है। फलत तूफान और अग्नि इन दोनो के समेलन से क्रोध और सहार के इस देवता का जन्म हुआ होगा। शतरुद्रिय मे आनेवाले विशेषण अशत रुद्र (=तूफान) और अशत अग्नि (=भौतिक अग्नि) से लिये गये है। एच० एच० विल्सन के विचार मे रुद्र निश्चित रूप से अग्नि अथवा इन्द्र के एक रूप-विशेष थे। एल० वी०

1 या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शंतमा वृषणो या मयोभु। ऋ० 2 33.13

2 भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै। वा० सं० 3 59
अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। वा० स० 16 5
या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे॥ वा० सं० 16 49

दे० अथ० 2 27 6. पृ० 17

3 हस्काराद् विद्युतस्पर्यतो जाता अवन्तु नः। मरुतो मृळयन्तु नः। ऋ० 1 23 12

श्रॉडर के अनुसार रुद्र मूलत उन प्रेतात्माओं के प्रमुख थे, जो वायु के साथ मिलकर तूफान उत्पन्न करती है। ओल्डनबेर्ग का मत है कि रुद्र मूलत पर्वत एव अरण्य के देवता थे, जहा से आकर व्याधियों के बर्छे मनुष्यो पर गिरा करते है।

अर्थ की दृष्टि से रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति कुछ अनिश्चित-सी है। साधारणतया इस शब्द की व्युत्पत्ति √रुद् (चिल्लाना) से की जाती है, जिससे इसका अर्थ होता है 'चिल्लानेवाला'। यह भारतीय व्युत्पत्ति है। ग्रासमान ने इसे एक कल्पित √रुद् (=चमकना) धातु से निष्पन्न हुआ बताया है जबकि पिशल इसे √रुद् ('=लोहित होना') इस कल्पित धातु से व्युत्पन्न हुआ बताते है और इसका अर्थ करते है 'चमकीला' या 'लोहित'।

मरुत् (§ 29)—

ऋग्वेद मे मरुत् को ऊचा स्थान प्राप्त हुआ है। अकेले इनके लिए 33, इन्द्र के साथ कम-से-कम 7 और अग्नि तथा पूषा के साथ एक एक सूक्त कहे गये है। मरुतो का एक देवगण है (गण शब्द का प्रयोग व्यापक रूप से मरुतो के लिए हुआ है, अथवा उनका एक शर्ध है[1]। इनका उल्लेख केवल बहुवचन मे हुआ है। इनकी सख्या 60 की तिगुनी या 7 की तिगुनी है[2]। उनके जन्म का जहा-तहा उल्लेख मिलता है[3]। वे रुद्र के पुत्र है। अत इन्हे बहुधा 'रुद्रा'[4] अथवा कभी-कभी 'रुद्रिया' भी कहा गया है[5]। इन्हे पृश्नि का पुत्र भी बताया गया है[6]। फलत इनके लिए अनेक बार 'पृश्निमातर' यह विशेषण भी प्रयुक्त हुआ

1 क्रीळं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम्। कण्वा अभि प्र गायत ॥ ऋ० 1 37 1
प्र शंसा गोष्वघ्न्यं क्रीळं यच्छर्धो मारुतम्। जम्भे रसस्य वावृधे। ऋ० 1 37 5

2 शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभिर्वधैरुग्रेभिरीयसे।
अपूरुषघ्नो अप्रतीत शूर सत्वभिस्त्रिसप्तैः शूर सत्वभि ॥ ऋ० 1 133 6
यूयमुग्रा मरुत पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्।
आ वो रोहित शृणवत्सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुत स्वादुसंमुद ॥ अथ० 13 1 3

3. पुरुद्रप्सा अञ्जिमन्त सुदानवस्त्वेषसंदृशो अनवभ्रराधस।
सुजातासो जनुषा रुक्मवक्षसो दिवो अर्का अमृतं नाम भेजिरे ॥ ऋ० 5 57 5

4 युष्माकमस्तु तविषी तना युजा रुद्रासो नू चिदाधृषे। ऋ० 1 39 4.
आ वो मक्षू तनाय कं रुद्रा अवो वृणीमहे। ऋ० 1 39 7

5 सत्यं त्वेषा अमवन्तो धन्वञ्चिदा रुद्रियास। ऋ० 1 38 7.
चित्रं तद्वो मरुतो याम चेकिते पृश्न्या यदूधरप्यापयो दुहु।
यद्वा निदे नवमानस्य रुद्रियास्त्रितं जराय जुरतामदाभ्या ॥ ऋ० 2 34 10

6 रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्या शुक्र ऊधनि। ऋ० 2 34 2

है[1]। एक जगह एक गौ भी इनकी माता बनती है, इसलिए इन्हे 'गोमातर' यह विशेषण भी मिला है[2]। यह गौ हो सकता है विचित्र-वर्ण के तूफान-मेघ का ही प्रतिरूप हो। प्रभूत स्तनोवाली समिद्ध गौए, जिनके साथ मरुद्गण आते है, वर्षा और विद्युत् से परिच्छिन्न मेघ की परिचायक हो सकती है[3]। पृश्नि से उत्पन्न मरुतो की तुलना अग्नि के साथ की गई है[4]। यह भी वर्णन मिलता है कि वे विद्युत् के अट्टहास से उत्पन्न हुए है[5]। कहा गया है कि अग्नि ने उनकी रचना की अथवा उन्हे जन्म दिया[6]। वायु ने उन्हे स्वर्ग की वक्षणाओ मे से (सा वक्षणाओ के लिए) जन्म दिया[7] और एक बार उन्हे 'दिवस्पुत्रास' भी कहा गया है[8]। मरुत् 'दिवो नर' या 'दिवो मर्या' भी कहाये है[9]। एक बार इन्हे 'सिन्धुमातर' भी

प्र ये मे बन्ध्वेषे गा वोचन्त सूरय पृश्निं वोचन्त मातरम्। ऋ० 5 52 16
रुद्रस्य ये मीळ्हुष सन्ति पुत्रा यांश्चो नु दाधृविर्भरध्यै।
विदे हि माता महो मही षा सेत् पृश्नि सुभ्वे३ गर्भमाधात्॥ ऋ० 6 66 3.
दे० 5 60 5 पृ० 183

1 विश्वान् देवान् हवामहे मरुत सोमपीतये। उग्रा हि पृश्नि मातर। ऋ० 1 23 10
यूयमुग्रा मरुत पृश्निमातर। अथ० 5 21 11 दे०5 52 16 ऊपर

2 गो मातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु शुभ्रा दधिरे विरुक्मत। ऋ० 1 85 3
गोभिर्वाणो अज्यते सोभरीणा रथे कोशे हिरण्यये।
गो बन्धव सुजातास इषे भुजे महान्तो न स्परसे नु॥ ऋ० 8 20 8

3 इन्धन्वभिर्धेनुभी रप्शदूधभिरध्वस्मभि पथिभिर्भ्राजदृष्टय।
आ हसासो न स्वसराणि गन्तन मधोर्मदाय मरुत समन्यव॥ ऋ० 2 34 5

4 ये अग्नयो न शोशुचन्निधाना द्विर्यत् त्रिर्मरुतो वावृधन्त। ऋ० 6 66 2

5 दे० 1 23 12 पृ० 188
शर्धो वा यो मरुता ततक्ष ऋभुर्न त्वेषो रभसानो अद्यौत्॥ ऋ० 6 3 8
वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्स न माता सिषक्ति। यदेषा वृष्टिरसर्जि॥ ऋ० 1 38 8

6 अग्नि शर्धमनवद्य युवान स्वाध्य जनयत् सूदयच्च। ऋ० 1 71 8

7 अजनयो मरुतो वक्षणाभ्यो दिव आ वक्षणाभ्य। ऋ० 1 134 4

8 श्रिये मर्यासो अञ्जीरकृण्वत सुमारुत न पूर्वीरति क्षप।
दिवस्पुत्रास एता न येतिर आदित्यासस्ते अक्रा न वावृधु॥ ऋ० 10 77 2

9 साक जज्ञिरे स्वधया दिवो नर। ऋ० 1 64 4
दिवो अर्चा मरुद्भ्य मरुस्व वीरे विपुर्गेव मरुतो रोदस्यो। ऋ० 1 122 1
यन्मरुत सभरस स्वर्णर सूर्य उदिते मदथा दिवो नर। ऋ० 5 54 10
विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तो दिवो मर्या ऋतजाता अयासे। ऋ० 3 54 13
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन। ऋ० 5 59 6

कहा गया है[1] और कुछ स्थलो पर इन्हे 'स्वयजात' भी बताया गया है[2]।

वे सब भाई है, जिनमे न कोई ज्येष्ठ है और न कोई कनिष्ठ,[3] क्योकि वे सारे ही आयु मे समान हैं[4]। वे एकत्र बढे है[5] और समन्यु अर्थात् समान विचारवाले हैं[6]। उनकी योनि समान है और नीड अर्थात् आवास भी उन सब का समान है[7]। कहा गया है कि वे पृथिवी पर, द्युलोक मे और अन्तरिक्ष के पथो पर एक-साथ ही फैल जाते हैं[8] और तीनो स्वर्गो मे निवास करते हैं[9]। एक बार उन्हे पर्वतवासी भी बताया गया है। उनका इन्द्राणी के साथ उल्लेख आता है जोकि उनकी मित्र है[10]। सरस्वती के साथ भी उनका नाता है[11]। उनका घनिष्ठ सबन्ध 'रोदसी' के साथ है, जिनके विषय मे वर्णन आता है कि वे उनके साथ रथ पर खडी है और आनन्द देती हैं[12] या साधारणत. उनके साथ खडी हैं[13]। जिन पाच मन्त्रो मे

---

1. ग्रावाणो न सूरयः सिन्धुमातर आदर्दिरासो अद्रयो न विश्वहा । ऋ० 10 78 6
2. वम्रासो न ये स्वजाः स्वतवसः । ऋ० 1.168 2.
   प्र ये जाता महिना ये च नु स्वयं प्र विद्मना ब्रुवत एवयामरुत् ।
   क्रत्वा तद्वो मरुतो नाधृषे शवो दाना मह्ना तदेषामधृष्टासो नाद्रयः ॥ ऋ० 5 87.2
3. ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा वि वावृधु· । ऋ० 5 59 6
   अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधु सौभगाय । ऋ० 5 60 5.
4. कया शुभा सवयसः सनीळाः समान्या मरुत. सं मिमिक्षु· । ऋ० 1 165 1
5 मरुतां पुरुतममपूर्व्यं गवां सर्गमिव ह्वये । ऋ० 5 56 5
   प्र साकमुक्षे अर्चता गणाय यो दैव्यस्य धाम्नस्तुविष्मान् । ऋ० 7 58 1
6 आ गन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावानो माप स्थाता समन्यव. । ऋ० 8 20 1
   गावश्चिद् घा समन्यवः सजात्येन मरुतः सबन्धवः । रिहते ककुभो मिथ. । ऋ० 8 20 21
7. दे० 1 165.1 ऊपर
   क ईं व्यक्ता नरः सनीळा रुद्रस्य मर्या अधा स्वश्वाः ऋ० 7 56 1
8. प्रवत्वतीयं पृथिवी मरुद्भ्यः प्रवत्वती द्यौर्भवति प्रयद्भ्य. ।
   प्रवत्वती· पथ्या अन्तरिक्ष्या· प्रवत्वन्त .पर्वता जीरदानव ॥ ऋ० 5 54 9
9. यदुत्तमे मरुतो मध्यमे वा यद्वावमे सुभगासो दिवि ष्ठ । ऋ० 5 60 6
10. उताहमस्मि वीरिणीन्द्र पत्नी मरुत्सखा । ऋ० 10 86 9
11. सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा । ऋ० 7 96 2
   आग्ने गिरो दिव आ पृथिव्या मित्रं वह वरुणमिन्द्रमग्निम् ।
   आर्यमण मदितिं विष्णुमेषां सरस्वती मरुतो मादयन्ताम् ॥ ऋ० 7 39 5.
12 रथ नु मारुतं वय श्रवस्युमा हुवामहे ।
   आ यस्मिन् तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी ॥ ऋ० 5 56 8
13. अध स्मैषु रोदसी स्वशोचिरामवत्सु तस्थौ न रोक । ऋ० 6 66 6

'रोदसी' का नाम आता है, उनमे वे मरुतो के साथ उल्लिखित हुई हैं[1]। इससे प्रतीत होता है कि वे मरुतो की वधू रही होगी (जैसेकि सूर्या को अश्विनो की वधू बताया गया है) सभवत इसी नाते मरुतो को 'भद्रजानय' अर्थात् भद्र भार्यावाले यह विशेषण मिला हो[2], और साथ ही उनकी तुलना वर[3] के साथ की गई है।

मरुतो की द्युतिमत्ता का बार-बार उल्लेख हुआ है। वे स्वर्णिम है, सूर्य सदृश प्रतिभावाले हैं, समिद्ध अग्नि के समान है और लोहित है[4]। वे अग्नि-जिह्वाओ (लपटो) की न्याइ चमकवाले हैं[5]। उनकी रचना या ज्योतिष्मत्ता अग्नि जैसी है[6]। भ्राजस् या चमक मे इनकी तुलना रुक्मवक्षस् अग्नि के साथ की गई है[7]। ऋजीषी अर्थात् गतसार सोम के पाता मरुत् समिद्ध अग्नि के सदृश शुशुचाव अर्थात् दीप्तिवाले है[8]। यहा तक कि स्पष्ट शब्दो मे उन्हे उनकी शक्तियो के कारण अग्नि बताया गया है[9]। वे सर्प-जैसे-(अहिभानव)[10] चमकते है। वे पर्वतो पर फबते है[11]। वे अपनी चमक से स्वभानु अर्थात् स्वयदीप्त हैं[12], स्वभानु विशेषण का प्रयोग निरपवादत रूप से मरुतो के लिए हुआ है। अनेक बार उन्हे

---

1 परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षु ।
न रोदसी अप नुदन्त घोरा जुषन्त वृधं सख्याय देवा ॥ ऋ० 1 167 4
जोषद् यदीमसुर्या सचध्यै विषितस्तुका रोदसी नृमणा ।
आ सूर्येव विधतो रथं गात् त्वेषप्रतीका नभसो नेत्या ॥ ऋ० 1 167 5

2 परा वीरास एतन मर्यासो भद्रजानय । अग्नितपो यथासथ । ऋ० 5 61 4

3 वरा इवेद् रैवतासो हिरण्यैरभि स्वधाभिस्तन्व पिपिश्रे । ऋ० 5 60 4

4 ये अग्नयो न शोशुचन्निधाना द्विर्यत् त्रिर्मरुतो वावृधन्त ।
अरेणवो हिरण्ययास एषां साकं नृम्णै पौंस्येभिश्च भूवन् ॥ ऋ० 6 66 2
इहेह व स्वतवस कवय सूर्यत्वच । यज्ञं मरुत आ वृणे ॥ ऋ० 7 59 11
उदु त्ये अरुणप्सवश्चित्रा यामेभिरीरते । वाश्रा अधि ष्णुना दिव ॥ ऋ० 8 7 7

5 वातासो न ये धुनयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिण । ऋ० 10 78 3

6 त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासो धृषिता मरुत्व ।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभि प्र यन्तु नरो अग्निरूपा ॥ ऋ० 10 84 1
अग्निश्रियो मरुतो विश्वकृष्टय । ऋ० 3 26 5

7 अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसो वातासो न स्वयुज सद्यऊतय । ऋ० 10 78 2

8 अग्नयो न शुशुचाना ऋजीषिण । ऋ० 2 34 1 दे० 6 66 2 ऊपर

9 प्र यन्तु वाजास्तविषीभिरग्नय । बृहदुक्षो मरुतो विश्ववेदस । ऋ० 3 26 4

10 मरुतो अहिभानव । ऋ० 1 172 1

11. प्र यद् वस्त्रिष्टुभमिषं मरुतो विप्रो अक्षरत् । वि पर्वतेषु राजथ ॥ ऋ० 8 7 1

12 अजायन्त स्वभानव । ऋ० 1 37 2.

'रोचमाना' और 'चन्द्रवर्णा' भी बताया गया है[1]।

अनेक वार उनका सबन्ध विद्युत् के साथ जोडा गया है[2]। जब मरुत् घृत की वर्षा करते है तब विद्युत् पृथिवी की ओर मुस्कराती है[3]। जब वे बरसते हैं तब विद्युत् गौ की भाति राभती है ठीक उसी तरह जैसे माता अपने बछडे को देखकर[4]। वे वर्षा से चमकती हुई विद्युत् के सदृश द्युतिमान् है[5]। विद्युत् उनकी इतनी सनिकट की सहचरी है कि ऋग्वेद मे विद्युत् के पाचो समास इनके साथ बनकर आये और केवल एक वार को छोड सभी एकमात्र इन्ही के साथ बने हैं। अभिद्यु मरुत् विद्युत् को अपने हाथ मे लेते है[6], वे विद्युत् कम गरिमावाले है और अश्म-दिद्यु फेंकते अर्थात् अश्मा (अशनि) की चमकवाले हैं[7]। उनके भालो (ऋष्टि) का पुन पुन. उल्लेख आया है, और उनके 'ऋष्टिविद्युत्' इस विशेषण से ज्ञात होता है कि ये भाले और कुछ न होकर विद्युत् के ही प्रतिरूप थे[8]। अपेक्षाकृत कम वार इन्हे वाशीवाला कहा गया है[9]। इनकी वाशी हिरण्मयी

---

1 एवेदेते प्रति मा रोचमाना अनेद्य श्रव एषो दधाना।
सचक्ष्या मरुतश्चन्द्रवर्णा अच्छान्त मे छदयाथा च नूनम् ॥ ऋ० 1 165 12

2 प्र वो मरुतस्तविषा उदन्यवो वयोवृधो अश्वयुज परिज्रय।
स विद्युता दधति वाशति त्रित स्वरन्त्यापोऽवना परिज्रय ॥ ऋ० 5 54 2
विद्युन्महसो नरो अश्मदिद्यवो वातत्विषो मरुत पर्वतच्युत। ऋ० 5 54 3
असेषु व ऋष्टय पत्सु खादयो वक्षस्सु रुक्मा मरुतो रथे शुभ।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्यो शिप्रा शीर्षसु वितता हिरण्ययी ॥ ऋ० 5 54 11
ईशानकृतो धुनयो रिशादसो वातान विद्युतस्तविषीभिरक्रत। ऋ० 1 64 5

3. अव स्मयन्त विद्युत पृथिव्या यदी घृत मरुत प्रुष्णुवन्ति। ऋ० 1 168 8
अन्वेनाँ अह विद्युतो मरुतो जज्झतीरिव भानुरर्त त्मना दिव। ऋ० 5 52 6

4 दे० 1 38 8 पृ० 190

5 असेष्वा मरुत खादयो वो वक्षस्सु रुक्मा उपशिश्रियाणा।
वि विद्युतो न वृष्टिभी रुचाना अनु स्वधामायुधैर्यच्छमाना ॥ ऋ० 7 56 13

6 विद्युद्धस्ता अभिद्यव शिप्रा शीर्षन् हिरण्ययी।
शुभ्रा व्यञ्जत श्रिये ॥ ऋ० 8 7 25 दे० 5 54 11 ऊपर।

7 दे० 5 54 3 ऊपर।

8 को वोऽन्तर्मरुत ऋष्टिविद्युतो रेजति त्मना हन्वेव जिह्वया। ऋ० 1 168 5
य ऋष्वा ऋष्टिविद्युत कवय सन्ति वेधस।
तमृषे मारुत गण नमस्या रमया गिरा ॥ ऋ० 5.52 13

9 ये पृषतीभिर्ऋष्टिभि साक वाशीभिरञ्जिभि। अजायन्त स्वभानव ॥ ऋ० 1 37 2
श्रिये क वो अधि तनूषु वाशीर्मेधा वना न कृणवन्त ऊर्ध्वा।

है[1]। एक बार उन्हे वज्र-हस्त भी बताया गया है। कही-कही धनुष्-तीर भी उनके पास बताये गये है[2]। एक बार उन्हे उस्ता अर्थात् तीर चलानेवाला भी कहा गया है। किंतु उनके निमित्त कहे गये बहुसख्यक सूक्तो में उनकी इस विशेषता का अपेक्षाकृत कम वर्णन हुआ है, फलतः अनुमान होता है कि उन्हे यह विशेषता अपने पिता रुद्र से देन के रूप मे मिली थी। मरुत् आभरणो से सजे हुए है; उनके गले में माला है, वक्ष पर कण्ठी है, हाथ मे आयुध है और पैरो में बाक है[3]। वे हिरण्मयी द्रापि पहनते है। धनी वर की भाति वे अपने शरीर को सुनहरे आभूषणों से सजाते है[4]। खादि उनका फबता आभूषण है। इन अलकारो से अलकृत होकर वे वैसे ही सजते है जैसे आकाश तारो से और बादल से आनेवाली जल की बूदे[5]। एक मन्त्र मे उनके रूप का वर्णन विशद रूप से किया गया है। वे अपने कंधों पर भाले लिये है, उनके पैरो मे बाक है, उनके वक्ष.स्थल पर सुनहरे आभूषण है, उनके हाथो मे अग्निमयी विद्युत् है। उनके सिर पर सुनहरी टोपी है[6]। एक मन्त्र मे प्रार्थना की गई है कि कही अनितभा रसा, कुभा, क्रुमु, सिन्धु और पुरीषिणी सरयु ही मरुतो को न रोक ले, वे हम तक पहुचे और हम पर दयार्द्र हो[7]।

मरुत् रथो पर चलते है, और ये रथ विद्युत्-जैसे चमकते है[8], ये रथ

युष्मभ्यं कं मरुतः सुजातास्तुविद्युम्नासो धनयन्ते अद्रिम् ॥ ऋ० 1 88 3.
वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः ।
स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ॥ ऋ० 5.57.2
प्र धन्वान्यैरत शुभ्रखादयो यदेजथ स्वभानवः । ऋ० 8.20.4.

1. सहो षु णो वज्रहस्तैः कण्वासो अग्निं मरुद्भिः ।
स्तुषे हिरण्यवाशीभिः ॥ ऋ० 8 7 32.
2. ये अञ्जिषु ये वाशीषु स्वभानवः स्रक्षु रुक्मेषु खादिषु ।
श्राया रथेषु धन्वसु ॥ ऋ० 5 53 4 दे० 5 57.2. ऊपर
त उग्रासो वृषण उग्रबाहवो नकिष्टनूषु येतिरे ।
स्थिरा धन्वान्यायुधा रथेषु वोऽनीकेष्वधि श्रियः ॥ ऋ० 8 20 12.
3. दे० 5 53 4 ऊपर
4. दे० 5 60 4 पृ० 192.
5. द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त खादिनो व्यभ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः ।
रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि ॥ ऋ० 2 31.2
6. दे० 5 54 11 पृ० 193.
7. मा वो रसानितभा कुभा क्रुमुर्मा वः सिन्धुर्नि रीरमत् ।
मा वः परि ष्ठात्सरयुः पुरीषिण्यस्मे इत्सुम्नमस्तु वः ॥ ऋ० 5 53 9.
8. आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः । ऋ० 1.88.1.

सुनहरे है[1], और इनके पहिये स्वर्णिम है[2], इनमें शस्त्र रखे है[3], और इनमे कोश अर्थात् जल की मशके लगी है[4]। उनके रथ को खीचनेवाले अश्व लाल या भूरे वर्ण के है[5], ये अश्व सुवर्ण-पाणि अर्थात् इनके अगले पैर सुनहरे हैं[6], और ये मनोजवा है[7]। ये अश्व चित्रवर्ण है, जैसाकि 'पृषदश्व' इस विशेषण से प्रतीत होता है। यह विशेषण अनेक वार और एकान्त रूप से मरुतो के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इनके रथ को खीचनेवाले अश्वों का अपेक्षाकृत अधिक वार स्त्रीलिंग मे उल्लेख हुआ है, जैसेकि पृषती:[8] इत्यादि। दो मन्त्रो मे इनका उल्लेख पुल्लिङ्ग 'अश्वा:' के साथ भी हुआ है[9]। यह भी वर्णन आता है कि मरुतो ने अपने रथ मे अश्वों के रूप मे वायु को जोड़ा था[10]। मरुत् व्योम के समान उरु अर्थात् व्यापक हैं[11], वे सूर्य के समान द्युलोक एव पृथिवीलोक को अतिक्रान्त किये हुए है[12], इनकी गरिमा अमेय है[13] और इनकी शवस् अर्थात् शक्ति का पार किसी ने नही पाया है[14]।

दे० 3 54 13 पृ० 190

1. आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः सुवितय गन्तन । ऋ० 5 57.1.
2. हिरण्ययेभिः पविभिः पयोवृध उज्जिघ्नन्त आपथ्यो न पर्वतान् । ऋ० 1.64.11.
एतत्त्यन्न योजनमचेति सस्वर्ह यन्मरुतो गोतमो वः ।
पश्यन् हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान् विधावतो वराहून् ॥ ऋ० 1 88 5.
3. ऋष्टयो वो मरुतो अंसयोरधि सह ओजो बाह्वोर्वो बलं हितम् ।
नृम्णा शीर्षस्वायुधा रथेषु वो विश्वा वः श्रीरधि तनूषु पिपिशे । ऋ० 5 57 6.
4. श्चोतन्ति कोशा उप वो रथेष्वा घृतमुक्षता मधुवर्णमर्चते । ऋ० 1.87.2
5. तेऽरुणेभिर्वरमा पिशङ्गैः शुभे कं यान्ति रथतूर्भिरश्वैः । ऋ० 1.88 2
पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः । ऋ० 5.57.4.
6. आ नो मखस्य दावनेऽश्वैर्हिरण्यपाणिभिः ।
देवास उप गन्तन ॥ ऋ० 8.7.27
7. मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम् । ऋ० 1.85 4
8. उपो रथेषु पृषतीर युग्ध्वम् । ऋ० 1.39 6
9. यदश्वान् धूर्षु पृषतीरयुग्ध्वं हिरण्ययान् प्रत्यत्कॉं अमुग्ध्वम् ।
विश्वा इत् स्पृधो मरुतो व्यस्यथ शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ॥ ऋ० 5.55 6
यत्प्रायासिष्ट पृषतीभिरश्वैर्वीळुपविभिर्मरुतो रथेभिः । ऋ० 5 58 6
10. वातान् ह्यश्वान् धुर्यायुयुज्रे वर्षं स्वेदं चक्रिरे रुद्रियासः । ऋ० 5 58 7
11. वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो यमा इव सुसदृशः सुपेशसः ।
पिशङ्गाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवोरवः ॥ ऋ० 5 57 4.
12. प्र ये दिवः पृथिव्या न बर्हणा त्मना रिरिच्रे अभ्रान्न सूर्यः । ऋ० 10 77.3.
13. मयोभुवो ये अमिता महित्वा । ऋ० 5 58 2
14. नही नु वो मरुतो अन्त्यस्मे आरात्ताच्चिच्छवसो अन्तमापुः । ऋ० 1 167.9

मरुत् युवा है[1] और वे अजर[2] हैं। वे विपुल हैं, सेचक हैं, रुद्र के पुत्र है, असुर और अरेपस् अर्थात् वेदाग है, वे पावन है, शुचि हैं, सूर्य की तरह सारवान् है, द्रप्सो (जलविन्दुओ) से भरे है और घोररूप है[3]। वे असुर, ऋष्व, उक्षण, अलेप और शुचि है। वे भयानक[4], धृष्णु[5] एव भीमसदृक् है[6] ऋक्ष (सा० अग्नि) एव अन्य दुध्र पशुओ की न्याई भीमयु अर्थात् भयावह है। वे बछडो या बच्चो की भाति क्रीडालु है[7]। वे नीलपृष्ठ हसो के सदृश शुम्भमान अर्थात् अलकारो से शोभायमान है[8]। वे अयोदष्ट्र वराह है[9]। वे सिंह समान है[10]।

मरुतो के घोप का वार-बार उल्लेख आता है और स्पष्ट शब्द मे इस घोप को 'तन्यतु' कहा गया है[11], किंतु यही गर्जन वायु का भी है[12]। उनके आते

1 ते जज्ञिरे दिव ऋष्वास उक्षणो रुद्रस्य मर्या असुरा अरेपसं ।
पावकास शुचय सूर्या इव सत्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पस ॥ ऋ० 1 64 2
धारावरा मरुतो धृष्ण्वोजसो मृगा न भीमास्तविषीभिरर्चिन । ऋ० 2 34 1
कस्य ब्रह्माणि जुजुषुर्युवान को अध्वरे मरुत आ ववर्त । ऋ० 1 165 2
एप स्तोमो मारुत शर्धो अच्छा रुद्रस्य सूनूँ युवन्यूँ रुदश्या । ऋ० 5 42 15
2 युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनो ववक्षुरध्रि गाव पर्वता इव । ऋ० 1 64 3
3 पावकास शुचय सूर्या इव सत्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पस । ऋ० 1 64 2
रजस्तुरं तवस मारुत गण मृजीपिण वृषण सश्चत श्रिये । ऋ० 1 64 12
दे० 6 66 2 पृ० 19
4 य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा । मरुद्भिरग्न आ गहि । ऋ० 1 19 4
5 शुभ्रो व शुष्म क्रुध्मी मनासि धुनिर्मुनिरिव शर्धस्य धृष्णो । ऋ० 7 56 8
6 ये ते नेदिष्ठ हवनान्यागमन् तान्वर्ध भीमसंदृश । ऋ० 5 56 2
ऋक्षो न वो मरुत शिमीवॉ अमो दुध्रो गौरिव भीमयु । ऋ० 5 56 3
जनुश्चिद् वो मरुतस्त्वेप्येण भीमासस्तुविमन्यवोऽयास । ऋ० 7 58 2
दे० 5 56 2 ऊपर
ये शुभ्रा घोरवर्पस सुक्षत्रासो रिशादस । मरुद्भिरग्न आ गहि । ऋ० 1 19 5
7 नित्यं न सूनु मधु बिभ्रत उप क्रीळन्ति क्रीळा विदथेपु घृष्वय । ऋ० 1 166 2
ते हर्म्येष्ठा शिशवो न शुभ्रा वत्सासो न प्रक्रीळिन पयोधा । ऋ० 7 56 16
शिशूला न क्रीळय सुमातर । ऋ० 10 78 6
8 सरश्चिद् तन्व शुम्भमाना आ हंसासो नील पृष्ठा अपप्तन् । ऋ० 7 59 7
9 दे० 1 88.5 पृ० 105
10 सिंहा इव नानदति प्रचेतस । ऋ० 1 64 8.
11 जयतामिव तन्यतुर्मरुतामेति धृष्णुया । यच्छुभ याथना नर । ऋ 1 23 11
12. अभि स्वपूभिर्मिथो वपन्त वातस्वनस श्येना अस्पृध्रन् । ऋ० 7 56 3

ही द्युलोक मानो भय से चीखने लगता है[1]। यह भी वर्णन आता है कि मरुत् पर्वतों को हिलाते हैं और पृथिवी या दोनों लोकों को डुला देते हैं। उनके रथों की घोड़िया अपनी टापों से पर्वतों या अद्रियों को दरड डालती हैं[2]। जब वे वायु के साथ धावते हैं और मेह बरसाते हैं तब पर्वतों तक को कंपा देते हैं[3]। वे वृक्षों को चीर डालते और वन्य हस्ती की भांति जंगलों को चबा जाते हैं[4]। बड़े-बड़े पेड़ उनके समक्ष नतमस्तक हो जाते हैं[5]। पर्वतों के समान अबाधगति मरुत् अपनी शक्ति से पृथिवी और द्युलोक के प्राणियों अथवा पदार्थों को कंपित कर देते हैं[6]। सभी प्राणी उनका लोहा मानते हैं[7]। वे प्रचण्ड वायु की तरह चलते हैं[8] और धूल उड़ाते हैं[9]। वे वायु या उसकी ध्वनि को पैदा करते हैं[10]। वे वायु के साथ आते हैं[11] और वे वायु पर सवारी करते हैं[12]।

मरुतों के प्रधान कार्यों में से एक है—वर्षा करना। वे वर्षा से आवृत हैं[13]। वे समुद्र से उठते और वर्षा बरसाते हैं[14]। अचूक यूप को उलीचते हुए मरुत दोनों लोकों

---

1. द्युतानां यत्स्वरान्तं उद्राशी रन्तुमयातन। द्यौर्न चक्रदद् भिया। ऋ० 8 7 26.
2. हिरण्ययेभिः पविभिः पयोवृध उज्जिघ्नन्त आ पथ्यो३ न पर्वतान्। ऋ० 1 64 11.
उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा। ऋ० 5 52 9
3. वपन्ति मरुतो मिहं प्र वेपयन्ति पर्वतान्। यद् यामं यान्ति वायुभिः। ऋ० 8 7 4
4. प्र वेपयन्ति पर्वतान् वि विञ्चन्ति वनस्पतीन्।
प्रो आरत मरुतो दुर्मदा इव देवासः सर्वया विशा॥ ऋ० 1 39 5
महिषासो मायिनश्चित्रभानवो गिरयो न स्वतवसो रघुष्यदः।
मृगा इव हस्तिनः खादथा वना यदारुणीषु तविषीरयुग्ध्वम्॥ ऋ० 1 64 7
5. वना चिदुग्रा जिहते नि वो भिया पृथिवी चिद्रेजते पर्वतश्चित्। ऋ० 5 60 2
6. युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनो ववक्षुरध्रिगावः पर्वता इव।
दृळ्हा चिद् विश्वा भुवनानि पार्थिवा प्र च्यावयन्ति दिव्यानि मज्मना॥ ऋ० 1 64 3
7. भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यः। ऋ० 1 85 8
8. वातासो न ये धुनयो जिगत्नवः। ऋ० 10 78 3
9. दे० 1 64 12 पृ० 196
10. दे० 7 56 3 पृ० 196
11. उदीरयन्त वायुभिर्वाश्रासः पृश्निमातरः। ऋ० 8 7 3
दे० 8 7 4 ऊपर
उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा अज्मेष्वत्नत। वाश्रा अभिज्ञु यातवे॥ — उद्धु स्वानेभिरीरत उद्रथैरुदु वायुभिः। उत स्तोमैः पृश्निमातरः। ऋ० 8 7 17
12. दे० 5 58 7 पृ० 195
13. दे० 5 57 4 पृ० 195
14. दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन। यत् पृथिवीं व्युन्दन्ति॥ ऋ० 1 38 9

के मध्य पानी की रेल-पेल कर देते है[1]। वर्षा उनका अनुगमन करती है[2]। वे जल लाते और वृष्टि को उकसाते है[3]। वे वर्षा से अपनी प्रभा को ढक लेते है[4]। वे वर्षा द्वारा सूर्य के नेत्र को मूंदे देते है[5]। जब वृष्टि आती है तब मरुत् बादलो द्वारा अँधेरा-घुप्प कर देते है[6]। जब वे हवा के साथ भागते है तब चहु ओर कुहरा बिछा देते है[7]। वे दिव्य कोश को[8] उडेलते और पर्वत-स्रोतो को खोल देते है[9]। जब वे जल्दी करते हैं तब जल-प्रवाह बह निकलते है[10]। उनकी इस विशेषता के कारण एक भौतिक नदी को मरुद्वृध् यह सज्ञा मिली है[11]। रुद्र-पुत्रो का स्वेद ही वृष्टि[12] है। मरुतो द्वारा बरसाई गई वृष्टि को आलकारिक रूप से दुग्ध[13], घृत[14], दूध घी[15] आदि यह नाम मिले है। वे उत्सो को उकसाते है[16] और पृथिवी

1. पिन्वन्त्यपो मरुत सुदानव पयो घृतवद् विदथेष्वाभुव ।
अत्य न मिहे वि नयन्ति वाजिनमुत्स दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितम् ॥ ऋ० 1 64 6
ये द्रप्सा इव रोदसी धमन्त्यनु वृष्टिभि ।
उत्स दुहन्तो अक्षितम् ॥ ऋ० 8 7 16
2 त व शर्धं रथाना त्वेष गण मारुत नव्यसीनाम् ।
अनु प्र यन्ति वृष्टय ॥ ऋ० 5 53 10
3 आ वो यन्तूदवाहासो अद्य वृष्टि ये विश्वे मरुतो जुनन्ति । ऋ० 5 58 3
4 अनु स्व भानु श्रथयन्ते अर्णवै । ऋ० 5 59 1
5. सूर्यस्य चक्षु प्र मिनन्ति वृष्टिभि । ऋ० 5 59 5
6 दिवा चित्तम कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन ।
यत् पृथिवी व्युन्दन्ति । ऋ० 1 38 9
7 वपन्ति मरुतो मिह प्र वेपयन्ति पर्वतान् । यद् याम यान्ति वायुभि ॥ ऋ० 8 7 4.
8 आ य नर सुदानवो ददाशुषे दिव कोशमचुच्यवु । ऋ० 5 53 6
आ चुच्यवुर्दिव्य कोशमेत ऋषे रुद्रस्य मरुतो गृणाना । ऋ० 5 59 8
9 प्र पर्वतस्य नभनूँरचुच्यवु । ऋ० 5 59 7
10 यत्प्रायासिष्ट पृषतीभिरश्वैर्वीळुपविभिर्मरुतो रथेभि ।
क्षोदन्त आपो रिणते वनान्यवोस्रियो वृषभ क्रन्दतु द्यौ ॥ ऋ० 5 58 6
11 असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया । ऋ० 10 75 5
12 युष्मे स्वेद चक्रिरे रुद्रियास । ऋ० 5 58 7.
13 उक्षन्त्यस्मै मरुतो हिता इव पुरू रजांसि पयसा मयोभुव । ऋ० 1 166 3
14 घर्मस्विन्यो मनु रीयते घृतम् । ऋ० 1 85 3
घृते ययो न मर्या घृतप्रुष । ऋ० 10 78 4
15 पिन्वन्त्यपो मरुत सुदानव पयो घृतवद् विदथेष्वाभुव । ऋ० 1 64 6
16 जिह्म नुनुद्रेऽवत तया दिशासिञ्चन्नुत्स गोतमाय तृष्णजे । ऋ० 1 85 11.

को मधु से मदिर बना देते है[1]। वे समुद्र के सलिलो को आकाश में उभारते और वहा से उन्हे पृथिवी पर बरसाते हैं[2]। कहना न होगा कि उनके द्वारा बरसाये हुए जल विद्युत्-तूफान के साथ संवद्ध हैं। जल बरसाने की हूक से, कुहरा बिछाते हुए उद्दाम मरुत् स्तनयित्नु के साथ आगे बढते हैं[3]। वे अपनी शक्ति से वायु और बिजली को जन्म देते है। वे 'स्वर्गीय स्तन' से दिव्य दानो को दुहते, और पृथिवी को सलिल से प्लुत कर देते है[4]। जब वे जल-वृष्टि करते है तब लोहित वृषभ (आकाश) राभ उठता है[5]। देखिए उनकी शक्ति को, वे अवध्रि बैल तक से वृष्टि करा देते हैं[6]। वे स्वर्गीय वृष्टि देते और अवध्रि बैल की धाराओ का ताता लगा देते हैं[7]। जब वे अश्व के साथ मूत्र उत्सर्ग करते है तब उनका रग सुनहरा बन जाता है[8]। जब वे बादलो को गरजाते-तरजाते हैं तब मरुतो की घोड़ियो के साथ सरिताएं साय-साय करने लगती है[9]। इन्द्र द्वारा विसृष्ट जल को "मरुत्वती" यह नाम मिला है[10]। वृष्टि-देवता के रूप मे मरुतों के लिए 'पुरुद्रप्सा'[11], या 'द्रप्सिन.'[12] और 'सुदानव.' इन विशेषणों का प्रयोग हुआ है। वे गरमी को दबाते[13] और अन्धकार का ध्वस करते है[14]। वे प्रकाश को झिलमिलाते[15], और

1. व्युन्दन्ति पृथिवीं मध्वो अन्धसा। ऋ० 5 54.8.
2 अपः समुद्राद् दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ अथ० 4.27.4.
3 अब्दया चिन्मुहुरा ह्रादुनीवृतः स्तनयदमा रभसा उदोजसः। ऋ० 5 54.3
4. दुहन्त्यूधर्दिव्यानि धूतयो भूमिं पिन्वन्ति पयसा परिज्रयः। ऋ० 1.64 5
उत्सं दुहन्ति स्तनयन्तमक्षितम्। ऋ० 1 64.6.
5. दे० 5 58.6 पृ० 198
6. अत्यं न मिहे वि नयन्ति वाजिनम्। ऋ० 1 64 6
7. दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्र पिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः। ऋ० 5 83 6
8. निमेघमाना अत्येन पाजसा सुश्चन्द्रं वर्णं दधिरे सुपेशसम्। ऋ० 2.34.13
9. प्रति ष्टोभन्ति सिन्धवः पविभ्यो यदभ्रियां वाचमुदीरयन्ति। ऋ० 1.168 8
10 निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर्दिवः।
सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपः॥ ऋ० 1 80 4
11. पुरुद्रप्सा अञ्जिमन्तः सुदानवः। ऋ० 5 57 5
12 सत्वानो न द्रप्सिनो घोरवर्पसः। ऋ० 1 64 2
13 प्र शर्धाय मारुताय स्वभानव इमां वाचमनजा पर्वतच्युते।
घर्मस्तुभे दिव आ पृष्ठयज्वने द्युम्नश्रवसे महि नृम्णमर्चत॥ ऋ० 5 54 1.
14. अप बाधध्वं वृषणस्तमांसि धत्त विश्वं तनयं तोकमस्मे। ऋ० 7 56 20
15. गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।

सूर्य के लिए पथ बिछाते है[1]। उन्होने वायु को माप लिया[2], और पृथिवी एव द्युलोक को बिछा दिया है। दोनो लोको को पृथक्-पृथक् मरुतो ने ही धारण कर रखा है।

इनकी गरज को दृष्टि मे रखकर इन्हे अनेक बार गायक भी कहा गया है[3]। वे दिव्य गायक है[4]। वे एक प्रकार का गीत गाते हैं[5]। इस गान द्वारा ही उन्होने सूर्य को प्रकाशित किया है[6], और अपनी बासुरी की लय से ही उन्होने पर्वत का भेदन किया है[7]। जब इन्द्र ने अहि का सहार किया था तब मरुतो ने एक गीत गाया था और उनके समुख सोम को प्रस्तुत किया था[8]। इस गान के बल से ही उन्होने इन्द्र की शक्ति को जन्म दिया था[9]। यद्यपि उनका यह गान मूलत वायु की ध्वनि ही रहा होगा तथापि इसे सूक्त की सज्ञा भी दी गई है[10]। फलत इस प्रकार इन्द्र के साथ चलने पर उन्हे पुरोहित भी कहा गया है[11] और उनकी तुलना पुरोहितो के साथ की गई है[12]। दशग्वा की तरह वे भी प्रथम याज्ञिक थे। याज्ञिक

ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥ ऋ० 1 86 10

1 सृजन्ति रश्मिमोजसा पन्था सूर्याय यातवे। ऋ० 8 7 8

2 उतान्तरिक्ष ममिरे व्योजसा। ऋ० 5 55 2

3 प्र शर्धाय घृष्वये मरुद्भिर्ऋक्वभि। ऋ० 5 52 1

अग्ने मरुद्भि शुभयद्भिर्ऋक्वभि सोम पिब मन्दसानो गणश्रिभि। ऋ० 5 60 8

श नो भवन्तु मरुत स्वर्का। ऋ० 7 35 9

4 दिवो अर्का अमृत नाम भेजिरे। ऋ० 5 57 5

5 य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा। मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ऋ० 1 19 4

अर्चन्त्यर्क मदिरस्य पीतये विदुर्वीरस्य प्रथम नि पौस्यां। ऋ० 1 166 7

6 अर्चन्त एके महि साम मन्वत तेन सूर्यमरोचयन्। ऋ० 8 29 10

7 ऊर्ध्व नुनुद्रेऽवत त ओजसा दादृहाण चिद् बिभिदुर्वि पर्वतम्।

धमन्तो वाण मरुत सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे ॥ ऋ० 1 85 10

8 अनु यदीं मरुतो मन्दसानमार्चन्निन्द्र पपिवास सुतस्य।

आदत्त वज्रमभि यदहिं हन्नपो यह्वीरसृजत्सर्तवा उ ॥ ऋ० 5 29 2

तुभ्येदेते मरुत सुशेवा अर्चन्त्यर्क सुन्वन्त्यन्ध।

अहिमोहानमप आशयान प्र मायाभिर्मायिन सक्षदिन्द्र ॥ 5 30 6

9 अर्चन्तो अर्क जनयन्त इन्द्रियमधि श्रियो दधिरे पृश्निमातर। ऋ० 1 85 2

आ मातरा भरति शुष्म्या गोर्नृवत्परिज्मन्नोनुवन्त वाता। ऋ० 4 22 4

10. मित्रश्च तुभ्य वरुण सहस्वोऽग्ने विश्वे मरुत सुम्नमर्चन्। ऋ० 3 14 4

11. उत ब्रह्माणो मरुतो मे अस्येन्द्र सोमस्य सुषुतस्य पेया। ऋ० 5 29 3

12. विप्रासो न मन्मभि स्वाध्य। ऋ० 10 78 1

के घर मे उन्होने ही अग्नि का मार्जन किया था, और भृगुओ ने उसे प्रज्वलित किया था[1]। अन्य देवो की भाति इन्हे भी अनेक बार सोम-पान करनेवाला बताया गया है[2]। गर्जन-तूफान दृश्य के तद्रूप होने के कारण मरुद्गण स्वभावत इन्द्र के सगे सगी हैं, वे अगणित मन्त्रो मे इन्द्र के मित्र या सहायक बन कर आते हैं[3]। अपने स्तवन, अर्चन एव गान के द्वारा वे इन्द्र की शक्ति और कुशलता को शतगुण बनाते हैं[4]। वृत्र-युद्ध मे वे इन्द्र की सहायता करते है[5]। वृत्र-हनन मे वे त्रित एव इन्द्र के दक्षिण हस्त बनते है[6]। उनसे अनुरोध किया गया है कि वे ऐसा गान गावे जो वृत्र को धराशायी कर दे। अहि और शम्बर के युद्ध मे उन्होने इन्द्र की सहायता की थी[7]। उनके साहाय्य से ही इन्द्र प्रकाश का मुख देखते, गौओ को प्राप्त करते[8] और आकाश को धारण करते हैं। सच पूछो तो इन्द्र की जितनी भी दिव्य विजय हैं वे उन्होने मरुतो की सहायता से ही पाई हैं[9]। कही-कही मरुत् इन विजयो मे अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र रूप मे आते है।

---

1. त्वा मर्जयन्मरुतो दाशुषो गृहे त्वा स्तोमेभिर्भृगवो वि रुरुचु । ऋ० 10 122 5
2. पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नर । ऋ० 2 36 2
   आ ये विश्वा पार्थिवानि पप्रथन् रोचना दिव ।
   मरुत सोमपीतये ॥ ऋ० 8 94 9
   त्य नु मारुत गण गिरिष्ठा वृषण हुवे ।
   अस्य सोमस्य पीतये । ऋ० 8 94 12
3. याँ आभजो मरुत इन्द्र सोमे ये त्वामवर्धन्नभवन्गणस्ते । ऋ० 3 35 9.
   वर्धान्य विश्वे मरुत सजोषा पचच्छत महिषाँ इन्द्र तुभ्यम् । ऋ० 6 17 11.
4. अमन्दन्मा मरुत स्तोमो अत्र यन्मे नर श्रुत्य ब्रह्म चक्र ।
   इन्द्राय वृष्णे सुमखाय मह्य सख्ये सखायस्तन्वे तनूभि ॥ ऋ० 1 165 11
5. वृत्रेण यदहिना बिभ्रदायुधा समस्थिथा युधये श संमाविदे ।
   विश्वे ते अत्र मरुत सह त्मनाऽवर्धन्नुग्र महिमानमिन्द्रियम् ॥ ऋ० 10 113 3
6. अनु त्रितस्य युध्यत शुष्ममावन्नुत क्रतुम् ।
   अन्विन्द्र वृत्रतूर्ये ॥ ऋ० 8 7 24
7. याँ आभजो मरुतो ये त्वान्वहन्वृत्रमदधुस्तुभ्यमोज । ऋ० 3 47 3
   ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ ।
   ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्रा पिबेन्द्र सोम सगणो मरुद्भि ॥ ऋ० 3 47 4.
8. वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभि । अविन्द उस्रिया अनु ॥ ऋ० 1 6 5
9. स यो वृषा वृष्ण्येभि समोका महो दिव पृथिव्याश्च सम्राट् ।
   सतीनसत्वा हव्यो भरेषु मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥ ऋ० 1 100 1 आदि पूर्णसूक्त
   प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो य कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना।

उदाहरणार्थ—इन्द्र की सहायता पाकर वे वृत्र पर आघात करते है[1] और अकेले भी उन्होने यदा-तदा वृत्र के पर्व-पर्व को छिन्न-भिन्न किया[2] और गौओ को पणियो के हाथो से उन्मुक्त किया है[3]। अन्य देवताओ की भाति उनके प्रधान भी इन्द्र है[4] और वे इन्द्र के साथ चलते हे[5]। वे इन्द्र के लिए पुत्रवत् है[6] और उन्हे इन्द्र का भाई भी बताया गया है[7]। यह सब कुछ होते हुए भी दो-तीन बार आता है कि मरुतो ने इन्द्र का आपत्ति मे साथ छोड दिया था। अहि युद्ध मे उन्होने इन्द्र को अकेले ही भिडने दिया था[8] और चुपचाप उनका साथ छोड दिया था[9]। एक मन्त्र मे इन्द्र और मरुतो के बीच वैमनस्य का सकेत भी मिलता है। इस अवस्था मे मरुत् कहते है, 'हमे मारने का उद्योग क्यो करता है तू इन्द्र ? समर मे हमारा वध न कर[10]।' तैत्तिरीय ब्राह्मण[11] मे भी मरुत् और इन्द्र के बीच झगडे का उल्लेख मिलता है।

जब मरुतो का इन्द्र के साथ सबन्ध नही रहता तब कभी-कभी वे अपनी सहारक प्रवृत्तिया भी प्रकट कर देते है। ऐसी अवस्था मे वे एक सीमा तक अपने

अवस्यवो वृषण वज्रदक्षिण मरुत्वन्त सख्याय हवामहे ॥ ऋ० 1 101 1 आ पू सू
क या शुभा सवयस सनीळा समान्या मरुत स मिमिक्षु ।
क या मती कुत एतास एतेऽर्चन्ति शुष्म वृषणो वसूया ॥ ऋ० 1 165 1
अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा वायु पूषा सरस्वती सजोषस ।
आदित्या विष्णुर्मरुत स्वर्बृहत्सोमो रुद्रो अदितिर्ब्रह्मणस्पति ॥ ऋ० 10 65 1

1. हत वृत्र सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा। ऋ० 1 23 9.
2 वि वृत्र पर्वशो ययुर्वि पर्वताँ अराजिन ।
चक्राणा वृष्णि पौंस्यम् ॥ ऋ० 8 7 23
3. धारावरा मरुतो धृष्ण्वोजस । आभि धमन्तो अप गा अवृण्वत ॥ ऋ० 2 34 1
4 इन्द्र ज्येष्ठा मरुद्गणा । ऋ० 1 23 8
5 इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्नि । ऋ० 10 128 2
6 स सूनुभिर्न रुद्रेभिर्ऋभ्वा। मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती। ऋ० 1 100 5
7 किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ।
तेभि कल्पस्व साधुया मा न समरणे वधी ॥ ऋ० 1.170 2.
8 क्व स्या वो मरुत स्वधासीद् यन्मामेक समधत्ताहिहत्ये। ऋ० 1 165 6
9 कद्ध नून कधप्रियो यदिन्द्रमजहातन ।
को व सखित्व ओहते ॥ ऋ० 8 7 31
0 दे० 1 170 2 ऊपर
त्व पाहीन्द्र सहीयसो नृन्भवा मरुद्भिरवयात हेळा । ऋ० 1 171 6
1 अगस्त्यो मरुद्भ्य उक्षण प्रौक्षत। तानिन्द्र आदत्त। त एन वज्रमुद्यत्याभ्यायन्त।
तानगस्त्यश्चैवेन्द्रश्च कयाशुभीयेनाशमयताम्। तै० ब्रा० 2 7 11 1.

पिता रुद्र की सहारक प्रकृति का अनुसरण करते है। उनसे अनुरोध किया गया है कि वे अपने उपासको की ओर से विद्युत् को लौटा ले, जिससे कि उनका दौर्मनस्य उपासको तक न पहुचने पावे[1]। वे अपने शरु को और अपने अश्मा (अशनि) को उपासको से दूर रखें[2]। और अपने नृहा और गोहा अर्थात् गौओ को मारने-वाले आयुध (वज्र) को परे रखे[3]। उनसे पाप भी हो जाता है[4], उनके क्रोध से भय दिखाया गया है[5], और कहा गया है कि वे अहिमन्यु अर्थात् अमर्ष साप-जैसे क्रोधवाले है[6]। यह सब होते हुए भी मरुत् अपने पिता की भाति औषधिया भी लाते है जो सिन्धु, असिक्नी, समुद्र और पर्वतो पर पाई जाती है[7]। शुद्ध शतम और कल्याणकारी औषध रखने के कारण वे एक बार रुद्र के साथी भी बन गये है[8]। उनके औषध, हो सकता है, जल रहे हो क्योकि वे वृष्टि द्वारा जन जानपदो को औषध एव चैतन्य प्रदान करते है[9]। अग्नि की भाति उन्हे भी अनेक बार 'पावक' बताया गया है[10]।

विद्युत्, स्तनयित्नु, वायु और वर्षा के साथ स्थिर सबन्ध होने से एव उनकी उपर्युक्त विशेपताओ से प्रतीत होता है कि ऋग्वेद मे मरुत् तूफान के देवता रहे हो। भारतीय व्याख्याकारो के अनुसार मरुत् वायुओ के प्रतीक है और इस शब्द का वेदोत्तर कालीन अर्थ तो है ही केवल 'वायु'। किंतु निश्चय ही ऋग्वेद मे वे

1 सनेम्यस्मद् युयोत दिद्यु मा वो दुर्मतिरिह प्रणड्न । ऋ० 7 56 9
2 आरे सा व सुदानवो मरुत ऋञ्जती शरु ।
आरे अश्मा यमस्यथ ॥ ऋ० 1 172 2
ऋधक् सा वो मरुतो दिद्युदस्तु । ऋ० 7 57 4
3 आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु । ऋ० 7 56 17
4 युष्मेषितो मरुतो मर्त्येषित आ यो नो अभ्व ईषते । ऋ० 1 39 8
5 त्वराणता मरुतो वेद्याभिर्निहेळो धत्त वि मुचध्वमश्वान् । ऋ० 1 171 1
य सुस्वतो जिहीळिरे यदाविरव तदेनं ईमहे तुराणाम् । ऋ० 7 58 5
6 क्षपो जिन्वन्त पृषतीभिर्ऋष्टिभि समित्सबाध शवसाहिमन्यव । ऋ० 1 64 8
नृषाच शूरा शवसाहिमन्यव । त्विषुन्न तस्थौ मरुतो रथेषु व ॥ ऋ० 1 64 9
7 मरुता मारुतस्य न आ भेषजस्य वहता सुदानव । ऋ० 8 20 23
यत् सिन्धौ यदसिक्न्या यत्समुद्रेषु मरुत सुबर्हिष ।
य पर्वतेषु भेषजम् ॥ ऋ० 8 20 25
8 या वो भेषजा मरुत शुचीनि या शन्तमा वृषणो या मयोभु ।
यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता श च योश्च रुद्रस्य वश्मि ॥ ऋ० 2 33 13
9 वृष्ट्वी श योराप उस्रि भेषज स्याम मरुत सह । ऋ० 5 53 14
10 शुची वो हव्या मरुत शुचीनाम् । शुचि जन्मान शुचय पावका । ऋ० 7 56 12.

उदाहरणार्थ—इन्द्र की सहायता पाकर वे वृत्र पर आघात करते है[1] और अकेले भी उन्होने यदा-तदा वृत्र के पर्व-पर्व को छिन्न-भिन्न किया[2] और गौओ को पणियो के हाथों से उन्मुक्त किया है[3]। अन्य देवताओ की भाति उनके प्रधान भी इन्द्र है[4] और वे इन्द्र के साथ चलते है[5]। वे इन्द्र के लिए पुत्रवत् है[6] और उन्हे इन्द्र का भाई भी वताया गया है[7]। यह सब कुछ होते हुए भी दो-तीन बार आता है कि मरुतों ने इन्द्र का आपत्ति मे साथ छोड दिया था। अहि-युद्ध मे उन्होने इन्द्र को अकेले ही भिड़ने दिया था[8] और चुपचाप उनका साथ छोड दिया था[9]। एक मन्त्र में इन्द्र और मरुतो के वीच वैमनस्य का सकेत भी मिलता है। इस अवस्था मे मरुत् कहते हैं, 'हमे मारने का उद्योग क्यो करता है तू इन्द्र ? समर मे हमारा वध न कर[10]।' तैत्तिरीय व्राह्मण[11] मे भी मरुत् और इन्द्र के वीच झगडे का उल्लेख मिलता है।

जब मरुतो का इन्द्र के साथ सबन्ध नही रहता तब कभी-कभी वे अपनी सहारक प्रवृत्तियां भी प्रकट कर देते है। ऐसी अवस्था मे वे एक सीमा तक अपने

अनुस्वयं वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥ ऋ० 1.101.1. आ. पू सू.
कया शुभा सवयसः सनीळाः समान्या मरुतः सं मिमिक्षुः ।
कया मती कुत एतास एतेऽर्चन्ति शुष्मं वृषणो वसूया ॥ ऋ० 1.165.1.
अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा वायुः पूषा सरस्वती सजोषसः ।
आदित्या विष्णुर्मरुतः स्वर्बृहत्सोमो रुद्रो अदितिर्ब्रह्मणस्पतिः ॥ ऋ० 10 65 1.

1. हत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा । ऋ० 1.23.9.
2. वि वृत्रं पर्वशो ययुर्वि पर्वताँ अराजिनः ।
   चक्राणा वृष्णि पौंस्यम् ॥ ऋ० 8 7.23.
3. धारावरा मरुतो धृष्ण्वोजसः । अग्निं धमन्तो अप गा अवृण्वत ॥ ऋ० 2.34.1.
4. इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणाः । ऋ० 1.23 8.
5. इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः । ऋ० 10.128 2.
6. स सूनुभिर्न रुद्रेभिर्ऋभ्वा । मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती । ऋ० 1.100 5.
7. किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ।
   तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः ॥ ऋ० 1.170.2.
8. क्व१स्या वो मरुतः स्वधासीद् यन्मामेकं समधत्ताहिहत्ये । ऋ० 1.165.6.
9 क्व नूनं सुदानवो मदथा वृक्तबर्हिषः । यदिन्द्रमजहातन ।
   को वः सखित्व ओहते ॥ ऋ० 8.7.31
10. दे० 1 170 2. ऊपर
   त्वं पाहीन्द्र सहीयसो नॄन्भवा मरुद्भिरवयातहेळाः । ऋ० 1.171 6
11. अगस्त्यो मरुद्भ्य उक्ष्णः प्रौक्षत् । तानिन्द्र आदत्त । त एनं वज्रमुद्यत्याभ्यायन्त ।
   तानगस्त्यश्चैवेन्द्रश्च कयाशुभीयेनाशमयताम् । तै० ब्रा० 2.7.11 1.

ने रै अर्थात् धन के निमित्त उन्हे उत्पन्न किया है [1]। एक वार उन्हे त्वष्टा का जामाता भी वताया गया है[2] यद्यपि उनकी स्त्री का नाम नही वताया गया है। पुरुष-सूक्त मे उनकी उत्पत्ति विश्व-पुरुष के प्राण से वताई गई है[3]। वायु कुछेक स्थलो पर मरुत् के साथ भी सपृक्त होकर आये हैं। एक वार यह भी कहा गया है कि वायु ने उन्हे दिव्य योनि से वक्षरगा अर्थात् कुल्याओ के लिए उत्पन्न किया है[4]। एक मन्त्र मे पूपण्वन्, विश्वदेव, वायु और गायत्र वेपस् के साथ मरुत्वत् भी इन्द्र का विशेपण वनकर आया प्रतीत होता है[5]। वायु की व्यक्तिगत विशेपताए अनिश्चित है। वे सुन्दर है[6] और इन्द्र के साथ आकाश को छूते है। वे मनोजवा हैं और सहस्रचक्षु हैं[7]। एक स्थान पर आया है कि उनका वेग गर्जन का-सा है (क्रन्ददिप्टये)[8]। वायु के पास एक चन्द्र अर्थात् चमकवाला रथ है, जिसे लोहित या अरुरग अश्व खीचते हैं। उनके अश्वो की सख्या 99[9], 100 या 1000 हैं[10], जो उनकी इच्छा से रथ मे जुड जाते है। 'नियुत्वत्' विशेपरग का प्रयोग वायु या उनके रथ के लिए वार-वार आया है, साथ ही इसका प्रयोग एक-दो वार इन्द्र, अग्नि, पूपन् या मरुतो मे से प्रत्येक के लिए भी आया है। वायु का रथ, जिस पर कि उनका सहायक भी विराजमान है[11], हिरण्य-वन्धुर है और दिविस्पृश् अर्थात्

1. राये नु य जज्ञतू रोदसीमे। ऋ० 7 90 3
2. तव वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत। ऋ० 8 26 21
   त्वष्टुर्जामातर वयमीशान राय ईमहे।
   सुतावन्तो वायु द्युम्ना जनास ॥ ऋ० 8 26 22
3. प्राणाद्वायुरजायत। ऋ० 10 90 13
4 अजनयो मरुतो वक्षणाभ्यो दिव आ वक्षणाभ्य। ऋ० 1 134 4
5 पूपण्वते मरुत्वते विश्वदेवाय वायवे।
   स्वाहा गायत्रवेपसे हव्यमिन्द्राय कर्तन ॥ ऋ० 1 142 12.
6 वायवा याहि दर्शत। ऋ० 1 2 1.
7. उभा देवा दिविस्पृशेन्द्रवायू हवामहे। ऋ० 1 23.2.
   इन्द्र वायू मनोजुवा विप्रा हवन्त ऊतये। सहस्राक्षा धियस्पती ॥ ऋ० 1 23 3
8 भराय सु भरत भागमृत्वियं प्र वायवे शुचिपे क्रन्ददिष्टये। ऋ० 10 100 2
9 वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव। ऋ० 4 48 4
   वायो शतं हरीणा युवस्व पोष्याणाम्।
   उत वा ते सहस्रिणो रथ आ यातु पाजसा ॥ ऋ० 4 48 5
10 आ वां सहस्रं हरय इन्द्रवायू अभि प्र यः।
   वहन्तु सोमपीतये ॥ ऋ० 4 46 3
11. शतेना नो अभिष्टिभिर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथि।

एकान्तत अमिश्रित वायु नही थे, क्योकि उनकी कतिपय विशेषताए मेघ और विद्युत् से भी ली गई है। ए० कुह्न और वेन्फे के अनुसार मरुत् प्रेतात्माओ के मानवीकरण है। इस विचार से मेयर और वी० श्रॉडर सहमत है। मरुतो का इस प्रकार का उद्गम एव विकास ऐतिहासिक दृष्टि से सभव है, किंतु ऋग्वेद मे इसके सकेत नही के समान मिलते हैं। मरुत् शब्द की व्युत्पत्ति अनिश्चित है और उससे मरुत् के मौलिक अर्थ पर प्रकाश नही पडता। मरुत् की व्युत्पत्ति √मर् धातु से प्रतीत होती है, किंतु यहा यह मरणार्थक है, अथवा दमनार्थक या रोचनार्थक— इस बात का निर्णय करना कठिन है। कुछ भी हो, इनमे से 'रोचन' अर्थ ही ऋग्वेद मे मरुतो के वर्णन के साथ सबसे अधिक सगत बैठता है।

वायु-वात (§ 30)—

वायु के दोनो नामो अर्थात् वायु और वात मे से प्रत्येक का प्रयोग भौतिक वायु और उसके दिव्य मानवीकरण के लिए हुआ है। किंतु प्रमुख रूप से 'वायु' शब्द वायु-देवता का और 'वात' शब्द भौतिक वायु का बोधक है। अकेले वायु के निमित्त एक सकल सूक्त कहा गया है और अशत तो कई सूक्त उनके लिए आये है। अन्य आधे दर्जन सूक्तो मे वायु की इन्द्र के साथ स्तुति आई है। वात की स्तुति दशम मण्डल के अन्त मे आनेवाले दो (168,186) छोटे-छोटे सूक्तो मे आई है। कहीं-कही एक मन्त्र मे दोनो नाम आ जाते है[1]। दोनो का अन्तर इस तथ्य से ज्ञात होता है कि केवल वायु ही देवरूप मे इन्द्र के साथ सयुक्त हुए हैं और तब इनका 'इन्द्रवायु' इस द्वन्द्व समास मे आह्वान किया गया है। इन युगल देवताओ को भारतीय व्याख्याकार इतना अधिक परस्पर-सबद्ध समझते थे कि इनमे से प्रत्येक देवता अन्तरिक्षस्थ देवताओ का प्रतिनिधित्व करने मे सक्षम था[2]। किंतु वात अपेक्षाकृत कम मानवीकृत होने के कारण, केवल पर्जन्य के साथ सपृक्त हुआ है, जिसका कि स्तनयित्नु-तूफान के साथ सबन्ध इन्द्र की अपेक्षा कही अधिक सजीव सपन्न हुआ है। दोनो वायु-देवताओ के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के विशेषणो का प्रयोग हुआ है। वात के विशेषणो मे जव और उपद्रव जैसे भौतिक गुणो के वाचक विशेषण प्रमुख हैं।

वायु के मूलरूप-बोधक उल्लेख प्राय नही के बराबर हुए हैं। द्यावापृथिवी

---

1 ते नो रुद्र सरस्वती सजोषा मीळ्हुष्मन्तो विष्णुर्मृळन्तु वायु ।
ऋभुक्षा वाजो दैव्यो विधाता पर्जन्यावाता पिप्यता मिषं न ॥ ऋ० 6.50.12
प्र नं पूषा चरथं विश्वदेव्योऽपा नपादवतु वायुरिष्टये ।
आत्मान वस्यो अभि वातमर्चत तदश्विना सुहवा यामनि श्रुतम् ॥ ऋ० 10 92 13

2 वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थान । नि० 7 5

वर्णन निम्न प्रकार से मिलता है। सामने आई हर वस्तु को धूल में मिलाते हुए प्रचण्ड रव करनेवाले उनके रथ का तुमुल घोष कानों के परदे फाड़ देता है। वह धरती पर धूल उड़ाता हुआ आसमान से बातें करता है। वे अपने पथ पर वायु में विचरण करते रहते हैं। एक दिन का भी आराम वायु ने अपने जीवन में नहीं देखा। वे जलों के प्रथमजात सखा हैं। फिर भी उनका जन्म-स्थान अज्ञात है। वे यथेच्छ विचरण करते है। उनका घोष तो सुनाई पड़ता है किंतु उनका रूप देखने में नहीं आता[1]। वे देवताओं के प्राण हैं[2]। हविष् के साथ भी उनकी उपासना की जाती है।

रुद्र की भांति वात भी रोगियों का उपचार करते और मानव वर्ग को दीर्घायु प्रदान करते है; क्योंकि उनके घर में अमृतत्व का अखण्ड कोश है[3]। वात की इस भैषज्य-शक्ति से निःसंदेह उनकी शोधक-शक्ति ही अभिप्रेत हो सकती है। वात के क्रिया-कलाप का उल्लेख मुख्यतः स्तनयित्नु-तूफान के संबन्ध में आता है[4]। झंझा के झोंके विद्युत् की दमक के साथ अपृथक्त्वेन संबद्ध हैं, और वे सूर्य के पुनरावर्तन से पहले ही आ जाते है। फलतः कहा गया है कि वात लोहित विद्युत् को प्रकट करते[5] और उषाओं को प्रभासित करते हैं[6]। वात के प्रचण्ड जव का कभी-कभी देवताओं के वेग से सांमुख्य किया गया है[7]। इनके घोष का तो बार-

---

दिवि स्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् ॥ ऋ० 10.168.1.

1. विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्। ऋ० 1.164.44.
2. आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत्।
   विश्वा ते धाम वरुण प्रियाणि ॥ ऋ० 7.87.2.
   आत्मानं वस्यो अभिवातमर्चत तदश्विना सुहवा यामनि श्रुतम्। ऋ० 10 92.13.
3. वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे।
   प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ऋ० 10.186.1.
   यददो वात ते गृहे३ऽमृतस्य निधिर्हितः।
   ततो नो देहि जीवसे ॥ ऋ० 10.186.3.
4. वातो न जूतः स्तनयद्भिरभ्रैः। ऋ० 4.17.12.
   प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युतः। ऋ० 5.83.4. दे० 10.168.1 ऊपर
   संप्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः। ऋ० 10.168.2.
5. दे० 10.168.1, ऊपर
6. प्र चक्षय रोदसी वासयोषसः श्रवसे वासयोषसः। ऋ० 1.134.3.
7. कियत्स्विदिन्द्रो अध्येति मातुः कियत्पितुर्जनितुर्यो जजान।
   यो अस्य शुष्मं मुहुकैरियर्ति वातो न जूतः स्तनयद्भिरभ्रैः ॥ ऋ० 4.17.12.
   आ वां येष्ठाश्विना हुवध्यै वातस्य पत्मन् रथ्यस्य पुष्टौ। ऋ० 5.41.3.

द्युलोक को स्पर्श करनेवाला है[1]। अन्य देवताओ की भाति वायु भी सोम के अभिलाषी है। सोम-पान के लिए उनका उनके अश्वो के साथ आह्वान किया गया है और उनके पधारते ही सर्वप्रथम यह पान उन्हे दिया जाता है, क्योकि वे देवताओ मे सबसे अधिक शीघ्रजूति हैं। ऐतरेय ब्राह्मण[2] मे गाथा आती है कि एक बार देवताओ मे इस बात के लिए कि सबसे पहले सोम को कौन पीता है, दौड की प्रतियोगिता हुई। इस प्रतियोगिता मे वायु प्रथम और इन्द्र दूसरे आये। ऋग्वेद मे उन्हे सोम का रक्षिता भी बताया गया है[3]। उनके लिए उनके खास विशेषण 'शुचिपा' का भी प्रयोग हुआ है। यह विशेषण इन्द्र के लिए भी वायु के साथ एक बार आया है। अमृत के समान दूध देनेवाली (सबर्दुघा) गौ के साथ भी उनका सबन्ध एक बार देखा गया है[4]। वायु यश, सतान, घोडे, वृषभ और स्वर्ण देते हैं[5]। वे शत्रुओ को नष्ट करते और दुर्बल व्यक्ति उन्हे अपनी रक्षा के लिए बुलाते हैं[6]।

वायु के सामान्य नाम के रूप मे 'वात' इस शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। 'वात' इस नाम का प्रयोग पुन पुन √ वा वहना इस धातु के साथ हुआ है जिससे 'वात' शब्द की निष्पत्ति हुई है। उनकी स्तुति मे आये एक सूक्त[7] मे उनक

वायों सुतस्यं तृम्पतम् ॥ ऋ० 4 46 2
निर्युत्वाणो अशस्तीर्नियुत्वाँ इन्द्रसारथि । ऋ० 4 48 2
नियुत्वाना नियुत स्पार्हवीरा इन्द्रवायू सरथं यातमर्वाक् । ऋ० 7 91 5

1 रथं हिरण्यवन्धुरमिन्द्रवायू स्वध्वरम् ।
आ हि स्थाथों दिविस्पृशम् ॥ ऋ० 4 46 4
पिबतं मध्वो अन्धस पूर्वपेयं हि वाँ हितम् ।
वायवा चन्द्रेण राधसा गतमिन्द्रश्च राधसा गतम् ॥ ऋ० 1 135 4

2 देवा वै सोमस्य राज्ञोऽग्रपेये न समपादयन्नह प्रथम पिबेयमह प्रथम पिबेयमित्ये वाकामयन्त ते सपादयन्तोऽब्रुवन्हन्ताऽऽजिमयाम स यो न उज्जेष्यति स प्रथम सोमस्य पास्यतीति तथेति त आजिमयुस्तेषामाजिं यतामभिसृष्टाना वायुर्मुख प्रथम प्रत्यपद्यताथेन्द्रोऽथ मित्रावरुणावथाश्विनौ । ऐ० ब्रा० 2 25

3 वायु सोमस्य रक्षिता । ऋ० 10 85 5

4 तुभ्यं धेनु सबर्दुघा विश्वा वसूनि दोहते । ऋ० 1 134 4

5 ईशानाय प्रहुतिं यस्त आनट् शुचिं सोम शुचिपास्तुभ्यं वायो ।
कृणोषि त मर्त्येषु प्रशस्त जातोजातो जायते वाज्यस्य ॥ ऋ० 7 90 2
ईशानासो ये दधत स्वर्णो गोभिरश्वेभि र्वसुभिर्हिरण्यै ।
इन्द्रवायू सूरयो विश्वमायुरर्वद्भिर्वीरै पृतनासु सह्यु ॥ ऋ० 7 90 6

6 त्वा त्सारी दसमानो भगमीट्टे तक्ववीये । ऋ० 1 134 5

7 वातस्य नु महिमान रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोष ।

वर्णन निम्न प्रकार से मिलता है। सामने आई हर वस्तु को धूल मे मिलाते हुए प्रचण्ड रव करनेवाले उनके रथ का तुमुल घोष कानो के परदे फाड देता है। वह धरती पर धूल उडाता हुआ आसमान से बाते करता है। वे अपने पथ पर वायु मे विचरण करते रहते है। एक दिन का भी आराम वायु ने अपने जीवन मे नही देखा। वे जलो के प्रथमजात सखा है। फिर भी उनका जन्म-स्थान अज्ञात है। वे यथेच्छ विचरण करते हैं। उनका घोष तो सुनाई पडता है किंतु उनका रूप देखने मे नही आता[1]। वे देवताओ के प्राण हैं[2]। हविष् के साथ भी उनकी उपासना की जाती है।

रुद्र की भाति वात भी रोगियो का उपचार करते और मानव वर्ग को दीर्घायु प्रदान करते है, क्योकि उनके घर मे अमृतत्व का अखण्ड कोश है[3]। वात की इस भैषज्य शक्ति से नि सदेह उनकी शोधक-शक्ति ही अभिप्रेत हो सकती है। वात के क्रिया-कलाप का उल्लेख मुख्यत स्तनयित्नु-तूफान के सबन्ध मे आता है[4]। झझा के झोके विद्युत् की दमक के साथ अपृथक्त्वेन सबद्ध है, और वे सूर्य के पुनरावर्तन से पहले ही आ जाते हैं। फलत कहा गया है कि वात लोहित विद्युत् को प्रकट करते[5] और उषाओ को प्रभासित करते हैं[6]। वात के प्रचण्ड जव का कभी-कभी देवताओ के वेग से सामुख्य किया गया है[7]। इनके घोष का तो वार-

---

दिवि स्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् ॥ ऋ० 10 168 1

1. विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्। ऋ० 1 164 44

2. आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत्।
निश्वा ते धाम वरुण प्रियाणि ॥ ऋ० 7 87 2
आत्मान् वस्यो अभिवातमर्चत् तदश्विना सुहवा यामनि श्रुतम्। ऋ० 10 92 13

3 वात आ वातु भेषज शम्भु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ऋ० 10 186 1
यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हित।
ततो नो देहि जीवसे ॥ ऋ० 10 186 3

4 व तो न जूत स्तनयद्भिरभ्रै। ऋ० 4 17 12
प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत। ऋ० 5 83 4 दे० 10 168.1 ऊपर
सप्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समन न योषा। ऋ० 10 168 2

5 दे० 10 168 1 ऊपर

6 प्र चक्षय रोदसी वासयोषस श्रवसे वासयोषस। ऋ० 1 134 3

7 कियस्विदिन्द्रो अध्येति मातु कियत्पितुर्जनितुर्यो जजान।
यो अस्य शुष्मं मुहुकैरियर्ति वातो न जूत स्तनयद्भिरभ्रे ॥ ऋ० 4 17 12
आ वा येष्ठाश्विना हुवध्यै वातस्य पत्मन् रथ्यस्य पुष्टौ। ऋ० 5 41.3.

वार उल्लेख आता ही है[1]। 'वात' शब्द का तादात्म्य तूफ़ान और युद्ध के जर्मन देवता ओधिन या वोदन के साथ स्थापित किया गया है। कहा जाता है कि यह जर्मन शब्द प्रत्यय-विशेष के साथ वात में निहित धातु के सजातीय धातु से निष्पन्न हुआ है। किंतु यह तादात्म्य संदिग्ध प्रतीत होता है।

पर्जन्य (§ 31)—

ऋग्वैदिक देवताओं में पर्जन्य का स्थान गौण है। उनके निमित्त केवल तीन सकल सूक्त कहे गये है और उनका नामोल्लेख भी केवल 30 बार हुआ है। अथर्ववेद के एक सूक्त में भी उनकी स्तुति की गई है[2], किंतु इस सूक्त के मन्त्र प्रधानतः ऋग्वेद से लिये गये है। निम्न मन्त्र में पर्जन्य शब्द 'बरसनेवाला बादल' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह जल दिन-प्रतिदिन घटता-बढ़ता रहता है। वर्षुक पर्जन्य पृथिवी को उर्वरा बनाते है और अग्नि-देव द्युलोक को[3]। मरुत् अपने वारिवाह जलधरों के द्वारा पृथिवी को आप्लावित कर देते और दिन में भी अन्धकार का घमसान मचा देते है[4]। वे द्युलोक के अखण्ड कोश को उडेलते हैं; वे दोनों लोकों के मध्य से मेघों को भगाते हैं; वर्षा नीरस भूमि में समा जाती है[5]। बृहस्पति से अनुरोध किया गया है कि वे जलधरों को बरसावें और वर्षुक अभ्रों को भेजें[6]। सोम वृष्टिमत् पर्जन्यों की भांति सुत होता है[7] और सोम की बूंदें

अभ्रश्चिदभ्र वातो न जूतः पुरुमेधश्चित्तकवे नरं दात्। ऋ० 9.97.52.
तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तं वात इव ध्रजीमान्। ऋ० 1.163.11.
पड्भिर्गृध्यन्तं मेधयुं न शूरं रथतुरं वातमिव ध्रजन्तम्। ऋ० 4.38.3.

1. नूयत्परिज्मक्षोनुवन्त वाताः। ऋ० 4.22.4. दे० 10.168.1. पृ० 207
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम। ऋ० 10.168.4.
2. समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु। अथ० 4.15.1.
3. समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥ ऋ० 1.164.51.
4. दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन। यत्पृथिवीं व्युन्दन्ति॥ ऋ० 1.38.9.
5. आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवुः।
वि पर्जन्यं सृजन्ति रोदसी अनु धन्वना यन्ति वृष्टयः॥ ऋ० 5.53.6.
6. बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि मित्रो वा यद्वरुणो वासि पूषा।
आदित्यैर्वा यद्वसुभिर्मरुत्वान्स पर्जन्यं शन्तनवे वृषाय॥ ऋ० 10.98.
विश्वेभिर्देवैरनुमद्यमानः प्र पर्जन्यमीरया वृष्टिमन्तम्। ऋ० 10.98.8.
7. अस्मभ्यमिन्दविन्द्रयुर्मध्वः पवस्व धारया।
पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव। ऋ० 9.2.9.

वादलो की वृष्टि के समान गतिमान् होती है[1]। अथर्ववेद मे वृष्टि करानेवाली वशा गौ को इस प्रकार पुकारा गया है हे वशे! मेघ तेरा स्तन है, हे भद्रे! मेघ और विद्युत् तेरे स्तन हैं[2]। इन सभी मन्त्रो मे भारतीय व्याख्याकार पर्जन्य का अर्थ मेघ करते है। दूसरी ओर पर्जन्य का प्रयोग वाजसनेयि सहिता मे द्यौस् की व्याख्या के लिए और शत० ब्रा० मे स्तनयित्नु की व्याख्या के लिए आया है। कुछ स्थलो पर यह वताना कठिन हो जाता है कि वहा पर्जन्य शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप मे हुआ है अथवा मानवीकृत देवता के लिए। उदाहरण के लिए कहा गया है कि अग्नि की शक्ति पर्जन्य की भाति प्रतिध्वनित होती है, और मेढको के विषय मे कहा गया है कि वे पर्जन्य द्वारा उद्बुद्ध होने पर टर्र-टर्र करने लगते है[3]। फिर भी वहुसख्यक मन्त्रो मे पर्जन्य शब्द से उस विग्रहवान् देवता का बोध होता है, जो मेघो का अधिष्ठाता है। किंतु भौतिक मेघ की विशेषताए अब भी लुप्त नही हो पाई है। फलत समय-समय पर पर्जन्य ऊधस, कोश या दृति भी वन जाता है[4]। यह वस्तुत पशु मानवीय है, क्योकि पर्जन्य को वहुधा वृषभ कहा गया है। हा, इस प्रसङ्ग मे लिङ्ग-सवन्धी गडवड हो गई है, क्योकि पर्जन्यो को कई जगह गौ भी वताया गया है। द्रुतगति से वरसनेवाली वूदो के नाते पर्जन्य एक धडकनेवाला वृषभ है, जो वीरुधो मे वीर्य का निधान करता है[5]। वायु के द्वारा प्रेरित होने पर अभ्र आपस मे मिल जाते है और नभस्वान् वृषभ के धारा-पाती सलिल धरती को तर कर देते हैं[6]। कभी-कभी पर्जन्य को स्तरी गौ भी वताया गया है, कभी वह गर्भ धारण करने के योग्य है और कभी कभी वह अपने

---

1 एते वाता इवोरवं पर्जन्यस्येव वृष्टय ।
अग्नेरिव भ्रमा वृथा ॥ ऋ० 9 22 2

2 अनुं त्वाग्नि प्राविंशदनु सोमो वशे त्वा ।
ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे ॥ अथ० 10 10 7

3 वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषु । ऋ० 7 103 1

4 महान्तं कोशमुदचा नि षिञ्च स्यन्दन्तां कुल्या विषिता पुरस्तात् । ऋ० 5 83 8
दृतिं सु कर्ष विषितं न्यञ्चं समा भवन्तूद्वतो निपादा । ऋ० 5 83 7
त्रय कोशास उपसेचनासो मध्व श्चोतन्त्यभितो विरप्शम् । ऋ० 7 101 4

5 कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम् । ऋ० 5 83 1
अभिक्रन्द स्तनय गर्भमा धा उदन्वता परि दीया रथेन । ऋ० 5 83 7
यत्पर्जन्य कनिक्रदत्स्तनयन्हंसि दुष्कृत ।
प्रतीद विश्वं मोदते यत्किं च पृथिव्यामधि ॥ ऋ० 5 83 9

6 समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वती समभ्राणि वातजूतानि यन्तु ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आप पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ अथ० 4 15 1

शरीर को तिरोहित कर लेता है[1]।

वृष्टि उसकी सबसे प्रमुख विशेषता है। वह जलमय रथ पर चढकर चारो ओर दौडता और जल-दृति को खोलकर पानी को नीचे उडेल देता है[2]। अपने अश्वो को हाकनेवाले सारथि की भाति वह अपने वृष्टि-दूतो को प्रकट करता है, जब वह धारापातेन पानी बरसाता है तब सिंह के गर्जन-जैसी ध्वनि उठती है। हमारे 'असुर' पिता के रूप मे गर्जन-तर्जन के साथ वृष्टि करता हुआ वह आता है[3]। उससे वर्षा की भीख मागी गई है[4] और प्रार्थना की गई है कि उचित वर्षा के बाद वह अपने बादलो की मशक को थाम ले[5]। यह सब होते हुए भी इतना निश्चित है कि वृष्टि करने मे पर्जन्य का स्थान मित्र-वरुण की अपेक्षा गौण है[6]। अनेक बार उल्लेख आया है कि पर्जन्य गरजते है[7]। गरजते हुए पर्जन्य वनस्पतियो, दानवो और पापियो को मार गिराते है। उनके दारुण अस्त्र से समग्र ससार भयभीत है[8]। वे और वात दोनो विद्युत् को धारण करते है[9]। पर्जन्य का विद्युत् के साथ भी सपर्क है, भले ही उनका विद्युत् के साथ सबन्ध स्तनयित्नु की अपेक्षा कम रहा हो। जब पर्जन्य पृथिवी मे सत्त्व निधान करते है तब वायु बह निकलता है और विद्युत् कौधने लगती है[10]। अन्तरिक्षस्थ सागर मे पर्जन्य बिजली के साथ गरजता है। ऋग्वेद के एक 'विश्वेदेवा.' सूक्त मे निम्न वर्णन वाला देवता पर्जन्य ही जान पडता है, वे गरजते और दहाडते है, जल और मेघ से वे पूर्ण हैं,

---

1 स्तरीर्र त्वद्भवति सूत उ त्वद् यथावशं तन्वं चक्र एष. । ऋ० 7 101 3.

2 दे० 5 83 7 पृ० 209.

3 रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान्कृणुते वर्ष्यां३ अह ।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत्पर्जन्य कृणुते वर्ष्य१नभ ॥ ऋ० 5 83 3
अर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुर पिता न । ऋ० 5 83 6

4 इद वच पर्जन्याय स्वराजे हृदो अस्त्वन्तरं तज्जुजोषत् ।
मयोभुवो वृष्टय सन्त्वस्मे सुपिप्पला ओषधीर्देवगोपा ॥ ऋ० 7 101 5

5 अवर्षीर्वर्षमुदु षू गृभायाकर्धन्वान्यत्येतवा उ । ऋ० 5 83 10

6 वाचं सु मित्रावरुणा विरावतीं पर्जन्यश्चित्रा वदति त्विषीमतीम् ।
अभ्रा वसत मरुत सु मायया द्या वर्षयतमरुणामरेपसम् । ऋ० 5 63 6

7 दे० 5 83 7 पृ० 209.

8 वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवन महावधात् ।
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्य स्तनयन् हन्ति दुष्कृत ॥ ऋ० 5 83 2

9 धर्तारो दिव ऋभव सुहस्ता वातापर्जन्या महिषस्य तन्यतो । ऋ० 10 66 10

10 प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत ।
यत्पर्जन्य पृथिवीं रेतसावति । ऋ० 5 83 4

जल वरसाकर वे दोनो लोको को विद्युत् के द्वारा चेतन बनाते हैं[1]।

वृष्टि-देव होने के नाते पर्जन्य स्वभावत वनस्पति के उत्पादक और पोषक है। जब वे अपने वीर्य से पृथिवी को सत्त्ववती बनाते हैं तब पौधे उग आते है। उनके क्रिया-कलाप मे वनस्पति वर्ग की वृद्धि समिलित है। उन्होने मानव के पोषणार्थ ओषधि उत्पन्न की है[2]। वे ओषधियो को अकुरित एव पल्लवित करते है। पर्जन्य-देव की देख-रेख मे वृक्षो पर भरपूर फल लगते हैं[3]। उनके प्रताप से घासें उत्पन्न होती हैं[4]। पर्जन्य केवल पौधो ही मे नही, अपितु गौओ, अश्वाओ और स्त्रियो तक मे सत्त्व-निधान कराते है[5]। गर्भ-धारण के लिए उनका आह्वान भी किया गया है[6]।

---

1 प्र सुष्टुति स्तनयन्त रुवन्तमिळस्पतिं जरितर्नूनमश्या ।
यो अब्दिमाँ उदनिमाँ इयर्ति प्र विद्युता रोदसी उक्षमाण ॥ ऋ० 5 42.14

2 प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्व ।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्य पृथिवीं रेतसावति ॥ ऋ० 5 83 4
यस्य व्रत ओषधीर्विश्वरूपा स न पर्जन्य महि शर्म यच्छ । ऋ० 5 83 5
अजीजन ओषधीर्भोजनाय कमुत प्रजाभ्योऽविदो मनीषाम् । ऋ० 5 83 10
पर्जन्यो न ओषधीभिर्मयोभुरग्नि सुशस सुहव पितेव । ऋ० 6 52 6
समीक्षयन्तु तविषा सुदानवोऽपा रसा ओषधीभि सचन्ताम् ।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपा ॥ अथ० 4 15 2
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्ता वीरुधो विश्वरूपा । अथ० 4 15 3
महान्त कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युत भवतु वातु वात ।
तन्वता यज्ञ बहुधा विसृष्टा आनन्दिनी रोषधयो भवन्तु ॥ अथ० 4 15 16
उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभि क्रन्दत्योषधी ।
यदा वे पृश्निमातर पर्जन्यो रेतसावति । अथ० 8 7 21

3 स वत्स कृण्वन् गर्भमोषधीना सद्यो जातो वृषभो रोरवीति । ऋ० 7 101 1
दे० 7 101 5 पृ० 210

4 पर्जन्याय प्र गायत दिवस्पुत्राय मीळ्हुषे । स नो यवसमिच्छतु ॥ ऋ० 7 102 1
विद्मा शरस्य पितर पर्जन्य भूरिधायसम् । अथ० 1 2 1
विद्मा शरस्य पितर पर्जन्य शतवृष्ण्यम् । अथ० 1 3 1
यत्समुद्रो अभ्यक्रन्दत् पर्जन्यो विद्युता सह ।
ततो हिरण्ययो बिन्दुस्ततो दर्भो अजायत ॥ अथ० 19 30 5

5 यो गर्भमोषधीना गवा कृणोत्यर्वताम् । पर्जन्य पुरुषीणाम् । ऋ० 7 102 2

6 अभि क्रन्द स्तनय गर्भमा धा । ऋ० 5 83 7
अग्नीपर्जन्या ववत धिय मेऽस्मिन्हवे सुहवा सुष्टुतिं न ।
इळामन्यो जनयद् गर्भमन्य प्रजावतीरिष आ धत्तमस्मे ॥ ऋ० 6 52 16

वे ऐसे वृषभ है, जो सभी को सिञ्चित करते है। चर और अचर की आत्मा उन्हीं में है[1]। एकच्छत्र सम्राट् के रूप में वे सकल जगत् पर शासन करते हैं; उन्हीं में प्राणिजात और तीन स्वर्ग स्थित है और उन्ही में तीनों प्रकार के सलिल प्रवाहित होते है[2]। उनके उत्पादन-व्यापार को ध्यान में रखकर अनेक बार उन्हें पिता भी कहा गया है[3]। एक बार वे 'असुर पिता' भी कहलाये है[4]। एक अन्य मन्त्र[5] में 'असुरस्य माया' पद से उन्हीं की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है।

उनकी स्त्री पृथिवी है[6]। अथर्ववेद[7] मे कहा गया है कि पृथिवी माता है और पर्जन्य पिता है। किंतु कुछ अन्य स्थलों पर उनकी पत्नी स्पष्ट शब्दों में वशा बताई गई है[8]। इन बातो मे और पशुमानवीय रूप में, विद्युत् स्तनयित्नु और वृष्टि के साथ इनका सबन्ध होने से, इनकी कल्पना द्यौस् के समीप जा पहुंचती है[9]; पर्जन्य को एक बार द्यौस् का पुत्र भी बताया गया है[10]। स्वयं पर्जन्य के लिए

1. स रेतोधा वृषभः शश्वतीनां तस्मिन्नात्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋ० 7.101.6.
   सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋ० 1.115.1.
2. यो वर्धन ओषधीनां यो अपां यो विश्वस्य जगतो देव ईशे। ऋ० 7.101.2.
   यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थु स्तिस्रो द्यावः स्त्रेधा सस्रुरापः। ऋ० 7.101.4.
   दे० 7.101.5. पृ० 210.
3. पितुः पयः प्रति गृभ्णाति माता तेन पिता वर्धते तेन पुत्रः। ऋ० 7.101.3.
   पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनः। ऋ० 9 82 3.
   अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः। अथः 4.15.12.
   पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु। अथ० 12 1.12.
4. अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः। ऋ० 5.83.6.
5. द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया। ऋ० 5.63.3
   व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया। ऋ० 5.63.7.
6. इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति। ऋ० 5 83 4.
   दे० 7.101.3. ऊपर
   धेनुं च पृश्निं वृषभं सुरेतसं विश्वाहा शुक्रं पयो अस्य दुक्षत। ऋ० 1.160 3.
7. माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
   पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥ अथ० 12.1.12.
8. वशा पर्जन्य पत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा। अथ० 10.10 6.
9. अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः। ऋ० 10 45 4.
   द्यौरिव स्मयमानो नभोभिः। ऋ० 2.4.6.
   उभे असे पीपयतः समीची दिवो वृष्टिं सुभगो नाम पुष्यन्। ऋ० 2.27.15.
10. दे० 7.102.1. पृ० 211.

आया है कि वे ओषधियो के गर्भभूत वत्स को उत्पन्न करते हैं[1]; यह वत्स सभवतः और कुछ न होकर विद्युत् ही रहा हो। यह सोम का बोधक भी हो सकता है, क्योकि एक बार[2] पर्जन्य को सोम का पिता बताया गया है, और यह भी कहा जाता है कि सोम पर्जन्य के द्वारा बढाये जाते हैं[3]।

पर्जन्य का सबन्ध कुछ और देवताओ के साथ भी है। वात के साथ तो उनका निकट सबन्ध है। केवल एक मन्त्र को छोडकर अग्नि-पर्जन्य का द्वन्द्व सदैव वात के साथ आया है। पर्जन्य के साथ मरुतो का भी आह्वान हुआ है[4]; मरुतो से प्रार्थना की गई है कि वे पर्जन्य के स्तोत्रो को गावें[5]। एक सूक्त के दो मन्त्रो मे उनके साथ अग्नि का भी स्तवन हुआ है[6]। इन्द्र मे भी पर्जन्य की बहुत-सी विशेषताए वर्तमान है और वृष्टि के प्रकरण मे इन्द्र की तुलना पर्जन्य के साथ की गई है[7]। दोनो देवताओ का प्राकृतिक आधार बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। फिर भी उस आधार के साथ पर्जन्य का सबन्ध इन्द्र की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट है।

पर्जन्य शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे सदेह है। फिर भी चरित्रगत समानता के आधार पर पर्जन्य का तादूप्य लिथुएनियन स्तनयित्नु-देव पेर्कुनस् के साथ स्थापित-सा हो गया है। किंतु इस तादूप्य मे ध्वनि-सबन्धी कठिनाइया बनी हुई हैं। ऋग्वेद मे पर्जन्य की कल्पना कुछ नूतन-सी है और सभव है कि यदि इन दोनो नामो का परस्पर सबन्ध है तो उनका भायोरपीय रूप विशेषण-मात्र रहा हो। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेद मे पर्जन्य शब्द मेघ का विशेषण है और साथ ही मानवीकृत देव का भी बोधक है। मेघ और वृष्टि देव दोनो ही अर्थ ब्राह्मणो मे से होकर परवर्ती साहित्य मे प्रचलित मिलते है। कोशो मे पर्जन्य की व्याख्या 'गर्जन्-मेघ' यह आई है किन्तु महाभारत मे पर्जन्य देव इन्द्र के तद्रूप भी बनाये गये है।

---

1. दे० 7 101 1. पृ० 211 — दे० 7 101 3 पृ० 210; दे० 5 83 1 पृ० 209
2. दे० 9 82 3 पृ० 212.
3. पर्जन्यवृद्ध महिष त सूर्यस्य दुहिताभरत्।
   त गंधर्वा प्रत्यगृभ्णन्त सोमे रसमादधु ॥ ऋ० 9 113 3
4. वाच सु मित्रा वरणा विरावतीं पर्जन्यश्चित्रा वदति त्विषीमतीम्।
   अभ्रा वसत मरुत सु मायया द्या वर्षयतमरुणामरेपसम् ॥ ऋ० 5 63 6
5. गणास्त्वोप गायन्तु मारुता पर्जन्य घोषिण पृथक। अथ० 4 15 4
6. पर्जन्योन ओषधीभिर्मयोभुरग्नि सुशंस सुहव पितेव। ऋ० 6 52 6
   दे० 6 52 16 पृ० 211
7. महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्या वृष्टिमाँ इव। ऋ० 8 6 1.

आपः (§ 32)—

आप के लिए ऋग्वेद मे चार सूक्त आये है[1]। साथ ही कतिपय छिट-पुट मन्त्र भी इनके निमित्त कहे गये है। कुछेक मन्त्रो मे अन्य देवताओ के साथ भी इनका निर्देश हुआ है। आपके विषय में मानवीकरण अपनी आरम्भावस्था ही में है। उन्हे केवल माता, युवती स्त्रिया, वर देनेवाली और यज्ञ मे पधारनेवाली देविया कहा गया है। वे देवताओ का अनुगमन करनेवाली देविया है[2]। इन्द्र ने अपने वज्र से उनके लिए पथ बनाये है[3]। स्वप्न मे भी वे इन्द्र के विधानो को नही तोडती[4]। उन्हे सविता के द्वारा भी नियमित हुई बताया गया है। वे दिव्य हैं, नियमित रूप से अपने पथो पर बहती है और उनका इस यात्रा का लक्ष्य समुद्र है[5]। उनके वर्णनो मे इस बात पर जोर दिया गया है कि जहा-कही देवता निवास करते है और जहा भी मित्र वरुण का अधिष्ठान है वही आप रहती है[6]। वे सूर्य के समीप है और सूर्य उनके साथ है[7]। मर्त्यलोक मे मनुवर्ग के सत्य अनृत का सर्वेक्षण करते हुए विराट् वरुण उनके मध्य मे विचरण करते है[8]।

---

1. आपो य वं प्रथम देवयन्त इन्द्रपानमूर्मिमकृण्वतेळ ।
तं वो वय शुचिमरिप्रमद्य घृतप्रुष मधुमन्त वनेम ॥ ऋ० 7 47 1 पूर्ण सूक्त।
समुद्र ज्येष्ठा सलिलस्य मध्यात् पुनाना यन्त्यनिविशमाना ।
इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ ऋ० 7 49 1 आदि
आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे। ऋ० 10 9 1 आदि
प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेत्वपो अच्छा मनसो न प्रयुक्ति ।
महीं मित्रस्य वरुणस्य धासिं पृथुज्रयसे रीरधा सुवृक्तिम्॥ ऋ० 10 30 1 आदि
2. शतपवित्रा स्वधया मदन्तीर्देवीर्देवानामपि यन्ति पाथ ।
ता इन्द्रस्य न मिनन्ति व्रतानि सिन्धुभ्यो हव्य घृतवज्जुहोत ॥ ऋ० 7 47 3
3. या सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद् गातुमूर्मिम् ।
ते सिन्धवो वरिवो धातना नो यूय पात स्वस्तिभि सदा न ॥ ऋ० 7 47 4
दे० 7 49 1 ऊपर।
4. दे० 7 47 3 ऊपर।
5. या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा या स्वयजा ।
समुद्रार्था या शुचय पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ ऋ० 7 49 2
6. दे० 10 30 1 ऊपर।
7. अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्य सह । ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् । ऋ० 1 23 17
8. यासा राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम् ।
मधुश्चुत शुचयो या पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ ऋ० 7 49 3

सभव है कि इन प्रकरणो मे आप से तात्पर्य मेघ ही से हो। किंतु निघण्टु मे आप की गणना पृथिवीस्थानीय देवताओ मे की गई है।

अग्नि को बहुधा जल मे बसनेवाला या सोनेवाला बताया गया है। यह भी आता है कि वैश्वानर अग्नि जलो मे प्रविष्ट हुए हैं[1]। माता के रूप मे आप: अग्नि को उत्पन्न करती हैं[2]। अग्नि के एक रूप को अपा नपात् बताया गया है। आप माताए है[3], वे भुवन की पत्निया हैं, ये साथ-साथ बढनेवाली एव समान योनिवाली हैं[4]। उनसे अनुरोध किया गया है कि वे उशती माता की भाति अपने शिवतम रस का हमे प्रदान करें[5]। वे मातृतमा है और चराचर की जननी है[6]।

आप. हमे शुद्ध एव सस्कृत बनाती हैं। ये देविया अशेप दोपो को दुराती हैं: और याज्ञिक लोग उनके मध्य मे से शुचि एव शुद्ध बनकर निकलते हैं[7]। दुरितो से, अभिद्रोहो से, अभिशाप और अनृत से भी मुक्त करने के निमित्त उनका आह्वान किया गया है[8]। वे भेपजमयी है[9]। वे हमे भेपज देती और दीर्घायु प्रदान करती हैं, क्योकि सकल औपध, अशेप अमृतत्व और नि शेप उपचार उन्ही मे सनिहित हैं[10]। गृह मे भी वे मनुष्यो के स्वास्थ्य की देख-भाल करती हैं। वे वर

1. यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वेदेवा यासूर्जं मदन्ति।
वैश्वानरोयास्वग्नि प्रविष्टस्ता आपो देवीरिहमामवन्तु ॥ ऋ० 7 49 4
2 तमोपधीर्दधिरे गर्भमृत्विय तमापो अग्नि जनयन्त मातर । ऋ० 10 91 6
य त्वा द्यावापृथिवी य त्वापस्त्वष्टा य त्वा सुजनिमा जजान।
पन्यामनु प्रविद्वान् पितृयाण द्युमदग्ने समिधानो वि भाहि ॥ ऋ० 10 2 7
हिरण्यवर्णा शुचय पावका यासु जात सविता यास्वग्नि ।
या अग्नि गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आप शस्योना भवन्तु ॥ अथ० 1 33 1
3 आपो अस्मान्मातर शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्व पुनन्तु ।
विश्व हि रिप्र प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्य शुचिरा पूत एमि॥ ऋ० 10 17 10
अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चन्तीर्मधुना पय ॥ ऋ० 1 23 16
4 ऋपे जनित्रीर्भुवनस्य पत्नीरपो वन्दस्व सवृध सयोनी । ऋ० 10 30 10
5 यो व शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह न । उशतीरिव मातर ॥ ऋ० 10 9 2
6 ओमानमापो मानुपीरमृक्त धात तोकाय तनयाय श यो ।
यूय हि ष्ठा भिपजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्री ॥ ऋ० 6 50 7.
7 दे० 10 17 10 ऊपर
8 इदमाप प्र वहत यत्कि च दुरित मयि।
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम् ॥ ऋ० 1.23.22, 10 9.8
9 दे० 6 50 7 ऊपर
10 ईशाना वार्याणा क्षयन्तीश्चर्पणीनाम्। अपो याचामि भेपजम् ॥ ऋ० 10 9 5

प्रदान करतीं, धन वितरित करती और सुशक्ति एवं अमृतत्व का दान देती है[1]। आशीर्वाद और सहायता के लिए उनसे बार-बार विनती की गई है[2]। सोमयाजियों के यज्ञों में अपां नपात् के साथ दर्भ पर आ विराजने के लिए आपः को निमन्त्रित किया गया है[3]।

अनेक बार आपः का संबन्ध मधु के साथ जोड़ा गया है। माता के नाते वे अपने क्षीर में मधु मिलाती है[4]। आपः की लहरें मधुपूर्ण हैं, घृत के साथ मिश्रित होने पर आपः इन्द्र का पेय बन जाती है। इन्द्र को आपः ने ही मदमत्त किया था[5]। अपां नपात् से अनुरोध किया गया है कि वे मधु-पूर्ण आपः दें जिससे इन्द्र शौर्य-कृत्यों के लिए संनद्ध हो सके[6]। आपः से प्रार्थना की गई है कि वे इन्द्र के लिए जिसने कि उन्हें वृत्र की चपेट से बचाया है, मधुपूर्ण ऊर्मियां प्रवाहित करें[7]। कुछ

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवम्॥ ऋ० 10.9.6.
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम। ज्योक्च सूर्यं दृशे॥ ऋ० 10 9.7.
अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः॥ ऋ०1.23.19.
अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः॥ ऋ० 1.23.20.
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३मम। ज्योक्च सूर्यं दृशे॥ ऋ० 1.23.21.

1. दे० 10.9.5. पृ० 215
आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च।
रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद्गृणते वयो धात्॥ ऋ० 10 30.12.
2. दे० 7.47.4. पृ० 214 दे० 7.49.1. पृ० 214
3. हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्।
ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भूतनास्मभ्यमापः॥ ऋ० 10.30.11.
एमा अग्मन् रेवतीर्जीवधन्या अध्वर्यवः सादयता सखायः।
नि बर्हिषि धत्तन सोम्यासोऽपां नप्त्रा संविदानास एनाः॥ ऋ० 10.30.14.
आग्मन्नाप उशतीर्बर्हिरेदं न्यध्वरे असदन् देवयन्तीः।
अध्वर्यवः सुनुतेन्द्राय सोममभूदु वः सुशका देवयज्या॥ ऋ० 10.30.15.
4. दे० 1.23.16. पृ० 215
5. दे० 7.47.1. पृ० 214
तमूर्मिमापो मधुमत्तमं वोऽपां नपादवत्वाशुहेमा।
यस्मिन्निन्द्रो वसुभिर्मादयाते तमश्याम देवयन्तो वो अद्य॥ ऋ० 7.47.2.
6. अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय। ऋ० 10 30.4.
7. यो वो वृताभ्यो अकृणोदु लोकं यो वो मह्या अभिशस्तेरमुञ्चत्।
तस्मा इन्द्राय मधुमन्तमूर्मिं देवमादनं प्र हिणोतनापः॥ ऋ० 10.30.7.

मन्त्रों से प्रकट होता है कि किसी समय दिव्य आपः को दिव्य सोम से पूर्ण अथवा सोम के तद्रूप माना जाता था। कुछ मन्त्रो मे निःसदिग्ध आपः से सोम प्रस्तुत करने मे प्रयुक्त पृथिवीस्थ जल अभिप्रेत है। जब वे घी, दूध और मधु लेकर प्रकट होती है तब वे सोमसावी पुरोहित के अनुकूल हो जाती है[1]। सोम को आपः मे वैसा ही आनन्द मिलता है जैसा कि एक युवक को एक सुन्दरी युवती मे। प्रणयी की भाति आपः सोम के पास जाती है। आपः ऐसी युवतिया है, जो प्रणयी के समक्ष नत हो जाती है[2]।

पृथिवीस्थानीय देवता

नदियां (§ 33)—

ऋग्वेद में दिव्या आपः के साथ-साथ नदियो का स्थान कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही है। एक सकल सूक्त मे केवल पञ्चम मन्त्र को छोडकर, सिन्धुनद का यशोगान किया गया है। पाचवे मन्त्र मे अन्य सरिताओ के साथ-साथ सिन्धु की कतिपय सहायक नदियो की ओर निर्देश किया गया है। षष्ठ मन्त्र मे अनेक सरिताओ का सिन्धु की सहायक नदियो के रूप मे उल्लेख हुआ है। एक अन्य सकल सूक्त मे विपाश और शुतुद्री का विश्वामित्र के साथ सभाषण आया है[3]।

किंतु नदियों में भी सरस्वती का स्तवन सबसे वढकर हुआ है। यद्यपि सरस्वती के विषय में मानवीकरण अन्य सरिताओं की अपेक्षा बहुत अधिक विक-

आस्मै हिनोत मधुमन्तमूर्मिं गर्भो यो वः सिन्धवो मध्व उत्सः।
घृतपृष्ठमीड्यमध्वरेष्वाऽऽपो रेवतीः शृणुता हवं मे ॥ ऋ० 10 30 8
तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्रपानमूर्मिं प्र हेत य उभे इयर्ति।
मदच्युतमौशानं नभोजां परि त्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम् ॥ ऋ० 10 30 9.

1. प्रति यदापो अदृश्रमायतीर्घृतं पयांसि बिभ्रतीर्मधूनि।
अध्वर्युभिर्मनसा संविदाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तीः ॥ ऋ० 10 30.13.

2 याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्यः।
ता अध्वर्यो अपो अच्छा परेहि यदासिञ्चा ओषधीभिः पुनीतात् ॥ ऋ० 10.30 5.
एवेद्यूने युवतयो नमन्त यदीमुशन्नुशतीरेत्यच्छ।
सं जानते मनसा सं चिकित्रेऽध्वर्यवो धिषणापश्च देवीः ॥ ऋ० 10,30 6.
प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः।
प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा ॥ ऋ० 10 75.1.

3. प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते ॥ ऋ० 3.33 1. आदि.

सित हो गया है, तथापि सरस्वती देवी का पार्थिव नदी के साथ संबन्ध ऋग्वेदीय कवि के मस्तिष्क मे सदा बना रहता है। ऋग्वेद में सरस्वती का स्तवन तीन सकल सूक्तों में और अनेक छिटपुट मन्त्रों में हुआ है। सरस्वती, सरयु, और सिन्धु को बडे नदों के रूप में पुकारा गया है[1] और अन्यत्र[2] गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी और अन्य ज्ञात-अज्ञात, सब मिलाकर 21 नदियों का उल्लेख आया है। सरस्वती के तटों पर बसनेवाले राजाओं और मनुष्यों का उल्लेख उल्लास के साथ किया गया है[3]। आयस पुरों से संवलित सरस्वती जनपदों के पोषक जल-प्लाव के साथ आगे बढ़ती है। यह सरित् गरिमा में अन्य सभी नदियों से बढ़कर है। नदियों में एकमात्र वही एकान्ततः शुचि प्रतीत हुई है, जो पर्वतों से निकलती है और (दिव्य) समुद्र में प्रवाहित होती है[4]। अपनी प्रवल वीचियों द्वारा वह पर्वतशृङ्गों को तोड़ती हुई बहती है और उसकी तुमुल जलधारा गरजती हुई छलांगें भरती है[5]। महत्ता मे तो वह बड़ों की भी बड़ी है; और क्रियाशीलता उसकी अपने-जैसी आप है। उससे अनुनय किया गया है कि कही वह अपने दुग्ध-प्रवाह को रोक न ले; कही उसे बन्द न कर ले[6]। कवि शङ्का करता है कि कही उसे सरस्वती के तट पर से उखाड़ कर किसी अज्ञात स्थान में न ठेल दिया जाय[7]। सरस्वती की सात बहनें है और वह सप्त धातु है[8]। वह सातों में से एक है; वह सरि-

1. सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महो महीरवसा यन्तु वक्षणीः । ऋ० 10.64.9.
2. इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥ ऋ० 10.75.5.
3. उभे यत्ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ति पूरवः । ऋ० 7.96.2.
चित्र इद् राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु । ऋ० 8.21.18.
4. प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः ।
प्र बाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्याः ॥ ऋ० 7.95.1.
एकाचेतत्सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात् । ऋ० 7 95.2.
आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम् । ऋ० 5.43.11.
5. इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः ।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः ॥ ऋ० 6.61.2.
यस्या अनन्तो अह्रुतस्त्वेषश्चरिष्णुरर्णवः । अमश्चरति रोरुवत् ॥ ऋ० 6.61.8.
6. प्र या महिम्ना महिनासु चेकिते द्युम्नेभिरन्या अपसामपस्तमा ।
रथ इव बृहती विभ्वने कृतोपस्तुत्या चिकितुषा सरस्वती ॥ ऋ० 6.61.13.
7. सरस्वत्यभि नो नेषि वस्यो माप स्फरीः पयसा मा न आ धक् ।
जुषस्व नः सख्या वेश्या च मा त्वत्क्षेत्राण्यरणानि गन्म ॥ ऋ० 6.61.14.
8. उत नः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा । सरस्वती स्तोम्या भूत् । ऋ० 6 61.10

ताओ की प्रसविनी है[1]। माताओ, नदियो और देवियो की वह मूर्धन्य है[2]। उसे पावीरवी अर्थात् विद्युत् की पुत्री बताया गया है। वह पार्थिव लोको को और उरु अन्तरिक्ष लोक को भर कर प्रवाहित होती है। वह तीनो लोको मे एक-साथ अवस्थित है; वह पञ्चजनो की पोषक है; युद्धो मे बहादुर लोग उसी को पुकारते हैं[3]। आकाश से गिरकर महान् पर्वत पर से होती हुई यज्ञ मे पधारने के लिए उससे प्रार्थना की गई है[4]। अन्तिम तीन मन्त्रो मे सरस्वती के दिव्य उद्गम का भाव व्यक्त होता प्रतीत होता है, जैसाकि वेदोत्तर-कालीन साहित्य मे गङ्गा के विषय मे आम है। एक बार उसे असुर्या या दिव्य भी बताया गया है[5]। यह देवी पितरो की न्याई रथ पर बैठकर यज्ञ मे आती और वहि पर अधिष्ठित हो जाती है[6]। यहा भी उसे नदी-देवी मानना चाहिए; क्योकि दो मन्त्रो मे जलो का आह्वान दोषो के प्रक्षालन के लिए किया गया है।

वह स्वत. पावन, अन्नसंपन्न है और धनो की दात्री है[7]। प्रार्थना की गई है कि वह सरिताओं से समृद्ध होकर आवे[8] क्योकि वे धनसपन्न है, शक्ति और अमृत की स्रोत हैं, धन और संतति की पालिका हैं, इसलिए उनसे इन सभी के लिए प्रार्थना की गई है[9]। वह जनजानपदो को जीवनी शक्ति देती और उन्हे अपत्य प्रदान करती है[10]। सतानोत्पादन मे सहायता देनेवाले देवो के साथ सर-

---

त्रिषधस्था सप्तधातु. पञ्चजाता वर्धयन्ती । वाजेवाजे हव्या भूत् ॥ ऋ० 6 61 12.

1. आ यत्साकं यशसो वावशानाः सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता । ऋ० 7.36 6
2. अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति । ऋ० 2 41 16
   पावीरवी तन्यतुरेकपादजः । ऋ० 10 65.13
   पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात् । ऋ० 6 49 7.
3. आपप्रुषी पार्थिवान्युरु रजो अन्तरिक्षम् । सरस्वती निदस्पातु । ऋ० 6 61 11
   दे० 6 61 12. ऊपर ।
4. दे० 5 43.11. पृ० 218. दे० 7.95 2. पृ० 218
5. बृहदु गायिषे वचोऽसुर्या नदीनाम् । ऋ० 7 96 1.
6. सरस्वति या सरथं ययाथ स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
   आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयस्वाऽनमीवा इष आ धेह्यस्मे ॥ ऋ०10 17.8
   सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः । ऋ० 10.17.9.
7. पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ ऋ० 1.3.10.
8. सरस्वती सिन्धुभिः पिन्वमाना । ऋ० 6.52 6.
9. आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च ।
   रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद् गृणते वयो धात् ॥ ऋ० 10.30 12
10. त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूंषि देव्याम् ।

स्वती का सबन्ध है[1]। उन्होने दिवोदास नाम का पुन वध्र्यश्व को दिया था[2]। उनका मयोभू स्तन, हर प्रकार के धन का दाता है[3]। वह धन देती, रायस्पोष देती और पोषक पदार्थो का दान करती है[4]। सरस्वती के लिए 'सुभगा'—इस विशेषण का बार-बार प्रयोग आया है[5]। माता के नाते वे अज्ञात व्यक्तियो को ख्याति प्रदान करती है[6]। वे याज्ञिको मे पवित्र मन्त्रो को प्रेरित करती और भद्र मतिवाले उपासको को उनका अनुष्ठेय कर्म दिखाती है[7]। स्तुति की देवियो के साथ भी उनका आह्वान मिलता है[8]। वे देवताओ के शत्रुओ का सहार करती है। वे भीम हैं और वृत्र का सहार करनेवाली है[9]। वे अपने उपासको की देख-

---

शुनहोत्रेषु मत्स्व प्रजा देवि दिदिड्ढि न ॥ ऋ० 2 41 17

1 गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्ता पुष्करस्रजा॥ ऋ० 10 184 2

2 इयमददाद् रभस मृणच्युत दिवोदास वध्र्यश्वाय दाशुषे। ऋ० 6 61 1
वाचो वाच द्वौ स्तनौ सत्यानृते वाव ते। ऐ० आ० 4 1

3 यस्ते स्तन शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद् य सुदत्र सरस्वति तमिह धातवे क ॥ ऋ० 1 164 49

4 रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृत पयो दुदुहे नाहुषाय। ऋ० 7 95 2
इन्द्रो वायेदियन्मघ सरस्वती वा सुभगा ददिर्वसु।
त्व वा चित्र दाशुषे ॥ ऋ० 8 21 17
पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभि सभृत रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीर सर्पिर्मधूदकम् ॥ ऋ० 9 67 32 दे० 1 3 10 पृ० 219

5 सरस्वती न सुभगा मयस्करत्। ऋ० 1 89 3
उत स्या न सरस्वती जुषाणोप श्रवत् सुभगा यज्ञे अस्मिन्।
मितज्ञुभिर्नमस्यैरियाना राया युजा चिदुत्तरा सखिभ्य ॥ ऋ० 7 95 4
अयमु ते सरस्वति वसिष्ठो द्वारावृतस्य सुभगे व्यावः। ऋ० 7 95 6
दे० 8 21 17 ऊपर

6 अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥ ऋ० 2 41 16

7 दे० 1 3 10 पृ० 219
चोदयित्री सूनृताना चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञ दधे सरस्वती ॥ ऋ० 1 3 11
सरस्वती साधयन्ती धिय न इळा देवी भारती विश्वतूर्ति। ऋ० 2 3 8
प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। धीनामवित्र्यवतु ॥ ऋ० 6 61 4

8. विश्वे देवास शृणवन् वचासि मे सरस्वती सह धीभि पुरन्ध्या। ऋ० 10 65 13

9 सरस्वति देवनिदो नि बर्हय प्रजा विश्वस्य बृसयस्य मायिन। ऋ० 6 61 3

भाल करती हैं और शत्रुओं पर उन्हें विजयी बनाती हैं[1]।

सरस्वती का अनेक बार अन्य देवताओं के साथ भी निर्देश आता है। इन्द्र और पूषन् के अतिरिक्त वे विशेषतया मरुतों के साथ भी संबद्ध हैं[2]। कहा गया है कि वे मरुत् वाली है[3] अथवा मरुत् उनके सखा है[4]। ऋग्वेद में एक बार उनका नाम अश्विनों के साथ भी आया है। जब अश्विनों ने इन्द्र की सहायता की तब सरस्वती ने उन्हें जिन्दादिली बख्शी थी[5]। उसी गाथा के संबन्ध में वाजसनेयि संहिता कहती है कि जब देवताओं ने उपचार-यज्ञ किया तब अश्विनों ने भिषक् बनकर और सरस्वती ने वाणी द्वारा इन्द्र को बढ़ावा दिया[6]। वाजसनेयि संहिता[7] ने तो सरस्वती को अश्विनों की पत्नी तक बताया है। आप्री और आप्र सूक्तों के आठवें या नवें मन्त्र में सरस्वती का संबन्ध यज्ञ की देवी इला और भारती के साथ मिलता है। इला और भारती के साथ मिलकर इनकी देवत्रयी बनती है। कभी-कभी मही और होत्रा के साथ भी उनका नाम आता है। संभवतः इस संबन्ध का आधार इस नदी की पावनता रही हो। सरस्वती और दृषद्वती के तटों पर

उत स्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः ।
वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम् । ऋ० 6.61.7.

1. दे० 7.95.4, पृ० 220.
इमा जुह्वाना युष्मदा नमोभिः प्रति स्तोमं सरस्वती जुषस्व । ऋ० 7.95.5.
सरस्वति त्वमस्माँ अविड्ढि मरुत्वती धृषती जेषि शत्रून् । ऋ० 2.30.8.
पावीरवी कन्या चित्रायुः सरस्वती वीरपत्नी धियं धात् ।
ग्नाभिरच्छिद्रं शरणं सजोषा दुराधर्षं गृणते शर्म यंसत् ॥ ऋ० 6.49.7.

2. विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तो दिवो मर्या ऋतजाता अयासः ।
सरस्वती शृणवन् यज्ञियासो धाता रयिं सहवीरं तुरासः ॥ ऋ० 3.54.13.
सरस्वतीं मरुतो अश्विनापो यक्षि देवान् रत्नधेयाय विश्वान् । ऋ० 7.9.5.
सरस्वती मरुतो मादयन्ताम् । ऋ० 7.39.5.
सेदुग्रो अस्तु मरुतः स शुष्मी यं मर्त्यं पृषदश्वा अवाथ ।
उतेमग्निः सरस्वती जुनन्ति न तस्य रायः पर्येतास्ति ॥ ऋ० 7.40.3.

3. दे० 2.30.8. ऊपर

4. सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा चोद राधो मघोनाम् । ऋ० 7.96.2.

5. पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः ।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् । 10.131.5.

6. देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाश्विना ।
वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः ॥ वा० सं० 19.12.

7. सरस्वती योन्यां गर्भमन्तरश्विभ्यां पत्नी सुकृतं बिभर्ति । वा० सं० 19.94.

यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने के संकेत मिलते हैं[1]; और ऐतरेय ब्राह्मण[2] में ऋषियों द्वारा सरस्वती के तट पर किये यज्ञों का उल्लेख गर्व के साथ आता है। हो सकता है कि सरस्वती के तटों पर भरतों की यज्ञशालाएं रही हों। उस अवस्था में स्वाभाविक है कि भरतों की हविष् की विग्रहवत् भारती आप्री ने यज्ञो में, सरस्वती के साथ स्थान पा लिया हो।

यद्यपि ऋग्वेद में इस बात के लिए कि सरस्वती नदी, देवी के अतिरिक्त और कुछ भी है, कोई संकेत[3] नही मिलता, तथापि ब्राह्मणों में उनका तादूप्य वाक् के साथ स्थापित हो गया है[4]। वेदोत्तर-कालीन गाथा में तो वह विद्वत्ता एवं प्रज्ञा की अधिष्ठात्री देवी बन गई है और जगह-जगह उनका ग्रीस के म्यूज की भांति आह्वान किया गया है और उन्हें ब्रह्मा की पत्नी होने का आदर दिया गया है। उनके विषय में प्राचीन धारणा से हटकर नवीन धारणा पर पहुंचने का परिवर्तन-बिन्दु संभवतः वाजसनेयि संहिता[5] में सन्निहित है।

जिस नदी के आधार पर सरस्वती देवी का विग्रहवत्त्व संपन्न हुआ है उसके विषय में मतभेद है। सरस्वती अवेस्ता में उल्लिखित और अफगानिस्तान में प्रवाहित हरक्वैती नदी की तद्रूप है और हो सकता है कि हरक्वैती ही का आरम्भ में सरस्वती नाम से गुण-गान किया गया हो। किंतु रॉथ, ग्रासमान, लुडविग और त्सिमर के मत में ऋग्वेद मे सरस्वती मूलतः एक बड़ी नदी रही थी। संभवतः सिन्धु का ही सरस्वती एक धार्मिक नाम रहा हो और सिन्धु एक धर्म निरपेक्ष नाम। किंतु कही-कही सरस्वती से मध्यदेश में बहनेवाली छोटी नदी का भी बोध होता है। हो सकता है कि बाद के काल में देवी का नाम और उनकी पवित्रता इस सामान्य नदी पर संक्रान्त हो गई हो। मैक्समूलर के अनुसार सरस्वती नाम की एक छोटी-सी सरित् थी जोकि दृषद्वती के साथ ब्रह्मावर्त के पुण्य-प्रदेश की सीमा थी। भले ही यह आज मरुभूमि में विलीन हो गई है; फिर भी वैदिक युग में यह समुद्र में जा मिलती थी। ओल्धम् के अनुसार प्राचीन नदियों के पथों की परीक्षा से निष्कर्ष निकलता है कि सरस्वती मूलतः शुतुद्री (वर्तमान सतलज) की सहायक नदी थी, और जब शुतुद्री अपना प्राचीन पथ छोड़कर विपाश् से जा मिली तब सरस्वती ने शुतुद्री का पुराना पथ अपना लिया।

---

1. दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि। ऋ० 3.23.4
2. ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत। ऐत० ब्रा० 2.19.
3. शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु। ऋ० 7.35.11.
4. वाग्वै सरस्वती। शत० ब्रा० 3.9.1.7.
   वाक् तु सरस्वती। ऐ० ब्रा० 3.1.10.
5. दे० वा० सं० 19.12, पृ० 221.

सरस्वती से बना हुआ 'पुल्लिङ्ग' नाम सारस्वत आता है। एक सूक्त के आरम्भ के तीन मन्त्रो मे सरस्वती का गुण-गान करने के उपरान्त अन्तिम तीन मन्त्रों मे पत्नी, अपत्य, रक्षा और सपत्ति की इच्छा से उपासक ने सारस्वत का आह्वान किया है। यहा उसके गर्भधारक जल और मञ्जुल वक्ष.स्थल की ओर सकेत किया गया है। एक अन्य मन्त्र[1] मे सारस्वत के विषय मे—जोकि अग्नि-पक्षी का दूसरा नाम है—कहा गया है कि वह वृष्टि मिलने पर चेतन हो जाता है। रॉथ उसे दिव्य जलो का सरक्षक मानते है, जिसका काम गर्भ धारण कराना है। हिलेब्राण्ड्ट सारस्वत का तादात्म्य अपा नपात् (=सोम, चन्द्रमा) के साथ स्थापित करते हैं।

पृथिवी (§ 34)—

पहले कहा जा चुका है कि पृथिवी का गुण-गान सामान्यतया द्यौस् के साथ होता है। अकेली पृथिवी के लिए ऋग्वेद मे एक छोटा-सा सूक्त[2] और अथर्ववेद मे एक गभीर एव रुचिर सूक्त आता है[3]। पृथिवी का विग्रहवत्त्व स्वल्प है, क्योकि इस देवी में मिलनेवाली विशेषताए प्राय. सभी भौतिक पृथिवी मे मिल जाती है। ऋग्वेद के अनुसार पृथिवी उद्वतो से भरपूर है। वह पर्वतो के भार को सभालती और वन्य ओषधियो को धारण करती है। वह धरती को उर्वरा बनाती है, क्योकि वह पानी बरसाती है। उसके मेघों की विद्युत् ही द्युलोक से जलविन्दुओ को बरसाती है। वह मही है, दृढा है और अर्जुनी है।

पृथिवी का अर्थ है 'विस्तृत', और ऋग्वेद के एक कवि ने[4] जहा यह कहा है कि इन्द्र ने पृथिवी का प्रथन किया (पप्रथत्), वहा उसने इस शब्द की व्युत्पत्ति की ओर सकेत किया है। तैत्तिरीय सहिता[5] और तैत्तरेय ब्राह्मण[6] में पृथिवी के मूल का वर्णन करते हुए पृथिवी की व्युत्पत्ति स्पष्ट शब्दो मे √प्रथ् 'फैलना' से दी है।

---

1. दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि॥ ऋ० 1.164.52.
2. बळित्था पर्वतानां खिद्रं बिभर्षि पृथिवि।
प्र या भूमिं प्रवत्वति मह्ना जिनोषि महिनि॥ ऋ० 5.84.1. आदि पूर्णसूक्त
3 सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥ अथ० 12.1.1.
4. दे० 2.152 पृ० 132
5. सोऽप्रथत सा पृथिव्यभवत्तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम्। तै० सं० 7.1.5.1.
6, यदप्रथयत्तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम्। तै० ब्रा० 1.1.3.5.

पृथिवी को 'सुशेवा माता भूमि' कहा गया है, जहां मनुष्य मरने के उपरान्त जाता है[1]। द्यौस् के साथ उल्लिखित होने पर पृथिवी को 'माता' विशेषण दिया जाता है।

अग्नि (§ 35)—

पृथिवी-स्थानीय देवताओं में अग्नि प्रमुख है। यज्ञ से घनिष्ठ संबन्ध रखने-वाली वैदिक कविता के केन्द्रीभूत यज्ञाग्नि का विग्रहवत् रूप होने के नाते वे प्राथमिक महत्व के हैं। इन्द्र के बाद वैदिक देवताओं में उन्हीं का स्थान है। ऋग्वेद में उनके निमित्त कम-से-कम 200 सकल सूक्त आये हैं और अनेक सूक्तों में अन्य देवों के साथ भी उनका स्तवन किया गया है।

अग्नि शब्द भौतिक अग्नि का भी बोधक है। फलतः अग्नि का विग्रहवत्त्व अभी आरम्भिक अवस्था में ही है; क्योंकि उनके शरीरावयवों से भौतिक अग्नि, विशेषतया यज्ञाग्नि के विभिन्न पहलू द्योतित होते हैं। वे घृत-पृष्ठ[2], घृत-प्रतीक[3], और मन्द्र-जिह्व[4] हैं। वे घृत-लोम[5], ज्वाल-लोम[6] हरिकेश[7] हैं, और हिरण्यश्मश्रु हैं[8]। उनके जबड़े तेज एवं तप्त हैं[9]; उनके दांत स्वर्णिम अथवा प्रकाशयुक्त हैं[10]। एक

1. उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्। ऋ० 10.18.10.
2. विशां कविं विश्पतिं मानुषीणां शुचिं पावकं घृतपृष्ठमग्निम्।
   नि होतारं विश्वविदं दधिध्वे स देवेषु वनते वार्याणि॥ ऋ० 5.4.3.
3. नि दुरोणे अमृतो मर्त्यानां राजा ससाद विदथानि साधन्।
   घृतप्रतीक उर्विया व्यद्यौदग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्॥ ऋ० 3.1.18.
4. तान् यजत्राँ ऋतावृधोऽग्ने पत्नीवतस्कृधि। मध्वः सुजिह्व पायय॥ ऋ० 1.14.7.
5. अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे।
   ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम्॥ ऋ० 8.60.2.
6. त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः।
   शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोळ्हवे॥ ऋ० 1.45.6. इत्यादि।
7. ऋतावानं यज्ञियं विप्रमुक्थ्यमा यं दधे मातरिश्वा दिवि क्षयम्।
   तं चित्रयामं हरिकेशमीमहे सुदीतिमग्निं सुविताय नव्यसे॥ ऋ० 3.2.13.
8. स हि ष्मा धन्वाक्षितं दाता न दात्या पशुः।
   हिरिश्मश्रुः शुचिदन्नृभुरनिभृष्टतविषिः॥ ऋ० 5.7.7.
9. तपुर्जम्भो वन आ वातचोदितो यूथे न साह्वाँ अव वाति वंसगः।
   अभिव्रजन्नक्षितं पाजसा रजः स्थातुश्चरथं भयते पतत्रिणः॥ ऋ० 1.58.5
10. हिरण्यदन्तं शुचिवर्णमारात् क्षेत्रादपश्यमायुधा मिमानम्।
    ददानो अस्मा अमृतं विपृक्वत् किं मामनिन्द्राः कृणवन्ननुक्थाः॥ ऋ० 5.2.3.

बार उन्हे अपाद और अशीर्षा भी कहा गया है[1] किंतु एक स्थान पर उन्हे तपुर्मूर्धा अर्थात् प्रतापी मूर्धावाला बताया गया है[2] साथ ही वे त्रिमूर्धा और सप्तरश्मि भी हैं[3]। वे सभी भुवनो की ओर उन्मुख रहते हैं[4]। उनकी जिह्वा का पुन पुनः उल्लेख आता है[5]। उनके तीन या सात जिह्वाए है, यहा तक कि उनके अश्व भी सप्त-जिह्व हैं[6]। आगे चलकर इन सातो जिह्वाओ मे से प्रत्येक का नामकरण हुआ। घृत अग्नि का नेत्र है[7] उनके चार नेत्र हैं[8], वे सहस्र-चक्षु[9] और सहस्र-शृङ्ग है। मनुष्य के लिए वे अपने हाथ मे नाना उपहार लिये हुए हैं[10]। इन्द्र की भाति इनके लिए भी सहस्र-मुष्क विशेषण का प्रयोग हुआ है[11]। उन्हे अस्ता

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेद समिद्ध ।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृक्त्व्यपि धत्स्वासन् ॥ ऋ० 10 87 2

1 स जायत प्रथम पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ ।
अपादशीर्षा गुहमानो अन्ताऽऽयोयुवानो वृषभस्य नीळे ॥ ऋ० 4 1 11.

2 अग्निं वो देवमग्निभि सजोषा यजिष्ठ दूतमध्वरे कृणुध्वम् ।
यो मर्त्येषु निध्रुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्न पावक ॥ ऋ० 7 3 1

3 त्रिमूर्धानं सप्तरश्मि गृणीषेऽनूनमग्निं पित्रोरुपस्थे ।
निषत्तमस्य चरतो ध्रुवस्य विश्वा दिवो रोचनापप्रिवांसम् ॥ ऋ० 1 146 1
वधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्माणि वेरु तत् ।
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभवत् ॥ ऋ० 2 5 3

4 समिद्धो अग्निर्निहित पृथिव्या प्रत्यङ् विश्वानि भुवनान्यस्थात् ।
होता पावक प्रदिव सुमेधा देवो देवान् यजत्वग्निरर्हन् ॥ ऋ० 2 3 1.

5 उतो न्वस्य यत् पद हर्यतस्य निधान्यम् ।
परि द्यां जिह्वयातनत् ॥ ऋ० 8 72 18

6 अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था तिस्रस्ते जिह्वा ऋतजात पूर्वी ।
तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्न पाहि गिरो अप्रयुच्छन् ॥ ऋ० 3 20 2
आ रोदसी अपृणा जायमान उत प्र रिक्था अध नु प्रयज्यो ।
दिवश्चिदग्ने महिना पृथिव्या वच्यन्तां ते वह्नय सप्तजिह्वा ॥ ऋ० 3 6 2.

7 अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥ ऋ० 3 26 7

8 त्वमग्ने यज्यवे पायुरन्तरोऽनिषङ्गाय चतुरक्ष इध्यसे ।
यो रातहव्योऽवृकाय धायसे कीरेश्चिन् मन्त्रं मनसा वनोषि तम् ॥ ऋ० 1.31 13.

9 सहस्राक्षो विचर्षणिरग्नी रक्षांसि सेधति । ऋ० 1 79 12

10 निकाव्या वेधस शश्वतस्कर्हस्ते दधानो नर्या पुरूणि । ऋ० 1 72 1

11. समानन्म सोभरय सहस्रमुष्कं स्वभिष्टिमवसे । ऋ० 8 19.32.

अर्थात् तीर चलानेवाले की न्याईं शूर कहा गया है[1] और वे अपनी ज्वलन्त दीप्ति को लोहे की धारा की तरह तेज़ करते हैं[2]।

उनकी उपमा विभिन्न पशुओं से दी गई है। इनमें से बहुसंख्यक उपमाएं उनके विग्रह की अपेक्षा उनके कार्यों की अधिक परिचायक हैं। उन्हें पुनः-पुनः वृषभ कहा गया है[3]। वे पीवरस्कन्ध बलीवर्द हैं[4]। वे रांभते[5] हैं, सुवीर्य हैं[6] और उनके सींग हैं[7], इन सींगों को वे पैनाते और डुलाते हैं और इनके कारण ही वे दूणाश अर्थात् दुष्प्राप्य हैं[8]। उत्पन्न होने पर उनका नाम वत्स पड़ जाता है। अनेक बार उनकी तुलना अश्व के साथ भी की गई है और स्पष्ट शब्दों में उन्हें अश्व कह कर पुकारा गया है[9]। जिस पूंछ को वे घोड़े की तरह हिलाते हैं वह और कुछ न होकर उनकी ज्वालाएं ही हैं। यज्ञ-पूत हो जाने पर उनकी उपमा मलकर फेरे हुए घोड़े से दी गई है[10]। याज्ञिक उन्हें अश्व की भांति फेरते[11] मलते, और गतिमान् बनाते हैं[12]। वे इस प्रकार के अश्व हैं जिन्हें लोग (पिता बनकर) पालना चाहते हैं[13]। उन्हें देवताओं के वाहन अश्व की भांति समिद्ध किया जाता है और उसकी स्तुति की जाती है[14]। वे यज्ञभूमि की धुरी पर बैठनेवाले हैं[15]। यज्ञ को देवताओं तक पहुंचाने के लिए उन्हें जोता जाता है[16]।

1. साधुर्न गृध्नुरस्तेव शूरो यातेव भीमस्त्वेषः समत्सु। ऋ० 1.70 6.
2. स इद्स्तेव प्रति धादसिष्यञ्छिशीत तेजोऽयसो न धाराम्। ऋ० 6.3 5.
3. तपुर्जम्भो वन आ वातचोदितो यूथे न साह्वाँ अव वाति वंसगः। ऋ० 1.58.5.
4. त्रिग्रीवो वृषभो वावृधानोऽशत्रवर्यः समजाति वेदः। ऋ० 5 2.12.
5. प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति। ऋ० 10 8 1.
6. साम द्विबर्हा महि तिग्मभृष्टिः सहस्ररेता वृषभस्तुविष्मान्। ऋ० 4.5.3.
7. सहस्रशृङ्गो वृषभस्तदोजा विश्वाँ अग्ने सहसा प्रास्यन्यान्। ऋ० 5 1 8.
8. ओजायमानस्तन्वश्च शुम्भते भीमो न शृङ्गा दविधाव दुर्गृभिः। ऋ० 1.140 6.
9. स त्वं नो अर्वन् निदाया विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिधानः। ऋ० 6 12.6.
10. आशुं न वाजंभरं मर्जयन्तः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्। ऋ० 1.60 5.
11. सो अध्वराय परि णीयते कविः। ऋ० 3 2.7.
12. प्र वो देवं चित् सहसानमग्निमश्वं न वाजिनं हिषे नमोभिः॥ ऋ० 7.7 1.
13. होता जनिष्ट चेतनः पिता पितृभ्य ऊतये।
प्रयक्षञ्जेन्यं वसु शकेम वाजिनो यमम्॥ ऋ० 2 5 1.
14. वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईळते॥ ऋ० 3.27 14.
15. समिधानं सुप्रयसं स्वर्णरं द्युक्षं होतारं वृजनेषु धूर्षदम्॥ ऋ० 2.2.1.
16. कुर्मस्त आयुरजरं यदग्ने यथा युक्तो जातवेदो न रिष्याः।
अथा वहासि सुमनस्यमानो भागं देवेभ्यो हविषः सुजात॥ ऋ० 10.51 7.

उनकी तुलना हिनहिनाने और हेषारव करनेवाले घोडे से भी की गई है[1]। विजय करानेवाले या शत्रुओ को अपास्त करनेवाले घोडे से भी उनकी उपमा दी गई है[2]। साथ ही अग्नि एक पक्षी के रूप मे भी आकाश के श्येन है[3] और एक दिव्य पक्षी हैं[4]। सलिल मे बसने के कारण उन्हे जलीय हस जैसा बताया गया है[5]। जैसे एक पक्षी वृक्ष पर बैठता है वैसे ही वे वृक्षो पर अधिष्ठित होते है[6]। वे परो से युक्त है[7], उनका पथ ध्रग्जस् अर्थात् तीव्र उडान का है[8], और वे बलो से उपोद्वलित होकर आसानी से उडते हुए देवताओ की ओर चले जाते है[9]। एक बार उन्हे अहिर्धुनि अर्थात् भुझलाया हुआ सर्प भी बताया गया है[10]।

अग्नि की तुलना अनेक बार अचेतन पदार्थो से भी की गई है। सूर्य की भाति वे स्वर्णिम है[11]। जब वे अपनी जिह्वा को लपलपाते है तब वह कुल्हाडी जैसी दीख पडती है[12]। कुल्हाडी से तो उनकी उपमा अनेक बार दी गई है। वे रथ-जैसे[13] है। उन्हे स्वय ऐसा रथ भी बताया गया है[14], जो धन लाना है[15]

1. अश्वो न क्रन्दञ्जनिभि समिध्यते वैश्वानर कुशिकेभिर्युगेयुगे ॥ ऋ० 3 26 3.
2 तमर्वन्त न सानसिं गृणीहि विप्र शुष्मिणम् ॥ ऋ० 8 102 12
अश्वो न स्वे दम आ हेम्यावान् तमहस पीपरो दाश्वासम्। ऋ० 4 2 8
3. नव्न नु स्तोममग्नये दिवः श्येनाय जीजनम् ॥ ऋ० 7 15 4
4. दिव्य सुपर्ण वायस बृहन्तम् ॥ ऋ० 1 164 52.
5 श्वासित्यप्सु हंसो न सीदन् ॥ ऋ० 1 65 5
6. तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति। ऋ० 1 66 2
चित्रध्रजतिररतियों अक्तोर्वेर्न द्रुपद्वा रघुपत्मजहा ॥ ऋ० 6 3 5
स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे वनेवने शिश्रिये तक्ववीरिव ॥ ऋ० 10 91 2
7 स्थातुश्चरथं भयते पतत्रिणं ॥ ऋ० 1 58 5
8 घृणा न यो ध्रजसा पत्मना यन्ना रोदसी वसुना दं सुपत्नी ॥ ऋ० 6 3 7
चित्रो नयत् परि तमांस्यक्त शोचिषा पत्मन्नौशिजो न दीयन् ॥ ऋ० 6 4.6
9. देवाँ अच्छा रघुपत्वा जिगाति ॥ ऋ० 10 6 4.
10. हिरण्यकेशो रजसो विसारे ऽहिर्धुनिर्वात इव ध्रजीमान् ॥ ऋ० 1 79 1
11. समिधान सुप्रयसं स्वर्णरम् ॥ ऋ० 2 2 1.
वि यद् रुक्मो न रोचस उपाके। ऋ० 7 3 6
12 विजेहमान परशुर्न जिह्वाम् ॥ ऋ० 6 3 4.
13. रथो न यात शिक्वभि कृतो ॥ ऋ० 1 141 8
14. सर्णी रथ सदा नव ॥ ऋ० 3 11 5
15. रथो न विक्ष्वृञ्जसान आयुषु व्यानुषग्वार्या देव ऋण्वति ॥ ऋ० 1.58.3.

जो युद्ध में दुर्दान्त है[1]। प्रतीत होता है कि उन्हें ऐसा रथ समझा जाता था, जिसे अन्य लोग चलाते है, क्योंकि वे भारवाही रथ की भांति यज्ञ में ले जाये जाते है[2]। उनकी तुलना धन से[3] या पितृवित्त अर्थात् पितरों से प्राप्त रिक्थ से[4] भी की गई है। समिध एवं घृत ही उनका भोजन है[5], पिघलाया हुआ नवनीत उनका पेय है[6]। उनके मुख में डाले गये घृत से उनका पोषण होता है[7], और स्नेह के तो वे सच्चे प्रेमी हैं[8]। अपने तीक्ष्ण दांतों से वे वनों को खाते, भसकते और चबाते है[9] अथवा अपनी जिह्वाओं से उन्हें चाट-चाटकर काला बना देते हैं[10]। वे सर्व-भक्षक हैं[11]। दिन में तीन बार उन्हें भोजन दिया जाता है[12]। कभी-कभी उन्हें मुख और जिह्वा भी कहा गया है; जिसके द्वारा देवगण हविष् का भक्षण करते है[13]। उनकी ज्वालाएं स्रुवा है, जिनके द्वारा वे देवताओं के लिए हविष् प्रदान करते है[14]। किंतु अपेक्षाकृत अधिक बार स्वयं उन्हें अग्नि, उपस्, अश्विन् और

1. चित्रो यदभ्राट्, छ्वेतो न विक्षु रथो न रुक्मी, त्वेषः समत्सु ॥ ऋ० 1.66.6.
2. अयमु ष्य प्र देवयुर्होता यज्ञाय नीयते।
रथो न योरभीवृतो घृणीवाञ्चेतति त्मना ॥ ऋ० 10.176.3.
3. रयिं न चारुं सुहवं जनेभ्यः ॥ ऋ० 1.58.6.
द्विजन्मानं रयिमिव प्रशस्तम् ॥ ऋ० 1.60.1.
4. रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः ॥ ऋ० 1.73.1.
5. इध्मः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः। ऋ० 2.7.6.
तपुर्मूर्धा घृतान्नः पावकः। ऋ० 7.3.1.
6. दे० 2.7.6. ऊपर।
7. हव्या जातवेदो जुषस्व। ऋ० 3.21.1.
8. आज्यस्य परमेष्ठिन जातवेदस्तनूवशिन्।
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान्विलापय। अथ० 1.7.2.
9. अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति योधो न शत्रून्त्स वना न्यृञ्जते। ऋ० 1.143.5.
10. कृष्णा करोति जिह्वया। ऋ० 6.60.10.
11. युवानं विश्पतिं कविं विश्वादं पुरुवेपसम्। ऋ० 8.44.26.
12. त्रिस्ते अन्नं कृणवत् सस्मिन्नहन्। ऋ० 4.12.1.
13. त्वामग्न आदित्यास आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे।
त्वां रातिषाचो अध्वरेषु सश्चिरे त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम् ॥ ऋ० 2.1.13.
त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो अद्रुह आसा देवा हविरदन्त्याहुतम्।
त्वया मर्तासः स्वदन्त आसुतिं त्वं गर्भो वीरुधां जज्ञिषे शुचिः ॥ ऋ० 2.1.14
14. एवा होतः सत्यतर त्वमद्याग्ने मन्द्रया जुह्वा यजस्व। ऋ० 1.76.5.
मन्द्रो होता स जुह्वा यजिष्ठः संमिश्लो अग्निरा जिघर्ति देवान्। ऋ० 10.6.

दधिक्रा आदि को बुलानेवाला बताया गया है[1]। अपने देवप्रवण रूप में वे हवन में डाले गये घृत की ओर अग्रसर होते हैं[2]। यद्यपि उनका स्थायी हविष् समिध् एवं घृत है, तथापि कभी-कभी अन्य देवों के साथ उन्हें सोमपान के लिए भी न्यौता गया है[3]। एक सूक्त में उन्हें सोम-गोपा की संज्ञा भी दी गई है[4]। यज्ञ मे उन्हें निमन्त्रित किया गया है[5] और अनेक बार वर्णन आता है कि वे यज्ञ में बर्हि पर अन्य देवों के साथ आकर विराजते हैं[6]।

अग्नि के प्रकाश का प्ररोचक वर्णन किया गया है। वे भास्वर हैं[7], भास्वर ज्वालाओं वाले हैं[8], शोचिष्केश अर्थात् चमकीली ज्वालाओं वाले हैं[9] और उनका वर्ण भास्वर है[10]। वे हिरण्यरूप है[11] और सूर्य की भांति भासित होते हैं[12]। उनकी प्रभा उषा, सूर्य और मेघ-विद्युत् जैसी है[13]। वे रात्रि मे भी चमचमाते हैं[14]। सूर्य की भांति अपनी किरणों से वे अन्धकार को ध्वस्त करते हैं। वे अन्धकार-

1. इमं नो यज्ञममृतेषु धेहि मा हव्या जातवेदो जुषस्व। स्तोकानामग्ने मेदसो घृतस्य होतः प्राशान प्रथमो निषद्य॥ ऋ० 3.21.1–4.
स्तोकानामग्ने मेदसो घृतस्य होतः प्राशान प्रथमो निपद्य॥ ऋ० 1.127.1.
2. घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः। ऋ० 1.14.10.
3. विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना। पिबा मित्रस्य धामभिः॥ ऋ० 1.19.9.
अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु। मरुद्भिरग्न आगहि॥ ऋ० 1.21.1.
इहेन्द्राग्नी उपह्वये तयोरित् स्तोममुश्मसि। ता सोमं सोमपातमा॥ ऋ० 2.36.4.
प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात् तव भागस्य तृप्णुहि। ऋ० 10.45.5.
4. मनीषीणां प्रार्पणः सोमगोपाः। ऋ० 10.45.5.
5. आनो यज्ञं रोहिदश्वोपयाहि॥ ऋ० 10.98.9.
6. विद्वाँ आ वक्षि विदुषो नि षत्सि मध्य आबर्हिरूतये यजत्र। ऋ० 3 14.2.
इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन्नि होता यजथाय सुक्रतुः। ऋ० 5.11.2.
यस्य देवैरासदो बर्हिरग्ने। ऋ० 7.11.2.
7. श्रुया अग्निश्चित्रभानुर्हवं मे। ऋ० 2.10 2.
8. चित्राभिस्तमूतिभिश्चित्र शोचिः। ऋ० 6.10.3.
9. अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः। ऋ० 7.15.10.
10. वेदिषदे प्रियधामाय सुद्युते। ऋ० 1.140.1.
हिरण्यदन्तं शुचिवर्णमारात्। ऋ० 5.2 3
11. अग्निं पुरा तनयित्नो रचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम्। ऋ० 4.3.1.
12. सूरो न रुरुक्वाञ्छतात्मा। ऋ० 1.149 3.
13. आ ते चिकित्र उषसामिवेतयोऽरेपसः सूर्यस्येव रश्मयः। ऋ० 10.91.4.
तव श्रियो वर्ष्यस्येव विद्युतश्चित्राश्चिकित्र उषसां न केतवः। ऋ० 10.91.5.
14. सः स्मा कृणोति केतुमा नक्तं चिद् दूर आ सते। ऋ० 5.7.4.

नाशक है और रात्रि की कालिमा के झरोखे में से देखते है[1]। प्रज्वलित होने पर वे अन्धकार का द्वार खोल देते हैं[2]। जब अग्नि उद्दीप्त होती है तब अन्धकार में परिविष्ट पृथिवी और आकाश स्वच्छ हो जाते है[3]। वे प्रातःकाल के समय समिद्ध किये जाते है और वे ही एकमात्र ऐसे देवता हैं जिनके लिए उपर्बुधः विशेषण का प्रयोग हुआ है (यद्यपि सामूहिक रूप से सभी देवों को कभी-कभी यही विशेषण मिल गया है)।

अग्नि का पथ, पद्धति और बन्धुर सब कृष्णवर्ण हैं[4]। उनके रघुद्रु अर्थात् तेज भागनेवाले घोड़े काले खूड़ (=सीता) बनाते चलते है[5]। वायु के झोके खाकर वे जंगलों में फांदते हुए आगे बढ़ते है[6]। वे जंगलों पर आक्रमण करते और पृथिवी के बालों (वनस्पतियों) को जला डालते हैं[7]; वे वप्ता अर्थात् नापित की भांति बालों को काट डालते है[8]।

उनकी लपटों मे समुद्र-वीचियों की गर्जन-तर्जन है[9]। उनकी ध्वनि वायु अथवा स्तनयित्नु जैसी है[10]। वे कड़कने वाली द्यौस्, पर्जन्य अथवा सिंह-का-सा शब्द करते हैं[11]। जब वे वन-वनान्तरों पर धावा बोलते है तब वे वृषभ की भांति

1. विशां गोपा अस्य चरन्ति जन्तवो द्विपच्च यदुत चतुष्पदक्तुभिः। ऋ० 1.94.5.
होता मन्द्रो विशां दमूनास्तिरस्तमो ददृशे राम्याणाम्। ऋ० 7.9.2.
2. पृथुपाजा देवयद्भिः समिद्धोऽप द्वारा तमसो वह्निरावः। ऋ० 3 5.1.
3. गीर्णं भुवनं तमसापगूळ्हमाविः स्वरभवज्जाते अग्नौ। ऋ० 10.88.2.
4. तस्य पत्मन् दक्षुषः कृष्णजंहसः शुचिजन्मनो रज आ व्यध्वनः। ऋ० 1.141.7.
कृष्णाध्वा तपू रण्वश्चिकेत। ऋ० 2.4.6.
कृष्णव्यथिरस्वदयन्न भूम। ऋ० 2.4 7.
वृश्चद्वनं कृष्णयामं रुशन्तम्। ऋ० 6.6 1.
कृष्णपविरोषधीभिर्ववक्षे। ऋ० 7.8.2
5. रघुद्रुवः कृष्णसीतास ऊ जुवः। ऋ० 1.140.4.
6. वि वातजूतो अतसेषु तिष्ठते वृथा जुहूभिः सृण्या तुविष्वणिः। ऋ० 1 58.4.
7. यद् वातजूतो वना व्यस्थादग्निर्ह दाति रोमा पृथिव्याः। ऋ० 1.65.8.
8. यदा ते वातो अनुवाति शोचिर्वप्तेव श्मश्रु वपसि प्र भूम। ऋ० 10.142.4.
9. सिन्धोरिव प्रस्वनितास ऊर्मयोऽग्नेर्भ्राजन्ते अर्चयः। ऋ० 1.44.12.
10. उतो ते तन्यतुर्यथा स्वानो अर्त रमना दिवः। ऋ० 5.25 8.
दिवो न ते तन्यतुरेति शुष्मश्चित्रो न सूरः प्रति चक्षि भानुम्। ऋ० 7.3.6.
11. अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः। ऋ० 10.45.4.
हुवे वातस्वनं कविं पर्जन्यक्रन्द्यं सहः। ऋ० 8 102.5.
वृषा चित्रेषु नानदन्न सिंहः। ऋ० 3.2.11.

धड़कते हैं और जब उनकी वनस्पतियो को चाटनेवाली चिनगारिया उछलती हैं तब पशु-पक्षी कादिशीक हो उठते हैं[1] । उनकी गति उसी प्रकार अबाध है, जैसे गरुत् का ध्वान अथवा फेंकी गई शक्ति या आसमानी बिजली[2] ।

अग्नि की लपटें ऊपर को लपकती हैं[3] । वायु का झोका खाकर उनकी ज्वालाए गगन को चूमने लगती है[4] । उनका धुआ नाचता और अठखेलिया करता है, उनकी लपटे पकड से बाहर है[5] । उनका घुघराला लोहित धूम्र स्वर्ग की ओर उठना[6] और आकाश मे फैल जाता है[7] । अपनी शिखाओ से वे द्युलोक के शृङ्ग को छू लेते और सूर्य किरणो मे जा मिलते है[8] । अपनी जिह्वाओ से वे द्युलोक को परिवेष्टित कर लेते है[9] और द्युलोक के अर्णव को एव सूर्य के ऊपर-नीचे स्थित भासमान लोक के सलिलो मे पैठ जाते हैं[10] । दिवोदास के अग्निदेव पृथिवीमाता से लेकर देवताओ तक फैल गये थे और वे आकाश-शृङ्ग पर विराजित हो गये थे[11] । धूमकेतु विशेषण केवल अग्नि के लिए और वह भी बार-बार प्रयुक्त हुआ है ।

अग्निदेव अपने विद्युत्-रथ पर दमकते हैं[12], ऐसे रथ पर जोकि द्युतिमान्[13], प्रकाशवान्[14], भास्वर, चमकीला, स्वर्णिम और मञ्जुल है । इसे दो या इससे अधिक घोडे खीचते है । ये घोडे घृत पृष्ठ, रोहित-अरुष, भूरे और हरित, मनोज्ञ,

---

1. वातजूता वृषभस्येव ते रवं । ऋ० 1 94 10
अध स्वनादुत बिभ्यु पतत्रिणो द्रप्सा यत् ते यवसादो व्यस्थिरन् । ऋ० 1 94 11
2 न यो वराय मरुतामिव स्वन सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनि । ऋ० 1 143 5
3 वनस्पतावीड्यमूर्ध्वशोचिषम् । ऋ० 6 15 2
4 हरयो धूमकेतवो वातजूता उपद्यवि । यतन्ते वृथगग्नय । ऋ० 8 43 4
5 चरिष्णुधूममगृभीत शोचिषम् । ऋ० 8 23 1
6 अच्छा द्यामरुषो धूम एति । ऋ० 7 3 3
उद् धूमासो अरुषासो दिविस्पृश । ऋ० 7 16 3
7 त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिविषञ्छुक आतत । ऋ० 6 2 6
8. उपस्पृश दिव्य सानु स्तूपै स रश्मिभिस्तत सूर्यस्य । ऋ० 7 2 1
9 परि द्या जिह्वयातनत् । ऋ० 8 72 18
10 या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आप । ऋ० 3 22 3
11 प्र दैवोदासो अग्निर्देवाँ अच्छा न मज्मना ।
अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य सानवि ॥ ऋ० 8 103 2
12 विद्युद्रथ सहसस्पुत्रो अग्नि शोचिष्केश पृथिव्या पाजो अश्रेत् । ऋ० 3 14 1
13 ज्योतीरथ शुक्रवर्णं तमोहनम् । ऋ० 1 140 1
14 उत नै सुद्योत्मा जीराश्वो होता मन्द्र शृणवच्चन्द्ररथ । ऋ० 1 141 12

विश्वरूप, चर्षणि, वायु-प्रेरित और मनोजवा हैं[1]। देवताओं को यज्ञों मे लाने के लिए अग्नि अपने अश्वों को जोतते है[2]। क्योकि वे यज्ञ के सारथि है[3]। घोडो से सजे रथ पर बैठकर वे देवों को लाते हैं[4]। वे उसी रथ पर बैठकर आते है जिस पर कि अन्य देवगण आते हैं[5], यदा-कदा वे उन देवताओं से आगे आते हैं[6]। वे वरुण को यज्ञ मे, इन्द्र को आकाश से एव मरुतो को वायु-लोक से लाते हैं[7]।

वैदिक ऋषियो के अनुसार अग्नि के पिता द्यौस् है, अग्नि को उन्होने ही जन्म दिया है[8]। वे द्यौस् के शिशु हैं[9] और असुर के उदर से उत्पन्न हुए। अनेक बार उन्हे द्यौस् और पृथिवी का पुत्र भी बताया गया है[10]। उन्हे त्वष्टा और आप का, द्यावापृथिवी का अथवा केवल त्वष्टा या आप. का पुत्र भी कहा गया है[11]। प्रासङ्गिक रूप से यह भी आया है कि अग्नि को उषाओ ने तथा सूर्य और यज्ञ ने उत्पन्न किया है[12], अथवा इन्द्र ने दो पाषाणो के मध्य अग्नि

1 घृतपृष्ठा मनोयुजो ये त्वा वहन्ति वह्नय । आ देवान्सोमपीतये । ऋ० 1 14 6
2 युक्ष्वा ह्यरुषीरथे हरितो देव रोहित । ताभिर्देवाँ इहा वह । ऋ० 1 14 12
ऋतस्य वा केशिना योग्याभिर्घृतस्नुवा रोहिता धुरि धिष्व ।
अथा वह देवान् देव विश्वान् त्स्वध्वरा कृणुहि जातवेद । ऋ० 3 6 6
युक्ष्वा हि देवहूतमाँ अश्वाँ अग्ने रथीरिव। नि होता पूर्व्य सद । ऋ० 8 75 1.
3 वि मृळीकाय ते मनो रथीरश्व न संदितम् ।
गीर्भिर्वरुण सीमहि ॥ ऋ० 1 25 3
4 एभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथ वा विभवो ह्यश्वा ।
पत्नीवतस्त्रिंशत त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ॥ ऋ० 3 6 9
5. आ याह्यग्ने समिधानो अर्वाङिन्द्रेण देवै सरथ तुरेभि । ऋ० 3 4 11
6 ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवतम सुपूदत् । ऋ० 10 70 2
7 आग्ने वह वरुणमिष्टये न इन्द्र दिवो मरुतो अन्तरिक्षात् । ऋ० 10 70 11
8 यदेन द्यौर्जनयत् सुरेता । ऋ० 10 45 8
9 अरुष न दिव शिशुम् । ऋ० 4 15 6
दिव शिशु सहस सूनुमग्निम् । ऋ० 6 49 2
10 स रोचयज्जनुषा रोदसीउभे । ऋ० 3 2 2
अग्ने दिव सूनुरसि प्रचेतास्तना पृथिव्या उतविश्ववेदा । ऋ० 3 25 1
11. य त्वा द्यावापृथिवी य त्वापस्त्वष्टा य त्वा सुजनिमा जजान । ऋ० 10 2 7
दशेम त्वष्टुर्जनयन्तगर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृत्रम् । ऋ० 1 95 2
तमापो अग्नि जनयन्त मातर । ऋ० 10 91 6
12 एता उ त्या प्रत्यदृश्रन् पुरस्ता ज्ज्योतिर्यच्छन्तीरुषसो विभाती ।
अजीजनन् त्सूर्य यज्ञमग्निमपाचीन तमो अगादजुष्टम् ॥ ऋ० 7 78

को जन्म दिया है[1]। अग्नि को इडा का पुत्र[2] और ऋत का गर्भ भी कहा गया है[3]। कही-कही आता है कि देवताओ ने ही अग्नि को उत्पन्न किया है[4]—आर्यो के लिए प्रकाश के रूप मे[5], मानव के जीवन (प्राणन) के लिए[6], अथवा उन्होने अग्नि को मनुष्यो के मध्य स्थापित किया है[7]। साथ ही अग्निदेव देवताओ के पिता भी हैं[8]। दृष्टिकोण की विभिन्नता से ही इस प्रकार का विरोधाभास उत्पन्न हुआ है।

अग्नि सबन्धी विग्रहवत्ता की कल्पना अपेक्षाकृत कम विकसित हो पाई है फलत अग्नि की गाथाओ मे उनके कार्य के विषय मे कम चर्चा हुई है, क्योकि यज्ञिय कार्य-कलाप के अलावा उनके विभिन्न जन्मो, रूपो और आवासो ही का वर्णन किया जाना सभव था।

अग्नि के जन्म-सबन्धी विभिन्न वर्णनो का उनके विभिन्न जन्म-स्थानो के साथ सबन्ध है। अरणियो के सघर्ष से हुए उनके पार्थिव जन्म की चर्चा बार-बार आई है[9]। इस नाते अरणिया भी अग्नि के माता-पिता है। इनमे ऊर्ध्वारणि पुरुष है और अधोऽरणि स्त्री है[10]। ये अरणिया माताए भी हैं, क्योकि कहा गया है कि अग्नि की दो माताए है[11]। ऊर्ध्व और अधो—अरणिया इस नवोदित शिशु को उत्पन्न करती है, जो कि दुर्ग्राह्य है[12]। सूखे काष्ठो मे से जीवन्त अग्नि उदित होते हैं[13]। इस देव की महिमा निराली है, ज्योही शिशु के रूप मे यह

1 यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान। ऋ० 2 12 3
2 इळायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट। ऋ० 3 29 3
3 यमापो अद्रयो वना गर्भमृतस्य पिप्रति। ऋ० 6 48 5
4 कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवा। ऋ० 6 7 1
5 तं त्वा देवासोऽजनयन्त देव वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय। ऋ० 1 59 2
6. देवास्ततक्षुर्मनवे यजत्रम्। ऋ० 10 46 9
7 य त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठ हव्यवाहन। ऋ० 1 36 10
8. भुवो देवानां पिता पुत्र सन्। ऋ० 1 69 1
9 अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु। ऋ० 3 29 2
अमन्थिष्टा भारतारेवदग्निं देवश्रवा देववात सुदक्षम्। ऋ० 3 23 2
अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम्। ऋ० 7 1 1
10 उत्तानायामव भरा चिकित्वान् त्सद्य प्रवीता वृषण जजान। ऋ० 3 29 3
11 द्विमाता शयु कतिधा चिदायवे। ऋ० 1 31.2
12 उत स्म य शिशु यथा नवं जनिष्टारणी।
धर्तारं मानुषीणा विशामग्निं स्वध्वरम्॥ ऋ० 5 9 3
उतस्मं दुर्गृभीयसे पुत्रो न ह्वार्याणाम्। ऋ० 5 9.4
13 आदित् ते विश्वे क्रतु जुषन्त शुष्काद् यद् देव जीवो जनिष्ठा। ऋ० 1 68.2

उत्पन्न होता है त्योंही यह अपने माता-पिता का भक्षण कर डालता है[1]। यह बात अरणियों को लक्ष्य करके कही गई प्रतीत होती है। साथ ही मनुष्य अग्नि को उत्पन्न करते हैं[2]; दस युवतियां अग्नि को जन्म देती हैं[3] दश अंगुलियां हैं, जो ऊर्ध्वारणि को मथती है।

अग्नि को उत्पन्न करने के लिए अपेक्षित दबाव वाला घर्षण ही संभवतः अग्नि के 'सहसः सानु', 'सहसः पुत्र' और एक बार 'सहसः युवन्' इन नामों का आधार बना है। इस सभावना की ऋग्वेद के इस कथन से पुष्टि होती है कि मनुष्यों के द्वारा शक्ति के साथ मथने पर अग्निदेव पृथिवी के सानु पर उत्पन्न होते हैं[4]। एक परवर्ती ग्रन्थ के अनुसार यह घर्षण सूर्योदय के पूर्व नहीं करना चाहिए[5]। यज्ञार्थ प्रति दिन प्रातःकाल के समय उत्पन्न किये जाने के कारण अग्नि को 'यविष्ठ' या 'यविष्ठ्य' यह विशेषण भी मिले हैं। पूर्व्य अर्थात् पुराण अग्नि के नव-नव जन्म होते हैं[6]। वृद्ध हो जाने पर भी अग्निदेव युवक के रूप में उत्पन्न होते हैं[7]। एक दृष्टि से तो अग्निदेव कभी वृद्ध होते ही नहीं[8] क्योंकि उनका नव-नव प्रकाश उनके विगत प्रकाश से भिन्न कहां है[9]? कतिपय अन्य देवों की भांति अग्नि को भी 'युवक' कहा गया है। साथ ही वे वृद्ध भी हैं। सच पूछिए तो अग्नि से पूर्व अर्थात् पुराना याज्ञिक कोई भी नहीं है[10]; क्योंकि प्रथम यज्ञ का सम्पादन तो उन्होंने ही किया था[11]। वे पूर्वतर उषाओं के पश्चात् प्रकाशित

1. जायमानो मातरा गर्भो अत्ति। ऋ० 10.79.4.
2. यमृत्विजो वृजने मानुषासः प्रयस्वन्त आयवो जीजनन्त। ऋ० 1.60.3.
अमर्त्यं यजत मर्त्येष्वा देवमादेवं जनत प्रचेतसम्। ऋ० 4.1.1.
दे० 7 1 1. पृ० 233.
3. दे० 1.95.2. पृ० 232.
4. यमापो अद्रयो वना गर्भमृतस्य पिप्रति।
सहसा यो मथितो जायते नृभिः पृथिव्या अधि सानवि॥ ऋ० 6 48.5.
5. न पुरा सूर्यस्योदेतोर्मन्थितवा असुर्यो विदेवा आधीयत उद्यत्सु रश्मिषु मन्थ्यः।
मै० सं० 1.6.10.
6. एता ते अग्ने जनिमा सनानि प्र पूर्व्याय नूतनानि वोचम्। ऋ० 3.1.20.
7. स चित्रेण चिकिते रंसु भासा जुजुर्वाँ यो मुहुरा युवा भूत्। ऋ० 2.4.5.
8. स नं ऊर्जामुपाभृत्यया कृपा न जूर्यति। ऋ० 1.128.2.
9. स प्रत्नवन्नवीयसाऽग्ने द्युम्नेन संयता। बृहत् ततन्थ भानुना। ऋ० 6.16.21.
10. न त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान् न काव्यैः परो अस्ति स्वधावः।
विशश्च यस्या अतिथिर्भवासि स यज्ञेन वनवद् देव मर्तान्॥ ऋ० 5.3.5.
11. अषाळ्हो अग्ने वृषभो दिदीहि पुरो विश्वाः सौभगा संजिगीवान्।

हुए हैं[1]। पितरो के यज्ञ मे अग्नि द्वारा किये कार्यो का बार-बार निर्देश आता है[2]। फलत एक ही मन्त्र मे उनके लिए 'वृद्ध' और 'युवक' इस प्रकार के परस्पर-विरोधी शब्द प्रयुक्त होते देखे जाते है[3]।

अपेक्षाकृत बहुसख्या मे अग्नि का जन्म काष्ठ मे होता बताया गया है[4]। वीरुधो के भीतर गर्भ रूप मे भी उनका वर्णन हुआ है[5]। वे सभी ओषधियो मे प्रविष्ट हैं[6]। जब अग्नि को वृक्ष-गर्भ[7] अथवा वृक्ष-वनस्पति-गर्भ[8] बताया गया है तब उसके पीछे दावाग्नि का भाव छिपा रहता है।

अग्नि के पार्थिव रूप को महत्ता देने के लिए उन्हे 'पृथिवी की नाभि' बताया गया है[9]। जिन अनेक मन्त्रो मे यह उक्ति आती है वहा इससे वेदि मध्य स्थित अग्नि का बोध होना अभीष्ट है। वैदिक कर्मकाड मे नाभि एक पारिभाषिक शब्द है, जो उत्तरा वेदि के अवकाश का बोधक है, जिसमे अग्न्याधान किया जाता है। इस शब्द का प्राथमिक प्रयोग सभवत निम्न वाक्य मे निर्दिष्ट केन्द्र-बिन्दु का सूचक रहा हो—'देवताओ ने अग्नि को अमृतत्व की नाभि अथवा केन्द्र बनाया'[10]। वेदिपद् विशेषण का दो बार प्रयोग अग्नि के लिए हुआ है।

अन्तरिक्षस्थ सलिल मे अग्नि की उत्पत्ति के निर्देश भी मिलते हैं। यहा तक

यज्ञस्य नेता प्रथमस्य पायोर्जातवेदो बृहत सुप्रणीते ॥ ऋ० 3 15 4.

1. अग्ने पूर्वा अनूषसो विभावसो दीदेथ विश्वदर्शत ।
असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुष ॥ ऋ० 1 44 10

2 उत त्वा भृगुवच्छुचे मनुष्वदग्न आहुत । अङ्गिरस्वद्धवामहे । ऋ० 8 43 13

3 धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्न इयक्षवे पूरवे प्रत्न राजन् । ऋ० 10 4 1
य त्वा जनासो अभि सचरन्ति गाव उष्णमिव व्रज यविष्ठ । ऋ० 10 4 2

4 कुत्राचिद्यण्वो वसतिर्वनेजा । ऋ० 6 3 3
विपृचो अश्वान् युयुजे वनेजा । ऋ० 10 79 7

5. त्व गर्भो वीरुधा जज्ञिषे शुचि । ऋ० 2 1 14
अपा गर्भं दर्शतमोषधीना वना जजान सुभगा विरूपम् । ऋ० 3 1 13
स जातो गर्भो असि रोदस्यो रग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु ।
चित्र शिशु परि तमास्यक्तून प्र मातृभ्यो अधि कनिक्रदद्गा ॥ ऋ० 10 1 2

6 अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे । ऋ० 8 43 9

7 गर्भो यो अपा गर्भो वनाना गर्भश्च स्थाता गर्भश्चरथाम् । ऋ० 1.70 3.

8 त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि ।
त्व वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्व नृणा नृपते जायसे शुचि ॥ ऋ० 2 1 1.

9 मूर्धा दिवो नाभिरग्नि पृथिव्या अथाभवदरती रोदस्यो । ऋ० 1 59 2

10 त्वा दूतमरतिं हव्यवाह देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम् । ऋ० 3 17 4

कि अपां नपात् एक पृथक् देवता ही बन गये है । अग्नि जलों के गर्भ है[1]; वे जलों में समिद्ध होते है[2] । वे एक वृषभ हैं जो जलों के उपस्थ में बढ़ते है[3] । वे धनु पर (बादल का द्वीप) से अवतीर्ण हुए है[4] । वे शुक्र अवकाश पर विचरनेवाले भासमान स्तनयित्नु है[5] । इस प्रकार के निर्देशों में अग्नि के वैद्युत रूप का बोध युक्तियुक्त प्रतीत होता है । ऋग्वेद के कतिपय परवर्ती सूक्तों मे कहानी आती है कि अग्नि जलों और वनस्पतियों में प्रच्छन्न हो गये थे और देवों ने उन्हें वहां से खोज निकाला था । यह कहानी ब्राह्मणों में भी बार-बार अधिक प्ररोचक रूप में आती है । अथर्ववेद में सलिलस्थ अग्नि को उन अग्नियों से विविक्त किया गया है जो विद्युत् के पथ पर चलते है; अथवा विद्युद्-युक्त दिव्य अग्नि है[6] । साथ ही यह भी कहा गया है कि वे पृथिवीस्थानीय हैं[7] । ऋग्वेद के एक मन्त्र में आया है कि अग्नि सभी सिन्धुओं में निवास करते है[8] और उत्तरकालीन कर्मकांड-ग्रन्थों में सलिलस्थ अग्नि का ह्रद या सोम-पात्र के संबन्ध में आह्वान किया गया है । इस प्रकार ऋग्वेद के प्राचीनतम भाग में भी वे सलिल, जिनमें कि अग्निदेव श्रित हैं, अनेक मन्त्रों में पार्थिव माने गये है । ओल्डनबेर्ग के अनुसार ऐसे प्रकरणों में तात्पर्य पार्थिव अग्नि से है और उन्हें इस बात के विषय में शंका है कि तृतीय मंडल के प्रथम सूक्त में तात्पर्य विद्युत् से है अथवा किसी और से । कुछ भी हो, वेदों मे सर्वत्र सलिलस्थ अग्नि का ही विचार प्रधान है। जैसे द्युलोक सूर्य का आवास

---

1. उदुस्रिया जनिता यो जजानाऽपां गर्भो नृतमो यह्वो अग्निः । ऋ० 3.1.12.
दे० 3.1.13. पृ० 235.
2. तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः । ऋ० 10.45.1.
सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्वन्यः समिध्यते ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ अथ० 13 1.50.
3. प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्ताँ उपमाँ उदानळपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ ऋ० 10 8.1.
4. धनोरधि प्रवत आ स ऋण्वत्यभिव्रजद्भिर्वयुना नवाधित । ऋ० 1.144.5.
कूचिज्जायते सनयासु नव्यो वने तस्थौ पलितो धूमकेतुः । ऋ० 10.4.5.
5. स श्वितानस्तन्यतू रोचनस्था अजरेभिर्नानदद्भिर्यविष्ठः । ऋ० 6.6.2.
6. ये अग्नयो अप्स्वन्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु । अथ० 3.21.1.
दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति । अथ० 3.21.7.
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग्विद्युता सह । अथ० 8.1.11.
7. यापसर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः । अथ० 12.1.37.
8. यो अग्निः सप्तमानुषः श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु ।
तमागन्म त्रिपस्त्यं मन्धातुर्दस्युहन्तमम् । ऋ० 8.30.8.

है वैसे ही सलिल अग्नि का घर है[1]। अग्नि के आवास रूप में वनस्पति या अतस के साथ-साथ सलिलो का भी उल्लेख प्रायः मिलता है[2]।

अग्नि का मूल स्वर्ग मे है—इस तथ्य का अपेक्षाकृत अधिक बार उल्लेख आता है। अग्नि, 'परमे व्योमन्' मे उत्पन्न हुए है[3]। वे बीज रूप से सर्वोच्च स्वर्ग मे निवास करते थे[4]। मातरिश्वा उन्हे स्वर्ग से, सुदूर कही परावत् से लाये थे। इस प्रकार के मन्त्रो मे अग्नि नि.सदेह विद्युत् का प्रतिरूप है, क्योकि विद्युत् को स्वर्ग तथा सलिल दोनो लोको से आता हुआ माना गया है[5]। एक ब्राह्मण मे इस अग्नि को दिव्य और अप्सुमत् ये दोनो विशेषण दिये गये है। जब विद्युत् का उल्लेख अग्नि के साथ-साथ अपने वैयक्तिक नाम 'विद्युत्' के द्वारा किया गया है (यह नाम ऋग्वेद मे मुश्किल से 30 बार आता है) तब इसकी अग्नि के साथ तुलना की जाती है और उससे इसका भेद किया जाता है। यह भेद नि.सदेह स्थूल दृश्यो की दृष्टि से किया जाता है, जोकि देव-दृष्टि के विपरीत है। द्युलोक से पृथिवी-लोक पर अवतीर्ण होने की अग्नि-विषयक गाथा मे भी दिव्य अग्नि और वैद्युत अग्नि की तद्रूपता का भाव अन्तर्निहित है[6]।

कुछ मन्त्रो मे अग्नि का तादूप्य सूर्य के साथ दिखाया गया है, क्योकि सूर्य को भी अग्नि का एकरूप मानना वैदिक कवियो का अपना प्रिय विश्वास है। इस दृष्टि से अग्नि भास्वर आकाश मे स्वर् अर्थात् प्रकाश का नेत्र है, जो उप.काल मे जागृत होता है और जो स्वर्ग का मूर्धा है[7]। वे रजस् के पार कही दूर उत्पन्न हुए थे और उन्होने जन्मते ही अशेप भुवनो को देख लिया था[8]। अग्नि रात्रि के समय पृथिवी

---

1. हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्व१ग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ। ऋ० 5 85.2.
दे० अथ० 13 1.50. पृ० 236.
सहस्रार्घः शतकाण्डः पयस्वानपामग्निर्वीरुधां राजसूयम्। अथ० 19 33 1.
2. दे० 2.1.1. पृ० 235.
3. स जायमान. परमे व्योमन्याविरग्निरभवन्मातरिश्वने। ऋ० 1.143.2.
स जायमान. परमे व्योमनि व्रतान्यग्निर्व्रतपा अरक्षत।
व्य१न्तरिक्षममिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो महिना नाकमस्पृशत्॥ ऋ० 6.8.2.
4 असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।
अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः॥ ऋ० 10 5.7.
5. दे० अथ० 3 21 1. तथा 7 एवं 8.1.11 पृ० 236.
6 प्रियो दिवा मतिथिर्मानुपीणाम्। ऋ० 5 1.9.
7. शुचिं न यामन्निषिरं स्वर्दृशं केतुं दिवो रोचनस्थामुपर्बुधम्।
अग्निं मूर्धानं दिवो अप्रतिष्कुतं तमीमहे नमसा वाजिनं बृहत्॥ ऋ० 3.2.14.
8. यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। ऋ० 10 187.4

के मूर्धा होते है और प्रात काल के समय उद्यन्त् सूर्य बन जाते है[1]। ऐतरेय ब्राह्मण[2] का कहना है कि अस्त होता हुआ सूर्य अग्नि मे समा जाता है और उन्ही मे से वह फिर आविर्भूत होता है। जिस मन्त्र मे कहा गया है कि अग्नि सूर्य या उसकी किरणो से सपृक्त होते है, वहा भी सभवत इसी प्रकार का ताद्रूप्य अभिप्रेत है[3], और जब मनुष्यो ने पृथिवी पर अग्नि को प्रज्वलित किया[4] तभी देवो ने उसे स्वर्ग में प्रदीप्त किया, तभी से यह स्वर्ग मे चमकती है[5]। फिर भी कभी-कभी यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि अग्नि से विद्युत् अभिप्रेत है अथवा सूर्य। अग्नि के सौर-पक्ष का उल्लेख बहुत बार नही आया है, और कारण इसका यह है कि सूर्य स्वत. एक दृश्य व्यक्ति है, फलत ऐसे प्रभूत व्यक्ति को अग्नि का एक रूप-मात्र मान लेना कठिन है। साधारणतया अग्नि से उसका पार्थिव रूप ही अभिप्रेत होता है, क्योकि उसकी सूर्य के साथ तुलना की गई है, न कि तद्रूपता। उदाहरण के लिए कवि कहता है कि देवयु याज्ञिको का मन अग्नि की ओर वैसे ही प्रवृत्त रहता है जैसे प्राणिजात की चक्षु सूर्य की ओर प्रवृत्त रहती है[6]। इसके साथ ही, अग्नि के अन्य पहलुओ पर भी, वैदिक कवि दृष्टिपात करता है, जिससे अनेक स्थलो पर यह सदेह हो जाता है कि वहा अग्नि से तात्पर्य उसके कौन से रूप से है।

अग्नि के विविध-जन्मा होने के कारण उन्हे त्रिविध स्वरूप का माना गया है और ये तीनो स्वरूप प्रसक्त मन्त्रो मे सख्यावाचक 'त्रि' शब्द के रूप द्वारा निर्दिष्ट हुए है। भारत की यह सबसे अधिक प्राचीन देवत्रयी भावना महत्वपूर्ण है, क्योकि वैदिक युग का रहस्यमय दर्शन बहुत-कुछ इसी पर आधृत रहा है। अग्नि के जन्म तीन या त्रिविध है[7]। देवो ने उन्हे त्रिविध बनाया[8]। वे नि प्रकाश

यो अस्य पारे रजस शुक्रो अग्निरजायत। ऋ० 10 187 5

1 मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्तत सूर्यो जायते प्रातरुद्यन्। ऋ० 10 88 6

2. आदित्यो वा अस्त यन्नग्निमनुप्रविशति। ऐ० ब्रा० 8 28 9

3 स भानुना यतते सूर्यस्याऽऽजुह्वानो घृतपृष्ठ स्वञ्चा। ऋ० 5 37 1

उप स्पृश दिव्यं सानु स्तूपै स रश्मिभिस्ततन सूर्यस्य। ऋ० 7 2 1

4 सजोषस्त्वा दिवो नरो यज्ञस्य केतुमिन्धते। यद्धस्य मानुषो जन सुम्नायुर्जुह्वे अध्वरे॥ ऋ० 6 2 3

5 ऊर्जो नपातमध्वरे दीदिवासमुप द्यवि। अग्निमीळे कविक्रतुम्॥ ऋ० 3 27 12

अग्ने दीदयसि द्यवि। ऋ० 8 44 29

6 अग्निमच्छा देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये स चरन्ति। ऋ० 5 1.4

7. त्रीणि जाना परि भूषन्त्यस्य समुद्र एकं दिव्येकमप्सु। ऋ० 1.95 3

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्ने। ऋ० 4 1 7.

8. स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसिप्राम्।

हैं[1], उनके तीन सिर[2], तीन जिह्वाए, तीन शरीर और तीन सधस्थ हैं[3]। त्रिषधस्थ विशेषण प्रधानतया अग्नि के लिए ही आता है और त्रिपस्त्य शब्द अपने एकमात्र प्रयोग मे अग्नि का विशेषण बना है[4]। इस त्रयी का हमेशा एक ही ढग या क्रम से उल्लेख नही हुआ है। उदाहरण के लिए एक कवि कहता है "पहले-पहल अग्नि स्वर्ग से उत्पन्न हुआ, द्वितीय वार हम लोगो से और तृतीय वार सलिलो मे से[5]। कुछ मन्त्रों मे अग्नि के आवास का क्रम स्वर्ग, पृथिवी, जल, इस प्रकार आता है[6]। किन्तु एक मन्त्र मे यह क्रम इस रूप मे वदल गया है. समुद्र, स्वर्ग, सलिल[7]। कभी-कभी पार्थिव अग्नि सर्वप्रथम आता है : "वह पहले-पहल घरो मे उत्पन्न हुआ, महान् स्वर्ग के बुध्न पर, इस अन्तरिक्ष की योनि मे"[8] "अमरो ने अग्नि की तीन ज्वालाओ को प्रज्वलित किया, इनमे से एक को उन्होने मनुष्यो के उपयोग के लिए रखा और उसकी दो ज्वालाए वहन-लोको को चली गई[9]। एक सूत्र-ग्रन्थ मे अग्नि के तीन विभाग इस प्रकार आते हैं : पार्थिव अग्नि पशुओ मे, अन्तरिक्षस्थ अग्नि सलिलो मे और दिव्य अग्नि सूर्य मे। कभी-कभी पृथिवीस्थ अग्नि का स्थान तृतीय आता है। वे तीन भ्राताओ मे से एक है, जिनका मध्यम भाई विद्युत् है और तृतीय भ्राता घृतपृष्ठ है[10]। 'अग्नि आकाश से प्रकाशित होते है, यह विशाल अन्तरिक्ष अग्निदेव

तमूं अकृण्वन् त्रेधा भुवे क स ओषधीः पचति विश्वरूपाः ॥ ऋ० 10 88.10

1. अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन् ।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥ ऋ० 3 26 7
2. त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिं गृणीषेऽनूनमग्निं पित्रोरुपस्थे । ऋ० 1 146 1.
3. अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था तिस्रस्ते जिह्वा ऋतजात पूर्वीः ।
तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्नः पाहि गिरो अप्रयुच्छन् ॥ ऋ० 3 20 2
4. यो अग्निः सप्तमानुषः श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु ।
तमागन्म त्रिपस्त्यं मन्धातुर्दस्युहन्तममग्निं यज्ञेषु पूर्व्यं नभन्तामन्यके समे ॥
ऋ० 8 39 8

5. दे० 10 45 1 पृ० 170.
दे० 10 45 2 तथा 3 पृ० 171.
6. अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अयम्। अपां रेतांसि जिन्वति ॥ ऋ० 8 44.16
दे० 10 2 7. पृ० 215. दे० 10 46 9. पृ० 172.
7. दे० 1.95 3. पृ० 238.
8 स जायत प्रथमः पस्त्यासु महो बुध्ने रजसो अस्य योनौ । ऋ० 4 1 11
9. तामग्निमेकाममदधुर्मर्त्ये भुजंयु लोकमु द्वे उप जामिमीयतुः । ऋ० 3.2 9
10. अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ ऋ० 1.164 1

के अधीन है, मनु वर्ग अग्नि को समिद्ध करते हैं, यह अग्नि हव्यवाट् है और घृत का प्रेमी है[1]।

अग्नि के तृतीय रूप को एक बार सर्वोच्च कहा गया है[2]। यास्क[3] कहते है कि उनके पूर्ववर्ती विद्वान् शाकपूणी ऋग्वेद (10 88 10) मे अग्नि के तीन विभागो को पृथिवी, वायु और स्वर्गस्थानीय मानते हैं। एक ब्राह्मण अग्नि की तृतीय अभिव्यक्ति को, जोकि स्वर्ग मे हुई है, सूर्य से अभिन्न मानता है।[4] ऋग्वेद मे इतनी स्पष्टता के साथ अभिज्ञात अग्नि का यह त्रि-विभाग न केवल उत्तरकालीन सूर्य-वायु-अग्नि की देवत्रयी का[5] अपितु दूसरे मन्त्रो[6] मे भी सूर्य-इन्द्र-अग्नि इस देवत्रयी का भी आधार बना है। इस त्रयी मे वात या वायु और इन्द्र ने वैद्युत अग्नि का स्थान ग्रहण कर लिया है जैसाकि ब्राह्मण और भाष्यकार इस प्रसग मे कहते आये है। वायु और इन्द्र के विद्युत् का स्थान ले लेने का अशत एक कारण यह भी हो सकता है कि विद्युत् का स्वभाव क्षणिक है, और अशत यह कि अग्नि के अतिरिक्त विद्युत् के विग्रहवत्व के लिए और कोई अभिधान सभव नही है। अग्नि की इस देवत्रयी ने ही यज्ञाग्नि के तीन भागो मे बटने का मार्ग प्रशस्त किया होगा। यज्ञाग्नि के ये तीनो विभाग गृह्य अग्नि से पृथक् है और ब्राह्मणकालीन वैदिक उपासना के सार-अश है। ऐसी अवस्था मे हो सकता है कि कर्मकाड की भी इस गाथा पर प्रतिक्रिया पडी हो। कुछ भी हो, परवर्ती हिन्दू साहित्य ने तीनो अग्नियो को ऋग्वेदीय अग्नि के तीन पक्षो का प्रतिरूप माना है। तीनो यज्ञाग्नियों का मूल ऋग्वेद या सभवत उससे भी प्राचीन काल तक पहुचता दीख पडता है। इस प्रकार अग्नि से प्रार्थना की गई

पृक्षो वपु पितुमान् नित्य आशये द्वितीयमा सप्तशिवासु मातृषु।
तृतीयमस्य वृषभस्य दोहसे दशप्रमतिं जनयन्त योषण ॥ ऋ० 1.141 2

1 अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ अथ० 12 1 20

2 विष्णुरित्था परममस्य विद्वाञ्जातो बृहन्नभि पाति तृतीयम्। ऋ० 10 1 3
पद यद् विष्णोरुपम निधायि तेन पासि गुह्य नाम गोनाम्। ऋ० 5 3 3
अमृतुर्व पदव्यो धियधास्तस्थु पदे परमे चार्वग्ने। ऋ० 1 72 2
विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वानग्निं पदे परमे तस्थिवासम्। ऋ० 1 72 4

3 पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणि। नि० 7 28

4 पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणि। नि० 12 19

5 सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्न पार्थिवेभ्य ॥ ऋ० 10 158 1
पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्स। सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ॥
अथ० 4 39 2

6. अयं केशिनं ऋतुथा वि चक्षते सवत्सरे वपत एक एषाम्। ऋ० 1 164 44

है कि वे देवताओ को लावें और स्वय तीन योनियो मे आ विराजें[1]।

विश्व के दो खडो, अर्थात् पृथिवी और स्वर्ग, मे होनेवाले विभाजन के आधार पर अग्नि को अनेक मन्त्रो मे दो जन्मोवाला भी वताया गया है, और द्विजन्मा यह विशेपण देवो मे केवल अग्नि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है[2]। ऊर्ध्व और अधो जन्मो का उल्लेख मिलता है[3]। अग्नि के 'उपर सानु' और 'पर सानु' पर विराजने की ओर भी निर्देश किया गया है[4] और यह विरोध प्राय पार्थिव और दिव्य अग्नियो के वीच दिखाया गया है[5]। यद्यपि कम-से कम एक मन्त्र मे तो यह विरोध दिव्य और जलस्थ अग्नियो के मध्य भी वताया गया है[6]। अग्नि अपने उच्चतम आवास से न्यौते जाते है[7], और वे वहा से नीचे की ओर आते है। सर्वोच्च पिता के यहा से लाये जाने पर वे ओपधियो मे प्ररूढ होते है[8]। सामान्यतया अग्नि के विपय मे धारणा है कि वे वर्पा मे नीचे उतरते और वनस्पतियो मे प्रविष्ट हो जाते है। इन वनस्पतियो मे से ही वे फिर से आविर्भूत होते है। जल की भाति अग्नि भी पृथिवी पर अवतीर्ण होकर फिर स्वर्ग को सजीव करते है[9]। अग्नि के इन दो भागो मे विभक्त होने के ऊपर ही इस प्रकार की प्रार्थनाए आधृत है अग्नि अपने लिए

---

1 आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन् होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु। ऋ० 2 36 4
यज्ञस्य केतु प्रथम पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समीधिरे। ऋ० 5 11 2
ऊर्ध्वा यत्ते त्रेतिनी भूद् यज्ञस्य धूर्षु सद्मन्। ऋ० 10 105 9.

2 दे० 1 60 1 पृ० 172
अभि द्विजन्मा त्रिवृदन्नमृज्यते सवत्सरे वावृधे जग्धमी पुन। ऋ० 1 140 2
अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो अस्थात्।
होता यजिष्ठो अपा सधस्थे॥ ऋ० 1 149 4
अय स होता यो द्विजन्मा। ऋ० 1 149 5

3 विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे। ऋ० 2 9 3

4 सद्यो दधान उपरेषु सानुष्वग्नि परेषु सानुषु। ऋ० 1 128 3

5 शृणोतु नो दम्येभिरनीकै शृणोत्वग्निर्दिव्यैरजस्र। ऋ० 3.54 1
प्रिय सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेन भिनददुज्जनित्वै। ऋ० 10 45 10

6 यदग्ने दिविजा अस्यप्सुजा वा सहस्कृत।
त त्वा गीर्भिर्हवामहे। ऋ० 8 43 28

7 आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात्।
अग्ने त्वा कामया गिरा। ऋ० 8 11 7

8 प्र यत्पितु परमान्नीयते पर्या पृक्षुधो वीरुधो दंसु रोहति। ऋ० 1 141.4

9 समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभि।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय॥ ऋ० 1 164.51

यज्ञ करें[1], वे अग्नि को लावें[2], या वे देवताओं के साथ यज्ञ में पधारें[3]। इस विभाजन के साथ ही इस विचार का संबन्ध है कि अग्नि मनुष्यों के हाथ समिद्ध न होकर देवताओ द्वारा समिद्ध हुए थे[4]। अन्तिम विचार का आधार यह धारणा रही होगी कि दिव्याग्नि को भी किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा समिद्ध होना चाहिए और देवताओं को भी मनुष्यों की भांति यज्ञ करना चाहिए[5]।

एक अन्य दृष्टि से भी बताया गया है कि अग्नि के अनेक जन्म हुए हैं[6]। अग्नि का यह जन्म-बाहुल्य हो सकता है कि मूलतः अनेक पार्थिव वेदियों में अग्नि को प्रज्वलित करने का बोधक रहा हो। क्योकि बहुधा यह कहा गया है कि अग्नि हर कुल में, हर घर में और हर आवास में निवास करते हैं[7]। वे विविध स्थानों पर उत्पन्न होते है और उनके अनेक शरीर है[8]। अनेक स्थानों पर विराजने पर भी वे विश्व-भर के अकेले ही सम्राट् हैं[9]। अनेक स्थानों पर समिद्ध होने पर भी वे मूलतः एकाकी हैं[10]। अन्य अग्नि उनके साथ उसी प्रकार संपृक्त हैं जैसे शाखाएं वृक्ष के साथ[11]। इस दृष्टि से उन्हे सभी अग्नियो[12] के साथ यज्ञ में आमन्त्रित किया

1. एवा यजस्व तन्वं सुजात। ऋ० 10.7.6.
2. आग्ने गिरो दिव आ पृथिव्या मित्रं वह वरुण मिन्द्रमग्निम्। ऋ० 7.39.5.
3. दे० 3.6.9. पृ० 232.
4. दे० 6.2.3. पृ० 238.
5. अग्निर्देवेद्ध इति शंसत्यसौ वा अग्निर्देवेद्ध एतं हि देवा इन्धते। ऐ० ब्रा० 2.34.
6. अस्मद्‌धूद्रो भूरिजन्मा वि चष्टे। ऋ० 10.5.1.
7. द्वियं पञ्च जीजनन्संवसानाः स्वसारो अग्निं मानुषीषु विक्षु। ऋ० 4.6.8.
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे। ऋ० 4.7.1.
अधा हि त्वा जगृभ्रिरे मर्तासो विक्ष्वीड्यम्। ऋ० 4.7.2.
विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमेदमे। ऋ० 4.7.3.
आ जभ्रुः केतुमायवो भृगवाणं विशेविशे। ऋ० 4.7.4.
दमेदमे सप्तरत्ना दधानोऽग्निर्होता नि षसादा यजीयान्। ऋ० 5.1.5.
ते स्याम ये आनृचुस्त्वादूतासो दमेदमे। ऋ० 5.6.8.
8. देवानां दूतः पुरुध प्रसूत.। ऋ० 3.54.19.
9. समानो राजा विभृतः पुरुत्रा। ऋ० 3.55.4.
10. एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः। वा० खि० 10.2.
11. यस्य ते अग्ने अन्ये अग्नय उपक्षितो वया इव। ऋ० 8.19.33.
12. अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे कृणुध्वम्। ऋ० 7.3.1.
शमग्निरग्निभिः करत्। ऋ० 8.18.9.
अग्न आ याह्यग्निभिः। ऋ० 8.60.1.

गया है[1]।

अग्नि के आवास या जन्म-स्थान के विषय मे दिये गये वर्णन कभी-कभी पार्थक्यपरक दीख पडते है। इस प्रकार द्युलोक, पृथिवी, वायु, जल और वनस्पतियो मे उनके वर्चस् का सकेत मिलता है[2]। कहा गया है कि हे अग्नि! तुम दीप्तिमान होकर सलिलो से, अश्मा (पाषाण, विद्युत्) से, वृक्षो से और ओषधियो से उत्पन्न हुए हो[3]। कुछ स्थलो पर इससे भी अधिक लम्बी तालिकाए आती है[4], जहा अग्नि को अद्रिवासी तक बताया गया है[5]। वहा तात्पर्य सभवत अभ्रपरिवेशी विद्युत् से रहा हो। और हो सकता है कि वही लक्ष्य उन वर्णनो का भी रहा हो जहा यह कहा गया है कि अग्नि का आविर्भाव अश्मन् से हुआ है, अथवा उन्हे इन्द्र ने दो अश्माओ (पाषाणो) के मध्य से उत्पन्न किया है[6]। किन्तु इन स्थलो पर अरणियो के मथन से भी अग्नि की उत्पत्ति का आलकारिक निरूपण माना जा सकता है। जहा यह आया है कि अग्नि मनुष्यो के हृदय मे विराजमान हैं[7], वह वन्यपशुओ, अश्वो, पक्षियो, द्विपदो या चतुष्पदो मे वर्तमान है[8], वहा सच पूछिए तो, तात्पर्य जीवट उष्णता से ही है। जीवनी और प्राणनी शक्ति के रूप मे प्रकट होने और प्रकृति मे परिव्याप्त रहने के कारण अग्नि का चराचर भूतजात के गर्भ-

त्व नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञ च वर्धय। ऋ० 10 141 6

1 विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिम यज्ञमिद वच। ऋ० 1 26 10
विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिधान। ऋ० 6 12 6

2 अग्ने यत्ते दिवि वर्च पृथिव्या यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र। ऋ० 3 22 2

3 त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परि।
त्व वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्व नृणा नृपते जायसे शुचि॥ ऋ० 2 1 1

4 ये अग्नयो अप्स्वन्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु। अथ० 3 21 1 आदि पूर्ण सूक्त
अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्त पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नय॥ अथ० 12 1 19

5 अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशा न विश्वो अमृत स्वाधी। ऋ० 1 70 4
दे० 6 48 5 पृ० 233 दे० 2 1 1 ऊपर

6 दे० 2 12 3 पृ० 233

7 दे० 10 5 1 पृ० 242

8 य सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयस्सु यो मृगेषु।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ अथ० 3 21 2
दे० अथ० 12 1 19 ऊपर
यो नो अग्नि पितरो हृत्स्वन्तराविवेशामृतो मर्त्येषु। अथ० 12 2 33
पावको अस्मभ्य शिवो भव। नृपते वेडस्मुदेद॥ तै० स० 4 6.1.3.

रूप मे वर्णन करना सुतरा स्वाभाविक है[1] । हो न हो अग्नि के त्रिविध रूपो ने ही तीन भ्राताओ की कल्पना को जन्म दिया होगा[2], साथ ही हो सकता है कि यज्ञाग्नि की अनेकात्मकता ने भी अग्नि के, बहुवचन मे उल्लिखित भ्राताओ की कल्पना के पल्लवन मे सहायता दी हो[3] । बाद मे अग्नियो की सख्या तीन आती है[4] । सभवतः उन स्थलो पर भी यही तीन अभिप्रेत हो जहा यह कहा गया है कि देवताओ के चार होता थे, इनमे से प्रथम तीन का अवसान हो गया[5] । वरुण को भी एक बार अग्नि का भ्राता बताया गया है[6] । एक स्थान पर इन्द्र को उनका यमल भ्राता कहा गया है[7] । सचमुच इन्द्र अन्य देवताओ की अपेक्षा अग्नि के साथ सबसे अधिक सबद्ध हुए है और केवल दो अपवादो को छोडकर अग्नि का द्वन्द्व अकेले इन्द्र के साथ आता है । नि सदेह इसी नाते यह कहा गया है कि अग्नि अपने ऊष्मा से अश्माओ को भेद देते है और आस्थारहित पणियो का दमन करते है[8] । एक सपूर्ण सूक्त[9] मे अग्नि का द्वन्द्व सोम के साथ आया है ।

अग्नि की तद्रूपता अनेक बार अन्य देवताओं के साथ, विशेषतः वरुण और मित्र के साथ की गई है[10] । जब अग्नि यज्ञ मे पधारते है तब वे वरुण बन जाते है[11] । जन्म से वे वरुण है किन्तु समिद्ध होने पर वे मित्र बन जाते है[12] । अग्नि

1. गर्भो यो अपां गर्भो वनाना गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम् । ऋ० 1 70.3.
गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः । अथ० 5 25 7.
2 दे० 1 164 1 पृ० 239.
3 अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थमेतं रथीवाध्वानमन्वावरीवुः । ऋ० 10 51 6
4 अग्नेस्त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन् । तै० सं० 2 6.6 1.
5 चत्वारो वै देवानां होतार आसन्भूपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिर्भूस्तेषां त्रयो होत्रेण प्रामीयन्त । काठक० 25 7
6 स भ्रातरं वरुणमग्न आ ववृत्स्व । ऋ० 4.1.2
7. समानो वां जनिता भ्रातरा युवं यमाविहेहमातरा । ऋ० 6.59.2
8. न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीँरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान् ।
प्रप्र तान्दस्यूँ रग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून् ॥ ऋ० 7 6 3.
9. अग्नीषोमाविमं सुमे शृणुतं वृषणा हवम् । ऋ० 1 93 1 आदि पूर्णसूक्त
10 त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः । ऋ० 2.1 4.
मित्रो अग्निर्भवति यत्समिद्धो मित्रो होता वरुणो जातवेदाः । ऋ० 3 5 4
त्व वरुण उत मित्रो अग्ने । ऋ० 7 12 3
11. भुवश्चक्षुर्मह ऋतस्य गोपा भुवो वरुणो यदृताय वेषि ।
भुवो अपां नपाज्जातवेदो भुवो दूतो यस्य हव्यं जुजोषः ॥ ऋ० 10 8 5
12. त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत् समिद्धः । ऋ० 5 3 1.

सायकाल के समय वरुण वन जाते और प्रात काल के समय उद्यन्त मित्र। सविता बनकर वे अन्तरिक्ष मे विचरण करते हे और इन्द्र वनकर वे आकाश को भासित करते है[1]। ऋग्वेद के एक मन्त्र[2] मे उनका तादूप्य क्रमश लगभग द्वादश देवताओ से और पाच देवियो से दिखाया गया है। अग्नि भाति-भाति के दिव्य रूप धारण करते हैं, और जैसे रूप वैसे ही उनके नाम भी अनेक हैं[3]। उनमे सभी देवता सनिविष्ट है[4]। इन देवताओ को वे उसी प्रकार घेरे हुए है जैसे एक चक्र अपने अराओ को घेरे रहता है[5]। हो सकता है कि अग्नि की उपासना पहले-पहल भूत, प्रेतो एव जादू टोना को कीलने के निमित्त की जाती हो। यह आदिमकालीन धारणा ही वेद मे अखडरूपेण चली आ रही होगी। क्योकि कहा गया है कि अग्नि अपनी चमक से राक्षसो को भगा देते है[6]। फलत उन्हे 'रक्षोहन्' यह विशेषण भी मिला है[7]। समिद्ध होकर वे राक्षसो और यातुधानो को अपने आयस दातो से वुडकते और अपनी ज्वालाओ से उन्हे झुलस देते है[8]। वे अपनी ज्वलन्त दृष्टि से यज्ञ की रक्षा करते है। वे यातुधानो की सभी जातियो को चीन्हते और उन्हे नष्ट करते है[9]। यद्यपि पार्थिव दानवो को मारने का कार्य अग्नि के साथ-साथ इन्द्र, वृहस्पति, अश्विन् और विशेपतया सोम भी करते है तथापि मुख्यरूपेण इसका उत्तरदायित्व अग्नि पर ही है। जिस प्रकार असुरो और अन्तरिक्षस्थ दानवो के वध का कार्य,

1 स वरुण सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्। अथ॰ 13 3 13

2 त्वमग्न इन्द्रो वृषभ सतामसि त्व विष्णुरुरुगायो नमस्य।
त्व ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्व विधर्त सचसे पुरन्ध्या॥ ऋ॰ 2 1 3 आदि
रूप रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्व परि स्वाम्। ऋ॰ 3 53 8 [?]

अन्यदन्यदसुर्य वसाना नि मायिनो ममिरे रूपमस्मिन्। ऋ॰ 3 38 7

3 अग्ने भूरीणि तव जातवेदो देव स्वधावोऽमृतस्य नाम। ऋ॰ 3 20 3

4 त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवा। ऋ॰ 5 3 1

5 अग्ने नेमिरराँ इव देवाँस्त्व परिभूरसि। ऋ॰ 5 13 6

6. वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवा। ऋ॰ 3 15 1

7 रक्षोहण वाजिनमा जिघर्मि। ऋ॰ 10 87 1

8 दे॰ 10 87 2 पृ॰ 225
अग्ने त्वच यातुधानस्य भिन्धि हिस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्।
प्र पर्वाणि जातवेद शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि चिनोतु वृक्णम्। ऋ॰ 10 87 5
परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि। ऋ॰ 10.87 14
तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञम्। ऋ॰ 10 87 9

9 यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सता मत्त्रिणा जातवेद।
तास्त्व ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषा शततर्हमग्ने॥ अथ॰ 1 8 4

जो वस्तुतः इन्द्र के साथ संबद्ध है, अग्नि में निक्षिप्त कर दिया गया है[1], उसी प्रकार यहां भी कार्य-विपर्यय हो गया है। इसका संकेतन इस तथ्य से हो जाता है कि सूक्तों और कर्मकांड में अग्नि को इन्द्र की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ा 'रक्षोहन्ता' माना गया है।

मनुष्य जीवन के साथ अग्नि का संपर्क अन्य देवों की अपेक्षा कहीं अधिक संनिकट है। मनुष्यों के आवासों से उनका संबंध, सच पूछिए तो, अटूट-जैसा है। वे ही एक ऐसे देवता है जिनके लिए गृहपति विशेषण का वारंवार प्रयोग हुआ है। वे हर आवास में निवास करते है[2] त्रिकाल में भी वे अपने घर को नही छोड़ते[3]। 'दमूनस्' विशेषण व्यापक रूप से अग्नि ही के लिए आया है[4]। गृह-देवता के नाते हो सकता है, अग्नि इससे भी कहीं अधिक प्राचीन विचार-कोटि से संबद्ध रहे हों; क्योंकि परवर्ती विस्तृत कर्मकांड में प्रयुक्त होनेवाले तीन अग्नियों में से जिस एक अग्नि से अन्य दोनों अग्नियों का आविर्भाव माना गया है उसे 'गार्हपत्य' संज्ञा दी गई है। यहां यह बता देना उपयुक्त होगा कि ऋग्वेदकाल ही में यज्ञाग्नि को स्थानान्तर से लाया गया माना जाता था, क्योंकि अग्नि का परिणयन होता है[5], वे हव्य की परिक्रमा करते है[6] अथवा यों कहिए कि वे यज्ञ की तीन बार प्रदक्षिणा करते है[7] और ज्यों ही वे अपने माता-पिता से विलग होते हैं, उन्हें पूर्व दिशा में तथा बाद में पश्चिम दिशा में ले जाया जाता है[8]।

अग्निदेव को मानवीय आवासो का प्रतिदिन का अतिथि बताया गया है। वे हर घर के अतिथि है[9]। वे बस्तियों के सर्वप्रथम अतिथि हैं[10]। वे अमर्त्य हैं

1. प्राग्नये विश्वशुचे धियंधेऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम्। ऋ० 7.13.1.
2. यः पञ्च चर्षणीरभि निषसाद दमेदमे। कविर्गृहपतिर्युवा॥ ऋ० 7.15.2.
3. अग्ने जरितर्विश्पतिस्तेपानो देव रक्षसः।
अप्रोषिवान् गृहपतिर्महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः॥ ऋ० 8.60.19.
4. दमूना गृहपतिर्दम आँ अग्निर्भुवद् रयिपती रयीणाम्। ऋ० 1.60.4.
5. स सद्म परि णीयते होता मन्द्रो दिविष्टिषु। उत पोता नि षीदति॥ ऋ० 4.9.3.
अग्निर्होता नो अध्वरे वाजी सन्परि णीयते। देवो देवेषु यज्ञियः॥ ऋ० 4.15.1.
6. परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद्रत्नानि दाशुषे॥ ऋ० 4 15.3.
7. पर्यग्निः पशुपा न होता त्रिविष्ट्येति प्रदिव उराणः। ऋ० 4 6.4.
परि त्मना मितद्रुरेति होताऽग्निर्मन्द्रो मधुवचा ऋतावा। ऋ० 4 6 5.
परि त्रिविष्ट्यध्वरं यात्यग्नी रथीरिव। आ देवेषु प्रयो दधत्॥ ऋ० 4.15.2.
8. श्वात्रेण यत्पित्रोर्मुच्यसे पर्या त्वा पूर्वमनयन्नापरं पुनः। ऋ० 1.31.4.
9. स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे। ऋ० 10.91.2.
10. त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्केशं गृहपतिं नि षेदिरे। ऋ० 5,8.2,

(अमर्त्य शब्द का प्रयोग अग्नि के लिए अन्य देवों की अपेक्षा अधिक व्यापक मात्रा में हुआ है) और उन्होंने मर्त्यो के मध्य अपना डेरा डाला है। वे मानवीय वस्तियों में स्थापित किये गये हैं[1] । सच पूछो तो इस दमूना अग्नि ने ही मनुष्यों को वसाया है[2] वे आवासियों के नेता[3] एव उनके संरक्षक हैं[4] । 'विश्वपति' यह विशेषण प्रधानतः उन्ही के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अग्निदेव को मनुजात का घनिष्ठ संबन्धी, केवल संवन्धी[5] अथवा मित्र[6] वताया गया है। किन्तु अन्य सभी देवताओं की अपेक्षा अधिक वार उन्हें पिता की संज्ञा दी गई है[7] । कभी-कभी उन्हें उपासकों का भाई, पुत्र और माता तक कह दिया गया है[8] । इन विशेषणों से अग्नि के विषय में अति प्राचीन धारणा का आभास मिलता है। और यह धारणा उस काल की दीखती है जवकि अग्नि का यज्ञ के साथ संवन्ध अभी आरम्भ ही हो रहा था और जवकि वे मानवीय गृह्य-जीवन के अक्षय केन्द्र थे। और इस आरम्भिक धारणा के अनुसार अग्नि के साथ मानव मात्र का संनिकट संवन्ध बना होना सुतरां स्वाभाविक था।

घरों में अग्निदेव के अविराम उपस्थित रहने से उसका भूतकाल के साथ संपर्क अन्य देवों की अपेक्षा कहीं अधिक घना वनकर उभरता है। फलतः उपासक की पैतृक मित्रता अन्य देवों की अपेक्षा अग्नि के साथ कही अधिक स्पष्ट संपन्न हुई है[9] । अग्निदेव को पूर्व पितरों ने समिद्ध किया था, उन्होंने उनकी अर्चना की थी।

---

1. दे० 3.5.3. पृ० 169.
अमूरो होतान्यसादि विक्ष्व१ग्निर्मन्द्रो विदथेषु प्रचेताः । ऋ० 4.6.2.
2. प्रति मर्तां अवासयो दमूना । ऋ० 3.1.17.
3. अग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः । ऋ० 3.2.5.
4. दे० 1.96.4. पृ० 171.
5. यो नो नेदिष्ठ माप्यम् । ऋ० 7.15.1.
त्वामिद्धि नेदिष्ठं देवतातय आपिं नक्षामहे वृधे । ऋ० 8.60.10.
आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये । सखा सख्ये वरेण्यः । ॥ ऋ० 1.26 3.
6. त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः ।
सखा सखिभ्य ईड्यः ॥ ऋ० 1.75.4.
7. त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् । ऋ० 6.1.5.
8. अग्ने भ्रातः सहस्कृत रोहिदश्व शुचिव्रत । ऋ० 8.43.16.
अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम् । ऋ० 10.7.3.
त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत् । ऋ० 2.1.9.
दे० 6.1.5. ऊपर
9. मा नो अग्ने सख्या पित्र्याणि प्र मर्षिष्ठा अभि विदुष्कविः सन् । ऋ० 1.71.10.

इस सबन्ध मे भरत[1], वध्र्यश्व[2], देववात[3], दिवोदास, और त्रसदस्यु[4] की अग्नियो का उल्लेख गौरव के साथ किया गया है। पितरो के नाम—जिनके साथ अग्नि के नामो का कभी-कभी तादूप्य हो गया है—अशत. ऋग्वेदीय कवियो के कुल-नाम है। इनमे से कतिपय नाम जैसेकि वशिष्ठ—ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं, किंतु अन्य नाम जैसेकि अगिरस और भृगु—हो सकता है, निरे गाथिक हो।

अग्निदेव का मनुष्य के प्रतिदिन के याज्ञिक जीवन के साथ उभरा हुआ सवन्ध भी ध्यान देने योग्य है। वे यज्ञिय हविष् के स्वीकर्ता ही नही, अपितु पृथिवी और स्वर्ग को परस्पर मिलानेवाले भी है। वे हविष् को देवताओ तक लेजानेवाले है। इसके बिना देवता तृप्त नही होते[5]। इसके साथ ही वे देवताओ को भी यज्ञ मे लाते और यज्ञ को देवताओ तक पहुचाते भी है[6]। वे देवताओ को हविष्-भक्षण के लिए बर्हि पर ला बिठाते हैं[7]। वे देवताओ और पृथिवी दोनो की ओर जानेवाले पथो पर अग्रसर रहते है[8] क्योकि इन पथो के जानकार वे ही अकेले हैं[9]। फलत उन्हे बारबार 'दूत' कहा गया है, ऐसे दूत जो पथो के ज्ञाता है और हव्य के वोढा है[10]। उनकी मानव-मात्र के आवास मे पहुच है,[11] वे तेज़ी से उडते[12]

1. श्रेष्ठं यविष्ठ भारताग्ने द्युमन्तमा भर। वसो पुरुस्पृहं रयिम्। ऋ० 2 7 1.
प्र प्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे। ऋ० 7.8 4
2 भद्रा अग्नेर्वध्र्यश्वस्य संदृशो वामी प्रणीतिः सुरणा उपेतयः। ऋ० 10 69 1
3 अग्निं स्तुहि दैववातं देवश्रवो यो जनानामसद् वशी। ऋ० 3 23 3
4. तमाग्न्म सोभरय सहस्रमुष्क स्वभिष्टिमवसे। सम्राज त्रासदस्यवम्॥ ऋ० 8 19 32.
5. महाँ अस्यध्वरस्य प्रकेतो न ऋते त्वदमृता मादयन्ते। ऋ० 7.11.1.
दे० 3 14 2. पृ० 229
6 आग्ने वह हविरद्याय देवा निन्द्रज्येष्ठास इह मादयन्ताम्।
इम यज्ञं दिवि देवेषु धेहि यूयं पात स्वस्तिभि सदा न॥ ऋ० 7.11 5.
7. अच्छा याह्या वहा दैव्यं जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम्। ऋ० 1 31 17
अग्ने दूत पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे। देवाँ आसादयादिह॥ ऋ० 8 44 3
एह देवान् हविरद्याय वक्षि। ऋ० 5 1 11.
8 विद्वान् पथ ऋतुशो देवयानानप्योलान दिवि देवेषु धेहि। ऋ० 10 98 11.
यदङ्ग तविषीयवो यामं शुभ्रा अचिध्वम्। नि पर्वता अहासत॥ ऋ० 8.7 2.
9. वेत्था हि वेधो अध्वन पथश्च देवाञ्जसा। ऋ० 6 16 3.
10 विद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीनां व्यानुषक् छुरुधो जीवसे धा।
अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानानतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट्॥ ऋ० 1 72 7.
11. स दूतो विश्वेदभि वष्टि सद्मा। ऋ० 4 1 8.
12. शूपेभि वृधो जुषाणो अर्कैं देवाँ अच्छा रघुपत्वा जिगाति। ऋ० 10 6 4

और पृथिवी एव स्वर्ग के मध्य अवाध विचरण करते है[1]। वे देवताओ[2] एव मनुष्यो द्वारा[3] उद्भावित किये गये[4] अपने हव्यवाट् रूप मे उपासको[5] की स्तुति को घोषित करने के निमित्त और देवताओ को यज्ञ वेदी तक लाने के निमित्त नियुक्त किये गये है[6]। न केवल देवताओ के अपितु वे विवस्वान् के भी सदेशवाहक हैं[7]। किंतु स्वर्ग के अन्तरतम से परिचित होने के कारण, वहा तक हव्य को ले-जाने और देवताओ को मानवो की यज्ञ-वेदी तक लाने[8] के कारण उन्हे मुख्यत मनुष्यो ही का दूत माना गया है। एक उत्तरकालीन ग्रन्थ मे आता है कि अग्नि देवो के दूत हैं और वे काव्य उशनस् या दैव्य असुर-दूत है[9]। एक दूसरे ग्रन्थ मे आता है कि अग्नि दूत नही, प्रत्युत उस देवयान के नेता है, जिस पर चलकर मानव स्वर्ग-शृग पर पहुच सकता है।

यज्ञ-चालक होने के नाते अग्नि पार्थिव पुरोहित भी माने गये हैं। फलत व्यापक रूप से उन्हे ऋत्विज्, विप्र, पुरोहित और होता की सज्ञा दी गई है। वे मनुष्यो और देवताओ के द्वारा नियुक्त किये होता है[10]। होतृगणो के वे मूर्धन्य एव पूज्य है[11]। उन्हे अध्वर्यु भी कहा गया है[12] और बृहस्पति, सोम और इन्द्र की

1 वेरध्वरस्य दूत्यानि विद्वानुभे अन्ता रोदसी सचिकित्वान्। ऋ० 4 7 8
स होता सेदु दूत्य चिकित्वाँ अन्तरीयते। विद्वाँ आरोधन दिव। ऋ० 4 8 4
दूतो देवानामसि मर्त्यानामन्तर्महाँश्चरसि रोचनेन। ऋ० 10 4 2
2 इह त्व सूनो सहसो नो अद्य जातो जाता उभयाँ अन्तरग्ने। ऋ० 4 2 2.
अन्तरीयसे अरुषा युजानो युष्मांश्च देवान् विश आ च मर्तान्। ऋ० 4.2 3
3 य त्वा देवा दधिरे हव्यवाह पुरुस्पृहो मानुषासो यजत्रम्। ऋ० 10 46 10
4 त्वामग्ने समिधान यविष्ठ्य देवा दूत चक्रिरे हव्यवाहनम्। ऋ० 5 8 6
5 इमम् षु त्वमस्माक सनि गायत्र नव्यांसम्। अग्ने देवेषु प्रवोच। ऋ० 1 27.4.
6 स हि वेदा वसुधिति महाँ आरोधन दिव। स देवाँ एह वक्षति। ऋ० 4 8 2
7 दूतो देवाना रजसी समीयसे। ऋ० 6 15 9
8 दे० 4 7 8, 4 8 2 ऊपर।
9 अग्निर्देवानां दूत आसीदुशना काव्योऽसुराणाम्। तै० स० 2 5 8 5
अग्निर्देवानां दूत आसीद् दैव्योऽसुराणाम्। तै० सं० 2 5 11 8
10 अग्ने आ याह्यग्निभिर्होतार त्वा वृणीमहे। ऋ० 8 60 1
बाहुभ्यामग्निमायवोऽजनन्त विक्षुहोतार न्यसादयन्त। ऋ० 10 7.5
त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषा हित। देवेभिर्मानुषे जने। ऋ० 6 16 1
11 त्व होतृणामस्यायजिष्ठ। ऋ० 10 2 1.
मेधाकार विदथस्य प्रसाधनमग्नि होतार परिभूतम मतिम्। ऋ० 10 91 8
12. मित्रो अध्वर्युरिषिरो दमूना मित्र सिन्धूनामुत पर्वतानाम्। ऋ० 3.5 4

भांति उन्हें ब्रह्मा की संज्ञा भी मिली है[1]। सच पूछो तो वे उपर्युक्त तथा अन्य पुरोहितों के कार्य-कलाप को अपने में समाहित करके विराजते हैं[2]। देवताओं के स्तवन एवं पूजन के लिए उन्हें बराबर आमंत्रित किया गया है[3], यहां तक कि देवगण भी अग्नि का दिन में तीन बार सभादर करते हैं[4]। वे ऋत के और ऋत पर आश्रित यज्ञ के विधाता हैं[5], अपनी आसुरी माया से वे इनकी अभिवृद्धि करते हैं[6]। वे हव्य को सुवासित करते[7] और उसे देवताओं तक ले-जाते हैं[8]। वे यज्ञ के पिता[9] राजा[10], शासक, निरीक्षक और केतु[11] हैं। एक सूक्त (10 51) में कथा आती है कि एक बार अग्नि को अपने इन कामों से थकान आ गई और उन्होंने इनसे हाथ सिकोड़ लिया। इस पर देवताओं ने उन्हें पारिश्रमिक देने का प्रलोभन दिया। तब जाकर अग्नि ने मनुष्यों का परम पुरोहित बनकर अपना कदीमी कार्य करना प्रारम्भ किया। अग्नि की सबसे बड़ी विशेषता उनका पौरोहित्य है। सच पूछो तो जिस प्रकार इन्द्र महान् योद्धा है वैसे ही अग्नि महान् पुरोहित है। किंतु यद्यपि अग्नि की यह विशेषता ऋग्वेद में आद्योपान्त उल्लसित सपन्न हुई है तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से यह अपेक्षाकृत परवर्तीकाल की है। हव्यवाद् अग्नि से क्रव्याद् (शव-भक्षक) अग्नि को भिन्न दिखाया गया है। वाजसनेयि संहिता में अग्नि के तीन रूपों में भी विभेद किया गया है—आमाद (कच्चा मांस भक्षण करनेवाला) क्रव्याद् और

1. उत ग्ना अग्निरध्वर उतो गृहपतिर्दमे । उत ब्रह्मा नि षीदति । ऋ० 4 9 4.
2. त्वमध्वर्युरुत होतासि पूर्व्यः प्रशास्ता पोता जनुषा पुरोहितः । ऋ० 1 94.6.
तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः ।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ॥ ऋ० 2 1.2.
3. अच्छा वो अग्निमवसे देवं गासि स नो वसुः । ऋ० 5 25 1.
अग्ने दिवः सूनुरसि प्रचेतास्तना पृथिव्या उत विश्ववेदाः ।
ऋधग्देवाँ इह यजा चिकित्वः ॥ ऋ० 3 25 1.
मनुष्वदग्न इह यक्षि देवान् । ऋ० 7.11 3.
4. यं देवासस्त्रिरहन्नायजन्ते । ऋ० 3.4 2.
5. केतुं यज्ञानां विदथस्य साधनं विप्रासो अग्निं महयन्त चित्तिभिः । ऋ० 3 3 3
ईळे अग्निं विपश्चितं गिरा यज्ञस्य साधनम् । श्रुष्टीवानं धितावानम् ॥ ऋ० 3 27.2.
6. होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया । विदथानि प्रचोदयन् ॥ ऋ० 3 27.7.
7. त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी । ऋ० 10 15.12.
8 अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि । स इद्देवेषु गच्छति ॥ ऋ० 1 1.4.
9. पिता यज्ञानामसुरो विपश्चितां विमानमग्निर्वयुनं च वाघताम् ऋ० 3 3 4.
10. आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः । ऋ० 4.3 1.
11. ईळे यो विश्वस्या देववीतिः । ऋ० 10 6 3.

हव्यवाट्[1] । तैत्तिरीय संहिता में भी अग्नि के तीन भेद दिखाये गये हैं—देवताओं के पास हव्य ले-जानेवाले अग्नि को 'हव्यवाहन', अन्त्येष्टि-संस्कार में निक्षिप्त पदार्थों को ले-जानेवाले अग्नि को 'कव्यवाहन' और राक्षसों से संपृक्त अग्नि को 'सहरक्षस्' बताया गया है।

अग्नि ऋषि भी हैं और पुरोहित भी[2]। वे मूर्धन्य ऋषि के रूप में समिद्ध होते हैं,[3] वे सबसे बड़े यशस्वी ऋषि हैं[4], वे प्रथम ऋषि अंगिरस् हैं[5]। वे ऋषियों के भी दिव्य ऋषि हैं[6]। अग्निदेव यज्ञों के मर्मज्ञ हैं[7]। वे ऋत के अशेष रहस्यों को देखे हुए हैं[8]। ऋतुओं के विदग्ध पंडित होने के नाते वे देवताओं के यज्ञ-विधानों से अपरिचित मनुष्यों की त्रुटियों को क्षमा कर देते हैं[9]। वे स्वर्ग के अन्तराल को देखे हुए हैं[10]। अपनी प्रज्ञा से वे सभी कुछ जानते हैं[11]। उनमें सारे ही ज्ञान-विज्ञान संनिहित हैं[12]। इन सबको वे उसी प्रकार परिवेष्टित किये हुए हैं जैसे नेमि चक्र

विशां राजानमद्भुतमध्यक्षं धर्मणामिमम्। अग्निमीळे स उ श्रवत्। ऋ० 8.43 25.
दे० 3.3 3. पृ० 250.
स केतुरध्वराणामग्निर्देवेभिरागमत्। ऋ० 3 10 4.
दे० 6 2 3. पृ० 238.
होतारं चित्ररथमध्वरस्य यज्ञस्ययज्ञस्य केतुं रुशन्तम्। ऋ० 10.1 5

1. धर्षितरस्यपांऽग्नेऽग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादं सेधा देवयजं वह। वा० सं० 1 17
2. अग्निर्ऋषिः पवमान. पाञ्चजन्यः पुरोहितः। ऋ० 9.66 20.
3. ऋषिः श्रेष्ठः समिध्यसे यज्ञस्य प्राविता भव। ऋ० 3 21 3.
4. अग्निरिद्धि प्रचेता अग्निर्वेधस्तम ऋषिः। ऋ० 6 14.2
5. त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः। ऋ० दे० 1 31 1.
6. दे० 3 3.4. पृ० 250.
7. आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः। ऋ० 10 110 1
8. जुषाणो अग्ने प्रति हर्य मे वचो विश्वानि विद्वान् वयुनानि सुक्रतो। ऋ० 10 122 2.
9. यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः।
अग्निष्टद् विश्वमा पृणाति विद्वान् येभिर्देवाँ ऋतुभिः कल्पयाति॥ ऋ० 10 2 4.
यत्पाकत्रा मनसा दीनदक्षा न यज्ञस्य मन्वते मर्त्यासः।
अग्निष्टद्धोता क्रतुविद्विजानन् यजिष्ठो देवाँ ऋतुशो यजाति॥ ऋ० 10 2.5.
10. दे० 4 8.2, 4.8 4. पृ० 249.
11. विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया। ऋ० 10 11 1.
अग्निः कविः काव्येनासि विश्ववित्। ऋ० 10.91 3.
12. आ देवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्। ऋ० 3.1.17.
अग्निर्होता गृहपतिः स राजा विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः। ऋ० 10.21.5.

को[1]; इस अनूठी ऋद्धि-सिद्धि को उन्होने उत्पन्न होते ही पा लिया था[2]। वे 'विश्ववविद्' है। 'विश्ववेदस्', 'कवि' और 'कविक्रतु' विशेषण प्रमुखरूप से अग्नि के लिए ही प्रयुक्त हुए है। 'जातवेदस्' विशेषण केवल अग्नि के साथ आया है। यह ऋग्वेद में लगभग 120 बार आता है और वहां[3] इसकी व्याख्या मिलती है:— 'विश्वा वेद जनिमा'। वे दिव्य विधानों और मानव-जनिमाओं के ज्ञाता है[4]। वे सभी प्राणियों को परखते और देखते है[5]। अपने निमित्त किये गये आह्वानों को वे प्रेम से सुनते है[6]। अग्नि प्रज्ञा के जनक है। सच पूछो तो प्रज्ञा और प्रशंसा उन्हीं से उत्पन्न होती है[7]। वे भास्वर वाणी के प्रेरक हैं और उसके आविष्कर्ता है[8]। स्तुति के प्रथम आविष्कर्ता वे ही है[9]। उन्हें जरिता अथवा कारु भी कहा गया है।

अग्नि अपने उपासकों के सहज हितैषी है। वे सौ अयोनिर्मित दुर्गो द्वारा उनकी रक्षा करते है[10]। वे उन्हे विपदाओं से बचाते है और आपत्तियों के बीच से वैसे ही ले-जाते है जैसेकि एक नाविक नाव में बैठाकर यात्रियो को समुद्र के उस पार ले-जाता है[11]। वे मुक्तिदाता है और अपने आतिथेय के सखा

---

1. परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभवत्। ऋ० 2.5.3.
2. स प्रत्नथा सहसा जायमानः सद्यः काव्यानि बळधत्त विश्वा। ऋ० 1.96.1.
3. विश्वा वेद जनिमा जातवेदाः। ऋ० 6.15.13.
4. आ दैव्यानि व्रता चिकित्वाना मानुषस्य जनस्य जन्म। ऋ० 1.70.1.
   देवानां जन्म मर्तांश्च विद्वान्। ऋ० 1.70.3.
5. अग्निष्टा विश्वा भुवनानि वेद। ऋ० 3.55.10.
   यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। ऋ० 10.187.4.
6. तं त्वा वयं हवामहे शृण्वन्तं जातवेदसम्। ऋ० 8.43.23.
7. त्वदग्ने काव्या त्वन्मनीषास्त्वदुक्था जायन्ते राध्यानि। ऋ० 4.11.3.
   प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरा अमूरं पुरां दर्माणम्।
8. नयन्तो गर्भं वनां धियं धुर्हिरिश्मश्रुं नार्वाणं धनर्चम्॥ ऋ० 10.46.5
   त्वं शुक्रस्य वचसो मनोता। ऋ० 2.9.4.
9. त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता। ऋ० 6.1.1.
10. तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिः शतं पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि। ऋ० 7.3.7.
    सो अंहसः पिपृहि पर्तृभिष्ट्वं शतं पूर्भिर्यविष्ठ। ऋ० 7.16.10.
    शतं पूर्भिर्यविष्ठ पाह्यंहसः समेद्धारं शतं हिमाः स्तोतृभ्यो ये च ददति। ऋ० 6.18.8.
    अग्ने त्वं पारया नव्यो अस्मान् स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा। ऋ० 1.189.2.
11. स वृत्रहा सनयो विश्ववेदाः पर्षद् विश्वाति दुरिता गृणन्तम्। ऋ० 3.20.1.
    विश्वानि नो दुर्गहा जातवेदः सिन्धुं न नावा दुरितातिपर्षि। ऋ० 5.1.9.
    स महा विश्वा दुरितानि साह्वानग्निः ष्टवे दम आ जातवेदाः। ऋ० 7.12.2.

है[1]। जो याज्ञिक उनके निमित्त समित्कुश जुटाने मे स्वेद बहाता है उसकी सुरक्षा मे वे कटिबद्ध रहते है[2]। वे सहस्र नेत्रो से उस मनुष्य की ओर निहारते है जो उनके लिए भोज्य लाता है और उन्हे हव्य द्वारा समृद्ध करता है[3]। वे सूखे झाडो की न्याई अपने उपासको के शत्रुओ को भस्मसात् कर डालते है[4] और पणियो (मनुष्यो) को वैसे ही पीस डालते है जैसे वृक्ष को विद्युत् मसल डालती है[5]। फलतः युद्ध मे उनका आह्वान किया जाता है[6] और वे वहा आकर सैन्य की ध्वज का नेतृत्व करते है। जिस मनुष्य को वे युद्ध मे बढावा देते और सुरक्षित करते है, वह सभी-कुछ जीत लेता है और उसका बाल भी बाका नही होता[7]। सभी आनन्द उनसे प्रादुर्भूत होते है जैसे वृक्ष से शाखाए[8]। वे द्रविण के दाता है और धनधान्य भूरि-भूरि उनके अधीन हैं[9]। सभी प्रकार के धन उनमे सनिहित हैं[10] और वे प्रसन्न होकर धन के द्वार को भक्तो के लिए खोल देते है[11]। स्वर्ग और पृथिवी[12] मे अथवा पृथिवी, स्वर्ग और सागर मे मिलनेवाले समस्त धन के वे ही अधिपति हैं[13]। वे

त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतस्कविः । ऋ० 8 60 5

1 तस्य त्राता भवसि तस्य सखा यस्त आतिथ्यमानुषग् जुजोषत् । ऋ० 4 4 10

2 यस्त इध्म जभरत्सिष्विदानो मूर्धानं वा ततपते त्वाया ।
भुवस्तस्य स्वतवाँ पायुरग्ने विश्वस्मात्सीमघायत उरुष्य ॥ ऋ० 4 2 6

3 यो अस्मा अन्नं तृष्वा३दधात्याज्यैर्घृतैर्जुहोति पुष्यति ।
तस्मै सहस्रमक्षभिर्विचक्षेऽग्ने विश्वत प्रत्यङ्ङसि त्वम् ॥ ऋ० 10 79 5.

4 यो नो अरातिं समिधान चक्रे नीचा त धक्षयतसं न शुष्कम् । ऋ० 4 4 4

5 पृच्येन राजन्नघशंसमजर नीचा नि वृश्च वनिन न तेजसा । ऋ० 6 8 5
अग्निर्नो दूत प्रत्येतु विद्वान्प्रति दहन्नभिशस्तिमरातिम् ।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदा ॥ अथ० 3 2 1

6 समत्सु त्वा हवामहे । ऋ० 8 43 21

7 यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु य जुना । स यन्ता शश्वतीरिषः ॥ ऋ० 1 27 7

8 त्वद् विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वि यन्ति वनिनो न वया । ऋ० 6 13 1

9 अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे । यशसं वीरवत्तमम् ॥ ऋ० 1 1 3
स त्वा राय शतिन. सं सहस्रिणं सुवीरं यन्ति व्रतपामदाभ्य । ऋ० 1 31 10
विश्वं सो अग्ने जयति त्वया धनं यस्ते ददाश मर्त्यः । ऋ० 1.36 4

10 स यस्मिन् विश्वा वसूनि जग्मु । ऋ० 10 6 6

11 वि राय और्णोद् दुर पुरुक्षु । ऋ० 1 68 10

12 त्वमस्य क्षयसि यद्ध विश्वं दिवि यदु द्रविणं यत्पृथिव्याम् । ऋ० 1.5 11.

13 आ देवो ददे बुध्न्या३वसूनि वैश्वानर उदिता सूर्यस्य ।
आ समुद्रादवरादा परस्मादाग्निर्ददे दिव आ पृथिव्या । ऋ० 7 6 7

स्वर्ग से वृष्टि प्रदान करते है[1] । वे मरुभूमि मे ह्रद या स्रोत के समान है[2] । फलतः उनसे प्रार्थना की गई है कि वे हमे हर प्रकार का वर प्रदान करे, भोजन दें, धन दे, निर्धनता, निरपत्यता, शत्रु और राक्षस से हमे बचावें । अग्नि से मिलनेवाले वरो मे कुछ ये हैं : पारिवारिक क्षेम, अपत्य और सपत्ति, जबकि इन्द्र से मिलनेवाले दान हैं—शक्ति, विजय और ख्याति । अग्नि अज्ञान से किये पापो को भी क्षमा करते है और अदिति के समक्ष मानव को निरपराध दिखाते है[3] । वरुण के अमर्ष को वे ही प्रशान्त करते है[4] । पिता-माता द्वारा किये द्रुग्ध अर्थात् क्रोधजन्य पापो से भी वे त्राण दिलाते है[5] ।

इन्द्र दिव्य (असुर) सम्राट् है, वे इन्द्र के समान बलवान् है[6] । उनकी गरिमा स्वर्ग को भी लाघ गई है[7] । वे पृथिवी और स्वर्ग से भी अधिक महान् है[8] । वे सभी लोको से बडे है, जिन्हे उन्होने उत्पन्न होते ही परिवेष्टित कर लिया था[9] । गरिमा मे वे अन्य सभी देवो से बढ-चढकर है[10]। जब वे अन्धकार मे होते है तब सभी देवता भयभीत रहते और उनका गुण-गान करते हैं[11] । वरुण, मित्र,

---

वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेकइद् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः । ऋ० 10 91 3

1. स नो वृष्टिं दिवस्परि स नो वाजमनर्वाणम् । स नः सहस्रिणीरिषः ॥ ऋ० 2.6.5
2. धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्ने । ऋ० 10 4.1.
3. यच्चिद्धि ते पुरुषत्रा यविष्ठाऽचित्तिभिश्चकृमा कच्चिदागः ।
   कृधी ष्व१स्माँ अदितेरनागान् व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने ॥ ऋ० 4 12 4.
   सो अग्न एना नमसा समिद्धोऽच्छा मित्रं वरुणमिन्द्रं वोचेः ।
   यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृळ तदर्यमादितिः शिश्रथन्तु ॥ ऋ० 7 93 7.
4. त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः । ऋ० 4.1.4.
5. यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत् । उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥
   अथ० 5 30 4.
   यन्मयि माता गर्भे सति । एनश्चकार यत्पिता । अग्निर्मा तस्मादेनसः ।
   (गार्हपत्यः प्रमुञ्चतु) । तै० ब्रा० 3.7.12 3,4.
6. प्र सम्राजो असुरस्य प्रशस्तिं पुंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य ।
   इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दे दारुं वन्दमानो विवक्मि ॥ ऋ० 7 6 1.
7. दिवश्चित्ते बृहतो जातवेदो वैश्वानर प्र रिरिचे महित्वम् । ऋ० 1.59 5.
8. आ रोदसी अपृणा जायमान उत प्र रिक्था अध नु प्रयज्यो । ऋ० 3 6 2.
   यो महिम्ना परिबभूवोर्वी उतावस्तादुत देवः परस्तात् । ऋ० 10 88 14.
9. जातः आपृणो भुवनानि रोदसी अग्ने ता विश्वा परिभूरसि त्मना । ऋ० 3 3 10
10. परि यदेषामेको विश्वेषां भुवद्देवो देवानां महित्वा । ऋ० 1 68 2.
11. विश्वे देवा अनमस्यन् भियानास्त्वामग्ने तमसि तस्थिवांसम् । ऋ० 6 9.7.

मरुत् एवं अन्य सभी देवता उनकी उपासना में रत रहते हैं[1]। अग्नि ने प्राचीन महान् कार्यों को किया था[2]। उनके शौर्य-कृत्यों को देख मानव कांप उठते हैं। युद्ध में देवों को उन्होंने सहारा दिया था[3] और उन्होंने ही देवताओं को अभिशाप से मुक्त किया था[4]। वे सहस्रजित है (यह विशेषण अधिक व्यापक रूप में सोम के लिए आता है)। वे दस्युओं के पराहन्ता है और इस प्रकार वे आर्यों के लिए उरु-ज्योति का प्रसार करते है[5]। वे आर्यों के रक्षक, वर्धक एवं अभिभावक है। अधार्मिक पणियों के वे पराकर्ता हैं[6]। उनके लिए कतिपय बार वृत्रघ्न और दो-तीन बार 'पुरंदर' यह विशेषण भी—जो मौलिकरूप में इन्द्र के लिए उपयुक्त है—प्रयुक्त हुए है। युद्ध संबन्धी ये गुण—जोकि अग्नि के लिए उनके वैद्युत स्वरूप में ही उपयुक्त है—निःसंदेह इन्द्र के चरित्र से उधार लिये गये हैं जिनके साथ कि अग्नि का पुनः-पुनः सबन्ध उभारा गया है।

यद्यपि अग्नि, स्वर्ग और पृथिवी के तनय हैं तथापि उन्हें दोनों लोकों का जनक भी बताया गया है[7]। उनके अकाट्य विधानों का स्वर्ग और पृथिवी अनुगमन करते है[8]। उन्होंने इन विधानों का प्रसार किया है अथवा उन्हें दो चर्मों की तरह बिछाया है[9]। अपनी ज्वालाओं से उन्होंने द्युलोक को धारण कर रखा है[10]। दोनों लोकों को वे ही पृथक्-पृथक् विधारण किये हुए हैं[11]। उन्होंने द्यावा-पृथिवी को शाश्वत स्तोत्रों द्वारा धारण कर रखा है[12]। वे विश्व के मूर्धा पर

1. मित्रश्चतुभ्यं वरुणः सहस्वोऽग्ने विश्वे मरुतः सुम्नमर्चन्। ऋ० 3.14.4.
   देवाश्चित्ते अमृता जातवेदो महिमानं वाग्यश्च प्र वोचन्। ऋ० 10.69.9.
2. पुरंदरस्य गीर्भिरा विवासेऽग्नेर्व्रतानि पूर्व्या महानि। ऋ० 7.6.2.
3. युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ। ऋ० 1.59.5.
4. त्वं देवाँ अभिशस्तेरमुञ्चः। ऋ० 7.13.2.
5. त्वं दस्यूँरोकसो अग्न आज उरु ज्योतिर्जनयन्नार्याय। ऋ० 7.5.6.
6. दे० 7.6.3. पृ० 244.
7. दे० 1.96.4. पृ० 171.
   त्वं भुवना जनयन्नभि क्रन्नपत्याय जातवेदो दशस्यन्। ऋ० 7.5.7.
   यस्य व्रतं न मीयते। ऋ० 2.8.3.
8. तव त्रिधातु पृथिवी उत द्यौर्वैश्वानर व्रतमग्ने सचन्त। ऋ० 7.5.4.
9. वि चर्मणीव धिषणे अवर्तयत्। ऋ० 6.8.3.
10. दे० 3.5.10. पृ० 171.
    मेतेव धूमं स्तभायदुप द्याम्। ऋ० 4.6.2.
11. व्यस्तभ्नाद् रोदसी मित्रो अद्भुतः। ऋ० 6.8.3.
12. अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः। ऋ० 1.67.3.

विराजमान है और रात्रि के समय वे ही पृथिवी के मूर्धा है[1] । साथ ही वे आकाश के भी मूर्धा एव ककुद् है[2] । उन्होने वायु को मापा है और अपनी गरिमा से स्वर्ग के नाक को छू लिया है[3] । उन्होने वायुलोक और भास्वर स्वर्गलोक को मापा है[4] । उन्होने सूर्य को आकाश मे आरूढ किया है[5] । समिधान अग्नि सूर्योदय पर जादू का-सा प्रभाव डालते है, यह धारणा भी ऋग्वेद मे काम करती है । कवि का तात्पर्य ऐसी उक्तियो मे यही प्रतीत होता है —'हम अग्नि को समिद्ध करें, जिससे तेरा आश्चर्यमय स्फुलिङ्ग स्वर्ग मे प्रकाशित हो[6] ।' यह भावना एक ब्राह्मण मे और अधिक स्पष्ट बन जाती है :—'सूर्योदय के पूर्व यज्ञ करके उसने सूर्य को उदित किया, नही तो सूर्य का उदय ही न हो पाता[7] ।' अग्नि का समिन्धन और सूर्य का उदय ऋग्वेद मे दोनो साथ-साथ होते दिखाये गये है :—'जब अग्नि का जन्म हुआ तब सूर्य भी दृष्टिगोचर हुआ[8] । अग्नि-गाथा की यह विशेपता इन्द्र-गाथा मे आई सूर्य-विजय के सदृश है, किंतु दोनो गाथाओ मे निहित मौलिक दृष्टिकोण स्पष्टत. एक दूसरे से भिन्न है । अग्नि के लिए कहा गया है कि उन्होने आकाश को नक्षत्रो से विभूपित किया है[9] । उडनेवाले, चलनेवाले, स्थित रहनेवाले या चर सभी की उन्होने रचना की है[10] । उन्होने इन प्राणियो[11] मे, वनस्पतियो तथा सभी प्राणियो मे गर्भ धारण कराया और स्त्री तथा पृथिवी से

---

1. यज्जातवेदो भुवनस्य मूर्धन्नतिष्ठो अग्ने सह रोचनेन । ऋ० 10.88 5.
   दे० 10 88 6. पृ० 238
2. मूर्धा दिवो नाभिरग्निः पृथिव्या अथाभवदरती रोदस्योः । ऋ० 1 59 2
   मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् । ऋ० 6.7.1.
   दे० 8.44.16. पृ० 239
3. दे० 6 8.2. पृ० 237
4. वि यो रजांस्यमिमीत सुक्रतुर्वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः । ऋ० 6.7.7.
5. अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि । ऋ० 10. 156 4.
6. आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।
   यद्ध स्या ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ऋ० 5 6 4.
7. अथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति । प्रजनयत्येवैनमेतत्सोऽयं तेजो भूत्वा विभ्राजमान उदेति शश्वद्ध वै नोदियाद् यदस्मिन्नेतामाहुतिं न जुहुयात् । शत० ब्रा० 2.3 1.5.
   येनर्षयस्तपसा सत्रमासतेन्धाना अग्निं सुवराभरन्तः । तै० सं० 4.7.13 3.
8. आविः स्वरभवज्जाते अग्नौ । ऋ० 4.3.11.
9. पिपेश नाकं स्तृभिर्दमूनाः । ऋ० 1.68 5.
10. स पतत्रीत्वरं स्था जगद् यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः । ऋ० 10 88 4.
11. स गर्भमेषु भुवनेषु दीधरत् । ऋ० 3.2 10.

अपत्य उत्पन्न किया[1]। एक स्थान पर कहा गया है कि अग्नि ने मनुष्यो के (इन) वृक्षों को उत्पन्न किया है[2], किंतु यह तो इस विचार का कि उन्होने स्वर्ग, पृथिवी और जलो को उत्पन्न किया, विस्तार मात्र है। इसका आशय यह नही है कि वैदिक काल मे सामान्यत: अग्नि को मानव जाति का पिता माना जाता था। अग्नि विशो के सरक्षक[3] और अमृतत्व के अधिपति[4] है, वे अपने उपासको को इसी उन्नम अमरत्व का वर देते हैं[5]।

यद्यपि 'अग्नि' शब्द भायोरपीय है, (लै० इग्निस्, स्लैवानिक ओग्नि) किंतु इस नाम से मूर्ताग्नि की उपासना विशुद्ध भारतीय है। भारत-ईरानी-काल मे यज्ञाग्नि सुविकसित कर्मकाड के केन्द्र-रूप मे मिलता है जिसे सभवत अथर्वन् नाम के पुरोहित अखंडरूपेण प्रज्वलित रखते थे। अग्नि का विग्रहवत्त्व और एक ऐसे महामहिम देव के रूप मे इसकी उपासना, उस काल मे विद्यमान रही होगी जो विशुद्ध था, प्रज्ञा-सपन्न था, भोज्य, अपत्य, मानसिक शक्ति और यश का दाता था, जो घर-द्वार का मित्र था और अपने उपासको के शत्रुओ का विनाशक था। उसे अनेक रूपो मे—जैसेकि विद्युत् के रूप मे अथवा काष्ठ से उत्पन्न हुई अग्नि—पूजा जाता था। फिर भी यज्ञाग्नि-सस्था भायोरपीय काल की प्रतीत होती है क्योकि इटली, ग्रीस, ईरान और भारत सभी देशो के निवासियो मे देवताओ के निमित्त अग्नि मे हव्य डालने की प्रथा विद्यमान थी। किंतु इस भूताग्नि का देवता के रूप मे विग्रहवत्त्व अन्य देशो मे, यदि कुछ हुआ भी था तो वह अत्यन्त निर्बल रह गया था।

अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति सभवत. गत्यर्थक√अज् से हुई है। फलत. इसका अर्थ होता है—'गतिमान्' जो भूताग्नि की गतिशीलता का बोधक है।

दिव्य अग्नि के विशेषणो मे से कुछ मे स्वतन्त्रता की-सी अवस्था पाई जाती है। वैश्वानर विशेषण ऋग्वेद मे लगभग 60 वार आता है और दो अपवादो को छोडकर इसका प्रयोग सर्वत्र अग्नि के लिए हुआ है। पाच मन्त्रो को छोडकर इसके सारे ही प्रयोग 14 सूक्तो मे मिलते है। अनुक्रमणी के अनुसार इन सभी प्रयोगो मे देवता अग्नि वैश्वानर हैं। यह विशेषण ऋग्वेद मे कहीं भी अग्नि से पृथक् नही हुआ है। इसका अर्थ है—'सभी मनुष्यो से सवद्ध' और यह जगदग्नि का बोधक प्रतीत होता है। अग्नि के वैश्वानर स्वरूप के निमित्त कहे गये सूक्त कभी-कभी मातरिश्वन्

---

1. अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
   अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्॥ ऋ० 10.183 3.
2. इमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्। ऋ० 1 96 2.
3. विशामधायि विश्पतिर्दुरोणे। ऋ० 7.7.4.
4. ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेः। ऋ० 7 4.6.
5. त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे। ऋ० 1.31.7.

और भृगु की गाथा की ओर निर्देश करते मिलते है जिस गाथा का अग्नि के स्वर्ग से अवतीर्ण होने की घटना के साथ सबन्ध है[1]। अग्नि वैश्वानर को एक बार मातरिश्वा भी बताया गया है[2]। निघण्टु मे वैश्वानर को अग्नि का एक नाम बतलाया गया है। यास्काचार्य वैश्वानर पर टिप्पणी करते हुए लिखते है[3] —याज्ञिक लोग अग्नि वैश्वानर का अर्थ सूर्य करते है जबकि शाकपूणि उससे इसी (पार्थिव) अग्नि को समझते थे। बाद मे[4] अपना मत प्रकट करते हुए यास्क कहते है —'यज्ञ और स्तुति को ग्रहण करनेवाला अग्नि वैश्वानर यह (पार्थिव) अग्नि है, और दो उच्चतर प्रकाशो (अर्थात् वायुस्थ और द्युस्थ अग्नि) के लिए इस विशेषण का प्रयोग प्रासङ्गिक मात्र है। कर्मकाण्ड ग्रन्थो मे वैश्वानर को अग्नि के एक स्वरूप-विशेष की तरह पृथक् कर लिया गया है[5]। तनूनपात् विशेषण अग्नि के नाम से पृथक् ऋग्वेद मे आठ बार आता है और दो अपवादो[6] को छोडकर यह आप्री सूक्तो के द्वितीय मन्त्र मे प्रयुक्त हुआ है। आप्री सूक्त यज्ञ-सबन्धी आह्वान हैं, जिनमे अग्नि का अनेक नामो से आह्वान किया गया है और जिनमे पशु-बलि की चर्चा की गई है। यह शब्द निघण्टु (5 2) मे एक स्वतन्त्र नाम की तरह आता है। यास्क द्वारा की गई इस शब्द की व्याख्याए असगत-सी हैं। नि० (8 5) और इस शब्द का प्रतीत्य अर्थ है— 'अपने-आपका पुत्र', क्योकि अग्नि वनो और बादलो मे स्वत उत्पन्न होता बताया गया है। बेर्गेन के अनुसार तनूनपात् शब्द दिव्य पिता के 'शारीरिक पुत्र' का बोधक है। मातरिश्वा और नराशस के प्रतिकूल तनूनपात् को आसुर गर्भ की सज्ञा मिली है[7]।

---

1 आ मन्द्रस्य सनिष्यन्तो वरेण्य वृणीमहे अह्रयं वाजमृग्मियम्।
राति भृगूणा मुशिज कविक्रतुमग्नि राजन्त दिव्येन शोचिषा॥ ऋ० 3 2 4
दे० 6 8 4 पृ० 172

2 दे० 3 26 2 पृ० 264

3 अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिका। नि० 7 23

4 यस्तु सूक्त भजते यस्मै हविर्निरुप्यतेऽयमेव सोऽग्निर्वैश्वानर।
निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते॥ नि० 7 31

5 अग्ने वेर्होत्र वेरध्वरमा पितर वैश्वानरमवसे करिन्द्राय देवेभ्यो जुहुता हवि स्वाहा।
का० श्रौ० सू० 23 3 1
अग्ने वेर्होत्र वेरध्वरमापितरं वैश्वानरमवसेऽकरिन्द्राय देवेभ्यो जुहुता हवि स्वाहा।
यजु० मा० 21 10 11.
सवत्सरो वै पिता वैश्वानर प्रजापतिस्तत्संवत्सरायैवैतत्प्रजापतये निह्नुतेऽग्ने पूषन् बृहस्पते प्र च वद। शत० मा० 1 5 1 16

6 दे० 10 92 2 आगे पृष्ठ पर।

7. दे० 3 29 11 पृ० 171

उषाओ के विषय मे कहा गया है कि वे गृह-पुरोहित, लोहितवर्ण तनूनपात् अग्नि का चुम्बन करती हैं[1]। तनूनपात् सुजिह्व हैं[2]। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे यज्ञ को देवताओ तक पहुचा दें[3]। घृत और मधुपूर्ण यज्ञिय दोह्री (घृतमिश्रित पक) का तनूनपात् वितरण करते हैं[4]। देवता उनका समादर दिन मे तीन वार करते हैं, वरुण, मित्र, अग्नि प्रतिदिन उनका समादर करते हैं[5]। हिलेब्राण्ट तनूनपात् अग्नि का तादृप्य सोमगोपा अग्नि के साथ उद्भावित करते हैं। वे सोमगोपा अग्नि (चान्द्र अग्नि) को अग्नि का एक स्वरूप-विशेष मानते है।

अपेक्षाकृत अधिक वार आनेवाला नराशस विशेषण, जिसे निघटु (5 3) म स्वतन्त्र नाम समझा गया है और जो ऋग्वेद मे अग्नि के नाम से पृथक भी आता है अग्नि ही तक सीमित नही है क्योकि दो वार इसका प्रयोग पूषा के साथ भी मिलता है[6]। इसके लिए आप्री सूक्तो मे तृतीय और आप्र सूक्तो मे द्वितीय मन्त्र निर्धारित हुआ है। नराशस के चार अवयव हैं[7]। वे दिव्य पत्नी के पति हैं[8]। मधु-जिह्व और मधु-हस्त होकर वे यज्ञ का सपादन करते है[9]। वे दिन मे तीन वार यज्ञ मे मधु छिडकते हैं[10]। वे तीनो स्वर्गो और देवताओ को रजित करते हैं[11]।

---

1 अक्तु न यह्वमुषस पुरोहित तनूनपातमरुषस्य निसते। ऋ० 10 92 2

2 तनूनपात् पथ ऋतस्य यानान् मध्वा समञ्जन्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वर न ॥ ऋ० 10 110 2

3 मधुमन्त तनूनपाद् यज्ञ देवेषु न कवे। अद्या कृणुहि वीतये। ऋ० 1 13 2
दे० 10 110 2 ऊपर

4 घृतवन्तमुप मासि मधुमन्त तनूनपात्।
यज्ञ विप्रस्य मावत शशमानस्य दाशुष ॥ ऋ० 1 142 2
तनूनपादृत यते मध्वा यज्ञ समज्यते। ऋ० 1 188 2

5. य देवासस्त्रिरहन्नायजन्ते दिवेदिवे वरुणो मित्रो अग्नि।
सेम यज्ञ मधुमन्त कृधीनस्तनूनपाद् घृतयोनि विधन्तम् ॥ ऋ० 3 4 2
तनूनपात्पवमान शृङ्गे शिशानो अर्षति। अन्तरिक्षेण रारजत्। ऋ० 9 5 2

6 नराशस वाजिन वाजयन्निह क्षयद्वीर पूषण सुम्नैरीमहे। ऋ० 1 106 4
दे० 10 64 3 पृ० 164

7 नराशसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः। ऋ० 10 92 11

8 नराशसो ग्नास्पतिर्नो अव्या। ऋ० 2 38 10

9 नराशसमिह प्रियमस्मिन्यज्ञ उपह्वये। मधुजिह्व हविष्कृतम्। ऋ० 1 13 3
नराशस सुषूदतीम यज्ञमदाभ्य। कविर्हि मधुहस्त्य ॥ ऋ० 5 5 2

10 शुचि पावको अद्भुतो मध्वा यज्ञ मिमिक्षति।
नराशसस्त्रिरा दिवो देवो देवेषु यज्ञिय ॥ ऋ० 1 142 3
नराशसस्त्रिरा दिवो दिव कविर्महाः ... । ऋ० 2 3 2

11 नराशस प्रति धामान्यञ्जन् तिस्रो दिव प्रति मह्ना स्वर्चि। ऋ० 2 3 2

वे देवताओ के मूर्धन्य है और यज्ञ को देवो के लिए प्रिय बनाते है[1]। सोम नराशस और दिव्य जनो के मध्य मे विराजते हैं[2], जिसका तात्पर्य प्रतीत होता है—पार्थिव और दिव्य अग्नि। तनूनपात् और मातरिश्वा के विपरीत सद्योजात अग्नि को नराशस बताया गया है[3]। एक बृहस्पति-सूक्त[4] मे नराशस का आह्वान रक्षा के लिए भी हुआ है और एक अन्य मन्त्र मे उन्हे दिव्य पद या याज्ञिक बताया गया है[5]। फलत इन दो मन्त्रो मे उनका तादूप्य बृहस्पति के साथ हो सकता है। नराशस शब्द देखने मे एक अनियमित समास प्रतीत होता है। हो सकता है कि इसमे षष्ठी बहुवचन के 'म्' का लोप हो गया हो क्योकि इसमे दो उदात्त है, और दो मन्त्रो मे इसके दोनो पद निपातो द्वारा पृथक् किये गये है[6]। इस विषय मे नरा शस और देवाना शस प्रयोग ध्यान देने योग्य है[7]। एक कवि अग्नि के विषय मे कहता है—'शसम् आयो' आयु की प्रशसा[8]। इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए नराशस शब्द का अर्थ प्रतीत होता है—'मनुष्यो की प्रशसा', जिसका तात्पर्य हुआ—'वह पदार्थ, जो मनुष्यो की प्रशसा का विषय हो।' बेर्गेन के अनुसार नराशस पद द्वारा अभिहित अग्नि का वास्तविक स्वरूप है—'मनुष्य की स्तुति का देवता' जो कि दूसरे शब्दो मे बृहस्पति ही है।

बृहस्पति (§ 36)—

बृहस्पति देव का ऋग्वेद मे ऊचा स्थान है, और इनकी स्तुति मे 11 सकल, सूक्त कहे गये है। दो सूक्तो मे उनका इन्द्र के साथ युग्म भी बनता है[9]। इनका

---

1 आ देवानामग्रयावेह यातु नराशसो विश्वरूपेभिरश्वै ।
ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवेभ्यो देवतम सुषूदत् ॥ ऋ० 10 70 2
नराशसस्य महिमानमेषामुपस्तोषाम यजतस्य यज्ञै । ऋ० 7 2 2

2 नरा च शस दैव्य च धर्तरि । ऋ० 9 86 42

3 दे० 3 29 11 पृ० 171

4 दे० 10 182 2 पृ० 264

5 दे० 1 18 9 पृ० 264

6 दे० 9 86 42 ऊपर दे० 10 64 3 पृ० 164

7 नरा न शस सवनानि गन्तन । ऋ० 2 34 6
देवाना शसमृत आ च सुक्रतु । ऋ० 1 141 11

8 होतारमग्निं मनुषो निषेदुर्नमस्यन्त उशिज शसमायो । ऋ० 4 6 11

9 इद वामास्ये हवि प्रियमिन्द्राबृहस्पती । उक्थ मदश्च शस्यते ॥ ऋ० 4 49 1 आदि।
यज्ञे दिवो नृषदने पृथिव्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
इन्द्राय यत्र सवनानि सुन्वे गमन्मदाय प्रथम वयश्च ॥ ऋ० 7 97 1 आदि ।

नाम लगभग 120 बार आता है और इसके अतिरिक्त ब्रह्मणस्पति के रूप मे 50 बार इनकी स्तुति और हुई है। दोनो प्रकार के नाम एक ही सूक्त के विभिन्न मन्त्रो मे यत्र तत्र मिल जाते हैं। बृहस्पति की विग्रह सबन्धी विशेषताए पूरी तरह नही उभर पाई हैं। वे सप्त-मुख है और सप्त-रश्मि है[1]। वे मन्द्र-जिह्व[2], तीक्ष्ण-शृग[3], नील-पृष्ठ[4] और शत-पत्र[5] है। वे हिरण्यवर्ण और लोहित-वर्ण[6], वे भास्वर[7], शुचि, और सुव्यक्त ध्वनिवाले[8] है। उनके पास तीक्ष्ण तीर और एक धनुष है जिसमे ऋत की डोरी लगी है[9]। वे हिरण्यवाशी लिये है[10] और उनके हाथ मे आयस कुल्हाडी भी है, जिसे स्वय त्वष्टा ने पैना किया था[11]। उनके पास एक रथ[12] है और यह रथ ऋत का बना हुआ है। फलत यह रथ यातुधानो को कीलता,

---

1 बृहस्पतिं प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि ॥ ऋ० 4 50 4
2 अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कैः।
गाथान्यः सुरुचो यस्य देवा आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ताः ॥ ऋ० 1 190 1
यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥ ऋ० 4 50 1
3 अरायि ब्रह्मणस्पते तीक्ष्णशृङ्गोदृषन्निहि। ऋ० 10 155 2
4 आ वेधसं नीलपृष्ठं बृहन्तं बृहस्पतिं सदने सादयध्वम्।
सादद्योनिं दम आ दीदिवांसं हिरण्यवर्णमरुषं सपेम ॥ ऋ० 5 43 12
5 स हि शुचिः शतपत्रः स शुन्ध्युर्हिरण्यवाशीरिषिरः स्वर्षाः। ऋ० 7 97 7
6 दे० 5 43 12 ऊपर
7 शुचिमर्कैर्बृहस्पतिमध्वरेषु नमस्यत। ऋ० 3 62 5
दे० 7 97 7 ऊपर
8 शुचिक्रन्दं यजतं पस्त्यानां बृहस्पतिमनर्वाणं हुवेम। ऋ० 7 97 5
9 ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिर्यत्र वष्टि प्र तदश्नोति धन्वना।
तस्य साध्वीरिषवो याभिरस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनयः ॥ ऋ० 2 24 8
[illegible] ज्या भवति [illegible] नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति [illegible] धनुर्भिर्देवजूतैः ॥ अथ० 5 18 8
तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ अथ० 5 18 9
10 दे० 7 97 7 ऊपर
11 त्वष्टा माया वेदपसामपस्तमो बिभ्रत्पात्रा देवपानानि शंतमा।
शिशीते नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चादेतशो ब्रह्मणस्पतिः ॥ ऋ० 10 53 9
[illegible] ऋ० 10 103 4
12 बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः। ऋ० 10 103 4

गो-व्रजो को तोडता और प्रकाश को जीतता है[1]। इस रथ को लोहित-वर्ण अश्व खीचते हैं[2]।

बृहस्पति पहले-पहल व्यापक प्रकाश से चमचमाते स्वर्ग मे उत्पन्न हुए थे और उन्होने अपने स्तनयित्नु 'रव' द्वारा अन्धकार का नाश किया था[3]। वे दोनो लोको के तनय है[4], किंतु यह उल्लेख भी मिलता है कि उनके जनक त्वष्टा हैं[5]। दूसरी जगह उन्हे देवताओ का जनक बताया गया है[6], उन्होने कर्मार (=कर्मकार) की भाति देवताओ के जन्म धमित किये थे[7]।

बृहस्पति एक पुरोहित है[8]। किंतु पुरोहित शब्द का प्रयोग प्राय अग्नि के सवन्ध मे आया है। प्राचीन ऋषियो ने उन्हे अपना नेता बनाया था (पुरो-धा)[9]। वे एक सोम-पुरोहित हैं[10]। वे ब्रह्मन् हैं[11], ब्रह्मन् शब्द का प्रयोग एक बार सभवत पारिभाषिक अर्थ मे हुआ है[12]। परवर्ती वैदिक साहित्य मे बृहस्पति देवताओ के पारिभाषिक अर्थ मे पुरोहित है[13]। बृहस्पति उपासना-योग को बढाते है और

---

1 आ विबाध्या परिरापस्तमांसि च ज्योतिष्मन्त रथमृतस्य तिष्ठसि।
बृहस्पते भीममभित्रदम्भन रक्षोहण गोत्रभिद स्वर्विदम्॥ ऋ० 2 23 3

2 त शग्मासो अरुषासो अश्वा बृहस्पति सहवाहो वहन्ति। ऋ० 7 97 6

3 दे० 4 50 4 पृ० 261
सोपामविन्दत् स स्व१ सो अग्नि सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जान न पर्वणो जभार॥ ऋ० 10 68 9

4 देवी देवस्य रोदसी जनित्री बृहस्पति वावृधतुर्महित्वा। ऋ० 7 97 8

5 विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्न साम्न कवि।
स ऋणचिदृणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि॥ ऋ० 2 23 17

6 देवाना य पितरमा विवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्। 2 26 3

7 ब्रह्मणस्पतिरेता स कर्मार इवाधमत्। ऋ० 10 72 2

8 स सनय स विनय पुरोहित स सुष्टुत स युधि ब्रह्मणस्पति। ऋ० 2 24 9
बृहस्पति पुरोहिता देवस्य सवितु सवे। देवा देवैरवन्तु मा॥ वा० स० 20 11
बृहस्पतिर्देवाना पुरोहित आसीत्। तै० स० 6 4 10 1

9 दे० 4 50 1 पृ० 261

10 यत्र वै सोम स्व पुरोहित बृहस्पति जिज्यौ तस्मै पुनर्ददौ। शत० ब्रा० 4 1 2 4

11 त्व ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते। ऋ० 2 1 3
यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति। ऋ० 4 50 8

12 सोम राजानमवसेऽग्नि गीर्भिर्हवामहे।
आदित्यान् विष्णु सूर्य ब्रह्माण च बृहस्पतिम्॥ ऋ० 10 141 3.

13 ब्रह्म वै देवाना बृहस्पति। तै० स० 2 2 9 1

उनके बिना यज्ञ सफल नहीं हो पाता[1]। पथ-निर्माता के रूप में वे देवताओं के लिए भोज तक पहुंचना सुलभ करते है[2]। उनसे देवताओं तक ने अपना यज्ञांश प्राप्त किया है[3]। वे शस्त्र गाते है[4]। उनका श्लोक (√श्रु) स्वर्ग में पहुंचता है[5]; छन्दस् उन्ही का है। उनका गायकों के साथ संबन्ध है[6]। वे अपने उन मित्रों के साथ गाते हैं, जिनकी वाणी हंसों-जैसा, शब्द करती है[7]। ऐसे प्रकरणों में हो सकता है कि अङ्गिरसों से तात्पर्य रहा हो। उनके साथ भजन की मण्डली (ऋक्वन् गण) चलती है[8]। निःसंदेह इसी कारण उन्हें गणपति[9] कहा गया है। सामान्यतः गणपति शब्द का प्रयोग इन्द्र के लिए हुआ है[10]।

इनके नाम से झलकता है कि ये ब्रह्मणस्पति अर्थात् 'स्तुति के पति' थे। इन्हें स्तुतियों का सर्वोच्च राजा भी कहा गया है और कवितम की उपाधि इनकी अपनी है[11]। ऋत के रथ पर बैठकर वे स्तुति करते और देवों के शत्रुओं पर विजय-

1. यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति ॥ ऋ० 1.18.7.
2. त्वं नो गोपा पथिकृद् विचक्षणस्तव व्रताय मतिभिर्जरामहे।
बृहस्पते यो नो अभि ह्वरो दधे स्वा तं मर्मर्तु दुच्छुना हरस्वती ॥ ऋ० 2.23.6.
उत वा यो नो मर्चयादनागसोऽरातीवा मर्तः सानुको वृकः।
बृहस्पते अप तं वर्तया पथः सुगं नो अस्यै देववीतये कृधि ॥ ऋ० 2.23.7.
3. देवाश्चित्ते असुर्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भागमानशुः। ऋ० 2.23.2.
उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥ अथ० 19.63.1.
प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ॥ ऋ० 1.40.5.
4. बृहस्पतिः सामभिर्ऋक्वो अर्चतु। ऋ० 10.36.5.
5. अस्य श्लोको दिवीयते पृथिव्याम्। ऋ० 1.190.4.
6. बृहस्पतिमृक्वभिर्विश्ववारम्। ऋ० 7.10.4 बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः। ऋ० 10.14 3.
7. हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिः रश्मन्मयानि नहना व्यस्यन्।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद्गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत् ॥ ऋ० 10.67.3.
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त। ऋ० 10.67.2.
8. स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण।
बृहस्पतिं रुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशती रुदाजत् ॥ ऋ० 4.50.5.
9. गणानां त्वा गणपतिं हवामहे। ऋ० 2.23.1.
10. नि षु सीद गणपते गणेषु। महामर्के मघवञ्चित्रमर्च। ऋ० 10.112.9.
11. गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् ॥ ऋ० 2.23.1.

लाभ करते है[1] । वे स्तोत्र-जात के जनक हैं[2] । वे मन्त्र का उच्चारण करते[3] और मानवीय पुरोहित को सूक्त सुझाते हैं[4] । फलत बाद मे उन्हे वाचस्पति भी कहा गया है[5] । वेदोत्तर-कालीन साहित्य मे इस शब्द का प्रयोग बृहस्पति के लिए उन्हे वाणी और प्रज्ञा का देवता मानकर किया गया है ।

अनेक मन्त्रो मे बृहस्पति का तादूप्य अग्नि से किया गया है । उदाहरणाय 'ब्रह्मणस्पति अग्नि का—जोकि सौन्दर्य मे मित्रतुल्य है, आह्वान किया गया है[6] । एक अन्य मन्त्र मे[7] यद्यपि अग्नि का तादूप्य अन्य देवो से भी किया गया है, तथापि ब्रह्मणस्पति के साथ उनका सवन्ध अपेक्षाकृत अधिक निखर आया है, क्योकि उस मन्त्र मे केवल ये ही दो नाम सबोधन मे आये है । एक मन्त्र मे[8] मातरिश्वा और बृहस्पति दोनो अग्नि के विशेपरण प्रतीत होते है, और एक दूसरे मन्त्र[9] मे मातरिश्वा बृहस्पति के विशेपरण प्रतीत होते है । पुन , ऐसे बृहस्पति से, जोकि नील-पृष्ठ हैं, गृहो मे अपना आवास बनाते है, प्रभासित है, हिरण्यवर्ण एव लोहित हैं, अग्नि ही का लिया जाना स्वारसिक है । दो अन्य मन्त्रो मे[10] बृहस्पति

आ विबाध्या परिरापस्तमांसि च ज्योतिष्मन्त रथमृतस्य तिष्ठसि ।
बृहस्पते भीममभित्रदम्भन रक्षोहणं गोत्रभिदं स्वर्विदम् ॥ ऋ० 2 23 3

1 त्रातारं त्वा तनूनां हवामहेऽवस्पर्तरधि वक्तारमस्मयुम् ।
बृहस्पते देवनिदो नि बर्हय मा दुरेवा उत्तरं सुम्नमुन्नशन् ॥ ऋ० 2 23 8

2 दे० 1 190 2 पृ० 171

3 दे० 1 40 5 पृ० 263

4 प्रतीचीन प्रति मामा ववृत्स्व दधामिते द्युमतीं वाचमासन् । ऋ० 10 98 2
देवश्रुतं वृष्टिवनि रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् । ऋ० 10 98 7

5 बृहस्पतये वाचस्पतये नैवारं चरुम् । मै० सं० 2 6 6
वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पति । शत० ब्रा० 14 4 1 23

6 अच्छा वदा तना गिरा जरायै ब्रह्मणस्पतिम् । अग्निं मित्र न दर्शतम् ॥ ऋ० 1 38 13

7 त्वमग्न इन्द्रो वृषभ सतामसि त्व विष्णुरुरुगायो नमस्य ।
त्व ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्व विधर्त सचसे पुरन्ध्या ॥ ऋ० 2 1 3 आदि ।

8 त शुभ्रमग्निमवसे हवामहे वैश्वानर मातरिश्वानमुक्थ्यम् ।
बृहस्पतिं मनुषो देवतातये विप्रं श्रोतारमतिथिं रघुष्यदम् ॥ ऋ० 3 26 2

9 दे० 1.190 2 पृ० 171
दे० 5 43 12 पृ० 261

10 नराशंसं सुधृष्टममपश्यं सप्रथस्तमम् । दिवो न सद्ममखसम् ॥ ऋ० 1 18 9
नराशंसो नोऽवतु प्रयाजे शं नो अस्त्वनुयाजो हवेषु ।
क्षिपदशस्तिमप दुर्मतिं हन्नथाकरद् यजमानाय शं यो ॥ ऋ० 10 182 2

नराशंस के—जोकि अग्नि का ही एक रूप है—तद्रूप प्रतीत होते हैं। अग्नि की भांति बृहस्पति भी पुरोहित हैं, वे शवसः सूनु[1] और अङ्गिरस हैं और वे यातुधानों को कीलते[2] अथवा उनकी हत्या करते हैं[3]। बृहस्पति के लिए कहा गया है कि वे स्वर्ग पर अथवा उच्चतर आवास पर आरोहण करते हैं[4]। अग्नि की भांति बृहस्पति के तीन आवास हैं[5]। वे घरों में वन्दनीय हैं[6]। वे सदसस्पति हैं[7]। इन्द्राग्नि को एक बार सदसस्पति भी कहा गया है[8]। दूसरी ओर अग्नि को ब्रह्मणस्कवि बताया गया है[9] और प्रार्थना की गई है कि वे स्तुति द्वारा (ब्रह्मणा) द्यावापृथिवी को हमारे हितकारी बनावें। किंतु सामान्यतया बृहस्पति अग्नि से भिन्न दिखाये गये हैं[10] क्योंकि देव-गणनाओं में उन्हें अग्नि के साथ न्यौता गया है—उनका नाम पृथक् से लिया गया है[11]।

अग्नि की भांति बृहस्पति को भी गोमोचन-सबन्धी इन्द्र-गाथा में सपृक्त किया गया है, और उसमें उन्हें एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। जब अङ्गिरस्-बृहस्पति ने गो व्रज को अनावृत किया और इन्द्र के साथ सहायक रूप में अन्धकारावृत अर्णांस् को उन्मुक्त किया, तब उनके ऐश्वर्य के सामने पर्वत भी नत हो

---

1 त्वामिद्धि सहसस्पुत्रमर्त्य उपब्रूते धने हिते। ऋ० 1 40 2
तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिर।
इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम्॥ ऋ० 2 23 18

2 तेजिष्ठया तपनी रक्षसस्तप ये त्वा निदे दधिरे दृष्टवीर्यम्। ऋ० 2 23 14

3 बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
प्रभञ्जन्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम्॥ ऋ० 10 103 4

4 यदा वाजमसनद्विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म। ऋ० 10 67 10

5 दे० 4 50 1 पृ० 261

6 दे० 7 97 5 पृ० 261

7. सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषम्॥ ऋ० 1 18 6

8 ता महान्ता सदस्पती इन्द्राग्नी रक्ष उब्जतम्। अप्रजाः सन्त्वत्रिणः॥ ऋ० 1 21 5.

9. त्वं नः पाह्यंहसो जातवेदो अघायतः। रक्षा णो ब्रह्मणस्कवे॥ ऋ० 6 16 30
प्राची द्यावापृथिवी ब्रह्मणा कृधि। ऋ० 2 2 7.

10 अग्नेरिव प्रसितिर्नाह वर्तवे यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः। ऋ० 2 25 3
इन्द्र नो अग्ने वसुभिः सजोषा रुद्रं रुद्रेभिरा वहा बृहन्तम्।
आदित्येभिरदितिं विश्वजन्यां बृहस्पतिमृक्वभिर्विश्ववारम्॥ ऋ० 7 10 4
दे० 10 68 9 पृ० 262

11 दधिक्रामग्निमुषसं च देवीं बृहस्पतिं सवितारं च देवम्।
अश्विना मित्रावरुणा भगं च वसून्रुद्राँ आदित्याँ इह हुवे॥ ऋ० 3 20 5

गया[1]। अपनी भजन-मण्डली के साथ रव के द्वारा उन्होंने वल को भेद दिया, और गरज कर राभती हुई गौओं को बाड़े में से बाहर निकाल दिया[2]। उन्होंने धन तथा गौओं से सपन्न गो-व्रज को जीता। सलिल और प्रकाश की इच्छा से, अबाध्य बृहस्पति अपने शत्रुओं को ज्वालाओं से झुलस देते हैं[3]। उनके उदय पर अच्युत च्युत बन गये और बलवानों ने आत्म-समर्पण कर दिया। उन्होंने गौओं को उन्मुक्त किया और वल को स्तुति द्वारा भेद दिया, उन्होंने अन्धकार को घेर लिया और स्वर्ग को अनावृत किया, मधु भरे पाषाण-मुख कुए को बृहस्पति ने तवस्त्वरा द्वारा देवगणों को पानी पिलाने के लिए भेद दिया[4]। जब बृहस्पति ने आग्नेय प्रभा द्वारा वल के बाड़ों को भेदा तब उन्होंने गो-धन को प्रकट किया, अडों को तोड़कर मानो उन्होंने गौओं को गिरि-दरी से बाहर निकाला, पाषाण में पिहित मधु को उन्होंने खोज निकाला, अपने रव से वल को दल कर उन्होंने मधु को बाहर किया, मानो उन्होंने वल की मज्जा को ही बाहर खींच लिया हो[5]। उन्होंने गौओं को उन्मुक्त किया और उन्हें स्वर्ग में वितरित किया[6]। बृहस्पति ने गौओं को गिरि-गुहा में से बाहर निकाला, वल की गौओं को स्वायत्त किया[7]। सच पूछिए तो बृहस्पति का वल विजय इतना प्रख्यात हुआ कि आगे चलकर यह एक मुहाविरा ही बन गया[8]। बादल में रहते हुए (अभ्रिय) वे अनेक गौओं के पीछे रव करते हैं[9]। ये गौएं उन जलों का प्रतिरूप प्रतीत होती हैं, जिनका

---

1 दे० 2 23 18 पृ० 265
स्वर्मीळ्हे यन्मद इन्द्र हर्ष्याहन्वृत्रं निरपामौब्जो अर्णवम्। ऋ० 1 56 5

2 दे० 4 50 5 पृ० 263

3. बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः। ऋ० 6 73 3

4 तद्देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृळ्हाव्रदन्त वीळिता।
उद्गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत्स्वः॥ ऋ० 2 24 3
अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत्।
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम्॥ ऋ० 2 24 4

5 आप्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद॥ ऋ० 10 68 4 9

6 यो गा उदाजत्स दिवे वि चाभजत्। ऋ० 2 24 14

7 बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः। ऋ० 10 68 5

8 बृहस्पतिर्विवाह वलं वाचा त्रि संसयामि तत्। अथ० 9 3 2

9 इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात्॥ ऋ० 10 68 12
दे० 10 67 3. पृ० 263, 2 23 18. पृ० 265

कई स्थलो पर उल्लेख हुआ है[1] उपा की किरणे भी इनसे अभिप्रेत हो सकती है[2]।

गौओ को उन्मुक्त करने की गाथा मे बृहस्पति अन्धकार मे प्रकाश को खोजते और उसे प्राप्त करते है। उन्होने उपा, अग्नि और प्रकाश को प्राप्त किया और अन्धकार को दूर भगाया[3]। दुर्ग का भेदन करने पर उन्हे उपा, सूर्य और गौए प्राप्त हुई[4]। उन्होने अन्धकार को ध्वस्त किया और प्रकाश को गोचर बनाया[5] इस प्रकार बृहस्पति का भी युद्ध-सवन्धी बातो से सबन्ध उभर आता है। उन्होने धन-सपन्न पर्वत का भेदन किया और शवर के दुर्ग को तहस-नहस कर डाला[6]। सर्वप्रथम उत्पन्न यज्ञपुरुप बृहस्पति अङ्गिरस्—जोकि पापाणो का भेदन करते है, वृपभ की न्याई दोनो लोको की ओर राभते एव धडूकते हैं, वे वृत्रो का वध करते, दुर्गो को विदीर्ण करते और शत्रुओ को पराजित करते है[7]। वे शत्रुओ को तितर-वितर करके उन पर विजय हासिल करते है[8]। वडे या छोटे किसी भी युद्ध मे कोई भी उन्हे नीचा नही दिखा सकता[9]। युद्ध मे उन्हे पुकारा जाता है[10] और वे युद्ध मे भूरिश. प्रशसित होनेवाले पुरोहित है[11]।

इन्द्र के साथी और सहायक होने के नाते बृहस्पति को इन्द्र[12] के साथ

1. अप सिपासुन्त्स्वरप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैं । ऋ० 6 73 3.
2. बृहस्पतिरुषस सूर्यं गामर्कं विवेद्स्तनयन्निव द्यौ । ऋ० 10 67 5
दे० 10 68 ९ पृ० 262

3 दे० 10 68 4 तथा 9 पृ० 266
4 दे० 10 67 5 ऊपर
5 दे० 2 24 3 पृ० 266 4 50 4 पृ० 261.
6 यो नन्त्वान्यनमन्न्योजसो तार्ददर्मन्युना शम्बराणि वि ।
प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद् वसुमन्त वि पर्वतम् ॥ ऋ० 2 24 2
7. यो अद्रिभित्प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान् ।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥ ऋ० 6 73 1
घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयञ्छत्रूँरमित्रान् पृत्सु साहन् । ऋ० 6 73 2
8 दे० 10 103 4 पृ० 265
नास्य वर्ता न तरुता महाधने नार्भे अस्ति वज्रिण । ऋ० 1 40 8
9 अनानुदो वृषभो जग्मिराहव निष्टप्ता शत्रु पृतनासु सासहि ।
असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद् दमिता वीळुहर्षिण ॥ ऋ० 2 23.11
10. भरेषु हव्यो नमसोपसद्य । ऋ० 2 23 13.
11. दे० 2 24 9 पृ० 262, 2 23 18 पृ० 265, 2 24 2 ऊपर
12 इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पते । ऋ० 4 50 10
बृहस्पत इन्द्र वर्धत न । ऋ० 4 50 11

वार-वार बुलाया गया है। इन्द्र के साथ बृहस्पति सोम पीते है[1] इसलिए उनकी भाति इन्हे भी मघवन् की उपाधि मिल जाती है[2]। इन्द्र ही एकमात्र ऐसे देवता हैं, जिनके साथ बृहस्पति का युग्म बनता है[3]। फलत. उन्हे सहज ही वज्रिन् की सज्ञा प्राप्त हो जाती है[4] और उनका वर्णन असुर-हन्ता के रूप मे होने लगता है[5]। इन्द्र के साथ ही मरुत् के योग मे भी बृहस्पति का आह्वान हुआ है[6] और एक वार प्रार्थना की गई है कि वे मरुतो के साथ, चाहे वे मित्र हों, वरुण हो या पूषन् हो, पधारे[7]। एक मन्त्र मे कहा गया है कि उन्होने कूप मे पडे त्रित की प्रार्थना को सुना और उन्हे उसमे से ऊपर उभारा[8]।

बृहस्पति अपने उपासको पर अनुग्रह करते है[9]। किंतु स्तुति से घिनाने-वाले पामरो को वे दण्ड भी देते हैं[10]। वे ऋजुधर्मा मानव को सभी सकटो, सभी उत्पातो, अभिशापो और शत्रुओ से बचाते हैं और उस पर छप्पर फाड धन-सपत्ति की वर्षा करते है[11]। सभी वननीय वस्तुओ के अधिपति बृहस्पति[12]

---

1. बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम्। ऋ० 4 50 3
आ न इन्द्रा बृहस्पती गृहमिन्द्रश्च गच्छतम्। सोमपा सोमपीतये। ऋ० 4 49 3
दे० 4 50 10 ऊपर
2 विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्चन प्र मिनन्ति व्रतं वाम्।
अच्छेन्द्रा ब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगातम्॥ ऋ० 2 24 12
3. दे० 4 49 1 पृ० 260 (पूर्ण सूक्त)
4. दे० 1 40 8 पृ० 267.
5 बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम्। अथ० 11 10 13.
6. उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे।
उप प्र यन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा॥ ऋ० 1 40 1
7. बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि मित्रो वा यद्वरुणो वासि पूषा।
आदित्यैर्वा यद्वसुभिर्मरुत्वान्त्स पर्जन्यं शंतनवे वृषाय॥ ऋ० 10 98 1
8 त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु॥ ऋ० 1 105 17
9 जातेन जातमति स प्र संसृते यंयं युजं कृणुते ब्रह्मणस्पतिः। ऋ० 2 25 1
10 सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्न तमंहो अश्नवत्।
ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महि तत् ते महित्वनम्॥ ऋ० 2 23 4
11 मा न शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य। रक्षाणो ब्रह्मणस्पते। ऋ० 1 18 3
दे० 2 23 4 पृ० 268, 2 23 6 एवं 7 पृ० 263 आदि 10वीं ऋक् तक।
12 दे० 7.10 4 पृ० 265.

दयालु, धनद एवं सपत्ति को बढानेवाले हैं[1] । वे आयु को बढाते और रोगो का दमन करते हैं[2] । अपनी इस उदारवृत्ति के कारण ही वे पिता कहलाते हैं[3] ।

वे असुर्य (दिव्य) हैं[4], सभी देवो से उनका सवन्ध है[5] वे देवो के भी देव-तम हैं[6] । देवता के रूप मे वे देवताओ तक पहुचे हुए है और वस्तुजात मे व्यापे हुए हैं[7] । अपने रव से उन्होने पृथिवी के छोरो को जकड कर थाम रखा है[8] । यह उन्ही का अननुकरणीय नाम है कि सूर्य-चन्द्र वारी-वारी से उदित होते हैं[9] । वनस्पतियो की उपजशक्ति को वे ही सहलाते हैं[10] । वाद मे बृहस्पति का सवन्ध तारा-विशेषो के साथ भी उभर आया है । इस प्रकार तैत्तिरीय सहिता 4 4 9-10 मे उन्हे तिष्य नक्षत्र का देवता वताया गया है और वेदोत्तर-कालीन साहित्य मे वे बृहस्पति नामक तारा माने जाने लगे है ।

बृहस्पति विशुद्ध भारतीय देवता है । दोनो प्रकार के नाम ऋग्वेद मे आद्योपान्त आते हैं । किसी क्षेत्र-विशेष के शासक के रूप मे कल्पित कोई देवता का—जिसका नाम पति शब्द के साथ समास मे वनता है (जैसेकि वाचस्पति, वास्तोस्पति, क्षेत्रस्यपति), अपेक्षाकृत उत्तर काल की ही उपज होना अधिक सगत प्रतीत होता है, क्योकि इस कोटि का देवता प्रलम्ब मानव चिन्तना का परिणाम हुआ करता है । बृहस्पति भी इसी कोटि मे आते है । फलत उनकी कल्पना का आरम्भ-काल ऋग्वेदिक काल के आस-पास ही माना जाना युक्तिसगत दीख पडता है ।

बृहस्पतिर्विश्ववारो यो अस्ति । ऋ० 7 97 4
1 यो रेवान् यो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धन । स नं सिषक्तु यस्तुर । ऋ० 1 18 2
2 दे० 1 18 2 ऊपर
3 एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भि । ऋ० 4 50 6
दे० 6 73 1 पृ० 267

4 दे० 2 23 2. पृ० 263
5 बृहस्पते जुषस्व नो हव्यानि विश्वदेव्य । रास्व रत्नानि दाशुष । ऋ० 3 62 4
दे० 4 50 6 ऊपर
6 दे० 2 24 3 पृ० 266
7 स देवो देवान् प्रति पप्रथे पृथु विश्वेदु ता परिभूर्ब्रह्मणस्पति । ऋ० 2 24 11
8 दे० 4 50 1 पृ० 261
9 अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरात । ऋ० 10 68 10
10 या फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणी ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहस ॥ ऋ० 10 97 15
या ओषधी सोमराज्ञीर्विष्ठिता पृथिवीमनु ।
बृहस्पतिप्रसूता अस्यै स दत्त वीर्यम् ॥ ऋ० 10 97 19

बृहस्पति शब्द के स्वर से ज्ञात होता है कि यह एक अनियत समास है। पूर्व-पद सभवत —अस मे अन्त होनेवाला नपुसक शब्द था। किंतु उसके समकालीन ब्रह्मणस्पति रूप से—जोकि उसी की एक प्रकार से व्याख्या है—सूचित होता है कि ऋग्वेदीय कवि इसे बृहप्रातिपदिक के षष्ठी का रूप समझते थे। स्मरण रहे कि बृह् शब्द की निष्पत्ति उसी धातु से हुई है जिससे कि ब्रह्मन् की।

उपर्युक्त बातें इस विचार को उभारती है कि बृहस्पति मूलत अग्नि के ही एक पक्ष थे और वे भक्ति के अधिष्ठाता दिव्य पुरोहित थे। अग्नि का यह पक्ष (पति के साथ बने हुए अग्नि के अन्य विशेषणो से भिन्न जैसेकि विशा पति, गृहपति, सदस्पति) ऋग्वेदीय युग के आरम्भकाल मे अपने निजी रूप को पा चुका था, यद्यपि इसका अग्नि से सबन्ध अब भी पूर्णत विच्छिन्न नही हो पाया था। लॉंग्लुई, एच० एच० विल्सन और मैक्समूलर बृहस्पति को अग्नि का एक रूप मानने मे सहमत है। रॉथ के मत मे बृहस्पति यज्ञ-देव एव भक्ति शक्ति के सीधे मानवीकरण है। केजी और ओल्डनबेर्ग के अनुसार ये पौरोहित्य कार्य के भावात्मक रूप (Abstraction) हैं, और इन्होने पूर्ववर्ती देवताओ के कार्यो को नियमित एव सुव्यवस्थित किया है। वेबर का कहना है कि बृहस्पति इन्द्र के पुरोहितो द्वारा कल्पित एक भावात्मक देव है। हापकिन्स वेबर का अनुगमन करते है। अन्त मे, हिलेब्राण्ट उन्हे वनस्पतियो का अधिष्ठाता और चन्द्रमा का मानवीकरण बताते है जो मुख्यत उस ज्योतिष्पुञ्ज के ज्वालामय पक्ष का प्रतिरूप है।

दिव्य ब्रह्मा नामक पुरोहित के रूप मे बृहस्पति हिन्दू देव मयी के प्रमुख देवता ब्रह्मा के पूर्वरूप जान पडते है। इसी समय मे ब्रह्म शब्द का नपुसक रूप वेदान्त दर्शन के ब्रह्म मे पल्लवित हुआ दीख पडता है।

सोम (§ 37)—

सोम याग वैदिक कर्मकाण्ड का प्रमुख अङ्ग है, फलत सोम ऋग्वेद के सबसे महान् देवो मे से एक हैं। नवम मण्डल के सारे ही 114 सूक्त एव अन्य मण्डलो मे भी छ सूक्त सोम के निमित्त कहे गये है। चार या पाच सूक्तो मे अशत सोम का स्तवन हुआ है, और इन्द्र, अग्नि, पूषा या रुद्र के साथ देवता युग्म के रूप मे भी इनका छ अन्य सूक्तो मे कीर्तन हुआ है। और समस्त रूप मे सोम का नाम ऋग्वेद मे सैकडो बार आया है। प्रयोगाधिक्य की दृष्टि से सोम का ऋग्वेद के देवो मे तृतीय स्थान पडता है। सोम का मानवीय विग्रह इन्द्र और वरुण की अपेक्षा बहुत कम विकसित हो पाया है, क्योकि सोम को विग्रहवान् बनाकर देखनेवाले कवियो के समक्ष सोम का वनस्पति रूप सदैव उभरा रहता था। फलत सोम के मानवीय विग्रह या उनके मानवीय कार्यो के विषय मे बहुत ही स्वल्प उल्लेख हो पाया है। शौर्य के प्रभूत कार्य, जो उनमे निक्षिप्त हुए मिलते है, या तो फीके रह गये है—

क्योकि वे कार्य प्राय. सभी देवो मे निष्ठ हैं—अथवा वे गौण रूप से सोम मे आक्षिप्त हो पाये है। अन्य देवताओ की भाति सोम या इन्दु नाम से यज्ञ मे उनका आह्वान किया गया है, जिससे कि बर्हि पर बैठकर वे हविष् को स्वीकार करे। नवम मण्डल मे प्रधानतया स्थूल सोम का गुणगान किया गया है—पाषाणो द्वारा इसका सवन किया जाता है, तदुपरान्त इसे ऊनी छलनी मे से छानकर दारु-पात्रो मे इकट्ठा किया जाता है जहा से इसे देवताओ के लिए बर्हि पर पेय रूप मे पेश किया जाता है, इसे अग्नि मे भी डालते हैं[1] अथवा पुरोहित लोग इसे पीते है, सोम से सवन्ध रखनेवाली इन प्रक्रियाओ का वर्णन विविध कल्पनाओ से समाचित होते-होते समृद्ध बन गया है और इसके सवन्ध मे की गई कुछ प्रकल्पनाए अनेक स्थलो पर एकान्तत रहस्यमय बन गई है।

सोमगाथा के आधारभूत तत्त्व हैं—पार्थिव सोम-लता और इससे निकाला हुआ मादक स्राव। फलत सोम सवन्धी गाथाओ को समझने के लिए सोमलता का तथा सोमस्राव का सक्षिप्त प्रक्रिया के साथ विवरण देना उपयोगी होगा। सोमलता के पेष्य अश को अशु कहते है[2]। ये अशु जब फूल जाते हैं तब इनमे से स्राव टपकता है जैसे कि गौओ के स्तनो से दूध[3]। डठल से अलग समस्त सोमलता को सभवत अन्धस् कहते है[4]। यह स्वर्ग से आई है[5] और श्येन के द्वारा लाई गई है[6]। सोम पद का व्यवहार द्रव के लिए भी होता है और इसे इन्दु देव

1 तत् ते भद्र यत् समिद्ध स्वे दमे सोमाहुतो जरसे मृळयत्तम।
दधासि रत्न द्रविण च दाशुषेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वय तव॥ ऋ० 1 94 14
प्राग्नये तवसे भरध्व गिर दिवो अरतये पृथिव्या।
यो विश्वेषाममृतानामुपस्थे वैश्वानरो वावृधे जागृवद्भि॥ ऋ० 7.5 1.
उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। स्तोमैर्विधेमाग्नये। ऋ० 8 43 11
2 प्र प्यायस्व प्र स्यन्दस्व सोम विश्वेभिरशुभि। देवेभ्य उत्तम हवि। ऋ० 9 67 28
3 यच्चापीतासो अशवो गावो न दुह्र ऊधभि.।
यद् वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना॥ ऋ० 8 9 19.
4. यो विश्वान्यभि व्रता सोमस्य मदे अन्धस। इन्द्रो देवेषु चेतति। ऋ० 8 32 28
ते अद्रयो दशयन्त्रास आशव तेषामाधान पर्येति हर्यतम्।
त ऊ सुतस्य सोम्यस्यान्धसोऽशो पीयूष प्रथमस्य भेजिरे॥ ऋ० 10 94 8
5. उच्चा ते जातमन्धसो दिवि षद्भूम्या ददे। उग्र शर्म महि श्रव। ऋ० 9 61 10
6 ऋजु श्येन पतयदन्धो अच्छा युवा कविर्दीदयद् गोषु गच्छन्। ऋ० 5 45 9.
मन्द्रस्य रूप विविदुर्मनीषिण श्येनो यदन्धो अभरत्परावत.।
त मर्जयन्त सुवृध नदीष्वा उशन्तमशु परियन्तमृग्मियम्॥ ऋ० 9 68 6
य ते श्येनश्चारुमवृक पदाभरदरुण मानमन्धस। ऋ० 10 144 5

से पृथक् किया गया है[1]। द्रव को सोम (सोम नाम पौधे का भी है) अथवा केवल रस भी कहते है। एक सूक्त[2] मे द्रव को पितु (पेय) की सज्ञा मिली है, और इसे मद (मादक पेय) भी कहा गया है। सोम का उल्लेख अन्न के साथ भी बहुत बार आया है[3]। मधु शब्द, जो अश्विनो के सबन्ध मे शहद का बोधक है, अपने साधारण 'मीठा पेय' इस अर्थ मे न केवल पयस् और घृत के लिए, अपितु सोम रस के लिए भी प्रयुक्त हुआ है[4]। गाथेय मधु अमृत रूपी सोम का पर्याय द्रव है। ठीक इसके विपरीत अमृत शब्द का प्रयोग अनेक बार साधारण सोम के लिए हुआ है[5] पिसे हुए सोम स्वराट् अमृत है[6]। एक अन्य पद 'सोम्य मधु' का प्रयोग भी यत्र-तत्र आता है[7]। आलकारिक शब्दो मे सोम को पीयूष[8] दुग्ध[9], लता की ऊर्मि[10]

---

1 तव् त्य इन्दो अन्धसो देवा मधोर्व्यश्नते।
पवमानस्य मरुतं । ऋ० 9 51 3
त वो विं न द्रुषदं देवमन्धस इन्दु प्रोथन्त प्रवपन्तमर्णवम्।
आसा वह्नि न शोचिषा विरप्शिन महिव्रत न सरजन्त मध्वन ॥ ऋ० 10 115 3

2 पितु नु स्तोषं महो धर्माण तविषीम्।
यस्य त्रितो व्योजसा वृत्र विपर्वमर्दयत् ॥ ऋ० 1 187 1

3 यद्वधिषे प्रदिवि चार्वन्न दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि। ऋ० 7 98 2
इद ते अन्न युज्य समुक्षित तस्येहि प्रद्रवा पिब। ऋ० 8 4 12
एष वै सोमो राजा देवानामन्न यचन्द्रमा। शत० ब्रा० 1 6 4 5

4 अध्वर्युभि प्रयत मध्वो अग्रमिन्द्रो मदाय प्रति धत्पिबध्यै। ऋ० 4 27 5
इन्द्राय गाव आशिर दुदुह्रे वज्रिणे मधु। ऋ० 8 69 6

5 नू चित्नु वायोरमृत विदस्येत्। ऋ० 6 37 3
हिरण्यदन्त शुचिवर्णमारात् क्षेत्रादपश्यमायुधा मिमानम्।
ददानो अस्मा अमृत विपृक्वत्कि मामनिन्द्रा कृणवन्ननुक्था ॥ ऋ० 5 2 3
श्रात्रा स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्ताऽमृतस्य पत्नी ।
ता देवीर्देवत्रेम यज्ञ नयतोपहूता सोमस्य पिबत ॥ वा० स० 6 34
तद् यत्तदमृत सोम स । शत० ब्रा० 9 5 1 8

6 सोमो राजाऽमृत सुत । वा० स० 19 72

7 तूय ययौ मधुना सोम्येनोत श्रवो विविदे श्येनो अत्र। ऋ० 4 26 5
राजाभवन्मधुन सोम्यस्य। ऋ० 6 20 3

8 दे० 3 48 2 पृ० 132

9. अयो पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोश मधुश्चुतम्। ऋ० 9.107 12

10 स मत्सर पृत्सु वन्वन्नवात सहस्ररेता अभि वाजमर्ष।
इन्द्रायेन्दो पवमानो मनीष्य १ शो रूर्मिमीरय गा इषण्यन् ॥ ऋ० 9 96 8.

या मधु-रस भी[1] कहा गया है। सोम के लिए सबसे अधिक प्रयोग में आने वाला आलंकारिक शब्द 'इन्दु' (चमकने वाला बूँद) है। एक दूसरा शब्द 'द्रप्स' है, जिसका प्रयोग अपेक्षाकृत कम बार हुआ है। सोम-सवन के वर्णन में साधारणतया √'षुञ् अभिषवे' धातु का प्रयोग किया गया है[2], इसके लिए अनेक बार √दुह् धातु का प्रयोग भी मिलता है[3]। यह रस मादक और मधुमत् है[4]। मधुमत् पद का स्वारसिक अर्थ है 'मीठा', किंतु सोम के लिए प्रयुक्त होने पर यह 'मधु-मिश्रित' सोम का बोधक बन जाता है। सोम और मधु के मिश्रण के संकेत कई मन्त्रों में आते हैं[5]। पेषण करने के उपरांत बहने वाले सोम-रस की उपमा जल-स्रोत की ऊर्मियों से दी गई है[6] और इसे सीधे ऊर्मि[7] या मधूर्मि[8] भी कहा गया है। दारु-पात्रों में एकत्र हुए सोम-रस को अर्णव (समुद्र) कहा गया है[9]। और अनेक बार उसे समुद्र कहकर भी पुकारा गया है[10]। दिव्य सोम का 'उत्स' यह

1. मध्वो रसं सुगभस्तिर्गिरिष्ठां चनिश्चदद् दुदुहे शुक्रमंशुः । ऋ० 5 43 4
2. असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः । श्येनो न योनिमासदत् ॥ ऋ० 9 62 4
3. यदीं सोमं पृणति दुग्धो अंशुः । ऋ० 3 36 6
समुद्रेण सिन्धवो यादमाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्तः ।
अंशुं दुहन्ति हस्तिनो भरित्रैर्मध्वः पुनन्ति धारया पवित्रैः ॥ ऋ० 3 36 7
4. अंशो सुत पायय मत्सरस्य । ऋ० 1 125 3
पूषा विष्णुस्त्रीणि सरांसि धावन् वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै । ऋ० 6 17 11
प्र श्येनो न मदिरमंशुमस्मै शिरो दासस्य नमुचेर्मथायन् ॥ ऋ० 6 20 6
रसाय्यः पयसा पिन्वमान ईरयन्नेषि मधुमन्तमंशुम् । ऋ० 9 97.14
5. मधोर्धारामनुक्षर तीव्रः सधस्थमासदः । चारुर्ऋताय पीतये ॥ ऋ० 9 17 8
पवस्व सोम क्रतुविन्न उक्थ्योऽव्यो वारे परि धाव मधु प्रियम् ।
जहि विश्वान् रक्षस इन्दो अत्रिणो बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ऋ० 9 86 48
अध धारया मध्वा पृचानस्तिरो रोम पवते अद्रिदुग्धः ।
इन्दुरिन्द्रस्य सख्यं जुषाणो देवो देवस्य मत्सरो मदाय ॥ ऋ० 9 97 11
असर्जि वाजी तिरः पवित्रमिन्द्राय सोमः सहस्रधारः ॥ ऋ० 9 109 19
अञ्जन्त्येनं मध्वो रसेनेन्द्राय वृष्ण इन्दुं मदाय ॥ ऋ० 9 109 20
6. सिन्धोरिवोर्मिः पवमानो अर्षसि । ऋ० 9 80 5
7. ऊर्मिर्यस्ते पवित्र आ देववीः पर्यक्षरत् । सीदन्नृतस्य योनिमा ॥ ऋ० 9 64 11
8. आ सिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिवः सुतानाम् ॥ ऋ० 3 47 1
9. दे० 10 115 3 पृ० 272
10. उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश । ऋ० 5 47 3
केतुं कृण्वन् दिवस्परि विश्वा रूपाभ्यर्षसि । समुद्रः सोम पिन्वसे ॥ ऋ० 9 64 8

नाम भी आता है, यह उत्स गौओ के परम पद मे विराजित है[1], इसे गौओ मे स्थापित किया गया है और दश रश्मियो द्वारा नियमित किया गया है[2]। स्थान-स्थान पर इसे विष्णु के परम पद मे पाया जाने वाला 'मधु-उत्स' भी बताया गया है[3]।

सोमलता, सोमरस एव सोमदेवता का रग बभ्रु, अरुण और इससे भी अधिक बार हरित बताया गया है। इस प्रकार सोम एक अरुण वनस्पति की टहनी है[4]। यह अरुण दूध वाला अकुर है[5]। हरित अकुर को पीसा जाता है[6] सोमलता का रग अरुण है[7], और कर्मकाण्ड मे सोम-क्रय के लिए दी जाने वाली गौ का लोहित या भूरी होना आवश्यक है, क्योकि सोम का अपना रग वही है[8]।

सोम के वर्णन मे आता है कि हाथो से इसे पवित्र करते है[9], दश अंगुलियो से[10] या आलकारिक भाषा मे, दश युवतियो से, जोकि विवस्वान् की बहनें या पुत्रियाँ है[11]। इसी प्रकार त्रित की युवतियो के विषय मे कहा गया है कि वे बभ्रु (सोम) को द्रप्स-रूप मे इन्द्र के पीने के लिए उकसाती है[12]। सोम के विषय मे यह

---

1. उत्सं आसां परमे सधस्थ ऋतस्य पथा सरमा विदद्गा ॥ ऋ० 5 45 8
2. अय द्यावा पृथिवी विष्कभायदय रथमयुनक् सप्तरश्मिम् ।
   अय गोषु शच्या पक्वमन्त सोमो दाधार दशयन्त्रमुत्सम् ॥ ऋ० 6 44 24
3. विष्णो पदे परमे मध्व उत्स । ऋ० 1 154 5
4. वृक्षस्य शाखामरुणस्य बप्सतस्ते सूभर्वा वृषभा प्रेमराविषु ॥ ऋ० 10 94 3
5. अध्वर्यवोऽरुण दुग्धमशु जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम् । ऋ० 7.98 1
6. परि सुवानो हरिरशु पवित्रे रथो न सर्जि सनये हियान । ऋ० 9 92 1
7. स यान्यरुण पुष्पाणि फाल्गुनानि तान्यभिषुणुयादेषवै सोमस्य न्यङ्गो
   य दरुण पुष्पाणि फाल्गुनानि । शत० 4 5 10 2
8. अरुणया पिङ्गाक्ष्या क्रीणात्येतद्वै सोमस्य रूपम् । तै० स० 6 1 6 7
   सा या बभ्रु पिङ्गाक्षी । सा सोमक्रयण्यथ या रोहिणी सा वार्त्रघ्नी । शत० 3 3 1 14
9. पवमान मह्यर्णो वि धावसि सूरो न चित्रो अव्ययानि पव्यया ।
   गभस्तिपूतो नृभिरद्रिभि सुतो महे वाजाय धन्याय धन्वसि ॥ ऋ० 9.86 34
10. मृजन्ति त्वा दश क्षिपो हिन्वन्ति सप्त धीतय । अनु विप्रा अमादिषु ॥ ऋ० 9 8 4
    एतमु त्य दश क्षिपो मृजन्ति सप्त धीतय । स्वायुध मदिन्तमम् ॥ ऋ० 9 15 8
11. तमीमण्वी समर्य आ गृभ्णन्ति योषणो दश । स्वसार पार्ये दिवि ॥ ऋ० 9 1 7
    यमत्यमिव वाजिन मृजन्ति योषणो दश । वने क्रीळन्तमत्यविम् ॥ ऋ० 9 6 5
    नृभीभिर्यो विवस्वत शुभ्रो न मामृजे युवा । गा कृण्वानो न निर्णिजम् ॥ ऋ० 9 14 5
12. आदी त्रितस्य योषणो हरि हिन्वन्त्यद्रिभि । इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ ऋ० 9 32 2.

भी उल्लेख मिलता है कि वह सूर्य-दुहिता के द्वारा लाया या पीसा गया है[1]। कभी-कभी इसे स्तुति द्वारा पवित्र हुआ भी बताया गया है[2]। सोम-सवन करने वाला पुरोहित अध्वर्यु है[3]।

सोम-अंकुर को पाषाण या पाषाणों[4] द्वारा पीसा जाता है[5]। सोम-रस निकालने के लिए लता को कुचला जाता है[6]। पाषाण द्वारा इसके छिलके को अलग करते हैं[7]। पाषाणों को चर्म पर रखा जाता है, क्योंकि कहा गया है कि ये पाषाण 'सोम को गौ के चर्म पर चबाते है'[8]। वे वेदि पर रखे होते है[9]। यह ढंग उत्तरकालीन कर्मकाण्ड के ढंग से भिन्न है। इन पाषाणों को हाथों या भुजाओं से पकड़ते हैं[10]। दोनों भुजाएं और दश अँगुलियाँ पाषाण को काम में जोड़ती है[11]। अतः कहा गया है कि पाषाणों का नियमन दश रश्मियों के द्वारा होता है[12]।

एतं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। इन्दुमिन्द्राय पीतये॥ ऋ० 9.38 2.

1. पुनाति ते परिस्रुतं सोमं सूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना॥ ऋ० 9.1.6.
अरममाणो अत्येति गा अभि सूर्यस्य प्रियं दुहितु स्तिरो रवम्।
अन्वस्मै जोषमभर द्विनं गृसः सं द्वयीभिः स्वसृभिः क्षेति जामिभिः॥ ऋ० 9.72.3.
पर्जन्यवृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहिताभरत्।
तं गन्धर्वा प्रत्यगृभ्णन् तं सोमे रसमादधुरिन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ऋ० 9.113.3.

2. एषस्य सोमो मतिभिः पुनानोऽत्योन वाजी तरतीदरातीः।
पयो न दुग्ध मदिते रिषिरमुर्विव गातुः सुयमो न वोळहा॥ ऋ० 9.96.15.
पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावाऽपो वसानो अधि सानो अव्ये।
अव द्रोणानि घृतवान्ति सीद मदिन्तमो मत्सर इन्द्रपानः॥ ऋ० 9.96.13.
पुनानो ब्रह्मणाहर इन्द्रायेन्दो परि स्रव। ऋ० 9.113.5.

3. अध्वर्यो द्रावयात्वं सोममिन्द्रः पिपासति। ऋ० 8.4.11.

4. आ सोम सुवानो अद्रिभिस्तिरो वाराण्यव्यया।
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दधिषे॥ ऋ० 9.107.10

5. ग्राव्णा तुन्नो अभिष्टुतः पवित्रं सोम गच्छसि। दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम्॥ ऋ० 9.67.19.

6. सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिंषन्त्योषधिम्। ऋ० 10.85.3.

7. यत्ते त्वचं बिभिदुर्यच्च योनिम्। तै० ब्रा० 3.7.13.1.

8. अद्रयस्त्वा बप्सति गोरधि त्वच्य१प्सुत्वा हस्तैर्दुदुहुर्मनीषिणः ऋ० 9.79.4.

9. वदन् ग्रावाव वेदिं भ्रियाते यस्य जीरमध्वर्यवश्चरन्ति। ऋ० 5.31.12.
दे० 9.79.4. ऊपर।

10. सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा। ऋ० 7.22.1.
गृहाण ग्रावाणौ सुकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञियायज्ञमगुः। अथ० 11.1.10.

11. दशक्षिपो युञ्जते बाहू अद्रिं सोमस्य या शमितारा सुहस्ता। ऋ० 5.43.4.

12. ते अद्रयो दशयन्त्रास आशवस्तेषामाधानं पर्येति हर्यतम्। ऋ० 10.94.8.

क्योकि उनके इस काम को 'जोतना' बताया गया है, अत उनकी तुलना अश्वो से की गई है[1] । सवन पाषाण का व्यावहारिक नाम अद्रि (जो साधारणत √र धातु के साथ प्रयुक्त होता है) या ग्रावा, जो साधारणत वद् या इसके समानार्थक धातुओ के साथ प्रयुक्त होता है और इस प्रकार विग्रहवत्त्व की दिशा मे इसक अद्रि की अपेक्षा अधिक रुझान है। दोनो शब्द प्राय एकवचन या बहुवचन ं आते है, द्विवचन मे कभी नही। पाषाणो को अश्न[2], भरित्र[3], पर्वत[4] और पर्वत अद्रय[5] भी कहा गया है। पाषाणो द्वारा सोम-सवन करना ऋग्वेद काल की प्रथ थी। किंतु उलूखल के द्वारा सोम पीसना भी—जिसका कि कर्मकाण्ड के ग्रन्थो ं विधान किया गया है—ऋग्वेद काल मे चालू था[6], और क्योकि यह ढग पारसिय मे भी मिलता है अत प्रतीत होता है कि सभवत भारत-ईरानी काल मे भी इसक चलन होता रहा हो।

पीसने पर रिसी हुई बूंदें अवि के बालो से बनी छलनी मे से छानी जातं हैं[7]। छानने से सोम की अशुद्धि या रेशे पृथक् हो जाते है और शुद्ध होने पर ही सोम देवताओ का भोज्य बन पाता है[8]। इस छलनी के अनेक नाम पड गए है, जैसे त्वच्, रोमन्, वार, पवित्र या सानु। ये सभी नाम अवि शब्द से बने विशेषण के साथ अथवा उसके बिना भी प्रयुक्त हुए मिलते हैं। स्वय अवि शब्द का भी आलकारिक रूप से इस अर्थ मे प्रयोग हुआ है। छलनी मे से छनते हुए सोम को पवमान या पुनान (√पू) कहा गया है। अधिक व्यापक √मृज् धातु का प्रयोग न केवल सोम-शोधन के लिए, अपितु उसके साथ जल और दूध के मिश्रण के

---

1 उग्रा इव प्रवहन्त समायमु साकं युक्ता वृषणो बिभ्रतो धुर ।
यच्छ्वसन्तो जग्रसाना अराविषु शृण्व एषा प्रोथथो अर्वतामिव ॥ ऋ० 10 94 6

2 नृभिर्धूत सुतो अश्नै रव्यो वारै परिपूत । अश्वो न निक्तो नदीषु ॥ ऋ० 8 2 2

3 दे० 3 36 7 पृ० 273

4 इमं नर पर्वतास्तुभ्यमाप समिन्द्र गोभि मधुमन्तमक्रन् । ऋ० 3 35 8

5 यदद्रय पर्वता साकमाशव श्लोकं घोषं भरथेन्द्राय सोमिने । ऋ० 10 94 1

6 यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे ।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुल ॥ ऋ० 1 28 1-4 तक

7 परीतो वायवे सुत गिर इन्द्राय मत्सरम् ।
अव्यो वारेषु सिञ्चत ॥ ऋ० 9 63 10
पूते सोमा पवमानास इन्दवो रथा इव प्रवयु सातिमच्छ ।
सुता पवित्रमति यन्त्यव्यं हित्वी वव्रिं हरितो वृष्टिमच्छ ॥ ऋ० 9 69 9

8 प्र राजा वाचं जनयन्नसिष्यददपो वसानो अभि गा इयक्षति ।
गृभ्णाति रिप्रमविरस्य तान्वा शुद्धो देवानामुप याति निष्कृतम् ॥ ऋ० 9 78 1

लिए भी आया है[1]। अमिश्रित सोम-रस को कभी-कभी शुद्ध, किंतु अपेक्षाकृत अधिक बार शुक्र या शुचि बताया गया है[2]। इस अमिश्रित सोम को केवल वायु और इन्द्र के लिए देते है। 'शुचिपा' विशेषण वायु का अपना है। यह वर्णन परवर्ती कर्मकाण्ड की प्रथा के साथ सगत है, जहा कि ग्रहो मे वायु या इन्द्र-वायु के लिए शुचि सोम प्रदान किया जाता है, किंतु मित्र-वरुण के लिए इसे दूध मे और अश्विनो के लिए मधु मे मिला कर देते है।

छलनी मे से निकलकर सोम कलश या द्रोण मे एकत्र होता है[3]। सोम-धाराए दारु-पात्र मे महिषो की भाति पडती है[4]। यह देवता दारु पात्र मे विराजने के लिए पक्षियो की भाति उडकर जाता है[5]; वृक्ष पर बैठे पक्षी की तरह हरित (सोम) चमू मे बैठ जाता है[6]। काष्ठपात्र मे सोम-रस को जल के साथ मिलाया जाता है। ऊर्मि के साथ युक्त होने पर सोम-डंठल गिर जाता है[7]। जैसे साँड गौओ के रेवड मे, उसी प्रकार सोम काष्ठ-पात्र मे प्रविष्ट होता है। वह जलो की गोद मे जाता और साँड की तरह राभता है। अपने को जलावृत करके इन्दु-कोश की परिक्रमा करता है[8]। कवि अपने हाथो उसे जल मे दुहते

1. हरिर्मित्रस्य सदनेषु सीदति मर्मृजानोऽविभिः सिन्धुभिर्वृषा ॥ ऋ० 9 86 11.
2. इमे त इन्द्र सोमास्तीव्रा अस्मे सुतासः । शुक्रा आशिरं याचन्ते ॥ ऋ० 8 2 10
अभि द्रोणानि बभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया । वाजं गोमन्तमक्षरन् ॥ ऋ० 9.33 2.
सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये । सोमासो दध्याशिरः ॥ ऋ० 1 5 5.
शतं वा यः शुचीनां सहस्रं वा समाशिराम् । एदु निम्नं न रीयते ॥ ऋ० 1 30.2.
3. अति वारान्पवमानो असिष्यदत्कलशाँ अभि धावति ।
इन्द्रस्य हार्द्याविशन् ॥ ऋ० 9 60 3
4. प्र सोमासो विपश्चितोऽपां न यन्त्यूर्मयः । वनानि महिषा इव ॥ ऋ० 9 33 1
परि सद्मेव पशुमान्ति होता राजा न सत्यः समितीरियानः ।
सोमः पुनानः कलशाँ अयासीत् सीदन्मृगो न महिषो वनेषु ॥ ऋ० 9 92 6
5 एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयति । अभि द्रोणान्यासदम् ॥ ऋ० 9 3 1.
6. नृबाहुभ्यां चोदितो धारया सुतोऽनुष्वधं पवते सोम इन्द्र ते ।
आप्राः क्रतून्समजैरध्वरे मतीर्वेर्न द्रुषच्चम्वोरासदद्धरिः ॥ ऋ० 9 72.5.
7 अरावीदंशुः सचमान ऊर्मिणा देवाव्यं मनुषे पिन्वति त्वचम् ।
दधाति गर्भमदितेरुपस्थ आ येन तोकं च तनयं च धामहे ॥ ऋ० 9.74 5.
8. वृषेव यूथा परि कोशमर्षन्नपामुपस्थे वृषभः कनिक्रदत् ।
स इन्द्राय पवसे मत्सरिन्तमो यथा जेषाम समिथे त्वोतयः ॥ ऋ० 9.76.5
अपो वसानः परि कोशमर्षतीन्दुर्हियानः सोतृभिः ।
जनयञ्ज्योतिर्मन्दना अवीवशद्गाः कृण्वानो न निर्णिजम् ॥ ऋ० 9 107.26.

है[1]। ऊन में से छन जाने के बाद और काष्ठ-पात्र में क्रीडा करने के उपरांत उसे दश युवतियाँ शुद्ध करती है[2]। अनेक मन्त्रों मे सोम का जल के साथ मिश्रित होना दिखाया गया है[3]। सोम की बूंदें स्रोतों में प्रकाश फैलाती है[4]। जल-मिश्रण के[5] सूचक √मृज् धातु के अतिरिक्त शुद्धयर्थक √आ-धाव् धातु का भी प्रयोग इस अर्थ मे हुआ है[6]। सोम तैयार करने की प्रक्रिया में प्रथम सवन आता है; तदुपरान्त जल-मिश्रण[7]; ठीक उसी तरह जैसे बाद के कर्मकाण्ड में 'सवन' कार्य 'आधावन' के पूर्व आता है। पात्रों में सोम को दूध के साथ मिलाते[8] हैं; दूध इसे मीठा बना देता है[9]। अनेक मन्त्रों में जल तथा दूध दोनों के मिश्रण का वर्णन आता है। इस प्रकार कहा गया है कि सोम अपने को जल-वस्त्र से आवृत करता है, जल-स्रोत इसके पीछे-पीछे प्रवाहित होते है, जब वह गौओं में अपने को छिपाने की कामना करता है[10]। उसे पाषाणों से पीसा जाता है और जल में धोया जाता है; मानों

1. दे० 9.79.4. पृ० 275.
2. दे० 9.6.5. पृ० 274.
3. अप्सु त्वा मधुमत्तमं हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः। इन्दविन्द्राय पीतये॥ ऋ० 9.30.5.
तं हिन्वन्ति मदच्युतं हरिं नदीषु वाजिनम्। इन्दुमिन्द्राय मत्सरम्॥ ऋ०9.53.4.
राजा समुद्रं नद्यो३ वि गाहतेऽपामूर्मिं सचते सिन्धुषु श्रितः।
अध्यस्थात् सानु पवमानो अव्ययं नाभा पृथिव्या धरुणो महो दिवः॥ ऋ० 9.86 8.
अव्ये पुनानं परि वार ऊर्मिणा हरिं नवन्ते अभि सप्त धेनवः।
अपामुपस्थे अध्यायवः कविमृतस्य योना महिषा अहेषत॥ ऋ० 9.86.25.
4. धर्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः।
हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुते नदीष्वा॥ ऋ० 9 76.1.
5. तमीं मृजन्त्यायवो हरिं नदीषु वाजिनम्। इन्दुमिन्द्राय मत्सरम्॥ ऋ० 9.63.17.
6. सोता हि सोममद्रिभि रेमेनमप्सु धावत।
गव्या वस्त्रेव वासयन्त इन्नरो निर्धुक्षन् वक्षणाभ्यः॥ ऋ० 8.1.17.
7. यस्ते गभीरा सवनानि वृत्रहन्त्सुनोत्या च धावति॥ ऋ० 7.32 6.
दे० 8.1.17. ऊपर
या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा॥ ऋ० 8.31.5.
इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत। अथ० 6.2.1.
8. पुनान कलशेष्वा वस्त्राण्यरुषो हरिः। परि गव्यान्यव्यत॥ ऋ० 9.8.6.
9. तं ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्तः। इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे॥ ऋ० 8.2.3.
10. अधुक्षत प्रियं मधु धारा सुतस्य वेधसः अपो वसिष्ट सुक्रतुः॥ ऋ० 9.2.3.
महान्तं त्वा महीरन्वापो अर्षन्ति सिन्धवः।
यद्गोभिर्वासयिष्यसे॥ ऋ० 9.2.4.

उसे गव्य वस्त्र मे ढक लिया जाता है। मनुष्य उसे डण्ठल मे से दुहते है[1]।

ऋग्वेद मे सोम की दोह्री (मिश्रित रूप) के तीन रूप दीख पडते हैं[2]—गवाशिर्, दध्याशिर् और यवाशिर्। इस मिश्रण का आलकारिक रूप से वस्त्र, वासस्, अत्क या निर्णिज्[3], इन शब्दो से वर्णन किया गया है। निर्णिज् शब्द का प्रयोग छलनी के लिए भी आता है[4]। फलत सोम को सौन्दर्य-सवलित बताया गया है[5]। घृत के साथ भी सोम-मिश्रण के कुछ उल्लेख मिलते है[6], किंतु घृत और जल के मिश्रण स्थायी आशिर् नही है।

कर्मकाण्ड मे एक आप्यायन नामक क्रिया का भी निर्देश आता है। आप्यायन का अर्थ है: अर्ध-सुत सोम-डण्ठलो को फिर से पानी मे डालकर नर्म करके फुलाना। इस कर्म का आरम्भ मैत्रायणी सहिता[7] मे मिलता है। आ+√प्या धातु का ऋग्वेद मे सोम के सबन्ध मे प्रयोग हुआ है[8]। इस प्रसग मे यह सोम के तद्रूप चन्द्रमा का सकेतक प्रतीत होता है किंतु एक अन्य मन्त्र मे इसका यज्ञ सबन्धी प्रयोग भी सभव है[9]। ऋग्वेद मे सोम का समुद्र या नदी की भाँति 'पी' या 'पिन्व'

---

1. दे० 8 1 17 पृ० 278
तुभ्यं हिन्वानो वसिष्ट गा अपोऽधुक्षन्त्सीमविभिरद्रिभिर्नर । ऋ० 2 36 1.
तमुते गावो नर आपो अद्रिरिन्दु समह्यन् पीतये समस्मै । ऋ० 6 40 2.
त्वा सोम पवमान स्वाध्योऽनु विप्रासो अमदन्नवस्यव ।
त्वा सुपर्ण आभरद् दिवस्परीन्दो विश्वाभिर्मतिभि परिष्कृतम् ॥ ऋ० 9 86 24
दे० 9 86 25 पृ० 278
चमूषच्छ्येन शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्।
अपामूर्मि सचमान समुद्र तुरीय धाम महिषो विवक्ति ॥ ऋ० 9 96 19
2. यस्य मा परुषा शतमुद्धर्षयन्त्युक्षण ।
अश्वमेधस्य दाना सोमाइव त्र्याशिर ॥ ऋ० 5 27 5
3. दे० 9 14 5 पृ० 274
4 रुवति भीमो वृषभस्तविष्यया शृङ्गे शिशानो हरिणी विचक्षण ।
आ योनि सोम सुकृत निषीदति गव्ययी त्वग्भवति निर्णिगव्ययी ॥ ऋ० 9 70 7
5 भुवत् त्रितस्य मर्ज्यो भुवदिन्द्राय मत्सर । स रूपैरज्यते हरि: ॥ ऋ० 9 34 4
प्र सोमस्य पवमानस्योर्मय इन्द्रस्य यन्ति जठर सुपेशस । ऋ० 9 81.1.
6 अप सेधन्दुरिता सोम मृळय घृत वसान. परि यासि निर्णिजम्। ऋ० 9.82 2.
7. वसतीवरीभि सोममाप्याययन्ति। मै० सं० 4.5.5.
8. आ प्यायस्व समेतु ते विश्वत सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य सगथे ॥ ऋ० 1 91 16
यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुन । ऋ० 10 85.5.
9. दे० 9 31 4. के लिए 1 91 16 ऊपर।

करना भी कहा गया है[1] ।

ऋग्वेद के अनुसार सोम का सवन दिन मे तीन वार किया जाता था । इस प्रकार ऋभुओ को साय सवन मे[2] और इन्द्र को माध्यदिन सवन मे[3]—जो एक मात्र उन्ही का है—न्यौता गया है जबकि प्रात सवन इन्द्र का सबसे पहला प्रातराश है[4] ।

सोम के आवास (सधस्थ) का बहुधा उल्लेख मिलता है । किंतु एक वार तीन आवासो का उल्लेख हुआ है, जहाँ वे पवित्र होकर वास करते हैं[5], एक अन्य मन्त्र मे उनके लिए त्रिपधस्थ विशेषण का प्रयोग मिलता है । ये तीनो आवास परवर्ती काल मे सोमयाग मे उपयुक्त तीन बडे ह्रदो के पूर्व रूप कहे जा सकते है[6] किंतु बेर्गेन इन ह्रदो को एकान्तत गाथात्मक मानते हैं । कुछ इसी प्रकार की व्याख्या इन्द्र के द्वारा तीन ह्रदो के सोमपान की भी की जा सकती है[7] । त्रिपिष्ठ विशेषण सोम का अपना है । इस विशेषण का कम से-कम एक वार सोम-रस के लिए भी प्रयोग आया है[8] । हो सकता है कि यह (जैसाकि सायणाचार्य का विचार है) तीनो सोम-मिश्रणो का वोधक रहा हो, ठीक वैसे ही जैसेकि अग्नि का घृतपृष्ठ' विशेषण अग्नि मे घृत डालने का वोधक है ।

सोम-रस के साथ जल मिश्रण के आधार पर उत्पन्न हुए सोम जल सम्बन्ध की अभिव्यक्ति तीन प्रकार से की गई है । सोम के लिए स्रोत प्रवाहित होते है[9] ।

1 दे० 9 64 8 पृ० 273
प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न पिप्ये अर्णसा । ऋ० 9 107 12
2 ते नूनमस्मे ऋभवो वसूनि तृतीये अस्मिन्सवने दधात । ऋ० 4 33 11
3 इन्द्र सोमं सोमपते पिबेमं माध्यंदिनं सवनं चारु यत्ते । ऋ० 3 32 1
माध्यंदिने सवने वज्रहस्त पिबा रुद्रेभिः सगणः सुशिप्र । ऋ० 3 32 3
माध्यंदिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेद्य पिबा सोमस्य वज्रिव । ऋ० 8 37 1
4 इन्द्र पिब प्रतिकामं सुतस्य प्रात सावस्तव हि पूर्वपीति । ऋ० 10 112 1
5 परि वाराण्यव्यया गोभिरञ्जानो अर्षति ।
त्री षधस्था पुनान कृणुते हरि ॥ ऋ० 9 103 2
6 त्रय कोशास श्चोतन्ति तिस्रश्चम्व सुपूर्णा । समाने अधि भार्मन् ॥ ऋ० 8 2 8
7 त्री साकमिन्द्रो मनुष सरांसि सुतं पिबद् वृत्रहत्याय सोमम् । ऋ० 5 29 7.
त्री सरांसि मघवा सोम्यापा । ऋ० 5 29 8
दे० 6 17 11 पृ० 273
त्रीणि सरांसि पृश्नयो दुदुह्रे वज्रिणे मधु । उत्सं कवन्धमुद्रिणम् ॥ ऋ० 8 7 10
8 अभि त्रि पृष्ठं मर्तनपु सोमं । ऋ० 7 37 1
9 तुभ्य वाता अभिप्रियस्तुभ्य मर्षन्ति सिन्धव । सोमं वर्धन्ति ते महे ॥ ऋ० 9 31 3

जल उनके विधानो का अनुगमन करते है[1]। वे स्रोतो के आगे-आगे प्रवाहित होते हैं[2]। वे स्रोतो के पति एव सम्राट् है[3], वे पत्नियो के भर्ता है[4], वे समुद्रिय सम्राट् एव देवता है[5], जल उनकी वहनें है[6]। जल-नेता होने के नाते सोम का वर्षा पर भी शासन है[7]। वे जलो का आविर्भाव करते और द्यावा-पृथिवी पर उन्हे वरसाते हैं[8]। वे स्वर्ग से वृष्टि करते हैं[9]। स्वय सोम-बिन्दुओ की कई बार वृष्टि से तुलना की गई है[10] और कहा गया है कि सोम मधु-धारा के साथ वैसे ही प्रवाहित होते हैं जैसे पर्जन्य वर्षा के साथ[11]। इसी प्रकार पवमान बिन्दु स्वर्ग से और वायु से पृथिवी की ओर प्रवाहित होते है[12]। कुछ अन्य मन्त्रो मे दुहा हुआ सोम वृष्टि का

---

1. तव व्रतमन्वाप सचन्ते। ऋ० 9 82 5
2 अग्रे सिन्धूना पवमानो अर्षति। ऋ० 9 86 12
3 एष रुक्मिभिरीयते वाजी शुभ्रेभि रशुभि। पति सिन्धूना भवन्॥ ऋ० 9 15 5
राजा सिन्धूना पवते पतिर्दिव ऋतस्य याति पथिभि कनिक्रदत्।
सहस्रधार परि षिच्यते हरि पुनानो वाच जनयन्नुपावसु॥ ऋ० 9 86 33
राजा सिन्धूनामवसिष्ट वास ऋतस्य नावमारुहद्रजिष्ठाम्।
अप्सु द्रप्सो वावृधे श्येनजूतो दुह ईं पिता दुह ईं पितुर्जाम्॥ ऋ० 9 89 2
4 स सूर्यस्य रश्मिभि परिव्यत तन्तु तन्वानस्त्रिवृत यथा विदे।
नयन्नृतस्य प्रशिषो नवीयसी पतिर्जनीनामुप याति निष्कृतम्॥ ऋ० 9 86 32
5 नृभिर्येमानो हर्यतो विचक्षणो राजा देव समुद्रिय। ऋ० 9 107 16
6 स्वसार आपो अभि गा उतासरन्। ऋ० 9 82 3
7 ईशे यो वृष्टेरित उस्रियो वृषाऽपा नेता य इत ऊतिर्ऋग्मिय। ऋ० 9 74 3
8 कृण्वन्नपो वर्षयन्द्यामुतेमामुरोरा नो वरिवस्या पुनान। ऋ० 9 96 3
9 वृष्टिं दिव परि स्रव द्युम्न पृथिव्या अधि। सहो न सोम पृत्सुधा॥ ऋ० 9 8 8
पवस्व वृष्टिमा सुनोऽपामूर्मि दिवस्परि। अयक्ष्मा बृहतीरिष॥ ऋ० 9 49 1
वृष्टिं नो अर्ष दिव्या जिगत्नुम्। ऋ० 9 97 17
अभि द्युम्न बृहद्यश इषस्पते दिदीहि देव देवयु। वि कोश मध्यम युव॥ ऋ० 9 108 9
वृष्टिं दिव पवस्व रीतिमपा जिन्वा गविष्टये धिय। ऋ० 9 108.10
10. शृण्वे वृष्टेरिव स्वन पवमानस्य शुष्मिण। चरन्ति विद्युतो दिवि॥ 9 41.3
प्रो स्य वह्नि पथ्याभिरस्यान् दिवो न वृष्टि पवमानो अक्षा।
सहस्रधारो असदन्न्यस्मे मातुरुपस्थे वन आ च सोम॥ ऋ० 9 89 1
आ न सुतास इन्दव पुनाना धावता रयिम्।
वृष्टिद्यावो रीत्याप स्वर्विद॥ ऋ० 9 106 9
11 प्र स्य वर्यमिन्दविन्द्रपुरीष्य पवस्व धारया। पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव। ऋ० 9.2 9
12. पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत। पृथिव्या अधि सानवि॥ ऋ० 9.63.27

बोधक प्रतीत होता है[1]। शतपथ ब्राह्मण[2] मे अमृत का तादूप्य जलो के साथ किया गया है। इसी तादूप्य मे श्येन द्वारा मनुष्यो के पास सोम लाने की गाथा का जन्म निहित प्रतीत होता है। किंतु साधारणतया पृथिवी पर अवतीर्ण होनेवाले दिव्य सोम को वृष्टि-मिश्रित माना गया है न कि वृष्टि से बिलकुल अलग।

जलो से कहा गया है कि वे मादक ऊर्मि को गतिमान् बनावें, जो (ऊर्मि) कि इन्द्र का पेय है और आकाश मे टगा हुआ एक कूप है[3]। सोम वह पेय है, जो जलो मे बढता है[4]। अत वह जल-गर्भ है[5]। वह उनका शिशु है, क्योकि सात बहनें माता के रूप मे शिशु (सोम) के चारो ओर खडी रहती है, यह शिशु नवजात है और जलो का गधर्व है[6]। जलो को प्रत्यक्षत भी सोम की माता कहा गया है। सोम जलो या गौओ के मध्य आनन्द लेनेवाला युवक है[7]।

जब सोम को पवित्र किया जाता है और जब वह कोशो या कलशो मे गिरता है तब उससे एक प्रकार की ध्वनि उत्पन्न होती है। इस ध्वनि का पुन पुन सकेतन किया गया है। इसकी तुलना वर्षा की रिमझिम से की गई है[8]। किंतु इन प्रकरणो की भाषा सामान्यतया अत्युक्तिपूर्ण बन गई है। उदाहरणार्थ कहा गया है कि मधुर द्रप्स छलनी मे से योद्धाओ की पक्तियो की भाति प्रवाहित

1. दे० 8 7 10 पृ० 280
आ सुन्वप्रभो दुह्यते घृत पयऋतस्य नाभिरमृत वि जायते। ऋ० 9 74 4
अपा नपान्मधुमतीरपो दा। ऋ० 10 30 4
2 अमृत वा आप। शत० ब्रा० 11 5 4 5.
3 त सिन्धवो मत्सरमिन्द्रपानमूर्मिं प्र हेत य उभे इयर्ति।
मदच्युत मौशान नभोजा परि त्रितन्तु विचरन्तमुत्सम्॥ ऋ० 10 30 9
4 दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतो वेना दुहन्त्युक्षण गिरिष्ठाम्।
अप्सु द्रप्स वावृधान समुद्र आ सिन्धोरूर्मा मधुमन्त पवित्र आ॥ 9 85 10
दे० 9 89 2 पृ० 281
5 महत्तत्सोमो महिषश्चकारापा यद् गर्भोऽवृणीत देवान्। ऋ० 9 97.41
देवीराप एष वो गर्भ इत्यपा ह्येष गर्भ। शत० ब्रा० 4 4 5 21
6 सप्त स्वसारो अभि मातर शिशु नव जज्ञान जेन्य विपश्चितम्।
अपा गन्धर्व दिव्य नृचक्षस सोम विश्वस्य भुवनस्य राजसे॥ ऋ० 9 86 36
सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवतन्नृतम्। ऋ० 10 13 5
7. दे० 5 45 9 पृ० 271
ता अभि सन्तमस्तृत महे युवानमादधु। इन्दुमिन्द्र तववृते॥ ऋ० 9 9 5
8 दे० 9 41 3 पृ० 281.

होते है[1]। इस ध्वनि को अनेक गर्जनार्थक धातुओं (क्रन्द्, नद, मा, रु, वाश्)[2] के प्रयोग द्वारा व्यक्त किया गया है। इस सबन्ध मे स्तन् धातु तक का प्रयोग आ गया है[3] और कहा गया है कि कवि लोग स्तनयित्नु एव अच्युत डण्ठल को दुहते हैं[4]। सोम के पवित्रीकरण मे विद्युत् तक को कई मन्त्रो मे सपृक्त कर लिया गया है[5]। इससे दिव्य सोम के पवित्रीकरण का बोध हो सकता है और यह स्तनयित्नु तूफान के दृश्य की ओर सकेत करता प्रतीत होता है। जब सोम के रव का वर्णन करना होता है तब साधारणतया उसकी उपमा वृषभ के साथ दी जाती है अथवा उसे सीधा वृषभ ही कहा जाता है। वृषभ की भाति वह काष्ठ मे राभता है[6], हरित वृषभ हिंकार करता हुआ सूर्य के साथ प्रकाशित होता है[7]। जैसे दूध से मिश्रित या उससे अमिश्रित जलो को आलकारिक रूप से गौए कहा गया है उसी प्रकार सोम-जल के सबन्ध को वृषभ-गो-सबन्ध के रूप मे दिखाया गया है। वह गौओ के धन (herd) मे एक साड है[8], वह गौओ का भर्ता है[9]। वह गौओ के धन मे गल्हारने वाला साड है[10]। गौए उसे देख धड्कने लगती है[11]। वह स्वर्ग, पृथिवी एव स्रोतो

1. पवमान सतनि प्रघ्नतामिव मधुमान् द्रप्स परि वारमर्षति। ऋ० 9 69 2
2. वृषा वृष्णे रोरुवदशुरस्मै पवमानो रुशदीर्ते पयो गो। ऋ० 9 91 3
 दे० 9 95 4 पृ० 164
3. दिवो न सानु स्तनयन्नचिक्रदत्। ऋ० 9 86 9
4 अशु दुहन्ति स्तनयन्तमक्षित कविं कवयोऽपसो मनीषिण। ऋ० 9 72 6
5 दे० 9 41 3 पृ० 281
 सोमस्य धारा पवते नृचक्षस ऋतेन देवान् हवते दिवस्परि।
 बृहस्पते रवथेना वि दिद्युते समुद्रासो न सवनानि विव्यचु॥ ऋ० 9 80 1.
 आ विद्युता पवते धारया सुत। ऋ० 9 84 3
 दिवो न विद्युत् स्तनयन्त्यभ्रै सोमस्य ते पवत इन्दु धारा। ऋ० 9 87 8
 दिवो न विद्युत् स्तनयन्त्यभ्रै सोमस्य ते पवत इन्दु धारा॥ ऋ० 9 7 3
6 प्र युजो वाचो अग्रियो वृषाव चक्रदद्वने। सद्माभि सत्यो अध्वर॥ ऋ० 9 7 3
7. अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान् मित्रो न दर्शत। स सूर्येण रोचते॥ ऋ० 9 2 6
8 शूरो न गोषु तिष्ठति। ऋ० 9 16 6
 उक्षा मिमाति प्रति यन्ति धेनवो देवस्य देवीरुप यन्ति निष्कृतम्। ऋ० 9 69 4
 प्रावीविपद्वाच ऊर्मि न सिन्धुर्गिर सोम पवमानो मनीषा।
 अन्त पश्यन् वृजनेमावराण्या तिष्ठति वृषभो गोषु जानन्॥ ऋ० 9 96 7.
9. पतिर्गवा प्रदिव इन्दुर्ऋत्विय। ऋ० 9 72 4
10 उक्षेव यूथा परियन्नरावीत्। ऋ० 9 71 9
 परा व्यक्तो अरुषो दिव कविर्वृषा त्रिपृष्ठो अनविष्ट गा अभि। ऋ० 9 71 7.
11. य गावो वाजिनमन्या अभ्यनूषत। ऋ० 9 80 2.

का साड है[1]। सोम की धृष्टता का महिष की ढिठाई के साथ साम्य दिखाया गया है और इन प्रसगो मे उसे पशु तक की सज्ञा दे दी गई है[2]। गो-जल के मध्य वृषभ होने के नाते वह जलो को गर्भ धारण कराता है[3]। वह रेतोधा है। इस विशेषण का प्रयोग यजुर्वेद मे चन्द्रमा के लिए भी आया है। वह गर्भदाता है[4]। सोम एक उक्षा है, वृषन् है, वृषभ है, उसके पैने सीग (तिग्म-शृङ्ग) है। यह विशेषण ऋग्वेद मे पाच वार आता है और पाचो वार इसका वृषभार्थक शब्द के साथ सपर्क हुआ है। इस प्रकार इन्द्र का मन्थ तिग्मशृङ्ग वृषभ जैसा है[5]। अग्नि की भाति सोम भी अपने सीगो को पैनाता रहता है[6]।

सोम तेज गतिवाला है[7]। सोम-रस के प्रवाह को घोडे-जैसा क्षिप्र बताया गया है। इस प्रकार कहा गया है कि दश युवतिया उसे आशु अश्व की न्याई साफ करती हैं[8]। इन्द्र को मद-मत्त बनानेवाली बूद एक हरित अश्व है[9]। कोशो मे बहनेवाले सोम की उपमा कभी-कभी वन की ओर उडनेवाले पक्षियो से दी गई है[10]।

सोम-रस पीत वर्ण का होता है, अत ऋषियो ने इसके शारीरिक गुण को भास्वर बताया है। वह सूर्य की भाति या सूर्य के साथ चमकता है और अपने-आपको इसके किरण-वस्त्रो से परिवेष्टित कर लेता है[11]। वह सूर्य के रथ पर

1 वृषासि दिवो वृषभ पृथिव्या वृषा सिन्धूना वृषभ स्तियानाम्। ऋ० 6 44 21.
2 हिरण्यपावा पशुमासु गृभ्णते। ऋ० 9 86 43
3 अपां पेरुं जीवधन्य भरामहे देवाव्य सुहवमध्वरश्रियम्। ऋ० 10 36 8
कुविद् वृषण्यन्तीभ्य पुनानो गर्भमादधत्। या शुक्र दुहते पय। ऋ० 9 19 5
गोवित्पवस्व वसुविद्धिरण्यविद् रेतोधा इन्दो भुवनेष्वर्पित। ऋ० 9 86 39
सोमो रेतोधा। मै० स० 1 6 9
4. इन्द्रस्य सोम राधसे श पवस्व विचर्षणे। प्रजावद्रेत आभर॥ ऋ० 9 60 4
दे० 9 74 5 पृ० 277
5 वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत्। ऋ० 10 86 15
6 एष शृङ्गाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्यो वृषा। नृम्णा दधान ओजसा। ऋ० 9 15 4
रुवति भीमो वृषभस्तविष्यया शृङ्गे शिशानो हरिणी विचक्षण। ऋ० 9 70 7
7 एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्। पतयन्मन्दयत्सखम्॥ ऋ० 1 4 7
8. दे० 9 6 5 पृ० 274
9 दे० 9 63 17 पृ० 278
10. दे० 9 72 5 पृ० 277
11. विश्वस्य राजा पवते स्वर्दृश ऋतस्य धीतिं ऋषिषाळवीवशत्।
य सूर्यस्यासिरेण मृज्यते पिता मतीनामसमष्ट काव्य॥ ऋ० 9 76 4.

आरोहण करता है और सूर्य की भाति सभी प्राणियो के ऊपर डट जाता है। वह सूर्य की तरह अपनी किरणो से पृथिवी और स्वर्ग को आपूरित करता है[1]। जब वह एक भास्वर पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ तब उसने अपने माता-पिता को भी चमचमा दिया[2]। सूर्य-पुत्री भी उसे पवित्र करती है[3]। अत सोम के लिए आया है कि वह अन्धकार से युद्ध करता है[4] और उसे प्रकाश के द्वारा कील देता है अथवा वह दिव्य प्रकाश को उत्पन्न करता और अन्धकार को ध्वस्त कर देता है[5]।

अमित मात्रा मे पीनेवाले को यह दीवाना और ऊर्जस्वल बना देता है। सोम की यह शक्ति अन्य सभी पेयो की अपेक्षा कही बढकर है। यह उसे असाधारण वीर कार्यो के लिए प्रेरित करती है। अतएव इसे अमृतत्व प्रदान करनेवाला दिव्य पेय भी बताया गया है। गाथात्मक रूप में इसे अमृत भी कहा गया है। यह एक अमर प्रेरक है[6] जिसपर देवता तक मरते हैं[7] और मनुष्यो के हाथो पीसे जाने और दुग्ध के साथ मिश्रित हो जाने पर वे इसे कर्णोहत्य पीते हैं[8]। तब वे आनन्द मे रत हो जाते[9] और उल्लास मे सराबोर हो जाते है[10]। सोम अमर है[11]।

दे० 9 86 32 पृ० 281.
अधि त्रिपीरधित् सूर्यस्य । ऋ० 9 71 9
1 स पवस्व विचर्षण आ मही रोदसी पृण । उषा सूर्यो न रश्मिभि ॥ ऋ० 9 41 5.
2 स सूनुर्मातरा शुचिर्जातो जाते अरोचयत् । महान्मही ऋतावृधा ॥ ऋ० 9 9 3
3 दे० 9 1 6 पृ० 275
4 अवा कल्पेषु न पुमस्तमांसि सोम योध्या । तानि पुनान जङ्घन ॥ ऋ० 9 9 7
5 पवमान ऋतं बृहच्छुक्र ज्योतिरजीजनत् । कृष्णा तमांसि जङ्घनत् ॥ ऋ० 9 66 24
पवमान महि श्रवश्चित्रेभिर्यासि रश्मिभि ।
शर्धन् तमांसि जिघ्नसे विश्वानि दाशुषो गृहे ॥ ऋ० 9 100 8
वृषा विजज्ञे जनयन्नमर्त्य प्रतपञ्ज्योतिषा तम । ऋ० 9 108 12
6 इममिन्द्र सुत पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् । ऋ० 1 84 4
7 दक्षो देवानामसि हि प्रियो मद । ऋ० 9 85 2
8 पिबन्त्यस्य विश्वे देवास । ऋ० 9 109 15
9 इच्छन्ति देवा सुन्वन्त न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्रा ॥ ऋ० 8 2 18
10 विश्वे देवा अमत्सत । ऋ० 8 69 11
11 यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन् धामन्नृतस्य ।
मूर्धा नाभा सोम वेन आभूषन्ती सोम वेद ॥ ऋ० 1.43 9
यो न इन्दु पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्यां आविवेश । ऋ० 8 48.12
दे० 9.3 1 पृ० 277

देवताओ ने अमृतत्व के लिए इसका पान किया है[1]। सोम देवताओ को अमृतत्व प्रदान करता है[2] और साथ ही मनुष्यो को भी[3]। वह अपने उपासको को सनातन एव अखण्ड लोक मे स्थापित करता है, जहा अनन्त प्रकाश है और यश है, वह उन्हे वहा अमर बना देता है जहा स्वय सम्राट वैवस्वत विराजमान है[4]।

इस प्रकार सोम मे एक प्रकार की स्वाभाविक भैषज्य शक्ति भी है। रोगियो के लिए सोम निरामय एक रसायन औषध है। फलत सोम रोगियों का उपचार करते देखे गये हैं। उन्होंने अन्धो को दृष्टि और लगडो को गति प्रदान की है[5]। वे मनुष्यो के अङ्ग सरक्षक है, वे उनके अङ्ग-अङ्ग मे व्यापे हुए है[6] और मनु वर्ग को वे ही दीर्घायु प्रदान करते है[7]। सोम हृदय के पापो को धो देता है, वह अनृत का विनाश और सत्य का सवर्धन करता है।

जीभ पर पडते ही सोम वाणी मे जान डाल देता है[8]। वाणी को वह वैसे ही जीवट देता है जैसे पतवार नाव को[9]। नि सदेह इसी कारण सोम को 'वाचस्पति'[10]

---

1 त्वा देवासो अमृताय क पपु । ऋ० 9 106 8

2 त्व ह्यङ्ग दैव्या पवमान जनिमानि द्युमत्तम । अमृतत्वाय घोषय ॥ ऋ० 9 108 3

3 अपाम सोमममृता अभूमा गन्म ज्योतिरविदाम देवान् । ऋ० 8 48 3

4 यत्र ज्योतिरजस्र यस्मिँल्लोके स्वर्हितम् ।
तस्मिन्मा धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ ऋ० 9 113 7
यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधन दिव ।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृत कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ऋ० 9 113 8

5 प्रान्ध श्रोण च तारिषद्विचक्षसे । ऋ० 10 25 11

6 त्व हि नस्तन्व सोम गोपा । ऋ० 8 48 9

7 त्व च सोम नो वशो जीवातु न मरामहे । प्रियस्तोत्रो वनस्पति । ऋ० 1 91 6
प्रण आयुर्जीवसे सोम तारी । ऋ० 8 48 4
सोम राजन् प्र ण आयूषि तारी । ऋ० 8 48 7.
तव क्रत्वा तवोतिभिर्ज्योक पश्येम सूर्यम् । अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ऋ० 9 4 6
ज्योड्न सूर्य दृशये रिरीहि । ऋ० 9 91 6

8 अय मे पीत उदियर्ति वाचमय मनीषामुशतीमजीग । ऋ० 6 47 3
हिन्वानो वाचमिष्यसि पवमान विधर्मणि ॥ ऋ० 9 64 9
इष्यन्वाचमुपवक्तेव होतु पुनान इन्दो वि ष्या मनीषाम् । ऋ० 9 95 5
स इन्द्राय पवसे मत्सरवान् हिन्वानो वाच मतिभि कवीनाम् । ऋ० 9 97 32

9 हरि सृजान पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम् । ऋ० 9 95 2.

10 पवमानस्य भुरिजोस्रिया सवर्मा नित्रियकन्त । पवि वाचो अदाभ्यम् ॥ ऋ० 9 26 4
इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् ।

या वाचो अग्रिय' या 'अग्रे वाचाम्'[1] कहा गया है। वह स्वर्ग से अपनी राभ को उठाता है[2]। ब्राह्मणो मे वाक को देवताओ द्वारा चुकाया गया सोम का मूल्य बताया गया है। सोम कामनाओ को कुमुकाता है[3]। फलत सोम का उपासक बोल उठता है —'हमने सोम पी लिया है, हम अमर बन गये हैं, हम प्रकाश-लोक मे पहुच गये हैं, हमने देवताओ को देख लिया है'[4]। अत सोम को 'मनस्पति', सूक्तो का पिता, नेना या जनक भी कहा गया है। सोम कवियो के मूर्धन्य और पुरोहितो मे द्रष्टा है[5]। उनमे ऋषियो की मनीषा है, वे ऋषियो के निर्माता[6] एव स्तोत्रो के रक्षक है[7]। वे यज्ञ की आत्मा है[8], देवो मे ब्रह्मा है और उनका यज्ञ मे अपना भाग है[9]। सोम की प्रज्ञा के विषय मे भी विवरण मिलते है। वे एक मेधावी ऋषि हैं[10]। वे देवताओ की जनिमाओ को पहचानते है[11], वे बुद्धिमान्, मानवदर्शी ऊर्मि है[12]। सोम विवेक के साथ प्राणियो का निरीक्षण करते

वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा ॥ ऋ० 9 101 5

1. पवस्व वाचो अग्रिय सोम चित्राभिरूतिभि ।
अभि विश्वानि काव्या ॥ ऋ० 9 62 25 — दे० 9 7 3 पृ० 283
त्व समुद्रिया अपोऽग्रियो वाच ईरयन् । पवस्व विश्वमेजय । ऋ० 9 62 26
अग्रे सिन्धूना पवमानो अर्षत्यग्रे वाचो अग्रियो गोषु गच्छति । ऋ० 9 86 12
अग्रे वाच पवमान कनिक्रदत् । ऋ० 9 106 10
2. यो धारया मधुमाँ ऊर्मिणा दिव इयर्ति वाच रयिषाळमर्त्य । ऋ० 9 68 8
3 दे० 6 47 3 पृ० 286
4 दे० 8 48 3 पृ० 286
5 ब्रह्मा देवाना पदवी कवीनामृषि विप्राणा महिषो मृगाणाम् । ऋ० 9 96 6
6 ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षा सहस्रणीथ पदवी कवीनाम् । ऋ० 9 96 18
7 त्विमङ्गत्वा ब्रह्मण सोम गोपा त्विमङ्ग त्वाहुरभिशस्तिपा न । ऋ० 6 52.3
8 आत्मा यज्ञस्य पूर्व्य । ऋ० 9 2 10
आत्मा यज्ञस्य रह्या सुष्वाण पवते सुत प्रत्न नि पाति काव्यम् । ऋ० 9 6 8
9 भाग देवेभ्यो वि दधात्यायन् । ऋ० 10 85 19 — दे० 9 96 6 ऊपर ।
10 ऋषिर्विप्र काव्येन । ऋ० 8 79 1
11 अधा देवानामुभयस्य जन्मनो विद्वाँ अश्नोत्यमृत इतश्च यत् । ऋ० 9 81.2
देवो देवाना गुह्यानि नामाऽऽविष्कृणोति बर्हिषि प्रवाचे । ऋ० 9 95 2
प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवाना जनिमा विवक्ति ।
महिव्रत शुचिबन्धु पावक पदा वराहो अभ्येति रेभन् ॥ ऋ० 9 97 7.
दे० 9 108.3 पृ० 286
12. इन्द्राय सोम परि षिच्यसे नृभिर्नृचक्षा ऊर्मि कविरज्यसे वने । ऋ० 9 86.2

हैं[1] अतः वे 'बहु-चक्षु'[2] और 'सहस्र-चक्षु' है[3] ।

सोम ने पितरों को कृत्यों में प्रेरित किया था[4]; उन्ही के द्वारा पितरों ने प्रकाश और गौएं प्राप्त की थीं[5] । सोम पितरों से संपृक्त है[6] और उनके साथ रहते हैं[7] । फलतः पितरों को 'सोम-प्रिय'[8] कहा गया है ।

मानव पर होनेवाला सोम का मादक प्रभाव शनैः शनैः देवाताओं पर आक्रमित हो गया । सोम की मादक शक्ति का प्रमुख उपयोग इन्द्र को अन्तरिक्षस्थ शत्रु-दल के विरुद्ध लोहा लेने के लिए बढ़ावा देना है; क्योंकि सोम ही इन्द्र को वृत्र से युद्ध करने के लिए सनद्ध करते हैं । इस तथ्य का उल्लेख ऋग्वेद के अगणित मन्त्रों मे हुआ है[9] । सोम-मद मे बौरा कर इन्द्र अशेष शत्रुओ का वध कर डालते है[10] और जब वे सोम-पान कर लेते हैं तब कोई भी शत्रु उनका सामना नही कर पाता[11] । सोम इन्द्र की आत्मा है[12]। वे इन्द्र के कल्याणकारी मित्र है[13]। वे ही इन्द्र के ओज को उजागर करते हैं[14]। वे ही वृत्र-वध में उसका हाथ बटाते है[15] । सोम ही की

1. सोमः परि क्रतुना पश्यते जाः । ऋ० 9.71.9.
2. हर्यतं भूरिचक्षसम् । ऋ० 9.26.5.
3. इन्दुं सहस्रचक्षसम् । ऋ० 9 60.1.
4. त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः । ऋ० 9.96.11.
5. स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीढ्वाँ अभि नो ज्योतिषावीत् ।
   येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो अभि गा अद्रिमुष्णन् ॥ ऋ० 9.97.39
6. त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ । ऋ० 8.48.13.
7. स पितृभ्यः सोमवद्भ्यः । षट्कपालं पुरोडाशं निर्वपति सोमाय वा पितृमते ॥
   शत० ब्रा० 2.1.6
8. द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् ।
   आङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ अथ० 2.12 5.
   अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
   तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ऋ० 10 14.6.
9. यस्ते चित्रश्रवस्तमो य इन्द्र वृत्रहन्तमः । य ओजोदातमो मदः । ऋ० 8.92.1
10. अस्येदिन्द्रो मदेष्वा विश्वा वृत्राणि जिघ्नते । शूरो मघा च मंहते ॥ ऋ० 9.1.10.
11. द्रं० 6 47.1. पृ० 132
12. अदब्ध इन्दो पवसे मदिन्तम आत्मेन्द्रस्य भवसि धासिरुत्तमः ।
    अभि स्वरन्ति बहवो मनीषिणो राजानमस्य भुवनस्य निंसते ॥ ऋ० 9.85.3.
13. त्वं नो वृत्रहन्तमेन्द्रस्येन्दो शिवः सखा । ऋ० 10.25.9.
14. इन्द्रस्य शुष्ममीरयन्नपस्युभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते मनीषिभिः । ऋ० 9.76.2.
15. स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे । वव्रिवांसं महीरपः ॥ ऋ० 9.61.22.

सहायता से इन्द्र ने सरितो को मनुष्य के लिए प्रवाहित किया था और 'अहि' का वध किया था[1]। इस प्रकार कभी-कभी सोम को इन्द्र-वज्र की सज्ञा भी मिली है[2]। इन्द्र का सोम सहस्र-विजयी वज्र बन जाता है[3]। यही मादक पेय शत पुरो को दलित करता है[4] और वृत्र को मारता है[5]। अत सोम देव को इन्द्र की भाति 'वृत्रघ्न' और 'पुरदर' भी कहा गया है[6] और इन्हे छ बार 'वृत्रहन्' विशेषण मिला है जो मूलत इन्द्र का है।

इन्द्र द्वारा पिये जाने पर सोम ने सूर्य को स्वर्ग मे उदित किया है[7]। इस दृष्टि से जगत् का क्षेमकारी यह कार्य सोम पर आरोपित हो जाता है। सोम ने सूर्य को भासमान बनाया है[8]। उसी ने आकाशस्थ प्रकाश को चमकाया[9] और सलिलो मे सूर्य को उत्पन्न किया है[10]। सोम ने सूर्य को उदित किया, प्रेरित किया, प्राप्त किया और प्रदान किया है और उषाओ को भी उन्होने भास्वर बनाया है। वे अपने उपासको को सूर्याश दिलाते[11] और उनके लिए प्रकाश फैलाते है[12]। उन्होने ही प्रकाश प्राप्त किया[13] और प्रकाश तथा स्वर्ग को जीता है। जिस प्रकार आज्य को 'अमृत की नाभि' कहा गया है—जिस पर कि समग्र ससार आश्रित है[14]—

---

1. त्वा युजा तव तत्सोम सख्य इन्द्रो अपो मनवे सस्रुतस्क । ऋ० 4 28 1
2 इन्द्रस्य वज्रो वृषभो विभूवसु. सोमो हृदे पवते चारु मत्सर । ऋ० 9 72 7.
एव प्रकोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टर । ऋ० 9 77.1
वज्रश्च यद्भवथो अनपच्युता । ऋ० 9 111.3
3 आत्सोम इन्द्रियो रसो वज्र. सहस्रसा भुवत् ।
उक्थं यदस्य जायते ॥ ऋ० 9 47.3
4 सद्वृक्त धृष्णुमुक्थ्यं महामहिव्रत मदम् । शत पुरो रुरुक्षणिम् ॥ ऋ० 9 48 2
5 दे० 6 17 11 पृ० 132
6 इन्द्रो न यो महा कर्माणि चक्रिर्हन्ता वृत्राणामसि सोम पूर्भित् । ऋ० 9 88 4
7 सोऽस्मिन्निन्द्रस्य जठरे कनिक्रदद्नृभिर्यत सूर्यमारोहयो दिवि । ऋ० 9 86 22
8 एष सूर्यमरोचयत् पवमानो विचर्षणि । विश्वा धामानि विश्ववित् । ऋ० 9 28 5
दे० 9 37 4 पृ० 164
9 अधि द्यामस्थाद् वृषभो विचक्षणोऽरूरुचद्वि दिवो रोचना कवि ।
राजा पवित्रमत्येति रोरुवद् दिव पीयूष दुहते नृचक्षस ॥ ऋ० 9 85 9
10 जनयन् रोचना दिवो जनयन्नप्सु सूर्यम् । वसानो गा अपो हरि. । ऋ० 9 42 1
11. त्वं सूर्ये न आ भज तव क्रत्वा तवोतिभि । अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ऋ० 9 4.5
12. आ न पवस्व धारया पवमान रयिं पृथुम् । यया ज्योतिर्विदासि न ॥ ऋ० 9 35 1
13. पवस्व नृ स्वर्विदो जायमानोऽभवो महान् । इन्दो विश्वाँ अभीदसि ॥ ऋ० 9 59 4
14 जिह्वा देवानाममृतस्य नाभि । ऋ० 4.58 1.

उसी प्रकार सोम-सबन्धी धारणा जगच्छासकत्व तक जा पहुचती है—क्योकि सोम दिशाओ के अधिपति है[1]। वे दोनो लोको को उत्पन्न करने का महान् क्षेमकारी कार्य करते हैं[2]। वे स्वर्ग और पृथिवी का जनन एव स्थापन करते हैं। वे स्वर्ग को धारण करते और सूर्य मे प्रकाश का आधान करते हैं[3]।

वृत्र-युद्ध मे प्रवृत्त हुए इन्द्र के साथ निकट रूप से सबद्ध होने के नाते सोम को स्वतन्त्र रूप से भी एक महान् योद्धा बताया गया है। सोम विजयी है, वे अजेय हैं और युद्ध के लिए उतरे है[4]। वे योद्धाओ के अग्रणी है, भीमो मे सबसे बढकर भीषण है, वे अजस्र विजयशील है[5]। वे अपने उपासको के लिए गौए, रथ, अश्व, सुवर्ण, स्वर्ग, सलिल, सहस्र वसु[6], यहा तक कि अशेष पदार्थ जीत कर लाते है। उनके युद्धालु चरित्र का उल्लेख किये बिना भी कहा गया है कि वे पृथिवी और स्वर्ग के अशेष धन, भोजन, पशु, अश्व आदि अपने उपासको को देते है[7]। स्वय सोम को अनेक बार रयि या देवो का धन कहा गया है[8]।

धामन् ते विश्वं भुवनमधि श्रितम् । ऋ० 4 58 11
त्वं विश्वस्य भुवनस्य राजसि । ऋ० 9 86 28

1 आ पवस्व दिशां पते । ऋ० 9 113 2

2 प्र हिन्वानो जनिता रोदस्योः । ऋ० 9 90 1

3 अयमकृणोदुषसः सुपत्नीरयं सूर्ये अदधाज्ज्योतिरन्तः ।
अयं त्रिधातु दिवि रोचनेषु त्रितेषु विन्ददमृतं निगूळ्हम् ॥ ऋ० 6 44 23
दे० 6 44 24 पृ० 274 दे० 6 47 3 पृ० 286
अयं स यो वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोदयं सः ।
अयं पीयूषं तिसृषु प्रवत्सु सोमो दाधारोर्वन्तरिक्षम् ॥ ऋ० 6 47 4

4 अषाळ्हं युत्सु पृतनासु पप्रिं स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम् ।
भरेषुजां सुक्षितिं सुश्रवसं जयन्तं त्वामनु मदेम सोम ॥ ऋ० 1 91 21

5. महाँ असि सोम ज्येष्ठ उग्राणामिन्द्र ओजिष्ठः ।
युध्वा सञ्छश्वज्जिगेथ ॥ ऋ० 9 66 16.
य उग्रेभ्यश्चिदोजीयाञ्छूरेभ्यश्चिच्छूरतरः । भूरिदाभ्यश्चिन्मंहीयान् ॥ ऋ० 9 66 17.

6 गोजिन्नः सोमो रथजिद्धिरण्यजित्स्वर्जिदब्जित्पवते सहस्रजित् ।
यं देवासश्चक्रिरे पीतये मदं स्वादिष्ठं द्रप्समरुणं मयोभुवम् ॥ ऋ० 9 78.4.

7 उत त्वामरुणं वयं गोभिरञ्ज्मो मदाय कम् । वि नो राये दुरो वृधि ॥ ऋ० 9 45 3
स न ऊर्जे व्यव्ययं पवित्रं धाव धारया । देवासः शृणवन्हि कम् ॥ ऋ० 9 49 4
परि द्युक्षं सनद्रयिं भरद्वाजं नो अन्धसा । सुवानो अर्ष पवित्र आ ॥ ऋ० 9 52.1.
अतस्त्वा रयिमभि राजानं सुक्रतो दिवः । सुपर्णो अव्यथिर्भरत् ॥ ऋ० 9 48.3

8 स वै देवानां वसु । शत० ब्रा० 1 6 1.5

सोम शत्रुओ से हमारी रक्षा करते हैं[1] । वे यातुधानो को ध्वस्त करते है[2] अन्य
—देवो की तरह—किंतु उन सबकी अपेक्षा कही अधिक बार—इन्हे 'रक्षोहन्' की
उपाधि दी गई है । सोम ही एक ऐसे देवता है, जिन्हे 'अघशसहा' यह विशेषण
मिला है[3] । परवर्ती वैदिक साहित्य मे उल्लेख आता है कि वे ब्राह्मण, जो सोम-
पान करते है, निमेप-मात्र मे शत्रुओ का वध कर डालते हैं ।

योद्धा होने के नाते सोम अस्त्र-सज्जा भी करते[4] और एक वीर की भाति
अपने हथियारो को अपने हाथ मे सभालते हैं[5] । उनके अस्त्र दारुण और पैने
हैं[6] । एक मन्त्र मे आता है कि इन अस्त्रो को सोम ने अपने दुर्मनस्क पिता से छीन
लिया था[7] । वे सहस्रभृष्टि शस्त्र से सुसज्जित है[8] और उनका धनुप अमोघ है[9] ।

सोम इन्द्र के रथ पर वैठते हैं[10] । वे रथी इन्द्र के सारथि है[11] । वे
रथ पर वैठते हैं[12] और उनका रथ दिव्य है[13] । वे 'ज्योतीरथ'[14] अथवा 'पूत-
रथ' हैं[15] । सारथियो के वे सिरमौर है[16] । उनकी अपनी घोडिया सुपर्ण

---

1 त्वं नं सोम विश्वतो गोपा अदाभ्यो भव । ऋ० 10 25 7

2 पवमानो असिष्यदद्रक्षांस्यपजङ्घनत् । प्रत्नवद् रोचयन् रुचं ॥ ऋ० 9 49 5

3 एप शुष्म्यदाभ्य सोमं पुनानो अर्पति । देवावीरघशसहा ॥ ऋ० 9 28 6

4 स्वायुध सोतृभि पूयमानोऽभ्यर्प गुह्य चारु नाम । ऋ० 9 96 16

5 शूरो न धत्त आयुधा गभस्त्यो स्व१ सिपासन् रथिरो गविष्टिपु ॥ ऋ० 9 76 2

6 या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे । रक्षा समस्य नो निद ॥ ऋ० 9 61 30
शूरग्राम सर्ववीर सहावाञ्जेता पवस्व सनिता धनानि ।
तिग्मायुध क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाळ्ह साह्वान् पृतनासु शत्रून् ॥ ऋ० 9 90 3

7 अय देव सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत् ।
अय स्वस्य पितुरायुधानीन्दुरमुष्णादशिवस्य माया ॥ ऋ० 6 44 22

8 राजा पवित्ररथो वाजमारुह सहस्रभृष्टिर्जयसि श्रवो बृहत् । ऋ० 9 83 5, 9 86 40

9 दे० 9 90 3 ऊपर ।

10 इन्द्रेण सोम सरथं पुनान । ऋ० 9 87 9
आ तिष्ठति रथमिन्द्रस्य सखा । ऋ० 9 96 2
परि देवीरनु स्वधा इन्द्रेण याहि सरथम् । पुनानो वाघद्वाघद्भिरमर्त्य । ऋ० 9 103 5

11. इन्द्र सव्यष्ठाश्चन्द्रमा सारथि । अथ० 8 8 23

12 एप देवो रथर्यति पवमानो दशस्यति । आविष्कृणोति वग्वनुम् ॥ ऋ० 9.3.5.

13 दैव्यो दशोतो रथ । ऋ० 9 111.3

14 ज्योतीरथ पवते राय ओक्य । ऋ० 9 86.45

15 दे० 9 83 5 ऊपर ।

16 पवमानो रथीतम शुभ्रेभि शुभ्रशस्तम । हरिश्चन्द्रो मरुद्गण । ऋ० 9.66.26

है[1] और उनका एक अश्व वर्ग भी है[2] जोकि अनिल जैसा मनोजवा है।

प्रसङ्गतः सोम कभी-कभी इन्द्र के सखा मरुद्गण के साथ संपृक्त होकर आते हैं। मरुद्गण स्वर्ग-वृषभ (सोम) को दुहते[3] और नवजात शिशु को अलंकृत करते हैं[4]। इन्द्र की भांति सोम की भी मरुद्गण परिचर्या करते हैं[5]। वायु सोम के लिए सौख्यदायक हैं[6], वायु उनके संरक्षक हैं[7]। अग्नि, पूषा और रुद्र के साथ सोम युग्म में आते हैं। कुछेक मन्त्रों में रहस्यमय ढंग से वरुण के साथ उनका तादूप्य किया गया है[8]।

ऋग्वेद में एक वार[9] सोम को 'मौजवत' भी कहा गया है, जो उत्तरकालीन संदर्भों के अनुसार 'मुञ्जवत् पर्वत पर उत्पन्न' इस अर्थ का बोधक है। सोम को अनेक बार 'गिरिष्ठः' भी कहा गया है। पर्वतों को भी सोमपृष्ठ सज्ञा मिली है[10], जो संभवतः याज्ञिक प्रतीकवाद के प्रभाव से सोमपेषक पाषाण (अद्रि) के लिए आई है। उद्धृत पदों से झलकता है कि सोमलता का स्थान पार्थिव पर्वतों पर रहा होगा[11]। अवेस्ता में आता है कि होम पर्वतों पर पैदा होता है। इस बात से भी उक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है, क्योंकि सोमलता पर्वतों पर उगती थी।

---

1. ईशान इमा भुवनानि वीयसे युजान इन्दो हरितः सुपर्ण्यः। ऋ० 9.86.37.
2. वायुर्न यो नियुत्वाँ इष्टयामा। ऋ० 9.88.3.
3. एतमु त्यं मदच्युतं सहस्रधारं वृषभं दिवो दुहुः। विश्वा वसूनि बिभ्रतम्॥ ऋ० 9.108.11
अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्। ऋ० 9.54.1.
4. शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति वह्निं मरुतो गणेन। ऋ० 9.96.17.
5. धामस्तम्भाद् वृषभो मरुत्वान्। ऋ० 6.47.5.
6. दे० 9.31.3. पृ० 280.
7. वायुः सोमस्य रक्षिता। ऋ० 10.85.5.
8. चक्रिर्दिवः पवते कृत्व्यो रसो महाँ अदब्धो वरुणो हुरुग्यते।
असावि मित्रो वृजनेषु यज्ञियोऽत्यो न यूथे वृषयुः कनिक्रदत्॥ ऋ० 9.77.5.
दे० 9.95.4. पृ० 164.
महः समुद्रं वरुणस्तिरो दधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम्। ऋ० 9.73.3.
ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया। ऋ० 9.73.9.
स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति नि यदासु यजुर्दधे। ऋ० 8.41.8.
9. सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः। ऋ० 10.3.1.
क्षरन्तः पर्वतावृधः। ऋ० 9.46.1.
10. ये पर्वताः सोमपृष्ठाः। अथ० 3.21.10.
प्रियो मानं सोमसुत्सोमपृष्ठ यो अद्रयः। ऋ० 8.63.2.
11. पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नाभा पृथिव्या गिरिषु क्षयं दधे। ऋ० 9.82.3.

अतः संभव है कि यही तथ्य कवि के मन में उस समय भी उपस्थित रहा हो जबकि वह कहता है कि द्युलोक के नाक पर मधु-जिह्व मित्र-गण पार्वत्य-वृषभ सोम को दुहते है[1]। उन संदर्भों में भी तात्पर्य पार्थिव पर्वतों ही से हो सकता है, जहां आया है कि वरुण ने अग्नि को सलिल में रखा, सूर्य को स्वर्ग मे और सोम को अद्रि पर[2] अथवा मातरिश्वा अग्नि को स्वर्ग से लाये, जबकि श्येन दूसरे (सोम) को चट्टान से उड़ा ले गया[3]; किंतु फिर भी यहां संदेह बना रह जाता है, क्योंकि गाथात्मक भाषा में 'पर्वत' और 'चट्टान' का प्रयोग बहुधा 'मेघ' के लिए आता है।

सोम एक पार्थिव लता है और साथ ही यह दिव्य भी है[4]; वस्तुतः इसके वास्तविक मूल और आवास स्वर्ग में माने गये है। उदाहरणार्थ कहा गया है कि इस लता का जन्म ऊचाई पर हुआ है; स्वर्ग के निवासी सोम को पृथिवी पर उतारा गया है[5]। यह मादक-रस 'स्वर्ग का शिशु' है[6]। 'स्वर्ग-शिशु' विशेषण सोम के लिए बार-बार प्रयुक्त हुआ है। किंतु एक मन्त्र[7] में उन्हें 'सूर्यजा' भी कहा गया है और एक अन्य मन्त्र में पर्जन्य को (इस) 'बलवान् पक्षी' का पिता बताया गया है[8]। अथर्ववेद[9] के अनुसार अमृत का मूल पर्जन्य के वीर्य में निहित है। जहां सोम को शिशु[10] अथवा युवा बताया गया है वहां इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि की भांति सोम भी सदा नव-नव उत्पन्न होता रहता है। सोम स्वर्ग का पीयूष है[11] और उसे स्वर्ग में पुना जाता है[12]। उनकी धाराएं स्वर्ग के रम्य स्थलो की ओर प्रवाहित होती है[13]। उनका प्रवाह लोकों के उस पार स्वर्ग मे पहुंचता है

---

1. दे० 9.85.10. पृ० 282. दे० 9.95.4. पृ० 164.
2. हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ। ऋ० 5.85.2.
3. आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः। ऋ० 1.93.6
4. ममत्तु त्वा दिव्यः सोम इन्द्र। ऋ० 10.116.3.
5. उच्चा ते जातमन्धसो दिवि षद् भूम्या ददे। उग्रं शर्म महि श्रवः॥ ऋ० 9.61.10.
6. एष स्य मद्यो रसोऽव चष्टे दिवः शिशुः। य इन्दुर्वारमाविशत्॥ ऋ० 9.38.5.
7. हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य। ऋ. 9.93.1.
8. दे० 9.82.3. पृ० 281. दे० 9.113.3. पृ० 275.
9. उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः। यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति॥ अथ० 8.7.21.
10. दे० 9.96.17. पृ० 292.
11. दिवः पीयूषमुत्तमं सोममिन्द्राय वज्रिणे। सुनोता मधुमत्तमम्॥ ऋ० 9.51.2.
12. तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे। ऋ० 9.83.2.
पवस्व सोम दिव्येषु धामसु। ऋ० 9.86.22.
13. अभि प्रिया दिवस्पदा सोमो हिन्वानो अर्षति। विप्रस्य धारया कविः॥ ऋ० 9.12.8.

और वहा पूत होता है[1] । सोम स्वर्ग मे व्यापे हुए है[2]। वे स्वर्ग मे है[3]। और वे स्वर्ग के अधिपति हैं[4] । दिव्य पक्षी के रूप मे वे धरती की ओर दृष्टिपात करते और वहा के सभी प्राणियो का सर्वेक्षण करते है[5] । सूर्यदेव की भाति वे भी सभी लोको के ऊपर आरूढ होकर विराजमान हैं[6] । इन पावन द्रप्सो को वायु देवता स्वर्ग से धरती पर गिराते हैं[7] । सोमदेव लोको मे विचरते है[8] । दुग्ध परिवेष्टित सोम की मानवीय अगुलिया भ्राजमान स्वर्ग के तृतीय शृङ्ग पर मार्जन करती है[9] । उनका आवास 'परमे व्योमन्'[10] मे और तैत्तिरीय सहिता के अनुसार तृतीय स्वर्ग में है किंतु 'अव्य पवित्र' को भी रहस्यमयी भाषा मे स्वर्ग कहा गया प्रतीत होता है । ऐसे स्थलो पर तो यह बात निश्चित है कि जहा सोम के लिए यह कहा गया है कि वे स्वर्ग की नाभि मे, 'अव्य वार' मे विराजमान हैं[11], वे दिव्य प्रकाश मे —जोकि अव्य वार है—परिभ्रमण करते हैं[12], वे सूर्य के साथ स्वर्ग मे—जो पवित्र है—चलते हैं[13] । उन स्थलो पर भी यह निश्चित-सा है जहा यह आया है कि वृषभ ने स्वर्ग को व्याप्त कर लिया है । राजा 'पवित्र' पर अधिरोहण करते है[14]। पवित्र के लिए अनेक वार प्रयुक्त हुआ 'सानु' शब्द 'दिव सानु' का बोधक है । ऐसे शब्दो का पार्थिव सोम के साथ सपृक्त हो जाना स्वाभाविक-सा है, क्योंकि स्वर्ग अमृत

---

1 एष दिवं वि धावति तिरो रजांसि धारया। पवमान कनिक्रदत् ॥ ऋ० 9 3 7
2 दे० 9 85 9 पृ० 289
3 दिवि हि सोम । शत० ब्रा० 3 4 3 13
4 दे० 9 86 11. पृ० 277 दे० 9 86 33 पृ० 281
5 दिव्य सुपर्णोऽवचक्षत क्षा सोम परि क्रतुना। पश्यते जा ॥ ऋ० 9 71 9
6 अय विश्वानि तिष्ठति पुनानो भुवनोपरि । सोमो देवो न सूर्य ॥ ऋ० 9 54 3
7 दे० 9 63 27 पृ० 281
8 आ सोता परि षिञ्चताश्वं न स्तोममप्तुरं रजस्तुरम् । ऋ० 9 108 7
विश्वस्मा इत्स्वर्दृशे साधारणं रजस्तुरम् । गोपामृतस्य विर्भरत् ॥ ऋ० 9 48 4
9 क्षिपो मृजन्ति परि गोभिरावृत तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिव । ऋ० 9 86 27
10 त्व सुप्रो अपिबो जात इन्द्र मदाय सोमं परमे व्योमन् । ऋ० 3 32 10
सोमं भरद् दादृहाणो देवावान् दिवो अमुष्मादुत्तरादादाय । ऋ० 4 26 6
पदं यदस्य परमे व्योमन । ऋ० 9 86 15
11. दिवो नाभा विचक्षणोऽव्यो वारे महीयते ।
सोमो य सुक्रतु कवि ॥ ऋ० 9 12 4
12 स वाजी रोचना दिव पवमानो वि धावति । रक्षोहा वारमव्ययम् ॥ ऋ० 9.37
13 एष सूर्येण हासते पवमानो अधि द्यवि । पवित्रे मत्सरो मद ॥ ऋ० 9.27.5
14 दे० 9 85 9 पृ० 289 , 9 86 8 पृ० 278

का निधान है[1]।

सोम को स्वर्ग से लाया गया है[2], इस विश्वास को मुखरित करनेवाली सर्वप्रसिद्ध गाथा सोम और श्येन की है। सोम को श्येन लाये हैं[3]। सुपर्ण सोम को सर्वोच्च स्वर्ग से लाये हैं[4]। श्येन इन्द्र के लिए मधु या सोम को लाये है। मनोजवा श्येन सोमलता की ओर उडे। श्येन ने इन्द्र के लिए मधुर डठल तोड लिया। श्येन इसे इन्द्र के लिए वायु मार्ग मे से होकर अपने पञ्जो मे पकड कर लाये[5]। मनोजवा सुपर्ण ने आयस पुर् को विदीर्ण किया[6] और वह स्वर्ग मे जाकर वज्रबाहु के लिए सोम लाये[7]। श्येन ने (सोम) लता को कही सुदूर से, कही दूर के स्वर्ग से वहन किया[8]। इस गाथा का सबसे विशद विवरण[9] ऋग्वेद (4 26 और 27) मे आता है। ब्राह्मणो के अनुसार सोम को गायत्री लाई हैं जो अग्नि का रहस्यात्मक याज्ञिक नाम है। ऋग्वेद मे सोम को लानेवाला श्येन इन्द्र से पृथक् है, जिसके लिए कि उसे लाया गया है। केवल एक मन्त्र मे (जिसका इस गाथा के साथ सबन्ध नही है) इन्द्र को भी सोम-पान के अवसर पर श्येन कहा

1 दे० 6 44 23 पृ० 290

2 दे० 9 63 27. पृ० 281
यस्य॑ ते द्युम्नवत्पय॒ पव॑मा॒नाभृ॑त दि॒व । तेन॑ नो मृळ जी॒वसे॑ ॥ ऋ० 9 66 30

3 स त्वा॑मद॒द् वृषा॒ मद॒ सोम॑ श्ये॒नाभृ॑त सु॒त । ऋ० 1 80 2

4 ऋ॒जी॒पीश्ये॒न दद॑मा॒नो अ॒शु प॑रा॒वत॑ शकु॒नो म॒न्द्र मद॑म् ।
सोम॑ भरद् दादृहा॒णो दे॒वाना॑न् दि॒वो अ॒मुष्मा॒दुत्त॑रा॒दा॒दाय॑ ॥ ऋ० 4 26 6

5 य ते॑ श्येन प॒दाभ॑रन् ति॒रो रजा॒स्यस्पृ॑तम् ।
पिबेद॑स्य॒ त्वमी॑शिषे ॥ ऋ० 8 82 9

6 गर्भे॒ नु सन्नन्वे॑षामवेदम॒ह दे॒वाना॒ जनि॑मा॒नि विश्वा॑ ।
श॒त मा॒ पुर आय॑सीररक्षन्नध॑ श्ये॒नो ज॒वसा॒ निर॑दीयम् ॥ ऋ० 4 27 1

7 मनो॑जवा॒ अय॑मान आ॒यसी॑मतर॒त्पुर॑म् ।
दिव॑ सु॒पर्णो॑ ग॒त्वाय॒ सोम॑ व॒ज्रिण॒ आभ॑रत् ॥ ऋ० 8 100 8

8 दे० 9 68 6 पृ० 271
स पूर्व्य पवते य दि॒वस्परि॑ श्ये॒नो म॑था॒ यदि॑षि॒तस्ति॒रो रज॑ । ऋ० 9 77 2
दे० 9 86 24 पृ० 279
अधा॑त्य द्र॒प्सं वि॒भ्वं॑ विचक्ष॒ण विराभ॑रदिषि॒त श्ये॒नो अ॑ध्व॒रे । ऋ० 10 11 4.
यं सु॑पर्ण परा॒वत॑ श्येनस्य॑ पु॒त्र आभ॑रत् ।
श॒तच॑क्र यो॒३॒॑ऽह्यो॑ वर्त॒नि ॥ ऋ० 10 144 4

9 अ॒ह मनु॑रभव॒ सूर्य॑श्चा॒ऽह क॒क्षीवाँ॒ ऋषि॑रस्मि विप्र॑ । ऋ० 4 26 1 आदि पूर्णसूक्त
दे० 4 27 1 (ऊपर) आदि पूर्णसूक्त ।

गया है[1]। 'दिव्य श्येन' विशेषण अग्नि के लिए भी प्रयुक्त हुआ है[2] (और केवल दो बार मरुतों के लिए भी)। श्येन शब्द वैद्युत अग्नि के या विद्युत् के साथ संबद्ध है[3] और ऋग्वेद में अग्नि को बहुधा 'सुपर्ण' कहा गया है। इस संदर्भ के भीतर ब्लूमफ़ील्ड—जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों द्वारा की गई ऋग्वेद[4] (4.27) की व्याख्या पर मर्मस्पर्शी आलोचना लिखी है—श्येन द्वारा स्वर्ग से सोम लाने की गाथा से उस विद्युत् को लेते है, जो बादलो (=आयसीः पुरः) में कौंधती हुई और अमृतमय सोम-रस को आसमान से गिराती हुई नीचे की ओर धरती पर गिरती है। इसी की संगति में मिलाकर वे ऋग्वेद[5] (1.93.6) की भी व्याख्या करते है, जिसमें सोम और अग्नि के एक-साथ अवतरण का उल्लेख आता है। इस गाथा का एक विवरण—जिसे कि सभवतः किसी कवि ने प्ररोचनार्थ जोड़ दिया है—यह है कि जब श्येन सोम को उठा कर ले गये तब कृशानु ने उन पर तीर चलाया और उनका एक पर काट दिया[6]। इसी गाथाश को ब्राह्मणों ने वृहत्तर रूप में प्रस्तुत किया है। पृथिवी पर गिर कर यही पर्ण (पलाश) या शल्यक वृक्ष बन गया। इसी कारण पलाश वृक्ष को यज्ञ में पवित्र माना गया है।

औषधियों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण सोम के लिए कहा गया है कि वह वनस्पतियों के राजा बनकर उत्पन्न हुए हैं[7], साथ ही वनस्पतियों को सोम की प्रजा भी बताया गया है। सोम के लिए 'वनस्पति' यह विशेषण भी आया है[8]।

---

1. सो अभ्रियो॒ न यव॑स उद॒न्यन् क्षया॑य गा॒तुं वि॒दन्नो॑ अ॒स्मे।
   उप॒ यत्सीद॒दिन्दुं॒ शरी॑रैः श्ये॒नोऽयो॑पाष्टिर्हन्ति॒ दस्यू॑न्॥ ऋ० 10.99.8.
2. नवं॒ नु स्तोम॑म॒ग्नये॑ दि॒वः श्ये॒नाय॑ जीजनम्। ऋ० 7.15.4.
3. वैश्वान॒रो यदि॑ वा वैद्युतोऽसि॑। तै० ब्रा० 3.10.5.1.
4. दे० 4.27.1. पृ० 295 आदि पूर्ण सूक्त।
5. दे० 1.93.6. पृ० 293.
6. अव॒ यच्छ्ये॒नो अस्व॑नी॒दध॒ द्योर्वि यद्य॒दि वात॑ ऊ॒हुः पुर॑न्धिम्।
   सृ॒जद्यद॑स्मा॒ अव॑ह॒ क्षि॒पज्ज्यां कृ॒शानु॒रस्ता॒ मन॑सा भुर॒ण्यन्॥ ऋ० 4.27.3.
   ऋ॒जि॒प्य ई॒मिन्द्रा॑वतो॒ न भु॒ज्युं श्ये॒नो ज॑भार बृह॒तो अधि॒ ष्णोः।
   अ॒न्तः प॑तत्प॒त॒त्र्य॑स्य प॒र्णमध॒ याम॑नि॒ प्रसि॑तस्य॒ तद्वेः॥ ऋ० 4.27.4.
   तेऽब्रुवंश्छन्दांसि यूयं न इमं सोमं राजानमाहरतेति तथेति ते सुपर्णा भूत्वोदपतन्।
   ऐ० ब्रा० 3.25.
7. सोमं॑ नमस्य॒ राजा॑नं॒ यो ज॒ज्ञे वी॒रुधां॒ पति॑ः। ऋ० 9.114.2.
8. दे० 1.91.6. पृ० 286.
   नि॒र्यंस्तो॒ग्रो व॒नस्पति॒र्धीना॑म॒न्तः स॑भ॒र्दुघः॑। हि॒न्वा॒नो मानु॑षा यु॒गा॥ ऋ० 9.12.7.

और कहा गया है कि सोम ने ही सारे वीरुधो को उत्पन्न किया है[1]। ब्राह्मणो[2] मे वनस्पतियो को सोम के नाते 'सौम्य' कहा गया है। सोम के वनस्पतित्व पर ध्यान न रखकर अन्य देवो की भांति उन्हे भी राजत्व सामान्य का अभिधान दिया गया है। वे सरिताओ के राजा है[3], समग्र पृथिवी के वे अधिपति है[4], देवो के राजा या पिता है[5]। देवो और मर्त्यो के सोम राजा है[6], वे ब्राह्मणो के राजा है[7]। सच पूछो तो उन्हे बार-बार देवता कहा गया है, किंतु एक मन्त्र मे उन्हे 'देवो के लिए सुत-देव' यह सज्ञा भी मिली है[8]।

वेदोत्तर कालीन साहित्य मे सोम चन्द्रमा का स्थायी नाम पड गया है। चन्द्रमा के विषय मे यह धारणा आम है कि देवगण उसका पान करते है, फलत वह क्षीण होता जाता है और फिर सूर्य द्वारा आपूरित होकर आकाश मे उभरता है। छान्दोग्य उपनिषद् मे आया है कि चन्द्रमा सोम राजा है। वह देवो का भोज्य है, देवता उसे पी जाते है[9]। यहा तक कि ब्राह्मणो मे सोम और चन्द्र का ताद्रूप्य एक साधारण सी बात बन गई है। उदाहरणार्थ ऐतरेय ब्राह्मण कहता है कि चन्द्र देवो का सोम है[10]। शतपथ ब्राह्मण[11] के अनुसार देवताओ का भोजन सोम=चन्द्र है, और कौषीतकि ब्राह्मण मे यज्ञ लता या रस चन्द्र-देव का प्रतीक बन गया है। ब्राह्मणो की गाथा मे चन्द्रमा की कलाओ मे परिवर्तन का कारण यह बताया गया

1 त्वमिमा ओषधी सोम विश्वा स्त्वमपो अजनयस्त्व गा। ऋ० 1 91 22
2 सौम्या ओषधय। शत० ब्रा० 12 1 1 2
3 दे० 9 89 2 पृ० 281
4 त्वया वय पवमानेन सोम भरे कृत वि चिनुयाम शश्वत्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धु पृथिवी उतद्यौ॥ ऋ० 9 97 58
5 ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधुप्रिय पिता देवानां जनिता विभूवसु। ऋ० 9 86 10
पिता देवाना जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुण पृथिव्या। ऋ० 9 87 2
पवस्व सोम महान्समुद्र पिता देवानां विश्वाभि धाम। ऋ० 9 109 4
6 पवित्रेभि पवमानो नृचक्षा राजा देवानामुत मर्त्यानाम्। ऋ० 9 97 24
7 सोमो ऽस्माक ब्राह्मणाना राजा। वा० स० 9 40
सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना राजा। तै० स० 1 8 10 1
सोमोऽस्माक ब्राह्मणाना राजा। मै० स० 2 6 9
8 एष विप्रैरभिष्टुतोऽपो देवो वि गाहते। दधद्रत्नानि दाशुषे। ऋ० 9 3 6
दे० 9 3 7 पृ० 291
9 य देवा अशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति। छा० 7 81 6
10 एतद्वै देवसोम यच्चन्द्रमा। ऐ० ब्रा० 7 11
11 एष वै सोमो राजा देवानामन्न यच्चन्द्रमा। शत० ब्रा० 1 6 4 5

है कि देवता तथा पितृगण अमृतरूप चन्द्र-रस का पान करते रहते हैं। चन्द्रमा के रूप मे सोम को यजुर्वेद मे नक्षत्र-मण्डल से परिवेष्टित बताया गया है। प्रजापति की पुत्रिया उनकी पत्निया है। अथर्ववेद मे अनेक स्थलो पर सोम का अर्थ चन्द्रमा लगता है[1]। बहुत से विद्वान् इस विचार से सहमत है कि ऋग्वेद के नवीनतम (प्रथम और दशम मण्डल) अश के कतिपय मन्त्रो में सोम का ताद्रूप्य चन्द्रमा के साथ निश्चित है। किंतु बहुसख्यक विद्वानो की दृष्टि मे सोमदेव ऋग्वेद मे पेय-द्रव के मानवीकरण मात्र है, और चन्द्रमा के साथ उनका तादात्म्य गौण गाथात्मक विकास है। जिन मन्त्रो मे यह ऐक्य स्वीकृत हुआ है, उनमे सोम-सूर्या-विवाह के (सूक्त के) मन्त्र सबसे महत्वपूर्ण हैं[2]। यहा सोम को 'नक्षत्राणाम् उपस्थे' यह कह कर दिखाया गया है[3] और कहा गया है कि जिस सोम को पुरोहित-वृन्द जानते है उसे कोई भी नही खाता और वह सोम पीसे जानेवाले सोम से सर्वथा भिन्न है[4]। चन्द्रमा के सोम स्वभाववाला होने की बात एक गुह्य रहस्य थी जिसका ज्ञान केवल ब्राह्मणो को था। इससे प्रकट होता है कि उस काल तक यह सार्वजनिक विश्वास नही बन पाया था। जिस प्रक्रिया से दिव्य सोम शनैः शनैः चन्द्रमा के साथ तदात्म हुआ वह दुर्बोध नही है। एक ओर सोम को बराबर दिव्य एव भास्वर और कभी-कभी अन्धकार को नष्ट करनेवाला और सलिल मे बढनेवाला समझा जाता था, और दूसरी ओर उसे इन्दु (बूद) भी कहा जाता था[5]। इस दशा मे चन्द्रमा के साथ सोम की तुलना स्वाभाविक हो गई थी। इसी लिए चमस मे रखे हुए सोम की उपमा जलस्थ चन्द्रमा से दी गई है[6]। एक अन्य मन्त्र मे सोम को समुद्र मे जानेवाला बूद (द्रप्स) बताया गया है जो गृध्र के नेत्रो से

---

1 सोमस्याशो युधा पतेऽनूनो नाम वा असि। अथ० 7 81 3
दर्शोऽसि दर्शतोऽसि समग्रोऽसि समन्त । अथ० 7 81 4
सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति। अथ० 11 6 7

2. सत्येनोत्तभिता भूमि सूर्येणो त्तभिता द्यौ ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रित ॥ ऋ० 10 85 1 आदि पूर्ण सूक्त ।

3 अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहित । ऋ० 10 85 2

4 आच्छाद्विधानैर्गुपितो बार्हतै सोम रक्षित ।
ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिव ॥ ऋ० 10 85 4
सोम मन्यते पपिवान् यत्संपिंषन्त्योषधिम् ।
सोम य ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥ ऋ० 10 85 3

5 वृण्वेत इन्दु वृषभ पीपाय स्वादूरसो मधुपेयो वराय । ऋ० 6 44 21

6 यो अप्सु चन्द्रमा इव सोमश्चमूषु ददृशे। पिबेदस्य त्वमीशिषे। ऋ० 8 82 8
चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि। ऋ० 1.105 1

विश्व को देखता है । इस प्रकार के सदर्भो मे तात्पर्य चन्द्रमा से लिया जाना चाहिए[1]
कुछ भी हो हिलेब्राण्ड्ट अपनी 'वैदिश्शे मिथालजी' नामक पुस्तक मे सोम चन्द्र का तादात्म्य अनेक वैदिक मन्त्रो मे सूचित हुआ मानते और कहते है कि सपूर्ण नवम मण्डल मे सोम का अर्थ चन्द्रमा समझा जाना चाहिए और उस शब्द का अर्थ कही भी 'लता' नही लेना चाहिए, फलत. उनकी दृष्टि मे नवम मण्डल वास्तव मे चन्द्र-स्तुति का मण्डल है । उनके अनुसार ऋग्वेद मे सर्वत्र, चाहे वह भाग प्राचीनतम अथवा नवीनतम ही क्यो न हो, सोम का दूसरा अर्थ 'लता' और 'रस' है, किंतु देवता के रूप मे उसका अर्थ सब जगह चन्द्रमा ही है । उनके मत मे चन्द्रमा सोम या अमृत का निधान है और उसी को उपासक लोग सोम-सवन करते समय देवता के रूप मे ध्याते एव मनाते हैं । पेय सोम तो उस चान्द्र-अमृत का एक अशमात्र है । हिलेब्राण्ड्ट ऋग्वेद मे चन्द्र-सोम के इस तादात्म्य से भी एक पग आगे बढकर कहते है कि सोम के रूप मे चन्द्र-देव वैदिक धर्म के मुख्य केन्द्र हैं, क्योकि वे सूर्य की अपेक्षा भी कही अधिक मन्त्रो मे विश्व के स्रष्टा एव शासक बनकर सामने आते हैं । हिलेब्राण्ड्ट के मत मे, इन्द्र का—जोकि जन-साधारण के सबसे बडे देवता है—स्थान भी चन्द्रमा के बाद आता है ।

उक्त मत के विरोध मे यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद मे सोम के बहु-सख्यक वर्णनो मे सोम-देव एक लता और रस विशेष के मानवीकृत रूप मे पाठक के समुख आते हैं । साथ ही जहा परवर्ती साहित्य मे सोम-चन्द्र का तादात्म्य पूर्ण-रूपेण चमक उठा है, वहा ऋग्वेद मे एक भी उद्धरण ऐसा नही मिल पाता जहा सोम-चन्द्र का तादात्म्य असदिग्ध रूप मे सपन्न हो चुका हो अथवा चन्द्रमा को देव-भक्ष्य माना गया हो । केवल उन मन्त्रो मे, जहा कि सोम की सूर्य से सवद्ध भास्व-रता का अस्पष्ट वर्णन किया गया है, चन्द्रमा और सोम के ऐक्य का आभासमात्र मिल सकता है । किंतु यह सभव है कि सोम-सवन्धी कल्पनाओ के असमन्वित विवरणो के मध्य अमृत और चन्द्रमा का तादात्म्य कही पर उभर आया हो । सोम के भास्वर और आप्यायक स्वभाव का वर्णन करनेवाले मन्त्रो मे यत्र-तत्र इस विचार के सकेत मिल सकते है किंतु सपूर्ण ऋग्वेद को ध्यान मे रखकर उसके उन कतिपय परवर्ती मन्त्रो को छोडकर, जहाकि सोम चन्द्र का तादात्म्य स्वीकार किया जा चुका है, कहा जा सकता है कि ऋग्वेदिक कवि के लिए सोमदेव प्रधानत पार्थिव लता और रस के ही मानवीकरण थे । साथ ही यह मानना भूल होगी कि सभी वेद-व्याख्याकारो को, जिनके समय मे कि सोम और चन्द्रमा को एक माना जाता था, इस बात का ज्ञान न हो कि ऋग्वेद मे भी कही-कही सोम का अर्थ चन्द्रमा लगाना युक्तिसगत है ।

1 द्रप्स समुद्रमभि यज्जिगाति पश्यन् गृध्रस्य चक्षसा विधर्मन् । ऋ० 10 123 8.

कहना नही होगा कि भारत-ईरानी काल ही मे अवेस्तिक होम या सवन और स्तवन होता था। ऋग्वेद मे आता है कि सोम पर्वतो पर या पर्वत-विशेष पर उत्पन्न होता था। ऋग्वेद मे वरुण इसे चट्टानो के ऊपर धरते है। अवेस्ता मे होम को एक कार्यदक्ष देवता के द्वारा हरैति नामक महान् पर्वत पर रखा जाता है। ऋग्वेद मे इसे श्येन लाता है, अवेस्ता मे कुछ क्षेमकारी पक्षी इसे पर्वत पर से लाकर वितरित करते हैं। वेद और अवेस्ता दोनो मे सोम एक वनस्पति हैं। दोनो मे यह एक ओषधि-विशेष है, जो स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन प्रदान करती और मृत्यु का निवारण करती है। सोम-सवन और सोम का उपायन भारत-ईरानी काल ही मे उपासना का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन चुका था। किंतु जहा ऋग्वेद मे प्रतिदिन तीन बार सवन होता था, वहा अवेस्ता (यस्न 10 2) मे दो ही बार के सवनो का उल्लेख मिलता है। दोनो मे कहा गया है कि डण्ठल (अंशु) कुचले जाते थे, सोम-रस पीत वर्ण का होता था और दूध के साथ उसे मिलाया जाता था (यस्न 10 13)। दोनो मे दिव्य सोम को पार्थिव सोम से पृथक् माना गया है और सोम-देवता को पेय सोम से। दोनो मे सोम का गाथेय घर स्वर्ग है, जहा से इसे पृथिवी पर लाया जाता है। दोनो मे पेय सोम (यज्ञाग्नि की तरह) एक शक्तिशाली देव बन जाता और उसे राजा कहा जाता है। और यदि ऋग्वेदिक सोम वृत्रघ्न हैं तो अवेस्तिक होम वेरेथ्रजन है, और वज्र का निपात तो दोनो ही करते हैं (वधर्=वदरे)। दोनो ही कुटिल जनो की घातो को ताडते है, दोनो ही शत्रुओ पर विजय प्रदान करते और दिव्य लोक प्राप्त कराते हैं। दोनो ही अश्वो और अनुपम शिशुओ के दाता है। ऋग्वेद और अवेस्ता दोनो मे सर्वप्रथम सोम-सवन करनेवालो के नामो तक मे ऐकमत्य है—विवस्वान् और वीवन्ह्वन्त, त्रित आप्त्य और थ्रित आथ्व्य। स्वर्गीय मादक पेय मे आस्था तो भारोपीय काल की भी हो सकती है। यदि यह संभव है तो सोम को एक प्रकार का मधु (संस्कृत=मधु, ग्रीक=मेदु, आस०=मेदु) समझा जाता रहा होगा, जिसे इसके रक्षक दानव के यहा से एक श्येन धरती पर लाया होगा। इस प्रकार का कोई मधु यदि भारोपीय काल मे था तो भारत-ईरानी काल मे सोम ने उसका स्थान ले लिया होगा। किंतु वैदिक काल मे तो उसका सोम-मिश्रित रूप मे चलन जारी था, यह बात निश्चित-सी है।

'सोम' शब्द की व्युत्पत्ति पेषणार्थक 'सु' धातु से है, जिसका अवेस्तिक रूप=होम √हु है।

भावात्मक देवता

दो वर्ग (§ 38)—

ऋग्वेद मे दो प्रकार के देवता भावात्मकता पर आश्रित है। प्रथम वर्ग

मे वे देवता आते हैं, जो मनोभावो के सीधे मानवीकरण है, जैसे काम । इस प्रकार के देवता बहुत ही कम है और ये ऋग्वेद के सबसे बाद मे बने सूक्तो मे आते है । इनका मूल सूक्ष्म विचारो की अभिवृद्धि मे है । दूसरा वर्ग, जिसमे अपेक्षाकृत बहु-सख्यक देवता आते है, उन देवताओ का है, जिनके नाम धातुओ मे—तृ प्रत्यय लगाकर बने हैं और जो या तो कर्तृत्व के बोधक हैं जैसे धाता, अथवा किसी व्यापार-विशेष के जैसे प्रजापति । वेद के गाथेय पात्रो की कल्पना मे होनेवाले विकास पर ध्यान देने से इस वर्ग के देवता प्रत्यक्षत भावो के प्रतिरूप नही, अपितु किसी देवता-विशेष अथवा देवता-सामान्य के लिए प्रयुक्त हुए किसी विशेषण से उद्भूत हुए जान पडते है । इस प्रकार के विशेषण ही धीरे-धीरे अपने विशेष्य से पृथक् होकर स्वतन्त्र रूप मे देवता बन गये प्रतीत होते है । उदाहरणार्थ रोहित (जिसका स्त्री० रूप रोहिणी है), जो मूलत. सूर्य का एक विशेषण था, अथर्ववेद मे पहुच कर सृजन का एक पृथक् देवता बन गया है ।

विविध कर्तृ-देवता—

कर्तृत्व बोधक—त्रन्त देवताओ मे सबसे ओजिष्ठ सविता हैं, जिनका विव-रण सौर देवताओ मे किया जा चुका है । अवशिष्ट देवताओ मे से अधिकतर देवता ऋग्वेद मे बहुत कम आते है । धाता कुछेक मन्त्रो मे यज्ञ की व्यवस्था देने-वाले पुरोहित के अर्थ मे आता है, किंतु दशम मण्डल मे यह लगभग 12 बार देवता-रूप मे भी आया है और केवल एक सदिग्ध उल्लेख को छोडकर इसे सभी स्थलो पर अनेक देवो के साथ प्रस्तुत किया गया है[1] । इन मन्त्रो मे भी एक मे धाता शब्द इन्द्र के विशेषण की तरह प्रयुक्त हुआ है[2] और दूसरे मन्त्र मे विश्व-कर्मा का विशेषण बनकर आया है[3] । विविध देवताओ मे विश्व के विविध दृश्यो की स्थापना करने के कार्य निक्षिप्त किये जाते थे । यह प्रक्रिया धीरे-धीरे एक ऐसे पृथक् देवता की कल्पना मे परिणत हो गई जो इस विशिष्ट कार्य को करता था । इसी प्रक्रिया के द्वारा धीरे-धीरे धाता भी एक स्वतन्त्र देवता बन गये है, जो सूर्य, चन्द्रमा, स्वर्ग, पृथिवी और वायु की रचना करते हैं[4] और विश्व के पति

1. श नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु श न उरूची भवतु स्वधाभि ।
   श रोदसी बृहती श नो अद्रि श नो देवाना सुहवानि सन्तु ॥ ऋ० 7 35 3
2. सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि ।
   तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधात कलशाँ अभक्षयम् ॥ ऋ० 10 167 3
3. विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सदृक् । ऋ० 10 82 2
4. सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
   दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ऋ० 10 190 3

है[1]। एक सूर्य-सूक्त मे धाता का आह्वान निर्मल चक्षु प्रदान करने के लिए किया गया है[2]। विष्णु, त्वष्टा और प्रजापति के साथ वे अपत्यदान के लिए आहूत हुए हैं[3], और अकेले भी उनका आह्वान दिनो के पौर्वापर्य की सततता के लिए हुआ है[4]। विष्णु और सविता[5] अथवा मातरिश्वा और देष्टा[6] के साथ भी उनका आह्वान हुआ है। निघण्टु मे धाता को मध्यम-लोकस्थ देवो मे गिना गया है और यास्क ने इस शब्द का अर्थ किया है—'प्रत्येक वस्तु के विधायक'[7]। वेदोत्तर-काल मे धाता विश्व के स्रष्टा और पालक के रूप मे उभरते हैं, क्योकि वे अब प्रजापति और ब्रह्मा के तुल्य बन गये हैं। विधाता शब्द एक मन्त्र मे इन्द्र का[8] और दूसरे मन्त्र मे विश्वकर्मा का[9] विशेषण बनकर आया है, किंतु दो बार देव-नामो की गणना मे यह स्वतन्त्र देवता के रूप मे भी आया है[10]। धर्ता शब्द का प्रयोग बहुधा इन्द्र एव अन्य देवो के विशेषण के रूप में हुआ है। किंतु एक बार यह अन्य देव-नामो के साथ स्वतन्त्र नाम की तरह भी प्रयुक्त हुआ है[11]। इसी प्रकार त्वष्टा का प्रयोग बहुसख्यक मन्त्रो मे अग्नि और इन्द्र के विशेषण की तरह हुआ है, और बहुवचन मे आदित्यो के विशेषण-रूप मे। किंतु पाच मन्त्रो मे यह स्वतन्त्र रूप से अन्य

1 धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिं । ऋ० 10 128 7.

2 चक्षुर्धाता दधातु न । ऋ० 10 158 3

3 विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ ऋ० 10 184 1.

4 यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु ।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥ ऋ० 10 18 5.

5 धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ट । ऋ० 10 181.1.
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोर्भरद्वाजो बृहदा चक्रे अग्ने । ऋ० 10 181 2
धातुर्द्युताना सवितुश्च विष्णो रा सूर्यादभरन् घर्ममेते । ऋ० 10 181 3

6 दे० 10 85 47 पृ० 173

7 धाता सर्वस्य विधाता । नि० 11 10

8 दे० 10 167 3 पृ० 301

9 दे० 10 82 2 पृ० 301

10 ते नो रुद्र सरस्वती सजोषा मीळ्हुष्मन्तो विष्णुर्मृळन्तु वायु ।
ऋभुक्षा वाजो दैव्यो विधाता पर्जन्यावाता पिप्यतामिषं न ॥ ऋ० 6 50 12
उभे द्यावापृथिवी विश्वमिन्वे अर्यमा देवो अदितिर्विधाता ।
भगो नृशंस उर्वन्तरिक्ष विश्वे देवा पवमान जुषन्त ॥ ऋ० 9 81 5

11 दे० 7 35 3 पृ० 301

देवो के साथ आया है[1]। रॉथ के मत मे 'भग' और विशेपतया सविता को इस नाम से पुकारा गया है। एक सूक्त[2] मे 'देवनेतृ' नामक देवता का दो या तीन बार आह्वान जीवन-सपत्ति के दाता के नाते किया गया है।

त्वष्टा

त्वष्टा नाम से अनेक वार उल्लिखित देवता महत्व मे सविता के वाद आता है। इनका नामोल्लेख ऋग्वेद मे 65 वार हुआ है। सातवें और आठवे मण्डल मे इसका उल्लेख अपेक्षाकृत कम वार हुआ है, किंतु प्रथम और दशम मण्डल मे इसका प्रयोग सवसे अधिक वार हुआ है। किंतु स्मरण रहे, त्वष्टा की स्तुति मे एक भी सकल सूक्त नही कहा गया है।

भुजा और हाथ को छोडकर त्वष्टा के किसी भी अवयव का उल्लेख नही मिलता है। उनके हाथ मे एक आयस परशु रहता है[3]। वे अपने रथ मे दो अश्वो को जोतते है और स्वय अत्यन्त भास्वर है[4]। त्वष्टा सुडौल भुजाओ वाले है और उनके हाथ मञ्जुल है[5] एव सुपाणि विशेपण का प्रयोग प्रधानतया त्वष्टा और सविता के लिए हुआ है।

त्वष्टा अत्यन्त कार्य-कुशल है[6] और अपनी तक्षण कला का प्रदर्शन करते हुए वे विविध वस्तुओ को रचते हैं। वे सचमुच कार्य कर्ताओ मे सवसे अधिक दक्ष हैं, और तक्षण कला के तो वे साक्षात् अवतार ही है[7]। कहा जाता है कि उन्होने

---

1 देवैर्नो देव्यदितिर्नि पातु देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥ ऋ० 1 106 7.
आ पर्वतस्य मरुतामवांसि देवस्य त्रातुरव्रि भगस्य। ऋ० 4 55 5
दे० 4 55 7 के लिए 1 106 7 ऊपर
बृहद् वरूथं मरुतां देवं त्रातारमश्विना। मित्रमीमहे वरुणं स्वस्तये ॥ ऋ० 8 18 20
धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिर्देवं त्रातारमभिमातिषाहम्। ऋ० 10 128 7

2 विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे ॥ ऋ० 5 50 1. आदि पूर्ण सूक्त

3 वाशीमेको बिभर्ति हस्त आयसीमन्तर्देवेषु निध्रुविः। ऋ० 8 29 3

4. युजानो हरिता रथे भूरि त्वष्टेह राजति। ऋ० 6 47 19

5 प्रथमभाजं यशसं वयोधां सुपाणिं देवं सुगभस्तिमृभ्वम्।
होता यक्षद् यजतं पस्त्यानामग्निस्त्वष्टारं सुहवं विभावा ॥ ऋ० 6 49 9

6 त्वष्टा यद् वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्तयत्। ऋ० 1 85 9
सुकृत्सुपाणिः स्ववाँ ऋतावा देवस्त्वष्टावसे तानि नो धात्। ऋ० 3 54 12

7. दे० 10 53.9 पृ० 173

इन्द्र के लिए वज्र[1] बनाया था (√तक्ष्)। वे ब्रह्मणस्पति के आयस परशु को भी पैनाते हैं[2]। उन्होने एक अनूठा चमस बनाया था[3], जिसमे असुरो का भोज्य रखा जाता था[4] अथवा देवताओ का पान[5]। उनके पास ऐसे पात्र हैं, जिनमे पान करना देवता भी अपना अहोभाग्य समझते है[6]। अथर्ववेद[7] मे कहा गया है कि वे एक 'स्थविर पुमान्' है जिनके पास सपत्ति-भरा कलश है और सोम-भरा चमस है। त्वष्टा ने शीघ्रगामी अश्व को उत्पन्न किया[8], और घोडे को गति उन्होने ही दी है[9]। ऋग्वेद के शब्दो मे त्वष्टा ने ही सब अशेष प्राणियो को रूप-सपन्न बनाया है[10]। त्वष्टा गर्भाशय मे गर्भ के विकासक और मानवीय तथा पाशविक सभी रूपो के विधायक है[11]। इसी प्रकार की उक्तिया परवर्ती वैदिक साहित्य मे भरी पडी है[12], किंतु त्वष्टा खास तौर से रूप के निष्पादक हैं[13]। ऋग्वेद मे उन्हे अन्य देवताओ की अपेक्षा अधिक बार 'विश्वरूप' बताया गया है। सजीव रूपो के निर्माता के नाते और अपत्यो के दाता के रूप मे भी उनसे कर्मण्य एव युक्तग्रावा वीर सतति की प्रार्थना की गई है[14]। फलत उल्लेख मिलता है कि त्वष्टा ने पति पत्नी

1 अनवस्ते रथमश्वाय तक्षन् त्वष्टा वज्र पुरुहूत द्युमन्तम्। ऋ० 5 31 4
2 दे० 10 53 9 पृ० 261
3 उत त्य चमस नव त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुर पुन ॥ ऋ० 1 20 6
4 त्य चिच्चमसमसुरस्य भक्षणमेक सन्तमकृणुता चतुर्वयम्। ऋ० 1 110 3
5 हनामैनाँ इति त्वष्टा यदब्रवीच्चमस ये देवपानमनिन्दिषु। ऋ० 1 161 5
6 त्वष्टा माया वेदपसामपस्तमो बिभ्रत्पात्रा देवपानानि शतमा।
शिशीते नून परशु स्वायस येन वृश्चादेतशो ब्रह्मणस्पति ॥ ऋ० 10 53 9
7 सोमेन पूर्णं कलश बिभर्षि त्वष्टा रूपाणा जनिता पशूनाम्। अथ० 9 4 6
8 त्वष्टुर्वाजायत आशुरश्व। वा० स० 29 9
9 आ ते त्वष्टा पत्सु जव दधातु। अथ० 6 92 1
10. य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान् देव त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ ऋ० 10 110 9.
11 त्वष्टा रूपाणि हि प्रभु पशून् विश्वान्समानजे।
तेषा न स्फाति मा यज ॥ ऋ० 1 188 9 दे० 10 184 1 पृ० 302
अय यथा न आभुवत् त्वष्टा रूपेव तक्ष्या। अस्य क्रत्वा यशस्वत। ऋ० 8 102 8
12 एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषा सहचार जुजोष।
त्वष्टा येषा रूपधेयानि वेदास्मिन्तान्गोष्ठे सविता नियच्छतु ॥ अथ० 2 26 1
13 त्वष्टा रूपाणि (आदत्त)। शत० ब्रा० 11 4 3 3
त्वष्टा वै रूपाणामीशे। तै० ब्रा० 1 4 7 1
14 तन्नस्तुरीपमध पोपयित्नु देव त्वष्टर्विरराण स्यस्व।

को गर्भाशय मे ही एक दूसरे के लिए बनाया है[1]। उन्होने भाति-भाति के प्राणियो का सिरजन किया है और वे ही उन सबका पालन पोषण करनेवाले हैं[2]। वन्य पशुओ के भी त्वष्टा ही नियन्ता हैं[3]। सच पूछो तो वे विश्व-पिता है, क्योकि उन्होने ही समस्त चराचर को उत्पन्न किया है[4]।

वे मनुजाति के पूर्वज हैं, क्योकि उनकी पुत्री सरण्यू—जो विवस्वान् की पत्नी थी—प्रथम यमल—यम और यमी की माता बनती है[5]। वायु को एक बार उनका जामाता बताया गया है[6]। त्वष्टा ने बृहस्पति को जन्म दिया[7]। दश अगुलियो द्वारा आविर्भूत अग्नि भी त्वष्टा का ही तनय है[8]। त्वष्टा ने अग्नि को स्वर्ग, पृथिवी, सलिलो और भृगुओ के साथ जन्म दिया है[9]। कहा जाता है कि त्वष्टा इन्द्र के भी पिता थे। वे सोम के सरक्षक हैं, और सोम उनका मधु है[10]। उन्ही के घर मे इन्द्र सोम पीते हैं और वही से अपने पिता तक की हत्या करके वे सोम को चुराते हैं। त्वष्टा का विश्वरूप नामक पुत्र गौओ का सरक्षक है। इन्द्र की शत्रुता

यतो वीर कर्मण्य सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकाम ॥ ऋ० 3 4 9

1 गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूप । ऋ० 10 10 5
त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वा पतिम् ।
त्वष्टा सहस्रमायूपि दीर्घमायु कृणोतु वाम् ॥ अथ० 6 78 3

2 देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूप पुपोष प्रजा पुरुधा जजान । ऋ० 3 55 19

3. त्वष्टा वै पशूनामीष्टे । शत० ब्रा० 3 7 3 11
त्वष्टृर्हि पशव । शत० ब्रा० 3 8 3 11.

4 त्वष्टुरवी जायतऽआशुरश्व । त्वष्टेद विश्व भुवन जजान । वा० स० 29 9

5 त्वष्टा दुहित्रे वहतु कृणोतीतीद विश्व भुवन समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥ ऋ० 10 17 1
अपागूहन्नमृता मर्त्येभ्य कृत्वी सवर्णामदुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादुद्वा मिथुना सरण्यू ॥ ऋ० 10 17 2
प्र सू महे सुशरणाय मेधा गिर भरे नव्यसी जायमानाम् ।
य आहना दुहितुर्वक्षणासु रूपा मिनानो अकृणोदिद न ॥ ऋ० 5 42 13

6. तव वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत । अवास्या वृणीमहे ॥ ऋ० 8 26.21

7 विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टाजनत्साम्न साम्न कवि । ऋ० 2 23 17

8 दशेम त्वष्टुर्जनयन्त गर्भमतन्द्रासो युवतयो विभृत्रम् । ऋ० 1 95 2.

9 दे० 10 2 7 पृ० 232
दे० 10 46 9 पृ० 172

10 आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्य शिर प्रत्यैरयतम् ।
स वा मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्ट्र यद् दस्रा वपिकक्ष्य वाम् ॥ ऋ० 1 117 22

इसके प्रति इन गौओं को जीत लेने की इच्छा के कारण है, ठीक वैसे ही जैसे कि इसके पिता से उनकी शत्रुता सोम पर अधिकार करने की इच्छा से है। स्वयं त्वष्टा इन्द्र के क्रोध से कांप उठते है[1]। उन्हें इन्द्र से हीन दरजे का बताया गया है, क्योंकि इन्द्र द्वारा किये वीर कृत्यों को करने में वे भी स्वयं असमर्थ है[2]। तैत्तिरीय संहिता[3] में कहानी आती है कि त्वष्टा के पुत्र को इन्द्र ने मार डाला था, फलतः त्वष्टा ने सोम-याग में इन्द्र की सहायता करने से इनकार कर दिया था; किंतु इन्द्र आये और सहसा सोम को पी गये। ब्राह्मणों में इस प्रकार की कहानियां जगह-जगह आती है[4]।

हो सकता है कि गर्भाशय में सृजनक्रिया करने के कारण त्वष्टा का दिव्य वनिताओं के साथ निकट-संबन्ध बन गया हो। उनका संबन्ध देव-पत्नियों के साथ स्पष्ट है, जो अनेक बार उनकी परिचारिका बनकर आती है[5]। त्वष्टा का उल्लेख बहुधा उन्ही जैसे कार्यो को करनेवाले अन्य देवता पूषा, सविता, धाता और प्रजापति के साथ भी आता है। दो मन्त्रों[6] में तो सविता त्वष्टा के विशेषण बनकर आये हैं। इन्ही मन्त्रों मे सविता के साथ उनकी तदाकारता का संकेत भी आता है:—देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूप:। कौशिक सूत्र में त्वष्टा की एकरूपता सविता और प्रजापति के साथ उभारी गई है और मार्कण्डेय पुराण में विश्वकर्मा और प्रजापति के साथ। बाद की गाथा में त्वष्टा 12 आदित्यों में से एक बन गये है और महाभारत और भागवत पुराण में एक या दो बार वे सूर्य भी बन जाते है। ऋग्वेद में उनके बारे में कुछ और बातें भी मिलती है। उदाहरणार्थ वे प्रथम होनेवाले[7] अथवा अग्रजा है[8]। अङ्गिरसों के सखा के नाते वे देवलोक से परिचित है[9]। वे

1. दे० 1.80.14. पृ० 135.
2. अहं तदासु धारयं यदासु न देवश्चन त्वष्टाधारयद्रुशत्। ऋ० 10.49.10.
3. त्वष्टा हतपुत्रो वीन्द्रं सोममाऽहरत् तस्मिन्निन्द्र उपहवमैच्छत तं नोपाह्वयत पुत्रं मेऽवधीरिति स यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत्। तै० सं० 2.4.12.1.
4. स त्वष्टा चुक्रोध। कुविन्मे पुत्रमवधीदिति सोऽपेन्द्रमेव सोममाजह्रे स यथाऽयं सोमः प्रसुत एव मपेन्द्र एवास। शत० ब्रा० 1.6.3.6.
5. अग्ने पत्नीरिहा वह देवानामुशतीरुप। त्वष्टारं सोमपीतये॥ ऋ० 1.22.9.
6. दे० 3.55.19 पृ० 305. दे० 10.10 5. पृ० 305.
7. इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुप ह्वये। अस्माकमस्तु केवलः॥ ऋ० 1.13.10.
8. त्वष्टारमग्रजां गोपां पुरोयावानमा हुवे।
इन्दुरिन्द्रो वृषा हरिः पवमानः प्रजापतिः॥ ऋ० 9.5.9.
9. देवं त्वष्टर्यद्ध चारुत्वमानड्यदङ्गिरसामभवः सचाभूः।
स देवानां पाथ उप प्र विद्वानुशन् यक्षि द्रविणोदः सुरत्नः॥ ऋ० 10.70.9

देवों के पाथस् पर जाते हैं[1] जोकि स्वर्ग और पृथिवी के मध्य में है[2]। वे आशीर्वाद देते हैं और वे अनुपम धन के स्वामी है[3]। उपासक लोग धन और आनन्द-प्राप्ति के लिए उनका आह्वान करते हैं[4]। त्वष्टा दीर्घ जीवन के दाता है[5]।

त्वष्टा शब्द की निष्पत्ति √त्वक्ष् धातु से हुई है। संज्ञा-रूपों के अतिरिक्त इसका क्रिया रूप भी ऋग्वेद में एक बार मिलता है और इसका सजातीय √थ्वक्ष् अवेस्ता में प्रचलित है। अर्थ में यह √तक्ष् धातु का समानार्थक दीख पड़ता है। √तक्ष् धातु का प्रयोग त्वष्टा नाम के साथ इन्द्र-वज्र-निर्माण के प्रसङ्ग में हुआ है। फलतः त्वष्टा का अर्थ प्रतीत होता है—'निर्माता' या 'तक्षक'।

त्वष्टा धुंधले स्वरूप वाले वैदिक देवों की श्रेणी में है। इनके स्वरूप की अस्पष्टता का कारण केज़ी के अनुसार इस बात में है कि त्रित और उसी कोटि के अन्य देवों की भांति त्वष्टा का किसी प्राचीनतर देव-वर्ग के साथ संबन्ध था जिन्हें नवीन देवताओं के अवतीर्ण होने पर जनता भूल गई थी। हिलेब्राण्ड्ट के अनुसार इस बात का कारण यह है कि त्वष्टा का संबन्ध किसी वैदिक-आर्येतर वर्ग की गाथाओं के साथ था। त्वष्टा के मौलिक स्वरूप के संबन्ध में भांति-भांति की ऊहापोहें की गई हैं क्योंकि त्वष्टा को सविता कहा गया है; इसलिए ए० कुह्न मानते हैं कि त्वष्टा वास्तव में सूर्य थे; किंतु केज़ी ने अपने इस मत को बाद में वापस ले लिया था। लुडविग त्वष्टा को वर्ष का देवता मानते हैं। ओल्डेनबेर्ग के अनुसार त्वष्टा क्रिया-विशेष के भावात्मक रूप (Abstraction) है। हिलेब्राण्ड्ट कुह्न के इस मत को कि त्वष्टा सूर्य के प्रतिरूप है, संभव बताते है। हार्डी भी त्वष्टा को सौर-देवता ही समझते हैं। किंतु अधिक संभव यह है कि त्वष्टा ऋग्वेद-पूर्व काल में सूर्य की सृजनात्मक क्रिया के प्रतिरूप रहे हों। यदि यह सत्य है तो मानना पडेगा कि ऋग्वेदीय कवि त्वष्टा से संबद्ध—इस तथ्य को बहुत-कुछ भूल चुके थे। हो सकता है कि इनके नाम के कारण ही कार्यदक्षता से संबद्ध गाथाएँ इनके चहुं ओर आ

1. पिशङ्गरूपः सुभरो वयोधाः श्रुष्टी वीरो जायते देवकामः।
प्रजां त्वष्टा वि ष्यतु नाभिमस्मे अथा देवानामप्येतु पाथः॥ ऋ० 2.3.9.
2. त्वष्टा पत्नीभिरनुमंहनेयाग्ने यावा धिषणे यं दधाते।
विश्वावसु हस्तयोरादधानोऽन्तर्मही रोदसी याति साधन्। मै० सं० 4.14 9.
3. दे० 10.70 9. पृ० 306.
ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः।
देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षणः प्र रोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे॥ ऋ० 10.92.11.
4. प्रति नः स्तोमं त्वष्टा जुषेत स्यादस्मे अरमतिर्वसूयुः। ऋ० 7.34.21.
5. इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः। ऋ० 10.18 6.
दे० अथ० 6.78.3. पृ० 305.

चिपकी हों; क्योंकि देव-मण्डली में भी किसी स्थायी त्वष्टा की कल्पना करना स्वाभाविक-सा था। कुछ इसी प्रकार से वैदिक देवताओं में बृहस्पति नामक एक दिव्य पुरोहित की कल्पना भी की गई थी।

त्वष्टा के चमस का अर्थ 'वर्ष का कलश' अथवा 'रात्रि का आकाश' किया गया है। किंतु इन दोनों के साथ सोम-पूर्णता और देवताओं के द्वारा पिये जाने की कल्पना का संबन्ध नही के तुल्य ठहरता है। हिलेब्राण्ड्ट इनका तादात्म्य चन्द्रमा के साथ बताते हैं और उनका यह मत अपेक्षाकृत अधिक संगत प्रतीत होता है।

विश्वकर्मा प्रजापति (§ 39)—

ऋग्वेद में कुछ ऐसे भावात्मक देवता पाये जाते है जिनका मूल उन विशेषणों में निहित है जो उस सर्वोच्च देवता का प्रतिनिधान करते है, जोकि ऋग्वेदिक काल के अन्तिम चरण में उभर रहा था। एक देवता का अभिधायक बनकर विश्वकर्मन् पद ऋग्वेद में केवल 5 बार आता है और वह भी दशम मण्डल में। उनकी स्तुति में दो सकल सूक्त कहे गये हैं[1]। विश्वकर्मा शब्द एक बार इन्द्र का और एक बार सूर्य का विशेषण बनकर भी प्रयुक्त हुआ है[2]। परवर्ती वेदों में भी विशेषण-रूप में इसके प्रयोग अज्ञात नही हैं। यहां यह प्रजापति का भी विशेषण बनकर आया है[3]। ऋग्वेद के दोनों सूक्तों में विश्वकर्मा का वर्णन इस प्रकार है: वे सर्वद्रष्टा है, उनके सब ओर नेत्र, मुख, भुजाएं और चरण है। (इस दृष्टि से उत्तरकालीन गाथा के चतुर्मुख और चतुष्पाद ब्रह्मा इनके प्रतिनिधि ठहरते है)। उनके पंख भी हैं। वे ऋषि है, पुरोहित है और हम सबके पिता हैं। वे वाचस्पति, मनोजवा, उदार और अशेष संपत्ति के प्रभव हैं। वे सभी स्थानों और सभी प्राणियों को जानते है और एकमात्र वे ही देवताओं का नामकरण करते है। वे प्राज्ञ और शक्ति-संपन्न है; वे सर्वोच्च संदृक् हैं। वे धाता और विधाता है; क्योंकि उन्होंने ही पृथिवी को उत्पन्न किया और आकाश को अनावृत किया है। संभव है कि विश्वकर्मा शब्द पहले-पहल सूर्यदेव का विशेषण बनकर उनके साथ संपृक्त हुआ हो और उत्तर-वैदिक काल मे पहुंच कर यह उस 'एक देव' का पर्याय बन गया

1. य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः। ऋ० 10.81.1. आदि
चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद् द्यावापृथिवी अप्रथेताम्॥ ऋ० 10.82.1. आदि.
2. त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि॥ ऋ० 8.98.2.
विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः।
येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता॥ ऋ० 10.170.4.
3. प्रजापति विश्व कर्मा विमुञ्चतु। वा० सं० 12.61.

हो[1], जिसकी कल्पना धीरे-धीरे विकसित हो रही थी और जो विश्वकर्मा के रूप मे सबका तष्टा बनकर उभर रहा था। ब्राह्मणो मे विश्वकर्मा का तादात्म्य प्रजापति के साथ स्थापित किया गया है[2] और वेदोत्तर-काल मे वे देवताओ के तष्टा समझे जाने लगे थे।

ऋग्वेद के एक मन्त्र[3] मे प्रजापति शब्द सविता का विशेषण बनकर आता है, जहा कि सविता को स्वर्ग का धारक और विश्व का प्रजापति बताया गया है। एक अन्य मन्त्र मे इन्द्र और त्वष्टा के साथ तुलित सोम का विशेषण बनकर प्रजापति शब्द आता है[4]। दशम मण्डल मे चार बार इस शब्द का एक स्वतन्त्र देवता के अभिधान की तरह प्रयोग हुआ है। प्रजापति देव को प्रशस्त प्रजा देने के लिए पुकारा गया है और विष्णु, त्वष्टा और धाता के साथ उन्हे अपत्यदान के लिए[5]। वे गौओ को उर्वरा बनाते है[6]। सतानो और प्राणियो के रक्षक होने के नाते प्रजापति का आह्वान अथर्ववेद मे भी किया गया है। उनकी स्तुति मे कहे गये एक ऋग्वेदिक सूक्त[7] के अन्तिम मन्त्र मे उनका अपने नाम से आह्वान हुआ है। इस सूक्त मे उनकी स्तुति पृथिवी और स्वर्ग, सलिल और नि शेप प्राणियो के स्रष्टा के रूप मे की गई है। वे अशेष सत्ताओ के एकमात्र अधिपति, प्राणियो और गतिमानो के एकमात्र राजा, सब देवो के ऊपर एक देव बनकर आविर्भूत हुए है। उनके विधानो का अनुपालन सभी प्राणी और देवता करते है। उन्होने स्वर्ग और पृथिवी को स्तभित किया। वे अन्तरिक्ष मे लोको के परिभ्रामक है। अपनी भुजाओ से वे

---

1 विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्या धमति स पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एक ॥ ऋ० 10 81 3

2 प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा। शत० ब्रा० 8 2 1 10
प्रजापति प्रजा सृष्ट्वा विश्वकर्माभवत्। ऐ० ब्रा० 4 22

3 दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापति। अजीजनत्सविता सुम्नमुक्थ्यम् ॥ ऋ० 4 53 2

4 दे० 9 5 9 पृ० 306

5 आ न प्रजा जनयतु प्रजापति। ऋ० 10 85 43
विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आसिञ्चतु प्रजापति धाता गर्भं दधातु ते ॥ ऋ० 10 184 1
त्वष्टारमग्रजा गोपा पुरो यावानमा हुवे।
इन्दुरिन्द्रो वृषा हरि पवमान प्रजापति ॥ ऋ० 9 5 9

6 प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवै पितृभि सविदान।
शिवा सती रूप नो गोष्ठमाकस्तासा वय प्रजया स सदेम ॥ ऋ० 10 169 4

7 हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० 10 121 1

निखिल संसार और निःशेष प्राणियों को व्यापे हुए हैं। इन स्थलों पर स्पष्टतः प्रजापति सर्वोच्च देव का नाम है। सर्वोच्च देव के नाते ऋग्वेद में उनका केवल एक बार उल्लेख हुआ है, किंतु अथर्ववेद एवं वाजसनेयि संहिता में साधारणतया और ब्राह्मणों में सर्वत्र ही उन्हें प्रमुख देवता मानकर उनकी उपासना की गई है। वे देवाधिदेव हैं[1]। वे आदिकाल में अकेले विराजमान थे[2]। उन्होंने ही असुरों की रचना की थी[3]। वे प्रथम याज्ञिक हैं[4]। सूत्रों में प्रजापति का तादूप्य ब्रह्मा के साथ किया गया है[5]। परवर्ती वैदिक धर्म के इस प्रमुख देवता के स्थान पर उपनिषदों एवं दर्शनों ने निर्गुण ब्रह्म की स्थापना की है।

मैत्रायणी संहिता[6] में गाथा आती है कि एक बार प्रजापति अपनी पुत्री उषा पर आसक्त हो गये। तब उषा ने अपने-आपको हिरनी के रूप में परिवर्तित कर लिया। इसपर प्रजापति ने अपने को हिरन बना लिया। तब रुद्र ने क्रुद्ध होकर उनके ऊपर बाण संधान लिया, तब प्रजापति को होश आई और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि यदि रुद्र उनके ऊपर बाण न छोड़ेंगे तो वे उन्हें पशुपति बना देंगे[7]। इस गाथा का उल्लेख ब्राह्मणों में अनेक प्ररोचनाओं के साथ आया है[8]।

---

1. ता वा एताः प्रजापतेरधि देवता असृज्यन्ताग्निरिन्द्रः सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः।
शत० ब्रा० 11.1.6.14.
2. प्रजापति र्ह वा इदमग्र एक एवाऽऽस। शत० ब्रा० 2.2.4.1.
3. सोऽसुरानसृजत। तै० ब्रा० 2.2.4.4.
4. प्रजापतिर्ह वा एतेनाऽग्रे यज्ञेनेजे। शत० ब्रा० 2.4.4.1.
प्रजापतिरिमां प्रथमां स्वयमातृण्णां चितिमपश्यत्। शत० ब्रा० 6.2.3.1.
5. प्रजापतिर्ब्रह्मा। आ० गृ० सू० 3.4.
6. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यकामयतोषसं सा रोहिद्भवत्तामृश्यो भूत्वाऽध्यैत्तस्मा अपव्रतमच्छदयत्तमायत्याभि पर्यावर्तत तस्माद्वा अबिभेत्सोऽब्रवीत्पशूनां त्वा पतिं करोम्यथ मे मा स्था इति। मै० सं० 4.2.12.
7. पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन्ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥
ऋ० 10.61.7.
8. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्तं देवा अपश्यन्नकृतं वै प्रजापतिः करोतीति॥ ऐ० ब्रा० 3.33.
प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमभिदध्यौ। दिवं वोषसं वा मिथुन्येनया स्यामिति तां सम्बभूव। शत० ब्रा० 1.7.4.1.
प्रजापतिरश्मरमभ्यैत्स्वां दुहितरं तस्य रेतः परापतत्तदस्यां न्यषिच्यत तदश्रीणादिदं मे मादुषदिति तत्सदस्योपश्रूतेन॥ पञ्च० ब्रा० 8.2.10.

इसका आधार ऋग्वेद के वे दो मन्त्र[1] प्रतीत होते है जिनमे पिता (सभवत द्यौस्) अपनी पुत्री (पृथिवी) पर आसक्त होते दिखाये गये हैं और जिनमे एक शर-सधायक की ओर भी सकेत किया गया है।

ऋग्वेद[2] (10 121) के प्रथम नव मन्त्रो की टेक मे प्रजापति शब्द की आवृत्ति प्रश्नवाचक सर्वनाम 'क' (कस्मै) के रूप मे की गई है। दशम मन्त्र मे उत्तर दिया गया है कि अकेले प्रजापति सभी सत्ताओ को व्यापे हुए हैं। इस प्रयोग के आधार पर 'क' शब्द का बाद मे न केवल प्रजापति के विशेषण के रूप मे, अपितु सर्वोच्च देव के स्वतन्त्र नाम के रूप मे प्रयोग चल पडा[3]। तैत्तिरीय सहिता[4] मे 'क' का तादूप्य स्पष्टतया प्रजापति के साथ किया गया है।

ऋग्वेद[5] (10 121) के प्रथम मन्त्र मे सर्वोच्च देव को हिरण्यगर्भ बताया गया है, जो अशेष सत्ता के अकेले ही सम्राट् है। यह नाम ऋग्वेद मे केवल इसी एक स्थल पर आता है, किंतु अथर्ववेद और ब्राह्मण-कालीन साहित्य मे इसका उल्लेख अनेक बार हुआ है। अथर्ववेद[6] मे हिरण्यगर्भ का बोध इस प्रकार भी कराया गया है जलो ने एक गर्भ उत्पन्न किया, जो उत्पन्न होते-होते स्वर्णावरण से आवृत हो गया। तैत्तिरीय सहिता मे हिरण्यगर्भ का तादूप्य प्रजापति के साथ किया गया है। उत्तर-कालीन साहित्य मे यह शब्द ब्रह्मा का अभिधान बन गया है।

मन्यु एव श्रद्धा आदि देवता (§ 40)—

अभी हमे भाववाचक सज्ञाओ की विग्रहवत्ता का विवेचन करना है। मन्यु-देव की कल्पना मुख्यतया इन्द्र के भयानक अमर्ष के आधार पर की गई है। मन्यु

1 मुहे यत् पित्र ईं रसं दिवे करव त्सरत्पृशन्यश्चिकित्वान्।
सृजदस्ता धृषता दिद्युमस्मै स्वायां देवो दुहितरि त्विषिं धात्॥ ऋ० 1 71 5
प्रथिष्ट यस्य वीरकर्ममिष्णदनुष्ठितं नु नर्यो अपौहत्।
पुनस्तदा वृहति यत्कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा॥ ऋ० 10 61 5
दे० 10 61 7, पृ० 310

2 दे० 10 121 1 पृ० 309

3 को नाम प्रजापति। ऐ० ब्रा० 3.22 7
काय स्वाहा कस्मै स्वाहा कतमस्मै स्वाहा। मै० सं० 3 12 5

4 प्रजापतिर्वै क। तै० स० 1 7 6 6

5 दे० 10 121 1 पृ० 309

6 आपो वत्स जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन्।
तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
अथ० 4 2 8

के लिए ऋग्वेद में दो सूक्त कहे गये हैं[1]। वे दुर्धर्ष है और उनका अपना अलग अस्तित्व है। वे अग्नि की भांति चमचमाते है, वे एक देवता है—वे इन्द्र, वरुण और जातवेदस् है। वे वृत्र का वध करते है और वे मरुत्सखा है। इन्द्र की भांति वे विजय कराते और धन प्रदान करते हैं। तपःसंपन्न होने के नाते वे अपने उपासकों की रक्षा और अपने शत्रुओं का विनाश करते है।

एक छोटा सूक्त श्रद्धा की स्तुति में भी कहा गया है[2]। प्रातः, मध्याह्न और रात्रि के समय श्रद्धा का आह्वान किया जाता है। श्रद्धा के द्वारा अग्निदेव प्रज्वलित होते और श्रद्धा के कारण ही घृत का हवन किया जाता है। श्रद्धा के द्वारा धन की प्राप्ति होती है। ब्राह्मणों में श्रद्धा सूर्य की[3] अथवा प्रजापति की पुत्री है[4]। उनके पारस्परिक संबन्धों का और भी विकसित विवरण महाकाव्यों और पुराणों में मिलता है।

अनुमति की ऋग्वेद में दो बार विग्रहवत्ता संपन्न हुई है। उनसे कृपालु होने की प्रार्थना की गई है और कहा गया है कि वे अपने उपासकों को दीर्घ-काल तक सूर्य-दर्शन कराती रहें[5]। उनसे मिलनेवाली रक्षा का भी उल्लेख हुआ है[6]। अथर्ववेद और वाजसनेयि संहिता—में वे प्रेम की अधिष्ठात्री बनती है एवं प्रजोत्पत्ति की देवी कहाती है। उत्तर-कालीन कर्म-काण्ड में उन्हें चन्द्रमा के साथ संपृक्त किया गया है और पूर्णमासी के पूर्ववर्ती दिन का प्रतिरूप माना गया है।

अरमति (भक्ति) की भी ऋग्वेद में कहीं-कही विग्रहवत्ता हुई है। इस शब्द का अवेस्तिक रूप आर्मति है, जो पृथिवी तथा बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी हैं। किंतु अरमति की विग्रहवत्ता मुश्किल से ही भारत-ईरानी काल तक पहुंच पाती है।

---

1. यस्ते मन्योऽविधद्वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता॥ ऋ० 10 83.1.
त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणासो धृषिता मरुत्वः।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना अभिप्रयन्तु नरो अग्निरूपाः॥ ऋ० 10.84.1. आदि
2. श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥ ऋ० 10.151.1.
3. श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता। शत० ब्रा० 12.7.3.11.
4. अथ ह सीता सावित्री। सोमं राजानं चकमे। तै० ब्रा० 2.3.10.1.
5. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति॥ ऋ० 10.59.6.
6. सोमस्य राज्ञो वरुणस्य धर्मणि बृहस्पतेरनुमत्या उ शर्मणि।
तवाहमद्य मघवन्नुपस्तुतौ धातर्विधातः कलशाँ अभक्षयम्॥ ऋ० 10.167.3

सूनृता की ऋग्वेद में दो या तीन बार देवी के रूप में विग्रहवत्ता हुई है[1]।

असु-नीति का मानवीकरण ऋग्वेद के केवल एक मन्त्र में हुआ है[2]। दीर्घ-जीवन, शक्ति और भोज्य के लिए उनसे प्रार्थना की गई है।

निर्ऋति (रोग, दुर्भाग्य) का ऋग्वेद में लगभग बारह बार मानवीकरण हुआ है। वे मृत्यु की अधिष्ठात्री देवी हैं।

अन्य मानवीकरण सर्वप्रथम बाद के वेदों में मिलते हैं। अथर्ववेद[3] में काम को देवता रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहां कामदेव पश्चवैदिक धारणा की तरह प्रेम मात्र के देवता नहीं, प्रत्युत सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के अधिष्ठाता है। उनके बाणों का, जिनके द्वारा वे हृदय-वेधन करते हैं, वर्णन मिलता है[4]। उन्हें उत्पन्न होनेवालों में सर्वप्रथम बताया गया है[5]। इनकी कल्पना का मूल संभवतः ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में निहित है, जहां काम के 'प्रथम बीज' का निर्देश आता है।

सर्गप्रवर्तिनी शक्ति के रूप में काल का अथर्ववेद में मानवीकरण मिलता है[6]।

अथर्ववेद में स्कम्भ को सर्व-देव के रूप में आहूत किया गया है। प्रजापति द्वारा रचित जगत् के धारक के नाते इनकी कल्पना अथर्ववेदीय सूक्ष्म विचारों से उद्भूत होती है[7]।

---

1. प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता। ऋ० 1.40.3.
   प्र देवाः प्रोत सूनृता रायो देवी ददातु नः। ऋ० 10.141.2.
2. असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः। ऋ० 10.59.5.
   दे० 10.59.6. पृ० 312.
3. सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन।
   नीचैः सपत्नान् मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्येण॥ अथ० 9.2.1. आदि पू०सू०
   कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
   स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ अथ० 19.52.1. आदि
4. उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
   इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि॥ अथ० 3 25.1.
5. कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः। अथ० 9.2.19.
   कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। ऋ० 10.129.4.
6. कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
   तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥ अथ० 19.53.1.
   कालादापः समभवन् कालाद्ब्रह्म तपो दिशः।
   कालेनोदेति सूर्यः काले निविशते पुनः॥ अथ० 19.54.1. आदि पूर्ण सूक्त
7. स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।

प्राण भी एक देवता के रूप मे मिलते है[1]। इनका प्रजापति के साथ तादूप्य भी स्थापित किया गया है। इसी कोटि की अन्य भावात्मक विग्रहवत्ताए भी अथर्व: वेद मे मिल सकती है। उदाहरणार्थ, सौन्दर्य या सौभाग्य का मानवीकरण बनकर श्री सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण मे[2] उभरती है।

अदिति (§ 41)—

ऋग्वेद मे एक और देवी है, जो विशुद्ध भाव का मानवीकरण बनकर उस वेद के न केवल नवीनतम भाग मे अपितु सारे ही ऋग्वेद मे यत्रतत्र प्ररोचमान होती है।

अदिति देवी के लिए ऋग्वेद मे एक भी सकल सूक्त नही कहा गया है, किंतु वह प्रासङ्गिक रूप मे यत्रतत्र आ विराजती हैं। उनका नाम लगभग 80 बार आता है। कुछ गिने-चुने स्थलो पर उनका अकेले भी उल्लेख हुआ है[3]। वे बहुधा अपने पुत्र आदित्यो के साथ आहूत होती है।

उनका कोई निश्चित शारीरिक गुण नही है। उन्हे बहुधा देवी कहा गया है, और इन्हे कभी-कभी 'अनर्वा' की सज्ञा भी दी गई है[4]। वे सुविस्तृत[5] सुविपुल और उरु-व्रज की पत्नी है। वे भ्राजमान है और ज्योतिष्मती हैं, वे प्राणियो की धारक है[6] और सभी मनुष्यो के साथ उनका सबन्ध है[7]। प्रात, मध्याह्न और सूर्यास्त के समय उनका आह्वान किया जाता है[8]।

अदिति मित्र, वरुण और अर्यमन् की माता हैं[9]। फलत. उन्हे राजमात

स्कम्भ इद सर्वमात्मन्वद्य प्राणन्निमिषच्चयत् ॥ अथ० 10 8 2

1. प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राण सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमा प्राणमाहु प्रजापतिम् ॥ अथ० 11 4 12

2 प्रजापतिर्वै प्रजा सृजमानोऽतप्यत। तस्माच्छ्रान्तात्तेपानाच्छ्रीरुदक्रामत् सा दीप्यमाना भ्राजमाना लेलायन्त्यतिष्ठत्। शत० ब्रा० 11 4 3 1

3 समिधा यो निशिती दाशददितिं धामभिरस्य मर्त्य।
विश्वे स धीभि सुभगो जना अति द्युम्नैरुद्न इव तारिषत् ॥ ऋ० 8 19 14

4 अवन्तु देव्यदितिरनर्वा बृहद्वदेम विदथे सुवीरा ॥ ऋ० 2 40 6
सुहवा देव्यदितिरनर्वा ते नो अंहो अति पर्षन्नरिष्टान्। ऋ० 7 40 4

5 उरुव्यचा अदिति श्रोतु मे हवम्। ऋ० 5 46 6

6 ज्योतिष्मतीमदितिं धारयत्क्षितिं स्वर्वतीमा सचेते दिवेदिवे। ऋ० 1 136 3

7. इन्द्र नो अग्ने वसुभि सजोषा रुद्र रुद्रेभिरा वहा बृहन्तम्।
आदित्येभिरदितिं विश्वजन्यां बृहस्पतिमृक्वभिर्विश्ववारम् ॥ ऋ० 7.10 4

8 प्रातर्देवीमदितिं जोहवीमि मध्यंदिन उदिता सूर्यस्य। ऋ० 5 69 3

9 ता माता विश्ववेदसाऽसुर्याय प्रमहसा। मही जजानादिति ऋतावरी। ऋ० 8 25 3

कहा गया है[1]। वे अद्वितीय पुत्रों की[2], शक्तिशाली पुत्रों की[3], वीर पुत्रों की[4], या आठ पुत्रों की माता[5] है। एक बार उन्हें अमृत की नाभि, रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री और आदित्यों की बहन भी बताया गया है[6]। अथर्ववेद में उनके भाइयों एवं पुत्रों का उल्लेख हुआ है[7]। इसी वेद के एक अन्य मन्त्र[8] में उनका आह्वान भक्तों की महती माता, ऋत की पत्नी, शक्तिशालिनी, अजरा, सुविस्तृता, रक्षिका और दर्शता, दक्षनेत्री के रूप में हुआ है। ऐसे मन्त्रों से तथा आदित्यों के साथ जोकि उनके पुत्र हैं, उनके सतत आह्वान से उनका मातृत्वगुण निखर उठता है। *उनका पस्त्या यह विशेषण[9] भी उनके मातृत्व का सूचक बन सकता है।* महाकाव्य और पुराणों की गाथा में अदिति दक्ष की पुत्री, देव सामान्य की—विशेषत: विवस्वान्, सूर्य और वामन विष्णु की—माता है। वाजसनेयि संहिता[10] में उन्हें

विश्वस्मान्नो अदितिः पात्वंहसो माता मित्रस्य वरुणस्य रेवतः।
स्वर्वज्योतिरवृकं नशीमहि तद् देवानामवो अद्या वृणीमहे॥ ऋ॰ 10.36.3.
युवोर्हि मातादितिर्विचेतसा द्यौर्न भूमिः पयसा पुपूतनि। ऋ॰ 10.132.6.
अदितिर्न उरुष्यत्वदितिः शर्म यच्छतु।
माता मित्रस्य रेवतोऽर्यम्णो वरुणस्य च॥ ऋ॰ 8 47.9.

1. पिपर्तु नो अदिती राजपुत्रा। ऋ॰ 2.27.7.
इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद् राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगोनस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः॥ ऋ॰ 2.27.1.
2. बर्हिर्न आस्तामदितिः सुपुत्रा। ऋ॰ 3.4.11.
3. पर्षि दीने गभीर आँ उग्रपुत्रे जिघांसतः। ऋ॰ 8.67.11.
4. हुवे देवीमदितिं शूरपुत्राम्। अथ॰ 3 8 2.
गृह्णातु त्वा मदितिः शूरपुत्रा। अथ॰ 11.1.11.
5. अष्टौ पुत्रासो अदिते ये जातास्तन्व१स्परि। ऋ॰ 10.72.8.
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्रा। अथ॰ 8.9 21.
6. माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गा मनागामदितिं वधिष्ट॥ ऋ॰ 8.101.15.
7. पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः। अथ॰ 6.4.1.
8. महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे।
तुविक्षत्रा मजरन्ती मुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्॥ अथ॰ 7.6.2.
9. प्र पस्त्या३मदितिं सिन्धुमर्कैः स्वस्तिमीळे सख्याय देवीम्। ऋ॰ 4.55 3.
आ नो अद्य समनसो गन्ता विश्वे सजोषसः।
ऋचा गिरा मरुतो देव्यदिते सदने पस्त्ये महि॥ ऋ॰ 8.27.5.
10. अदित्यै विष्णुपत्न्यै चरुः। वा॰ सं॰ 29.60.=तै॰ सं॰ 7.5.14.

विष्णु की पत्नी बताया गया है।

अदिति को अनेक वार कष्टों से बचानेवाली बताया गया है और कहा गया है कि वे अखण्डित सौख्य या सुरक्षा की प्रदात्री हैं[1], किंतु अपेक्षाकृत अधिक वार उनका आह्वान अपराधों और पापों से उन्मुक्त करने के लिए किया गया है। इस प्रकार वरुण[2], अग्नि और सविता[3] से प्रार्थना की गई है कि वे अदिति के प्रति किये गये अपराधों के लिए हमें क्षमा प्रदान करें। अदिति, मित्र और वरुण से प्रार्थना की गई है कि वे हमारे पापों को क्षमा करें[4]। अदिति और अर्यमन् से पाप का बन्धन ढीला करने के लिए अनुनय किया गया है[5]। उपासक अदिति से प्रार्थना करते हैं कि वह उन्हें निष्पाप बनावें[6]। वे चाहते हैं कि अदिति के विधानों का पालन करके वे वरुण के प्रति निष्पाप बने रहें[7] और उनकी यह इच्छा भी सफल रहती है कि दुष्कर्मियों को अदिति से पृथक् कर दिया जाय[8]। फलत यद्यपि अन्य देवता भी—जैसेकि अग्नि, सविता[9], सूर्य, उषा, स्वर्ग और पृथिवी[10]—मानव को पाप से निर्मुक्त करते हैं, तथापि पाप निर्मोचन की धारणा का अदिति और उनके पुत्र वरुण के साथ—जिनके पाश माने हुए हैं—विशेष सबन्ध है।

फिर इस धारणा की इनके अभिधान अदिति शब्द की व्युत्पत्ति के साथ सगति भी बैठ जाती है। अदिति शब्द मूलत एक सज्ञा है, जिसका अर्थ है 'बन्धराहित्य' यह √दा बाधना धातु से निष्पन्न हुआ है। इस धातु का भूतकालिक कर्मवाच्य

---

1. आ सर्वतातिमदितिं वृणीमहे। ऋ० 10 100 1 आदि पूर्ण सूक्त
यस्मै त्व सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्व मदिते सर्वताता।
य भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम॥ ऋ० 1 94 15
2. उदुत्तम वरुण पाशमस्मदवाधम वि मध्यम श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ ऋ० 1 24 15
3 कृधी ष्व१स्माँ अदितेरनागान् व्येनासि शिश्रथो विष्वगग्ने। ऋ० 4 12 4
अनागसो अदितये देवस्य सवितु सवे। विश्वा वामानि धीमहि॥ ऋ० 5 82 6
4 अदिते मित्र वरुणोत मृळ यद्वो वय चकृमा कच्चिदाग। ऋ० 2 27 14
5 यत्सीमागश्चकृमा तत्सु मृळ तदर्यमादितिः शिश्रथन्तु। ऋ० 7 93 7
6 अनागास्त्व नो अदिति कृणोतु। ऋ० 1 162 22
7 यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वय स्याम वरुणे अनागा।
अनु व्रतान्यदितेर्ऋधन्तो यूय पात स्वस्तिभि सदा न॥ ऋ० 7 87 7
8 आ वृश्च्यन्तामदितये दुरेवा। ऋ० 10 87 18
9 देवेषु च सवितर्मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवतादनागस। ऋ० 4 54 3
10 अनागास्त्व सूर्यमुपासमीमहे। ऋ० 10 35 2
द्यावा नो अद्य पृथिवी अनागसो मही त्रायेता सुविताय मातरा। ऋ० 10 35 3

दित प्रयोग यूप में बंधे शुनःशेप के वर्णन में आया है[1]। फलतः देवी के रूप में अदिति से प्रार्थना की गई है कि वह अपने उपासकों को बद्ध चोर की न्याई बन्धनों से ढीला कर दे[2]। इसका मौलिक अर्थ 'स्वतन्त्रता' भी ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में उभर आता है। उदाहरणार्थ एक उपासक कहता है—"कौन मुझे महती अदिति के हाथों फिर सौंपेगा, जिससे कि मैं पिता-माता को देख सकूं ?"[3]। आदित्यों से प्रार्थना की गई है कि वे हविष् को निरपराधता (अनागास्त्वे) और स्वतन्त्रता (अदितित्वे) में स्थापित करें। संभवतः उस मन्त्र में भी कवि का यही अभिप्राय है जहां कि वह द्यावा-पृथिवी से 'सुरक्षित और अदिति के असीमित दान' की भिक्षा मांगता है[4]। अदिति शब्द अनेक बार 'असीम' के अर्थ में भी आया है। उदाहरणार्थ, यह दो बार द्यौस् का[5] और अनेक बार अग्नि का[6] विशेषण बन कर प्रयुक्त हुआ है।

अदिति नाम की अनिश्चितार्थकता के कारण इसके रहस्यात्मक तादूप्य बनने स्वाभाविक थे और अदिति-विषयक धारणा पर ऋग्वेद के बाद में बने भागों में पाये जानेवाले धार्मिक और सर्ग-संबन्धी सूक्ष्म विचारों का प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक था। उदाहरण के लिए कहा गया है कि देवता अदिति, जल और पृथिवी से उत्पन्न हुए हैं[7]। इसके बाद आनेवाले मन्त्र में आता है कि देवों की माता द्यौरदिति उन्हें मधुमत् दुग्ध प्रदान करती है। यहां उनका आकाश के साथ तादूप्य स्थापित हुआ प्रतीत होता है। अन्यत्र[8] अदिति का तादूप्य संभवतः पृथिवी

1. शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्रात्। ऋ० 5.2.7.
2. ते न आस्नो वृकाणामादित्यासो मुमोचत। स्तेनं बद्धमिवादिते। ऋ० 8.67.14.
3. को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च। ऋ० 1.24.1.
आदित्यानामवसा नूतनेन सक्षीमहि शर्मणा शन्तमेन।
अनागास्त्वे अदितित्वे तुरास इमं यज्ञं दधतु श्रोषमाणाः॥ ऋ० 7.51.1.
4. अनेहो दात्रमदितेरनर्वं हुवे स्वर्वदवधं नमस्वत्।
तद्रोदसी जनयतं जरित्रे द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ऋ० 1.185.3.
5. मिमातु द्यौरदितिर्वीतये नः। ऋ० 5.59.8.
येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः। ऋ० 10.63.3.
6. दे० 1.94.15. पृ० 316.
विश्वेषामदितिर्यज्ञियानाम्। सुमृळीको भवतु जातवेदाः। ऋ० 4.1.20.
दे० 7.9.3. पृ० 169. दे० 8.19.14. पृ० 314.
7. विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि वः।
ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम्॥ ऋ० 10.63.2.
येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः। ऋ० 10.63.3.
8. मह्ना महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः। ऋ० 1.72.9.

के साथ हो गया है और ऐसा तादूप्य तैत्तिरीय सहिता और शतपथ ब्राह्मण मे तो सामान्य बन गया है। निघण्टु मे अदिति नाम पृथिवी का और द्विवचन मे द्यावा-पृथिवी का पर्याय बनकर आता है। फिर भी ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो मे उसे द्यावा-पृथिवी से पृथक् समझा गया है, क्योकि वहा अदिति का उल्लेख द्यावा-पृथिवी के साथ अलग हुआ है[1]। एक मन्त्र[2] मे अदिति समग्र प्रकृति का प्रतिरूप बनती है, अदिति द्यौ है, अदिति अन्तरिक्ष है, अदिति माता, पिता और पुत्र है, अदिति सभी देवता और पञ्चजन है, अदिति भूत और अदिति ही भविष्य है[3]।

यद्यपि ऋग्वेद की प्राचीनतर गाथा के अनुसार अदिति आदित्यो मे से एक दक्ष की माता है[4], तथापि सर्ग-विषयक एक सूक्त[5] मे उन्हे दक्ष की पुत्री एव माता बताया गया है और दोनो को एक-दूसरे से उत्पन्न दिखाया गया है। फलत परस्पर जनयितृत्व की भावना ऋग्वेद के लिए नई बात नही ठहरती[6]। दशम मण्डल के दो सूक्तो[7] मे अदिति दक्ष की माता नही, प्रत्युत उनकी आश्रित प्रतीत होती है। यद्यपि अदिति कतिपय प्रमुख देवो की माता है, फिर भी कुछ मन्त्रो मे उनका स्थान अपेक्षाकृत हीन प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, वह अपने पुत्र वरुण, मित्र, अर्यमन् के साथ सविता की स्तुति करती हैं[8] और कहा तो यहा तक गया है कि उन्होंने इन्द्र के लिए एक स्तोत्र का भी आविर्भाव किया है[9]।

यशा पृथिव्या अदित्या उपस्थेऽह भूयास सवितेव चारु। अथ० 13 1 38

1 सुत्रामाण पृथिवीं द्यामनेहस सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्। ऋ० 10 63 10

2 अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र।
विश्वेदेवा अदिति पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ ऋ० 1 89 10

3 या प्राणेन सभवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहा प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत एतद्वै तत्॥ कठोपनिषद् 4 7

4 दे० 2 27 1 पृ० 315

5 अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिस्परि। ऋ० 10 72 4
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव। ऋ० 10 72 5

6 तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुष।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुर॥ ऋ० 10 90 5

7 असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे। ऋ० 10 5 7
दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रा वरुणा विवाससि। ऋ० 10 64 5

8 अभि य देव्यदितिर्गृणाति सव देवस्य सवितुर्जुषाणा।
अभि सम्राजो वरुणो गृणन्त्यभि मित्रासो अर्यमा सजोषा॥ ऋ० 7 38 4

9 उत स्वराजे अदिति स्तोममिन्द्राय जीजनत्।
पुरुप्रशस्तमूतय ऋतस्य यत्॥ ऋ० 8.12 14

सभवत· आदित्यो की माता होने के नाते अदिति कभी-कभी प्रकाश से चमचमा उठती है। उनसे प्रकाश के लिए प्रार्थना की गई है[1]। उनकी अखण्ड ज्योति के गुण गाये गये है[2], और उषा को अदिति का मुखडा बताया गया है[3]। कभी-कभी अदिति का सकेतन ऐसे शब्दो मे हुआ है जो अन्य देवो के लिए भी उपयुक्त ठहरते हैं। इस प्रकार उनसे अनुनय किया गया है कि वे अपने उपासको, उनके शिशुओ और पशुओ की रक्षा करें अथवा उन्हे आशीर्वाद दे[4]। उनकी स्तुति धन के लिए की गई है[5], उनसे शुचि, अखण्डित, दिव्य एव अविनश्वर दानो के लिए प्रार्थना की गई है[6], साथ ही मरुतो द्वारा प्रदत्त प्रशस्त आनन्द की तुलना अदिति के उदार कार्यो के साथ की गई है[7]।

ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रो मे[8] एव परवर्ती वैदिक ग्रन्थो[9] मे अदिति को गौ बताया गया है और यज्ञ-कार्य मे गौ को साधारणतया अदिति के नाम से पुकारने की प्रथा चालू रही है। पार्थिव सोम की तुलना अदिति के दुग्ध से की गई है[10], और उन मन्त्रो मे अदिति की पुत्री से दुग्ध ही का तात्पर्य सभव है—जहा यह कहा गया है कि अदिति पात्र मे पवमान सोम को उसे देती है[11]। उन स्थलो पर

वृष्णे यत्ते वृषणो अर्कमर्चानिन्द्र ग्रावाणो अदितिः सजोषाः । ऋ० 5 31 5

1. क आदित्याँ अदितिं ज्योतिरीट्टे । ऋ० 4 25 3
दे० 10 36 3 पृ० 315
2 अवध्र ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे । ऋ० 7 82 10
3 माता देवानामदितेरनीकं यज्ञस्य केतुर्बृहती वि भाहि । ऋ० 1 113 19
4 अदितिर्नो दिवा पशुमदितिर्नक्तमद्वया । अदितिः पात्वंहसः सदावृधा । ऋ० 8 18 6
उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्या गमत् ।
सा शंताति मयस्करदप स्रिधः ॥ ऋ० 8 18 7
यथा नो अदितिः करत्पश्वे नृभ्यो यथा गवे । यथा तोकाय रुद्रियम् ॥ ऋ० 1 43 2.
5 दिदेष्टु देव्यदिती रेक्णः । ऋ० 7 40 2
6 दे० 1 185 3 पृ० 317
7 तद्वः सुजाता मरुतो महित्वनं दीर्घं वो दात्रमदितेरिव व्रतम् । ऋ० 1 166 12
8 पीपाय धेनुरदितिर्ऋताय । ऋ० 1 153 3
दे० 8 101.15 पृ० 315
वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः । ऋ० 10 11.1.
9 गां मा हिंसीरदितिं विराजम् । वा० सं० 13 43
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् । वा० सं० 13 49
10 दे० 9 96 15 पृ० 275
11 अव्ये वधूयुः पवते परि त्वचि श्रथ्नीते नप्तीरदितेर्ऋतं यते । ऋ० 9 69.3.

भी, जहा कि यह कहा गया है कि पुरोहित अदिति की गोद मे अपनी दश अगुलियों द्वारा सोम को पवित्र करते है, दूध ही अभिप्रेत हो सकता है[1]।

उक्त उद्धरणो का सिंहावलोकन करने पर निष्कर्ष निकलता है कि अदिति की दो प्रमुख विशेषताए है—प्रथम उनका मातृत्व है। वे एक ऐसे देव-गण की माता है, जिनके नाम नाक्षत्रिक है। उनकी दूसरी विशेषता—जिसकी उनके नाम के व्युत्पत्त्यर्थ के साथ सगति है—उनकी शारीरिक बन्धनो और नैतिक अपराधो से निर्मुक्त करने की क्षमता है। उनके नाम के विषय मे रहस्यात्मक चिन्तना के कारण उन्हे असीम सपत्ति की प्रतीक 'गो' माना गया है, और असीम पृथिवी, स्वर्ग या जगत् के साथ एकाकार किया गया है। किंतु प्रश्न उठता है कि इतने प्राचीन काल मे इस प्रकार के सूक्ष्म विचारो का मानवीकरण कैसे सभव था, और विशेष रूप से अदिति के रूप मे, जोकि आदित्यो की माता के रूप मे जनता को ज्ञात थी। बेर्गेन के विचार मे अदिति-विषयक मातृत्व भावना तक पहुचने मे कुछ पूर्व-पदो का हाथ रहा होगा जैसेकि द्यौरदिति.। और एक बार असीम आकाश का विशेषण बनते ही अदिति का देवो के लिए दुग्धदात्री बन जाना स्वाभाविक था[2]। इस मत के अनुसार अदिति शब्द का गौण अर्थ (सीमारहित) आकाश का विशेषण होने के नाते विकसित होता गया होगा। आकाश को विशेष रूप से पिता बताया गया है किंतु यहा पहुच इसका विशेषण एक स्त्री-देवी के रूप में परिणत हो गया होगा। किंतु इस व्याख्या से अदिति के बन्ध-निर्मोचन-कार्य की व्याख्या नही हो पाती। 'अदिते पुत्रा' यह पद, जो ऋग्वेद मे अनेक बार आदित्यो के लिए प्रयुक्त हुआ है, वैदिक-पूर्व काल मे 'स्वातन्त्र्य के पुत्र' इस अर्थ मे प्रयुक्त होता रहा होगा (जैसेकि सहस पुत्रा) और सभवत यह वरुण तथा तत्सजातीय देवो के प्रधान गुण का व्यापक रहा होगा। इस प्रधान गुण का बोधक 'अदिति' पद आसानी से अदिति के मातृत्व-भाव के मानवीकरण मे परिणत हो गया होगा। कुछ इसी प्रकार से इन्द्र के विशेषण 'शवस' से, स्वय ऋग्वेद मे, इन्द्र की माता 'शवसी' का विकास और उनके 'शचीपति' इस विशेषण से उनकी पत्नी 'शची' का विकास हुआ प्रतीत होता है और उस परिस्थिति मे 'शचीपति' समास का अर्थ 'शची (नामक स्त्री) का पति' यह किया गया होगा। मातृनाम 'अदिति' के आधार पर बने हुए आदित्य नाम से अदिति के पुत्रो की सख्या परिमित हो जानी आसान है। देवता के रूप मे परिणत हुई विग्रहवत्ता का अपने मौलिक अर्थ 'निर्बन्ध सत्ता' के साथ सबन्ध बना रहना आसान है। किंतु इसके साथ ही इसमे कतिपय अस्थिर गुणो

1 तमी मृक्षन्त वाजिनमुपस्थे अदितेरधि। विप्रासो अण्व्या धिया। ऋ० 9.26 1.
समी रथ न भुरिजोरहेषत दश स्वसारो अदिते रुपस्थ आ। ऋ० 9 71 5.

2. दे० 10 63 3 पृ० 317

का समिलित हो जाना भी स्वाभाविक है, जैसेकि आदित्यो के सबन्ध से अदिति मे ज्योतिषमत्ता का आ जाना। कतिपय प्रमुख देवताओ की अथवा देवता-*सामान्य की माता होने के कारण अदिति स्वर्ग और पृथिवी के साथ तद्रूप* बन गई होगी, और इस शब्द के व्यापक अर्थ से सृष्टि-रचना-विषयक सूक्ष्म विचारो को प्रेरणा मिली होगी। इस प्रकार अदिति, जो पूर्णत एक भारतीय देवी हैं, ऐतिहासिक दृष्टि से अपने कतिपय पुत्रो से कुछ कम आयु की प्रतीत होती हैं।

अदिति-देवता बन्धनिर्मोचन-विषयक धारणा की विग्रहवत्ता है। इस मत को वाल्लिस् और ओल्डेनबेर्ग ने प्रश्रय दिया है। मैक्समूलर के विचार मे 'अदिति' —जो एक प्राचीन देव या देवी थी—'उस असीम का द्योतक है, जोकि विवृत नेत्रो के लिए गोचर है, और जो पृथिवी, पर्जन्य और आकाश के परे का अनन्त अवकाश है।' रॉथ ने आरम्भ मे अदिति शब्द का अर्थ किया था 'अखण्डनीयता', 'अविनश्वरता' और यह उनके अनुसार मानवीकृत रूप मे काल-गत आनन्त्य की देवी का बोधक था। बाद मे उन्होंने उसका अर्थ किया "कालगत आनन्त्य", अर्थात् वह तत्त्व जोकि आदित्यो को अथवा अविनाश्य स्वर्गीय प्रकाश को धारण किये हुए है। वे अदिति को सुविकसित मानवीकरण के रूप मे न मानकर उसे एक प्रारभिक मानवीकरण मानते हैं। किंतु सेन्टपीटर्सबर्ग कोष मे वे अदिति की *व्याख्या करते हुए लिखते है (पृथिवी के विपरीत) द्युलोक की नि सीमता का* मानवीकृत रूप। इसके विपरीत पिशेल के मत मे अदिति पृथिवी का प्रतिरूप है। हार्डी इसी से सहमत है। कोलिनेट अदिति को द्यौस् का स्त्री-प्रतिरूप मानते है। *निघण्टुकार अदिति को पृथिवी, वाक् गो,* और द्विवचन मे द्यावा-पृथिवी का पर्याय मानते है। यास्क अदिति की व्याख्या करते है—'देवताओ की शक्तिशालिनी माता' और निघण्टु (5 5) का अनुसरण करते हुए उन्हे अन्तरिक्षस्थ देवी मानते है, जबकि वे आदित्यो को दिव्य लोक मे और वरुण को अन्तरिक्ष और दिव्य इन दोनो ही लोको मे बताते है।

दिति (§ 42)—

दिति का नाम ऋग्वेद मे केवल तीन बार आया है। इनमे से दो बार यह अदिति के साथ आता है। मित्र और वरुण अपने रथ पर से अदिति और दिति इन दोनो को देखते है[1]। यहा सायणाचार्य अदिति और दिति का अर्थ—अखण्ड /पृथिवी और पृथिवीस्थ प्राणी—यह करते हैं। रॉथ के अनुसार इनका अर्थ—'अविनश्वर और नश्वर' है, जबकि म्योर इनका अर्थ लगाते है—'समग्र दृश्य-जात'। एक

1 आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च। ऋ० 5 62 8

दूसरे मन्त्र[1] में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह हमें दिति प्रदान करें और अदिति से हमारी रक्षा करें। इस मन्त्र पर सायणाचार्य इनका अर्थ करते हैं—'उदार दाता' और 'अनुदार दाता'। रॉथ के अनुसार इनका अर्थ है—'धन' और 'धनाभाव'। वेर्गेन के मत में ये दोनों शब्द पूर्व-मन्त्र में आई देवियों के बोधक हैं। किंतु हो सकता है कि ये शब्द यहां सुतरां भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुए हों और इनकी निष्पत्ति √दा दाने इस धातु से हुई हो, जिसका अर्थ है: 'देना' और 'न देना'। इस अर्थ की संदर्भ से एवं इन दोनों शब्दों के प्रयोग-क्रम से पुष्टि होती है। एक तीसरे मन्त्र[2] में दिति का उल्लेख अदिति के बिना, और अग्नि, सविता एवं भग के साथ वार्य वस्तु प्रदान करने के अर्थ में आया है। परवर्ती संहिताओं में भी दिति का, देवी के रूप में, अदिति के साथ उल्लेख मिलता है[3]। अथर्ववेद[4] में दिति के पुत्रों का उल्लेख आता है। ये दैत्य हैं जो वेदोत्तरकालीन गाथा में देवों के शत्रु बनकर उभरे हैं। देवी के रूप में दिति का यह नाम अदिति का विरोधी है और अदिति शब्द के स्वीकारात्मक अर्थ में इसे घड़ा गया है, जैसेकि सुर शब्द की निष्पत्ति असुर से ली गई है।

देवियां

देवियां (§ 43)—

वैदिक विश्वास और उपासना में देवियों का स्थान अपेक्षाकृत गौण है। जगन्नियन्तृत्व की दृष्टि से उनका महत्व नही के तुल्य है। फिर भी यदि उनमें से किसी का महत्व है तो वह है उषस् का, जो सांख्यिक मापदण्ड से देखे जाने पर तृतीय वर्ग की देवता ठहरती है। किंतु जहां सोम-याग में देवताओं को भाग मिलता है वहां यह भाग उषा को नही मिलता।

उषा के बाद सरस्वती का नबर आता है, जो सामान्यतम देवताओं की कोटि में आती है। कतिपय अन्य देवियों में से प्रत्येक की स्तुति एक-एक सूक्त मे हुई है। पृथिवी की स्तुति, जोकि बहुधा द्यौस् के साथ मिली हुई है, तीन मन्त्रों वाले एक छोटे से सूक्त में आती है। रात्रि का भी आह्वान एक सूक्त[5] में हुआ है।

1. राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य। ऋ० 4.2.11.
2. त्वमग्ने वीरवद्यशो देवश्च सविता भगः। दितिश्च दाति वार्यम्॥ ऋ० 7.15.12.
3. अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः। अथ० 15.18.4.
4. दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम्। अथ० 7.7.1.
5 रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः।
विश्वा अधि श्रियोऽधित॥ ऋ० 10.127.1 आदि पूर्ण सूक्त।

अपनी बहन उषस् की भांति वह भी 'दिवो दुहिता' कहलाई है। रात्रि काली नहीं, प्रत्युत तारों से प्रकाशित है। वह अपने नेत्रों से अनेकधा प्रकाशित होती है। भांति-भांति की विभूतियों से विभूषित हुई वह नीची-ऊंची सभी प्रकार की पृथिवी को व्यापे हुए है; वह प्रकाश के द्वारा अन्धकार को दुराती है। उनके आ पहुंचते ही मनुष्य अपने गृहों की ओर लौटते हैं, और पक्षी अपने नीडों की ओर। प्रार्थना की गई है कि वे वृकों और तस्करों को प्रबाधित करें और अपने उपासकों की ओर सुरक्षा का वरद-हाथ बढ़ावें। हो सकता है कि रात्रि उषस् के विरोध में देवी बनी हो; उषस् के साथ अनेक मन्त्रों में देवता-युग्म के रूप में वे आहूत हुई हैं।

वाक् की स्तुति भी एक सूक्त में आई है, जहांकि अपना वर्णन वे स्वयं करती हैं[1]। वे सभी देवों के साथ रहती और मित्र-वरुण, इन्द्राग्नि तथा अश्विनों को धारण करती हैं। आस्थाहीन मानवों के विरुद्ध वे रुद्र का धनुष तानती है। उनका स्थान सलिलों और सागर में है। वे सभी प्राणियों को परिव्याप्त किये हुए हैं। एक अन्य मन्त्र[2] में उन्हें देवताओं की रानी और दिव्या कहा गया है। निघण्टु में वाक् की गणना अन्तरिक्षस्थ देवताओं में आई है; और निरुक्तकार के शब्दों में[3] माध्यमिका वाक् वाग्देवी के मानवीकरण का आरम्भ-बिन्दु कही जा सकती है। वाक् के विषय में ब्राह्मणों में एक गाथा आम है जिसके अनुसार सोम को गंधर्वों के यहां से स्त्रीरूप-धारिणी वाक् के मूल्य पर लाया गया था[4]। पुरन्धि, जिनका नाम ऋग्वेद में लगभग 9 बार आता है, बाहुल्य की अधिष्ठात्री है। उनका उल्लेख प्रायः सब जगह भग के साथ, दो-तीन बार पूषन् तथा सविता के साथ और एक बार विष्णु और अग्नि के साथ आया है। पारेन्दी, जिसे साधारणतया पुरन्धि का तद्रूप माना जाता है, अवेस्ता में धन और बाहुल्य की देवी मानी गई है[5]। फिर

1. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ ऋ० 10.125.1 आदि
बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥ ऋ० 10.71.1.
2. यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम॥ ऋ० 8.100.10.
देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥ ऋ० 8.100.11.
3. तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते। निरुक्त 11.27.
4 सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वासीत्तं देवाश्च ऋषयश्चाभ्यध्यायन् सोमो राजाऽऽगच्छेत् इति सा वागब्रवीत्। स्त्रीकामा वै गन्धर्वा मयैव स्त्रिया भूतया पणध्वमिति॥ ऐ० ब्रा० 1.27.
5. यस्न 8.38.

भी हिलेब्राण्ड्ट पुरन्धि को क्रियाशीलता की देवी समझते है। बाहुल्य की एक अन्य देवी धिषणा भी है, जिनका उल्लेख ऋग्वेद मे लगभग 12 वार आता है। इळा, जिनका ऋग्वेद मे एक दर्जन से कम ही वार उल्लेख हुआ है, दूध और घी के हविष् का मानवीकरण है, फलत. वे गौ से प्राप्य सपत्ति का प्रतिरूप समझी जा सकती है। परिणामस्वरूप ब्राह्मणो मे इळा का अनेक वार गौ के साथ निकट-सवन्ध दिखाया गया है, यद्यपि कही भी इळा शब्द गौ का पर्याय वनकर नही आया है। किंतु निघण्टु (2 11) मे यह गौ के एक पर्याय के रूप मे दिया गया है। हविष् की प्रतिरूप होने के कारण इळा को घृत-हस्त[1] और घृत-पाद[2] वताया गया है। अपने मानवीकृत रूप मे इडा आप्री सूक्तो मे आती है जहा वे सरस्वती और मही या भारती के साथ देवियो का त्रिक वनाती हैं। इसमे सदेह है कि 'इळाया पदे' यहा पर इडा का सामान्य अर्थ अभिप्रेत है अथवा उसका शाब्दिक मानवीकृत रूप। अग्नि को एक वार इळा का पुत्र वताया गया है। इस विचार का मूल आधार उनका उत्पत्ति-स्थल हो सकता है। पुरुरवस् को भी उनका पुत्र कहा गया है[3]। एक वार उन्हे यूथ-माता वताया गया है और उनका उर्वशी के साथ सवन्ध दिखाया गया है[4]। प्रातर्यज्ञ के प्रसङ्ग मे[5] एक वार उनका उल्लेख दीधक्रावन् और अश्विनो के साथ भी हुआ है। शतपथ ब्राह्मण ने[6] उन्हे मनु की तथा मित्रा वरुण की[7] पुत्री वताया है।

बृहद्दिवा नामक देवी का नाम विश्वेदेवा सूक्तो मे चार वार आता है। वे माता हैं[8] और उनका उल्लेख इळा[9], सरस्वती और राका[10] के साथ आया है।

1 येषामिळा घृतहस्ता दुरोण आँ अपि प्राता निषीदति। ऋ० 7 16 8

2 मनुष्वद् यज्ञ सुधिता हवींषीळा देवी घृतपदी जुषन्त। ऋ० 10 70 8

3 इति त्वा देवा इम आहुरैळ यथेमेतद्भवसि मृत्युबन्धु । ऋ० 10 95 18

4 अभि न इळा यूथस्य माता स्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु। ऋ० 5 41.19

5 दधिक्रामु नमसा बोधयन्त उदीराणा यज्ञमुपप्रयन्त ।
इळां देवीं बर्हिषि सादयन्तोऽश्विना विप्रा सुहवा हुवेम॥ ऋ० 7 44 2

6 ता होचतु काऽसीति। मनोर्दुहितेति॥ शत० ब्रा० 1 8 1 8
स होवाच। इडैव मे मानव्यग्निहोत्री। शत० ब्रा० 11 5 3.5

7 मनुर्होतामम्रेऽजनयत तस्मादाह मानवीति। उतमैत्रावरुणीति॥ शत० ब्रा० 1 8 1 27.
अथास्य मातरमभिमन्त्रयते।
इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथा । शत० ब्रा० 14 9 4 27

8 उत माता बृहद्दिवा शृणोतु न । ऋ० 10 64 10

9 इळाभगो बृहद्दिवोत रोदसी पूषा पुरंधिरश्विनावधा पती। ऋ० 2 31 4

10 सरस्वती बृहद्दिवोत राका दशस्यन्तीर्वरिवस्यन्तु शुभ्रा । ऋ० 5 42 12

राका (सभवत दानार्थक √रा धातु से निष्पन्न) का उल्लेख ऋग्वेद मे केवल दो बार धनवती और उदार देवी के रूप मे हुआ है[1]। सिनीवाली का उल्लेख ऋग्वेद के दो सूक्तो[2] मे आता है। वे देवताओ की वहन है, विपुल कटि, सुभग भुजा, सुन्दर अगुलियोवाली कुल-पत्नी है। उनका आह्वान अपत्य देने के निमित्त हुआ है। वे सरस्वती, राका तथा गुगू के साथ आहूत हुई है।

अथर्ववेद ने सिनीवाली को विष्णु की पत्नी बताया है। परवर्ती सहिताओ और ब्राह्मणो मे कुहू का भी उल्लेख मिलता है जो सभवत अभिनव चन्द्रमा का मानवीकरण है। राका और सिनीवाली को परवर्ती वैदिक ग्रन्थो मे चन्द्रमा की कलाओ से सयुक्त कर दिया गया है। राका पूर्ण-चन्द्र के दिन का और सिनीवाली प्रथम अभिनव चन्द्र दिवस का मानवीकरण है। इस बात के लिए कोई प्रमाण नही मिलता कि यह सबन्ध ऋग्वेदिक काल मे भी बन चुका था।

ऋग्वेद मे प्रसङ्गागत कतिपय अन्य देवियो का सकेत यथावसर पहले किया जा चुका है। मरुतो की माता पृश्नि सभवत चित्र-वर्णोवाले तूफान मेघ का प्रतिरूप है। इस शब्द का विशेषण के रूप मे भी प्रयोग हुआ है[3]। एकवचन मे यह वृषभ और गौ का विशेषण है और बहुवचन मे इन्द्र के लिए सोम दुग्ध देनेवाली गौ[4] का वाचक है। इस प्रकार यह शब्द 'चित्र-वर्ण की गौ' और अन्ततोगत्वा 'चित्र मेघ' इस अर्थ का बोधक बन गया है। सरण्यू ऋग्वेद मे केवल एक बार[5] आती है। वे त्वष्टा की पुत्री और विवस्वान् की पत्नी है। इनका तादूप्य सूर्या या उषस् के साथ है। सरण्यू शब्द ऋग्वेद मे चार बार 'शीघ्रगामी' अर्थ मे विशेषण के रूप मे आता है। 'यु' प्रत्यय के साथ √सृ धातु से निष्पन्न सरण को जोड देने

1. या गुङ्गूर्या सिनीवाली या राका या सरस्वती ।
इन्द्राणीमह्व ऊतये वरुणानीं स्वस्तये ॥ ऋ० 2 32 8 दे० 5 42 12 पृ० 324

2 सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
जुपस्व हव्यमाहुत प्रजा देवि दिदिड्ढि न ॥ ऋ० 2 32 6 आदि
दे० 10 184 2 पृ० 220

3 गोमायुरेको अजमायुरेक पृश्निरेको हरित एक एषाम् ॥ ऋ० 7 103 6
गोमायुरदादजमायुरदात् पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि । ऋ० 7 103 10

4 ता अस्य पृशनायुव सोम श्रीणन्ति पृश्नय ।
प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकम् ॥ ऋ० 1 84 11
इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृत दुहत आशिरम् । एनामृतस्य पिप्युषीं ॥ ऋ० 8 6 19
दे० 8 7 10 पृ० 280
ता अस्य सूददोहस सोमं श्रीणन्ति पृश्नय । ऋ० 8 69 3

5 दे० 10 17 2 पृ० 305

पर 'सरण्यु' शब्द की निष्पत्ति हुई दीख पड़ती है।

इसी प्रकार देव-पत्नीभूत देवियों का भी ऋग्वेद मे अपेक्षाकृत कम महत्व का स्थान है। उनका अपना कोई स्वतन्त्र चरित्र नही, और वे इन्द्रादि देवो की स्त्री बनकर सामने आती हैं। नाम के अतिरिक्त, उनकी किसी भी विशेषता की चर्चा नही के बराबर हुई है। उनके नामो की निष्पत्ति उनके अपने देव-पति के नाम के साथ स्त्रीवाचक—आनि प्रत्यय लगाकर हुई है। इस प्रकार इन्द्राणी 'इन्द्र की पत्नी' मात्र है। वरुणानी और अग्नायी भी ऋग्वेद मे कही-कही आती है। रुद्राणी का नाम सूत्रो के आरम्भ-काल मे नही पाया जाता, किंतु वे—आनि प्रत्यय से निष्पन्न नामो वाली अन्य सभी देवियो की अपेक्षा उपासना मे महत्तर कार्य संपादित करती है। अश्विनो की पत्नी का ऋग्वेद मे अश्विनी नाम से उल्लेख आया है। देवाना पत्नीः ने—जिनका कि ऋग्वेद मे यदा-कदा उल्लेख-मात्र आया है—ब्राह्मण-कालीन उपासना मे देवताओ से पृथक् अपना एक सुनिश्चित स्थान बना लिया है[1]।

देवता-युग्म (§ 44)

वैदिक गाथा की अपनी विशेषता यह भी है कि यहा बहुत से देवताओ की स्तुति युग्मो मे की जाती है। इनके नामो का देवता द्वन्द्व समास बनाता है जिसमें दोनो पद द्विवचन मे, उदात्त एव एक दूसरे से विभाज्य या विगृह्य रहते हैं। इस प्रकार लगभग 12 देवताओ के देवता-द्वन्द्व का कम-से-कम 60 ऋक् सूक्तो मे स्तवन किया गया है। इन्द्र का नाम सात देवता-द्वन्द्वो मे आता है, किंतु सख्या मे सबसे अधिक सूक्त—23 सकल सूक्त और अनेक सूक्तांश—मित्रावरुण को मिले हैं। 11 सूक्त इन्द्राग्नि के लिए, 9 इन्द्रा-वरुण के लिए, लगभग 7 इन्द्र-वायू के लिए, 6 द्यावापृथिवी के लिए, दो-दो इन्द्रा-सोमा तथा इन्द्रा-बृहस्पति के लिए और एक-एक सूक्त इन्द्राविष्णु, इन्द्रापूषणा, सोमा-पूषणा, सोमा-रुद्रा और अग्नि-सोमा के लिए आये है। कतिपय अन्य देवता युग्मो का, जिनमे उपर्युक्त देवो से इतर 9 देवो के नाम आते है, एकाकी मन्त्रो मे आह्वान हुआ है। ये है—इन्द्र-नासत्या, इन्द्रा-पर्वता, इन्द्रा-मरुत, अग्नि पर्जन्या, पर्जन्या-वाता (वाता-पर्जन्या भी), उषासानक्ता या नक्तोषासा, सूर्यामासा या सूर्याचन्द्रमसा।

कहना न होगा कि इन युग्मो की रचना द्यावापृथिवी के आधार पर हुई थी। आदिमकालीन चिन्तन मे पृथिवी और आकाश इतने अधिक सवलित रूप मे एक-दूसरे से सबद्ध रहे थे कि उनके पति पत्नी भाव की गाथाए आदिम जनो मे प्राय सभी जगह उभर आई थी। वेदो को, हो सकता है, यह देन भारोपीय जनो

---

1 अथ देवाना पत्नीर्यजति। शत० ब्रा० 1.9.2.11

के एक दूसरे से बिछुडने के काल से भी पहले काल से मिली हो। स्वय ऋग्वेद मे यह युग्म इतनी अधिक गहराई के साथ सबद्ध है कि जहा युग्म-रूप मे इनका 6 सूक्तो मे आह्वान हुआ है, वहा अकेले द्यौस् को एक भी सूक्त नही मिल सका है और पृथिवी को तीन मन्त्रो का एक छोटा-सा सूक्त ही मिल पाया है। इन दोनो के युगल को पृथक् करना कवि के लिए इतना कठिन हो गया है कि उसने पृथिवी-सूक्त मे भी पृथिवी की स्तुति इस रूप मे की गई है कि वह द्यौस् से प्राप्त होने वाली वृष्टि को अपने बादलो से भेजनेवाली बन गई है[1]। साथ ही यह देवता-द्वन्द्व देव-रूप द्यौस् के नाम की अपेक्षा अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। द्यावा-क्षामा और द्यावा-भूमि इन पर्यायो को मिलाकर यह समास लगभग 100 बार, और अन्य सभी देवता-द्वन्द्वो की अपेक्षा अधिक बार प्रयुक्त हुआ है। स्वर्ग और पृथिवी को रोदसी कहा गया है और दोनो को इस शब्द के लिङ्ग के कारण 'स्वसारौ' कहकर बुलाया गया है[2]। 'रोदसी' यह पद ऋग्वेद मे कम-से कम सौ बार आया है। द्यावा-पृथिवी माता-पिता भी है, क्योकि उन्हे प्राय पितरा, मातरा, जनित्री कहकर याद किया गया है, जबकि पृथक्-पृथक् भी उन्हे पिता, माता बताया गया है[3]। वे आदि पिता-माता हैं[4]। ऐतरेय ब्राह्मण[5] मे उनके विवाह का उल्लेख मिलता है। उन्होंने समस्त प्राणियो की रचना की है और वे उन्हे धारण किये हुए हैं[6]।

1. दृळ्हा चिद् या वनस्पतीन् क्ष्मया दर्धर्ष्योजसा।
   यत्ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टयः ॥ ऋ० 5 84 3
2. सगच्छमाने युवती समन्ते स्वसारा जामी पित्रोरुपस्थे।
   अभिजिघ्रन्ती भुवनस्य नाभिं द्यावा रक्षत पृथिवी नो अभ्वात् ॥ ऋ० 1 185 5
3. उत मन्ये पितुरद्रुहो मनो मातुर्महि स्वतवस्तद्धवीमभि ।
   सुरेतसा पितरा भूम चक्रतुरुरु प्रजाया अमृतं वरीमभि ॥ ऋ० 1 159 2
   ते सूनव स्वपस सुदंससो मही जज्ञुर्मातरा पूर्वचित्तये।
   स्थातुश्च सत्य जगतश्च धर्मणि पुत्रस्य पाथ पदमद्वयाविन ॥ ऋ० 1.159 3
   उरुव्यचसा महिनी असश्चता पिता माता च भुवनानि रक्षत ।
   सुधृष्टमे वपुष्ये न रोदसी पिता यत्सीमभि रूपैरवासयत् ॥ ऋ० 1 160 2
4. प्र पूर्वजे पितरा नव्यसीभि गीर्भि कृणुध्व सदने ऋतस्य।
   आ नो द्यावापृथिवी दैव्येन जनेन यात महि वा वरूथम् ॥ ऋ० 7 53 2
   परिक्षिता पितरा पूर्वजावरी ऋतस्य योना क्षयत समोकसा।
   द्यावा पृथिवी वरुणाय स व्रते घृतवत्पयो महिषाय पिन्वत ॥ ऋ० 10 65 8
5. इमौ वै लोकौ सहाऽऽस्तां तौ व्यैताम्।
   तौ देवा समनयस्तौ सयन्तावेत देवविवाहं व्यवहेताम् ॥ ऐ० ब्रा० 4 27.
6. दे० 1 159 2 ऊपर दे० 1 160 2 ऊपर

यद्यपि वे स्वय अपाद् हैं, तथापि अपने पैरो से अनेकानेक अपत्यो को धारण किये हुए है[1]। वे देवताओ के पिता-माता है, क्योकि 'देवपुत्रे' विशेषण केवल उन्ही के लिए प्रयुक्त हुआ है। विशेषरूप से उन्हे बृहस्पति का पिता माता बताया गया है[2] और यह भी सकेत मिलता है कि सलिल और त्वष्टा के साथ उन्होने अग्नि को उत्पन्न किया था[3]। कतिपय मन्त्रो मे यह भी आता है कि वे स्वय देवताओ के द्वारा रचे गये थे। इस प्रकार एक कवि कहता है जिसने द्यावापृथिवी का सृजन किया होगा वह सभी देवो का सिरमौर रहा होगा[4]। इन्द्र ने उनकी रचना की है[5]। विश्वकर्मा ने उनका आविर्भाव किया है[6]। उन्होने अपना रूप त्वष्टा से पाया है[7]।। वे आदि पुरुष के सिर और पैर से उत्पन्न हुए है[8]। किंतु एक कवि आश्चर्यचकित होकर पूछता है कि किस देव ने इन दोनो को बनाया है? इन दोनो मे से कौन-सा पहले अस्तित्व मे आया था[9]? द्यावा-पृथिवी के लिए प्रयुक्त विशेषणो मे से अनेको का उनके भौतिक गुणो से उद्भव हुआ प्रतीत होता है। एक सुवीर्य वृषभ है तो दूसरी चित्रा धेनु है[10]। वे दोनो सुरेतस् है[11]। वे दूध

कतुरा पूर्वा कतुरापरायो कुथा जाते कवयु को वि वेद।
विश्वं त्मना बिभृतो यद्ध नामु वि वर्तेते अहनी चुक्रियेव ॥ ऋ० 1 185 1

1 भूरिं द्वे अचरन्ती चरन्त पुद्वन्तु गर्भमुपदी दधाते।
नित्यं न सूनु पित्रोरुपस्थे द्यावा रक्षत पृथिवी नो अभ्वात् ॥ ऋ० 1 185 2

2 देवी देवस्य रोदसी जनित्री बृहस्पतिं वावृधतुर्महित्वा। ऋ० 7.97 8

3 दे० 10 2 7 पृ० 232

4 अय देवानामुपस्तमो यो जजान रोदसी विश्व शम्भुवा। ऋ० 1 160 4
स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान। ऋ० 4 56 3

5 राजाभवो जगतश्चर्षणीना साक सूर्य जनयन् द्यामुपासम्। ऋ० 6 30 5
जनिता दिवो जनिता पृथिव्या पिबा सोम मदाय क शतक्रतो। ऋ० 8 36 4
मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन। ऋ० 10 29 6
यन्मातर च पितर च साकमजनयथास्तन्व१ स्वायाः। ऋ० 10 54 3

6 यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षा। ऋ० 10 81.2
यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्। अथ० 12 1 60

7 दे० 10 110 9 पृ० 304

8 नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौ समवर्तत।
पद्भ्या भूमिर्दिश श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ ऋ० 10 90 14

9. दे० 1 185 1 ऊपर

10 धेनु च पृश्निं वृषभ सुरेतस विश्वाहा शुक्र पयो अस्य दुक्षत। ऋ० 1 160 3

11 दे० 1.159 2 पृ० 327

घी और मधु प्रभूत मात्रा मे बरसाते[1] और अमृत उपजाते है[2]। वे कभी-भी स्थविर नही होते[3]। वे महान्[4] और सुविस्तृत[5] हैं। वे विस्तृत और महत्-पद हैं। वे सुन्दर मुखडेवाले, उरु, नानाविध, दूरे-अन्ता वाले है[6]। कभी-कभी उनमे नैतिक गुण भी निक्षिप्त कर दिये जाते है। वे बुद्धिमान् है और ऋत के परिपोषक है[7]। पिता-माता के रूप मे वे प्राणियो की रक्षा करते[8] और निन्दा तथा निर्ऋति से उन्हे बचाते है[9]। वे भोजन और धन प्रदान करते[10] और सुयश एव सुराज्य की की सिद्धि करते है[11]। उनका विग्रहवत्व इस कोटि तक पहुच गया है कि वे यज्ञ-नेता कहलाए है, और यज्ञ के चारो ओर आसन पर विराजते है[12], दिव्य जनो के साथ वे अपने उपासको के पास आते[13] और देवताओ के पास याज्ञिय हवि को ले

घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा॥ ऋ० 6 70 1
असश्चन्ती भूरिधारे पयस्वती घृतं दुहाते सुकृते शुचिव्रते।
राजन्ती अस्य भुवनस्य रोदसी अस्मे रेतः सिञ्चत यन्मनुर्हितम्॥ ऋ० 6.70 2.

1. दे० 6 70 1 आदि ऊपर
2. दे० 1 159.2. पृ० 327.
उर्वी सद्मनी बृहती ऋतेन हुवे देवानामवसा जनित्री।
दधाते ये अमृतं सुप्रतीके द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ऋ० 1.185.6
3 दे० 6 70 1 ऊपर।
4. दे० 1 159 2 पृ० 327
5. दे० 1 160 2. पृ० 327.
6. दे० 1.185 6 ऊपर।
उर्वी पृथ्वी बहुले दूरे अन्ते उप ब्रुवे नमसा यज्ञे अस्मिन्।
दधाते ये सुभगे सुप्रतूर्ती द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ ऋ० 1 185.7
7 प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी ऋतावृधा मही स्तुषे विदथेषु प्रचेतसा।
देवेभिर्ये देवपुत्रे सुदंससेत्था धिया वार्याणि प्रभूषतः॥ ऋ० 1.159 1.
8. दे० 1 160 2 पृ० 327
9. पातामवद्याद् दुरितादभीके पिता माता च रक्षतामवोभिः। ऋ० 1 185.10.
10 सं स्नाणे रोदसी विश्वशम्भुवा सनिं वाजं रयिमस्मे समिन्वताम्। ऋ० 6.70.6.
अस्मभ्यं द्यावापृथिवी सुचेतुना रयिं धत्तं वसुमन्तं शतग्विनम्। ऋ० 1 159.5
11 ते नो गृणाने महिनी महि श्रवः क्षत्रं द्यावापृथिवी धासथो बृहत्। ऋ० 1 160 5.
12 ऋतावरी अद्रुहा देवपुत्रे यज्ञस्य नेत्री शुचयद्भिरर्कैः। ऋ० 4.56 2.
मही मित्रस्य साधयस्तरन्ती पिप्रती ऋतम्। परि यज्ञं निषेदथुः॥ ऋ० 1 56.7.
13 दे० 7.53.2 पृ० 327

जाते है[1]। यह सब कुछ होने पर भी द्यावा-पृथिवी का सजीव विग्रहवत्व न हो पाया और उपासना मे इन दोनों को स्थान न मिल सका। ये दोनों देवता परस्पर-सापेक्ष है। जबकि अन्य देवगणों मे दोनों में से एक अधिक उभरा होता है और उसके विशिष्ट गुण उसके साथी देवता में निक्षिप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ इन्द्राग्नी दोनो को एक-साथ वज्रहस्त और वृत्रघ्न कहा गया है। कभी-कभी आश्रित अथवा आनुपगिक देवता का भी कोई एक गुण दोनों में निक्षिप्त करके देखा जाता है। उदाहरण के लिए इन्द्र विष्णु दोनों ही एक साथ क्रमण करते है[2]। इस प्रकार का पुनः पुनः का संबन्ध देवता-विशेष में ऐसे गुणों का आधान करा देता है जिन गुणो पर आरम्भ में उसका कोई अधिकार नही था। उदाहरणार्थ अकेले अग्नि को भी बहुत बार वृत्रघ्न संज्ञा मिली है। फिर भी बहुतम मन्त्रों में अग्नि और इन्द्र इन दोनो देवताओ के विशिष्ट गुण एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् रखे गये है।

द्यावा-पृथिवी के बाद सबसे अधिक बार आनेवाला देवता-द्वन्द्व मित्रा-वरुण का है। इन दोनो देवताओं का आह्वान युग्म रूप मे पृथक्-पृथक् की अपेक्षा अधिक बार हुआ है। मित्र की अपनी ज्वलन्त विशेषताए नही के तुल्य है, अतः वरुण ही की विशेषताएं युग्म के ऊपर हावी होकर सामने आई है। वरुण के विषय मे जो कुछ कहा जा चुका है उसमें यहा और अधिक जोड़ने की आवश्यकता नही है। ये दोनो देवता युवक हैं[3]। अनेक देवो की भांति उन्हे चन्द्र, शुचि, स्वर्दृश, रुद्र (लाल) और भीम बताया गया है। मित्रावरुण इस समास मे मित्र के नाम की पूर्वता यह प्रदर्शित कर सकती है कि मित्र कभी पहले एक महत्तर देव थे। किंतु इस पूर्वता का कारण यह भी हो सकता है कि अपेक्षाकृत छोटे शब्द को समास में पहले रखने की प्रथा है। हो सकता है कि देवो को युग्म मे बुलाने की प्रथा भारत-ईरानी काल की देन हो, क्योंकि आवेस्ता में भी अहुर और मित्र का समास देखा जाता है।

जगत् के अधिपति इन्द्रा-वरुण ने सरिताओ के पथ खोदे है और सूर्य को द्युलोक मे गतिमान् बनाया है[4]। वे वृत्र को पछाड़ते है[5], युद्ध मे सहायक[6] है और

---

1. द्यावा नः पृथिवी इमं सिध्रमद्य दिविस्पृशम्। यज्ञं देवेषु यच्छताम्॥ ऋ०2.41.20
2. इन्द्राविष्णू तत्पनयाय्यं वां सोमस्य मद उरु चक्रमाथे। ऋ० 6 69 5.
3. मित्रः सम्राजो वरुणा युवानः। ऋ० 3 54.10.
   आ नो जनं श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा। ऋ० 7.62.5.
4. इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे ता नो मृळात ईदृशे॥ ऋ० 1.17.1.
   अन्वपां खान्यतृन्तमोजसा सूर्यमैरयतं दिवि प्रभुम्। ऋ० 7.82 3.
5. ऋतेनं वृत्रतुरा सर्वसेना। ऋ० 6 68.2.
6. आ नो बृहन्ता बृहतीभिरूती इन्द्र यातं वरुण वाजसातौ।

अपने उपासको को विजय प्रदान करते है[1]। वे क्रूरकर्मा पामरो पर अपना अमोघ वज्र फेकते हैं[2]। वे सुरक्षा और सपत्ति, यश, धन, अश्वो की रेलपेल कर देते है[3]। वे सोम को पीते है, उनका रथ यज्ञ मे आता है, और उनसे वर्हि पर बैठकर अपने आपको मद मे सराबोर करने की प्रार्थना की गई है[4]। कुछ मन्त्रो मे युग्म के हर देव की विशेषताए विविक्त करके झलका दी गई हैं। उदाहरण के लिए प्रार्थना की गई है कि वरुण अपना क्रोध अपने उपासको पर से निवृत्त कर लें और इन्द्र उन्हे प्रथित अवकाश प्रदान करें[5]। वृत्रहन्ता युद्धालु इन्द्र के गुणो का वैपरीत्य शान्ति और बुद्धि के रूप मे मनुष्य के सधारक वरुण के गुणो द्वारा प्रदर्शित किया गया है[6]। इन्द्राग्नी युग्म के दोनो देवताओ मे घना सपर्क है, क्योकि इन्द्र का अग्नि के योग मे अन्य किसी भी देवता की अपेक्षा अधिक सूक्तो मे आह्वान किया गया है, जबकि अग्नि का युग्म रूप मे आह्वान एक सूक्त मे और दो एकाकी मन्त्रो मे सोम के साथ, और एक मन्त्र मे पर्जन्य के साथ हुआ है। सोमपाताओ के मूर्धन्य देवता इन्द्राग्नी[7] अपने रथ पर बैठकर सोम-पान के लिए पधारते है[8] और उन्हे एक साथ आने और सोम पान करने के लिए निमन्त्रित किया जाता है[9]। वे बहुधा

यद् दिद्युत् पृतनासु प्रक्रीळान् तस्यं वां स्याम सनितार आजेः ॥ ऋ० 4 41 11

1 इन्द्रावरुण वामह हुवे चित्राय राधसे। अस्मान्त्सुजिग्युषस्कृतम् ॥ ऋ० 1 17 7

2 इन्द्रो युव वरुणा दिद्युमस्मिन्नोजिष्ठमुग्रा नि वधिष्ट वज्रम्। ऋ० 4 41 4

3 द० 1 17 7 ऊपर।
इन्द्रावरुण नू नु वा सिषासन्तीषु धीष्वा। अस्मभ्य शर्म यच्छतम् ॥ ऋ० 1 17 8
अश्व्यस्य त्मना रथ्यस्य पुष्टे नित्यस्य राय पतय स्याम। ऋ० 4 41 10
नू न इन्द्रावरुणा गृणाना पृङ्क्त रयिं सौश्रवसाय देवा। ऋ० 6 68 8

4 इन्द्रावरुणा सुतपाविम सुत सोम पिबत मद्य धृतव्रता।
युवो रथो अध्वर देववीतये प्रति स्वसरमुप याति पीतये ॥ ऋ० 6 68 10
इद वामन्ध परिषिक्तमस्मे आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयेथाम्। ऋ० 6 68 11

5 परि नो हेळो वरुणस्य वृज्या उरु न इन्द्र कृणवदु लोकम्। ऋ० 7 84 2

6 वज्रेणान्य शवसा हन्ति वृत्र सिषक्त्यन्यो वृजनेषु विप्र । ऋ० 6 68 3
क्षेमेण मित्रो वरुण दुवस्यति मरुद्भिरुग्र शुभमन्य ईयते। ऋ० 7 82 5
अपामिमन्य अभवन्तमातिरद् दस्रेभिरन्य प्र वृणोति भूयस । ऋ० 7 82 6
वृत्राण्यन्यो धारयति प्रविक्ता वृत्राण्यन्यो अप्रतीनि हन्ति। ऋ० 7 85 3

7 इहेन्द्राग्नी उपह्वये तयोरित्स्तोममुश्मसि। ता सोम सोमपातमा ॥ ऋ० 1 21 1

8 य इन्द्राग्नी चित्रतमो रथो वामभि विश्वानि भुवनानि चष्टे।
तेना यात सरथं तस्थिवासाथा सोमस्य पिबत सुतस्य ॥ ऋ० 1 108 1

9 इमामु षु सोमसुतिमुप न एन्द्राग्नी सौमनसाय यातम्। ऋ० 7 93 6.

वृत्रघ्न कहलाए है। उनके हाथो मे वज्र है[1], और विद्युत् उनका तिग्म अस्त्र है[2]। वे पुरदर है और युद्ध मे भद्र लोगो की सहायता करते है[3]। उन्होने एक साथ दास के 99 दुर्गो को तोड डाला है[4], वे युद्ध मे अदम्य है[5]। उन्होने नदियो को परिधि से उन्मुक्त किया है और अनेकानेक शौर्यकृत्य पूरे किए है[6]। वे उदार हैं[7]। इस प्रकार के गुण इन्द्र की विशेषताए हैं। इन्द्राग्नी को यज्ञ पुरोहित भी कहा गया है[8]। वे बुद्धिमान्[9] और सदसस्पती है और यातुधानो पर कीलते हैं[10]। ये विशेषताए खास तौर से अग्नि की है। ये दोनो देवता यमल भाई है, जिनके एक पिता है[11]। एक बार उन्हे अश्विन् भी कहा गया है[12]। हो सकता है कि उनके सपर्क की घनिष्ठता को देखकर ही ऐसा कहा गया हो। वे धन, शक्ति, पशु, अश्व और वाज प्रदान करते है। वे द्यावा-पृथिवी से, नदियो और पर्वतो से कही बढ-कर है[13]। दोनो देवताओ मे एक बार परस्पर गुण वैपरीत्य भी दिखलाया गया है। इन्द्र दस्युओ का वध करते है किंतु अग्नि उन्हे जलाते है। इन्द्रा-बृहस्पति के

जुषेथा यज्ञमिष्टये सुत सोम सधस्तुती। इन्द्राग्नी आ गत नरा॥ ऋ० 8 38 4
प्रातर्यावभिरा गत देवेभिर्जेन्यावसू।
इन्द्राग्नी सोमपीतये॥ ऋ० 8 38 7 आदि
तावासद्या बर्हिषि यज्ञे अस्मिन् प्रचर्षणी मादयेथा सुतस्य। ऋ० 1 109 5

1 इन्द्रान्वग्नी अवसेह वज्रिणा वयं देवा हवामहे। ऋ० 6 59 3

2 तयोरिदमवच्छव स्तिग्मा दिद्युन्मघोनो। प्रतिद्रुणा गभस्त्यो र्गवा वृत्रघ्न एषते। ऋ० 5 86 3

3 आ भरत शिक्षत वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवत शचीभि ऋ० 1 109 7
पुरदरा शिक्षत वज्रहस्तास्माँ इन्द्राग्नी अवत भरेषु। ऋ० 1 109 8

4 इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम्। साकमेकेन कर्मणा॥ ऋ० 3 12 6

5 या पृतनासु दुष्टरा या वाजेषु श्रवाय्या। या पञ्च चर्षणीरभीन्द्राग्नी ता हवामहे। ऋ० 5 86 2

6 यानीन्द्राग्नी चक्रथुर्वीर्याणि यानि रूपाण्युत वृष्ण्यानि। ऋ० 1 108 5

7 दे० 5 86 3 ऊपर।

8 यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सस्नी वाजेषु कर्मसु। इन्द्राग्नी तस्य बोधतम्॥ ऋ० 8 38 1

9 ता उ कवित्वना कवी। ऋ० 8 40 3

10 ता महान्ता सदस्पती इन्द्राग्नी रक्ष उब्जतम्। अप्रजा सन्त्वत्रिण। ऋ० 1 21 5

11 दे० 6 59 2 पृ० 134

12 सावश्विना भद्रहस्ता सुपाणी। ऋ० 1 109 4

13 प्र चर्षणिभ्य पृतनाहवेषु प्र पृथिव्या रिरिचाथे दिवश्च।
प्र सिन्धुभ्य प्र गिरिभ्यो महित्वा प्रेन्द्राग्नी विश्वा भुवनात्यन्या॥ ऋ० 1 109 6

निमित्त कहे गये दो सूक्तो[1] का वर्ण्य विषय है—सोम पान के लिये इन्हे निमन्त्रित करना और अश्वो से सपन्न विपुल धन देने के लिए एव सौमनस्य बढाने के लिए उनसे प्रार्थना करना। इन्द्र-वायू का आह्वान सोम-पान के लिए किया गया है[2]। यज्ञ मे वे अपने अश्वो के साथ आते है[3]। कभी कभी वे अपने स्वर्ण-बन्धुर रथ मे बैठकर[4] आते और बर्हि पर आसन जमा लेते है[5]। वे सहस्र-चक्षु एव धियस्पति है[6]। साथ ही वे शवसस्पति भी[7] है। वे युद्ध मे देवयुओ की पुकार सुनते[8] और अश्व, पशु एव स्वर्ण के रूप मे उन्हे धन प्रदान करते है[9]। इन्द्रा-सोम युद्ध-कृत्य करते है, जो इन्द्र को अधिक सजते है। वे असीम सर्ग विषयक कर्म सपादित करते है। उन्होने मनुओ के लिए सलिल को प्रवाहित किया, सातो सरिताओ को उन्मुक्त किया, अहि का वध किया और सूर्य के चक्र को बाधित किया था[10]। इन दोनो दयालु देवो के सहज कर्म थे शत्रुओ को ध्वस्त करना, और अद्रि मे निगूढ वस्तु-

---

1. दे० 4 49.1 पृ० 260 आदि पूर्ण सूक्त
   यज्ञे दिवो नृषदने पृथिव्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
   इन्द्राय यत्र सवनानि सुन्वे गमन्मदाय प्रथम वयश्च ॥ ऋ० 7 97 1. आदि
2 तीव्रा सोमास आ गह्याशीर्वन्त सुता इमे। वायो तान्प्रस्थितान् पिब ॥ ऋ०1 23 1.
3 उभा देवा दिविस्पृशेन्द्रवायू हवामहे। अस्य सोमस्य पीतये ॥ ऋ० 1 23 2
   इन्द्रश्च वायवेषा सोमाना पीतिमर्हथ।
   युवा हि यन्तीन्दवो निम्नमापो न सध्र्यक्॥ ऋ० 4 47 2
   वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथ शवसस्पती।
   नियुत्वन्ता न ऊतय आ यात सोमपीतये ॥ ऋ० 4 47 3
   या वा सन्ति पुरुस्पृहो नियुतो दाशुषे नरा।
   अस्मे ता यज्ञवाहसेन्द्रवायू नियच्छतम् ॥ ऋ० 4 47 4
4 रथ हिरण्यवन्धुरमिन्द्रवायू स्वध्वरम्। आ हि स्थाथो दिविस्पृशम् ॥ ऋ० 4 46 4
5 इन्द्रवायू सदत बर्हिरेदम्। ऋ० 7 91 4
6 इन्द्रवायू मनोजुवा विप्रा हवन्त ऊतये। सहस्राक्षा धियस्पती ॥ ऋ० 1 23 3
7 दे० 4 47 3 ऊपर
8 घ्नन्तो वृत्राणि सूरिभि ष्याम सासह्वासो युधा नृभिरमित्रान्। ऋ० 7 92 4
9 ईशानासो ये दधते स्वर्णो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्हिरण्यै।
   इन्द्रवायू सूरयो विश्वमायुरर्वद्भिर्वीरै पृतनासु सह्यु ॥ ऋ० 7 90 6
10 अहन्नहिमरिणात्सप्तसिन्धूनपावृणोदपिहितेव खानि। ऋ० 4 28 1
   त्वा युजा नि खिदत्सूर्यस्येन्द्रश्चक्र सहसा सद्य इन्दो। ऋ० 4 28 2
   • इन्द्रा सोमावहिमप परिष्ठा हथो वृत्रमनु वा द्योरमन्यत।
   प्रार्णास्यैरयत नदीनामा समुद्राणि पप्रथु पुरूणि ॥ ऋ० 6 72 3

जात को अनावृत करना । उनका प्रथम कर्म था सूर्य और प्रकाश को प्राप्त करना अन्धकार को अपसारित करना, सूर्य को गभस्तिमान् बनाना, द्युलोक का स्कम्भन करना और पृथिवी को प्रथित बनाना[1] । उन्होने गौ के कच्चे शरीर में पक्व दुग्ध रखा है। वे मनुष्य को ओजिष्णु शक्ति प्रदान करते हैं। सोमपा और मदस्पति इन्द्रा-विष्णु से कहा गया है कि वे अपने अश्वों के साथ भरपेट सोमपान के लिए पधारें। सोम के मद में दोनों देवताओं ने उरु का क्रमण किया वायु को विस्तृत किया और लोकों का विस्तार किया। अचूक विजयों के धनी ये दोनों देवता धन प्रदान करते और मानव को विपदाओं से पार लंघाते हैं सभी स्तोत्रों के उन्नायक इन दोनों देवों से प्रार्थना की गई है कि वे अपने उपासकों के गीतों पर कान दें[2]। इन्द्रा-पूषन् का एक-साथ आह्वान केवल एक छोटे से सूक्त[3] में हुआ है और उनके नाम का देवता-द्वन्द्व केवल दो बार बना है। जब इन्द्र ने प्रभूत सलिलों को प्रवाहित किया तब पूषन उनके साथ कंधा मिलाकर चल रहे थे। पूषन् को मित्र बनाकर ही इन्द्र वृत्रों का संहार कर पाते हैं[4]। उनमें से एक सोम पीते हैं, और उन्हें दो अश्व खींचते है, जबकि दूसरे करम्भ की इच्छा करते और अजों के द्वारा खींचे जाते है। एक मन्त्र मे इन्द्र और पूषन् के आवास का भी उल्लेख मिलता है[5], जहांकि यज्ञाश्व को एक अज ले जाता है इन दोनों अजों से भी सौख्य एवं विजय-धन की प्रार्थना की गई है।

सोमा-पूषन्[6] अन्धकार का अपसारण करते है। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे अपने सप्त-चक्र, पञ्च-रश्मि, मनोयुक्त 'रजसो विमान' रथ को आगे बढ़ावें वे धन और द्यावा-पृथिवी के जनक है और विश्व के त्वष्टा है। उन्हें देवताओं ने अमृत का केन्द्र बनाया है। उनके लिए इन्द्र से कहा गया है कि वे आया अर्थात्

1. इन्द्रासोमा महि तद्वां महित्वं युवं महानि प्रथमानि चक्रथुः ।
युवं सूर्यं विविदथुर्युवं स्वर्विश्वा तमांस्यहतं निदश्च ॥ ऋ० 6.72.1.
इन्द्रासोमा वासयथ उषासमुत्सूर्यं नयथो ज्योतिषा सह ।
उप द्यां स्कम्भथुः स्कम्भनेनाप्रथतं पृथिवीं मातरं वि ॥ ऋ० 6.72.2.
2. सं वां कर्मणा समिषा हिनोमीन्द्राविष्णू अपसस्पारे अस्य ।
जुषेथां यज्ञं द्रविणं च धत्तमरिष्टैर्नः पथिभिः पारयन्ता ॥ ऋ० 6.69.1.
3. इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये । हुवेम वाजसातये । ऋ० 6.57.1 आदि
4. उत घा स रथीतमः सख्या सत्पतिर्युजा । इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते । ऋ० 6.56.2.
5. सुप्राङजो मेम्यद् विश्वरूप इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः । ऋ० 1.162.2.
6. सोमापूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्याः ।
जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम् ॥
ऋ० 2.40.1 आदि

कचकची गौओं में पका दूध उत्पन्न करें। वे एक साथ शत्रुओं पर विजय देते और धन, भोजन का बाहुल्य प्रदान करते हैं; साथ ही इनमें परस्पर गुण-वैपरीत्य भी दिखाया गया है। उनमें से एक ने अपना आवास ऊंचे द्युलोक में बनाया है जबकि दूसरा पृथिवी पर एवं वायु में रहा करता है, एक ने सभी प्राणियों को उत्पन्न किया है, जबकि दूसरा वस्तुजात का सर्वेक्षण करता हुआ भ्रमण करता है। सोमा-रुद्र को[1] इसलिए बुलाया गया है कि वे गृहों से क्षय और आमय को दूर भगावें, अपने उपासकों के शरीरों में औषध-रस संचरित करें, उनके भीतरी पापों को धो डालें और वरुण के पाश से उन्हें मुक्ति दिलावें। तिग्म आयुध धारण करने-वाले इन देवताओं से प्रार्थना की गई है कि वे सब पर कृपा करें और मनुष्यों तथा पशुओं को संपत्ति प्रदान करें। अग्नीषोम ने परिवृत सलिलों को उन्मुक्त किया, प्रकाश को प्राप्त किया, और प्रकाश पुंजों को आकाश में प्रसृत किया है। साथ ही उनमें पारस्परिक प्रातीप्य भी दिखाया गया है। एक को मातरिश्वा स्वर्ग से लाये है और दूसरे को श्येन अद्रि से[2]। उनसे संयुक्त सहायता और सुरक्षा की मांग की गई है और अनुरोध किया गया है कि वे पशु, अश्व, अपत्य, स्वास्थ्य, सौख्य और सुवर्ण प्रदान करे[3]। इस युग्म का आह्वान अनेक बार अथर्ववेद में भी आता है। मैत्रायणी संहिता[4] में उन्हे 'दो नेत्र' बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण[5] उन्हें दो भ्राता बताता है, उसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि सूर्य का संबंध अग्नि से और चन्द्र का संबन्ध सोम से है[6]। सोम याग में अग्नीषोम को संभवतः हविष् नही दी जाती। उन्हें केवल पुरोडाष और पशु दिये जाते है। यह एक उल्लेखनीय बात है कि दो यज्ञ देवताओं का, जोकि यज्ञ संबन्धी साहित्य में बहुत बार युग्म रूप में आते है, ऋग्वेद में युग्म रूप में केवल दो बार उल्लेख हुआ है और वह भी उस वेद के सबसे बाद में बने भाग में।

कतिपय अन्य देव-युग्मों का आह्वान केवल एकाकी मन्त्रों में हुआ है। अग्नी-

---

1. सोमारुद्रा धारयेथामसुर्यं१ प्र वामिष्टयोऽरमश्नुवन्तु।
दमेदमे सप्त रत्ना दधाना शं नो भूतं द्विपदे शं चतुष्पदे॥ ऋ० 6.74.1. आदि
2. अग्नीषोमाविमं सु मे शृणुतं वृषणा हवम्।
प्रति सूक्तानि हर्यतं भवतं दाशुषे मयः॥ ऋ० 1.93.1. पूर्ण सूक्त
3. अग्नीषोमा पुनर्वसू अस्मे धारयतं रयिम्। ऋ० 10.19.1.
अग्नीषोमा वृषणा वाजसातये पुरुप्रशस्ता वृषणा उप ब्रुवे। ऋ० 10.66.7.
4. चक्षुषी वा अग्नीषोमा। मै० सं० 3 7.1.
5. अग्नीषोमौ भ्रातरौ। शत० ब्रा० 11.1.6.19.
6. सूर्य एवाग्नेयश्चन्द्रमाः। सौम्यः॥ शत० ब्रा० 1.6 3.24.
दे० 1.93.1. आदि पूर्ण सूक्त ऊपर।

पर्जन्य एक मन्त्र मे आए है[1]। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे भोजन और संतान प्रदान करे। किंतु साथ ही उनमे परस्पर गुण-वैषम्य भी दिखाया गया है। एक ने इळा को उत्पन्न किया है जबकि दूसरे ने गर्भ को। पर्जन्य वाता का आह्वान चार मन्त्रो मे हुआ है। पृथिवी का वृषभ अथवा वर्षयिता होने के नाते उनसे प्रार्थना की गई है[2] कि वे जलभरित वाष्पो (पुरीपाणि) को प्रेरित करे। इन्द्र-वायू तथा अन्य देवो के साथ उन्हे वाष्पमय वृषभ के रूप मे बुलाया गया है[3]। एक अन्य गणना मे उनसे विनति की गई है कि वे जन जानपदो को छकाई का भोजन प्रदान करे[4]। एक बार उन्हे धड़कने वाले महिप[5] के साथ सबद्ध करके भी आहूत किया गया है। उषा और रात्रि का आह्वान बार-बार हुआ है। उनका उल्लेख प्राय सदा विश्वेदेवा या आप्री सूक्तो मे आया है। वे धनसपन्न देविया है[6], दिव्य युवतिया हैं[7] और दिवो दुहिताए है[8]। वे दो पत्नियो के सदृश है[9] और दूध से वे दोनो ही भरी है[10]। भाति भाति के रग भर करके द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य चमकने वाले एक ही शिशु को चाटती है[11]। वे दो बहने है जिनका मन एक है, किंतु जिनके रग भिन्न है, जिनका पथ एक है पर साथ ही

1. अग्नीपर्जन्याववत धियं मेऽस्मिन् हवे सुहवा सुष्टुतिं न ।
इळामन्यो जनयद् गर्भमन्य प्रजावतीरिष आ धत्तमस्मे ॥ ऋ० 6 52 16
2 पर्जन्यवाता वृषभा पृथिव्या पुरीषाणि जिन्वतमप्यानि । ऋ० 6 49 6
3 पर्जन्यवाता वृषभा पुरीषिणेन्द्रवायू वरुणो मित्रो अर्यमा ।
देवाँ आदित्याँ अदितिं हवामहे ये पार्थिवासो दिव्यासो अप्सु ये ॥ ऋ० 10 65 9
4 दे० 6 50 12 पृ० 302
5 धर्तारो दिव ऋभव सुहस्ता वातापर्जन्या महिषस्य तन्यतो । ऋ० 10 66 10
6 उत त्ये देवी सुभगे मिथूदृशोषासानक्ता जगतामपीजुवा । ऋ० 2 31 5
उषासानक्ता सदतां नि योना । उरौ सीदन्तु सुभगे उपस्थे ॥ ऋ० 10 70 6
7 उत योषणे दिव्ये मही न उषासानक्ता सुदुघेव धेनु ।
बर्हिषदा पुरुहूते मघोनी आ यज्ञिये सुविताय श्रयेताम् ॥ ऋ० 7 2 6
उषासानक्ता सदतां नि योनौ । दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे ।
अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने ॥ ऋ० 10 110 6
8 उप व एषे वन्द्येभि शूषै प्र यह्वी दिवश्चित यद्भिरर्कै ।
उषासानक्ता विदुषीव विश्वमा हा वहतो मर्त्याय यज्ञम् ॥ ऋ० 5 41 7
देवी दिवो दुहितरा सुशिल्पे उषासानक्ता सदतां नि योनौ । ऋ० 10 70 6
9 पत्नीव पूर्वहूतिं वावृधध्या उषासानक्ता पुरुधा विदाने । ऋ० 1 122 2
10 तन्तुं ततं संवयन्ती समीची, यज्ञस्य पेश सुदुघे पयस्वती । ऋ० 2 3 6
11. नक्तोषासा वर्णमामेम्याने धापयेते शिशुमेकं समीची । ऋ० 1 96 5

अनन्त है, जो देवताओं से शिक्षा पाकर बारी-बारी से क्रमण करती हैं पर कभी भी परस्पर टकराती नहीं और न कभी ठहरती ही हैं[1]। वे ऋत की द्युतिसपन्न माताए है[2]। वे अपनी भासित किरणो से हर प्रकार के हविष् को उसके अपने स्थान पर पहुचाती है[3] और अनवरत यज्ञ-तन्तु को बुनती रहती है[4]। वे दानशील है, पुरु हूत है, और बर्हि पर आ विराजती है[5]। वे महती है और सुशोभित है[6]। बारी बारी से प्रकट होकर वे अशेष चराचर को उद्बुद्ध करती है[7]। सूर्य और चन्द्रमा का उल्लेख पाच बार सूर्या-मासा और तीन बार सूर्या-चन्द्रमसा के युग्म मे हुआ है। सूर्य के नाम के साथ बने हुए केवल मात्र ये ही द्वन्द्व-समास है। बहुसख्यक स्थलो पर तो अभिप्राय स्थूल ज्योतिष्पुजो से है। उदाहरणार्थ कहा गया है कि वे बारी-बारी से इसलिए गतिशील होते है कि हम देख सकें[8]। यह बृहस्पति की प्रेरणा है कि सूर्य और चन्द्र बारी-बारी से उगते हैं[9]। धाता ने चन्द्र-सूर्य की यथापूर्व रचना की है[10]। एक कवि कहता है—"हम सूर्य-चन्द्र की भाति अपने पथ पर चलें[11]। किंतु जहा-कही इस युग्म का आह्वान अन्य देवो के साथ हुआ है वहा इनमे प्रारम्भिक मानवीकरण झलकता है[12]। कतिपय मन्त्रो मे सूर्य-चन्द्र का

1. समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे॥ ऋ० 1 113 3.
2. आभन्दमाने उपाके नक्तोषासा।
यह्वी ऋतस्य मातरा सीदतां बर्हिरा सुमत्॥ ऋ० 1 142.7
3 दे० 5 41.7. पृ० 336
4 दे० 2 3 6 पृ० 336
5 दे० 7 2 6 पृ० 336
6 उषासानक्ता बृहती सुपेशसा। ऋ० 10 36 1 दे० 10 110 6 पृ० 336.
नक्तोषासा सुपेशसाऽस्मिन्यज्ञ उपह्वये। इदं नो बर्हिरासदे। ऋ० 1 13 7.
दे० 1 142 7 ऊपर।
7. दे० 2 31 5 पृ० 336
8. अस्मे सूर्याचन्द्रमसाभि चक्षे। ऋ० 1 102 2
9 हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिना कृपयद्वलो गा।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरात॥ ऋ० 10 68.10
10 सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। ऋ० 10 190.3
11. स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव। ऋ० 5.51 15
12 दे० 10 64 3 पृ० 164.
सूर्यामासा विचरन्ता दिविक्षिता धिया शमी नहुषी अस्य बोधतम्। ऋ०10 92 12.
दे० 10 93 5 पृ० 175.

यद्यपि प्रकट रूप से उल्लेख नही हुआ, तथापि युग्म रूप मे वहा उनका अध्याहार समत है। खिलाडी शिशुओ की तरह ये दोनो यज्ञ की परिक्रमा करते हैं। एक सभी भूतो का निरीक्षण करता है और दूसरा ऋतुओ का नियमन करता हुआ पुन-पुन उत्पन्न होता है[1]। कहना न होगा कि वरुण के दो चक्षुओ से[2] एव अमर्त्यों द्वारा बनाये गए दो दिव्य चक्षुओ से तात्पर्य सूर्य और चन्द्रमा से है[3]।

देवगण (§ 45)

वैदिक देवशास्त्र मे देवताओ के कतिपय निर्धारित अथवा अर्धनिर्धारित गण देखे जाते हैं, जो बहुधा किसी देवता विशेष के साथ सबद्ध रहते है। इनमे सबसे बडा गण मरुतो का है, जिनकी सख्या ऋग्वेद मे विविध बताई गई है (जैसे 21 या 180) और जो रणागण मे इन्द्र की सहायता करते हैं। वही गण रुद्रो के नाम से अपने पिता रुद्र के साथ भी सबद्ध है[4]। रुद्र-गण को एक स्वतन्त्र गण मानकर उनकी सख्या ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणो मे 11 और तैत्तिरीय सहिता[5] मे 33 बताई गई है। अपेक्षाकृत छोटा आदित्यगण, जिनकी सख्या ऋग्वेद के दो मन्त्रो मे 7 या 8 तथा ब्राह्मणो मे 12 बतलाई गई है, ऋग्वेद मे बराबर अपनी माता अदिति[6] अथवा अपने प्रमुख वरुण के साथ सपृक्त है[7]। मरुद्गण की अपेक्षा आदित्यगण इस दृष्टि से अधिक निर्धारित है कि इसके सदस्यो मे से प्रत्येक के अलग-अलग नाम मिलते है। ऋग्वेद मे एक तीसरे गण की भी चर्चा आई है जो उपर्युक्त दोनो गणो की अपेक्षा अधिक धुधला है क्योकि इसके सदस्यो का न तो व्यक्तित्व-निर्धारण ही हो पाया और न उनकी सख्या का उल्लेख ही। इनका विशेष रूप से इन्द्र के साथ सबन्ध रहा था। इस तथ्य की झाकी हमे उनसे मिल जाती है जिनमे वरुण या अदिति का आदित्यो के साथ, रुद्र का रुद्रो के साथ, इन्द्र का वसुओ के साथ

---

1. पूर्वापर चरतो मायैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम्।
   विश्वान्यन्यो भुवनाभि चष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुन ॥ ऋ० 10 85 18
2. यस्य श्वेता विचक्षणा तिस्रो भूमीरधिक्षित ।
   त्रिरुत्तराणि पप्रतुर्वरुणस्य ध्रुव सद ॥ ऋ० 8 41 9
3. दिवो यदक्षी अमृता अकृण्वन्। ऋ० 1 72 10
4. दे० 7 10.4 पृ० 314
   श न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुण सुशस ।
   शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाष श नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥ ऋ० 7.35 6
5. त्रिंशत्त्रयश्च गणिनो रुजन्तो दिव रुद्रा पृथिवीं च सचन्ते। तै० स० 1 4 11 1
6. दे० 7 10 4 पृ० 314
7. दे० 7 35 6 ऊपर।

आह्वान किया गया है[1]। किंतु परवर्ती वैदिक ग्रन्थो मे अग्नि वसुओ के नेता दीख पडते हैं। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण मे उनकी सख्या 8 और तैत्तिरीय सहिता मे वढकर 333 हो गई है। आदित्य, रुद्र और वसुगणो का ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रो मे एक-साथ भी आह्वान आता है[2]। ब्राह्मण-देवताओ को तीन रूपो—(पृथ्वी के वसु, वायु के रुद्र और स्वर्ग के आदित्य) मे विभक्त करते हैं[3]। छान्दोग्य उपनिषद् मे 5 गणो का उल्लेख मिलता है, और यहा वसुओ का सवन्ध अग्नि से, रुद्रो का इन्द्र से, आदित्यो का वरुण से, मरुतो का सोम से और साध्यो का ब्रह्मा से है। इनके अतिरिक्त अर्ध-देव अगिरसो का भी एक गण है जो मुख्यत बृहस्पति से सवद्ध है। ऋभुओ का भी छोटा-सा एक गण मिलता है, जो प्राय इन्द्र के साथ सबद्ध रहता है। अन्त मे, एक विशाल गण 'विश्वेदेवा' का है, जिनका यज्ञ मे अपना महत्वपूर्ण स्थान है, क्योकि इनके स्तवन मे कम-से-कम 40 सकल सूक्त आम्नात हुए हैं। इस गण की रचना के पीछे एक याज्ञिक प्रयोजन है और वह है यह कि ये देवता सभी देवो के प्रतिनिधि वनकर बुलाये जाते है। उनका उन्मेष इसलिए हुआ प्रतीत होता है कि सर्व देवो के उद्देश्य से किये गए यज्ञ मे कोई भी देवता अनामन्त्रित न रह जाय। किंतु कभी-कभी विश्वेदेवा को अपेक्षाकृत सीमित गण मानकर उनका आह्वान वसु और आदित्य-जैसे गणो के साथ किया गया है[4]।

निम्न कोटि के देवता

ऋभु (§ 46)—

वेद मे महौजस् देवो के अतिरिक्त बहुत से ऐसे गाथेय प्राणी भी है जिनके दिव्य गुण सुविकसित नही हो पाये हैं। इनमे सवसे महत्वपूर्ण ऋभु हैं। उनकी स्तुति ऋग्वेद के 11 सूक्तो मे आई है और उनका नामोल्लेख 100 से अधिक वार हुआ है। उनकी एक त्रयी है। उनका परिचित नाम है 'ऋभु' और उसकी अपेक्षा कम प्रचलित नाम है ऋभुक्षन्, वाज और विभ्वन्। इन तीनो नामो का अनेक वार एकत्र

1 दे० 7 10 4 पृ० 314, 7.35 6 पृ० 338
तेन् त्रीणि च शुतान्यसृजन्त त्रयस्त्रिशतं च। तै० सं० 5 5 2 6.

2 अस्माकं मित्रावरुणावतु रथमादित्यै रुद्रैर्वसुभि सचाभुवा। ऋ० 2 31 1
आदित्या रुद्रा वसवु सुदानव इमा ब्रह्म शस्यमानानि जिन्वत। ऋ० 10 66 12
दे० 7 10 4 पृ० 314, 7.35 6 पृ० 338.

3 एते वै त्रयु देवा यद्वसवो रुद्रा आदित्या। शत० ब्रा० 1 3 4 12
त्रया वै देवा। वसवो रुद्रा आदित्या॥ शत० ब्रा० 4 3.5 1

4. घृतेनाक्तं वसव सीदतेद विश्वेदेवा आदित्या यज्ञियास। ऋ० 2 3 4.

भी उल्लेख आया है, कभी कभी केवल 2 का, और यथावसर ऋभु का अकेले भी उल्लेख हुआ है। बहुधा उन्हे बहुवचन मे—ऋभव —कहकर बुलाया गया है, किन्तु उनमे से प्रत्येक नाम का बहुवचन भी तीनो का बोध कराने मे सक्षम है। कभी-कभी तीनो का[1] या केवल दो का बहुवचन भी तीनो का बोध कराने के लिए आ जाता है। एक बार 'वाजो विभ्वं ऋभवः' पद आता है[2]। कभी-कभी यह गण कुछ धुंधला-सा बनकर सामने आता है, क्योकि 'विश्वे ऋभव '[3] या ऋभुओ के साथ ऋभु, विभुओ के साथ विभ्वन्[4] का आह्वान भी मिलता है। अन्तिम मन्त्र मे स्पष्ट है कि ऋभु और विभ्वन् को उन्ही नाम वाले गणो का प्रधान माना गया है। तीनो ऋभुओ मे एक बार ज्येष्ठ, कनीयान् और कनिष्ठ का विवेक भी किया गया है [5]।

ऋभुओ को लगभग 12 बार उनके पैतृक नाम 'सौधन्वना ' से आहूत किया गया है। एक बार उन्हे समुदाय मे 'इन्द्र सूनो' कहा गया है[6]। उसी मन्त्र मे उनके लिए 'शवसो नपात ' (शक्ति पुत्र) यह पद भी आया है। यहा सभवत 'नपात्' शब्द के साथ 'शवस सूनु ' इस पद को ध्यान मे रखते हुए जोकि निरपवाद रूप से इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुआ है—एक प्रकार की क्रीडा की गई है। 'शवसो नपात ' विशेषण प्राय ऋभुओ तक सीमित है, क्योकि इसका प्रयोग उनके लिए 5 बार और अन्यथा केवल एक बार मित्र-वरुण के लिए हुआ है। एक मन्त्र[7] मे उन्हे 'मनो नपात ' भी कहा गया और उनके माता पिता का उल्लेख तो कई बार आया है। एक सूक्त में वे अग्नि को अपना भाई बताते हैं[8]।

---

1 तद्वो वाजा ऋभव सुप्रवाचनं देवेषु विभ्वो अभवन्महित्वनम्।
जिव्री यत्सन्ता पितरा सनाजुरा पुनर्युवाना चरथाय तक्षथ ॥ ऋ० 4 36 3

2 य वाजो विभ्वाँ ऋभवो यमाविषु । ऋ० 4 36 6

3 आदित्या विश्वे मरुतश्च विश्वे देवाश्च विश्व ऋभवश्च विश्वे । ऋ० 7 51 3

4 ऋभुर्ऋभुभिरभि व स्याम विभ्वो विभुभि शवसा शवासि । ऋ० 7 48 2

5 ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति कनीयान् त्रीन् कृणवामेत्याह ।
कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्ट ऋभवस्तत्पनयद् वचो व ॥ ऋ० 4 33 5

6 पीवो अश्वा शुचद्रथा हि भूताऽयः शिप्रा वाजिन सुनिष्का ।
इन्द्रस्य सूनो शवसो नपातोऽनु वश्चेत्यग्रिय मदाय ॥ ऋ० 4 37 4

7. इन्द्रस्य सख्यमृभव समानशुर्मनोर्नपातो अपसो दधन्विरे ।
सौधन्वनासो अमृतत्वमेरिरे विष्ट्वी शमीभि सुकृत सुकृत्यया ॥ ऋ० 3 60 3

8 किमु श्रेष्ठ किं यविष्ठो न आजगन् किमीयते दूत्य कद्यदूचिम ।
न निन्दिम चमस यो महाकुलोऽग्ने भ्रातर्द्रुण इद् भूतिमूदिम । ऋ० 1 161 1.
अग्नि दूत प्रति यदब्रवीतनाश्व कर्त्वो रथ उतेह कर्त्व ।
धेनु कर्त्वा युवशा कर्त्वा द्वा तानि भ्रातरनु व कृत्व्येमसि ॥ ऋ० 1 161 3

वहुत वार उन्हें यज्ञ में आकर[1] सोम-पान करने के लिए[2] बुलाया गया है। 'परम व्योमन्' में रहने के कारण उनसे प्रार्थना की गई है कि वे सोम-पान के लिए निचले आवास में पधारने की कृपा करें[3]। इस विषय में उनका संवन्ध प्रायः इन्द्र के साथ वना रहता है[4]। कतिपय बार मरुतों के साथ[5] और एक बार आदित्य सविता, पर्वत और सरिताओं के साथ भी उनका संवन्ध उभर आया है[6]। अन्य विषयों में भी वे इन्द्र के साथ निकट से संवद्ध हैं। वे इन्द्र के समान हैं[7]। ऋभु एक अभिनव इन्द्र के सदृश हैं[8]। वे इन्द्र के साथ विजय में मर्त्यों की सहायता करते हैं[9] और इन्द्र के साथ उन्हें भी शत्रुओं के दमन के लिए बुलाया गया है[10]। कहा गया है कि

1. ऋभुर्विभ्वा वाज इन्द्रो नो अच्छेमं यज्ञं रत्नधेयोप यात। ऋ० 4.34.1.
   अयं वो यज्ञ ऋभवोऽकारि यमा मनुष्वत् प्रदिवो दधिध्वे। ऋ० 4.34.3.
2. पिबत वाजा ऋभवो ददे वो महि तृतीयं सवनं मदाय। ऋ० 4.34.4.
   ताँ ऊर्ध्व॑स्य सवनस्य पीतय आ वो वाजा ऋभवो वेदयामसि। ऋ० 4 36.2.
   ऋभुक्षणो वाजा मादयध्वमस्मे नरो मघवानः सुतस्य।
   आ वोऽर्वाचः क्रतवो न यातां विभ्वो रथं नर्यं वर्तयन्तु॥ ऋ० 7.48.1.
3. व्युदायं देवहितं यथा वः स्तोमो वाजा ऋभुक्षणो ददे वः।
   जुह्वे मनुष्वदुपरासु विक्षु युष्मे सचा बृहद्दिवेषु सोमम्॥ ऋ० 4.37.3.
4. इन्द्रेण याथ सरथं सुते सचाँ अथो वशानां भवथा सह श्रिया।
   नवः प्रतिमै सुकृतानि वाघतः सौधन्वना ऋभवो वीर्याणि च॥ ऋ० 3.60.4–6
   ते वाजो विभ्वाँ ऋभुरिन्द्रवन्तो मधुप्सरसो नोऽवन्तु यज्ञम्। ऋ० 4.33.3.
   मध्वः पात रत्नधा इन्द्रवन्तः। ऋ० 4.34 6.
   समृभुभिः पिबस्व रत्नधेभिः सखीयाँ इन्द्र चकृषे सुकृत्या। ऋ० 4.35.7.
5. सं वो मदासो अग्मतेन्द्रेण च मरुत्वता। आदित्येभिश्च राजभिः॥ ऋ० 1.20 5.
   ऋभुक्षणमिन्द्रमा हुव ऊतय ऋभून् वाजान् मरुतः सोमपीतये। ऋ० 1 111.4.
   समिन्द्रेण मदथ सं मरुद्भिः सं राजभी रत्नधेयाय देवाः। ऋ० 4 34.11.
6. सजोषस आदित्यै र्मादयध्वं सजोषस ऋभवः पर्वतेभिः।
   सजोषसो दैव्येना सवित्रा सजोषसः सिन्धुभी रत्नधेभिः॥ ऋ० 4.34.8.
7. ऋभुमृभुक्षणो रयिं वाजे वाजिन्तमं युजम्।
   इन्द्रस्वन्तं हवामहे सदासातममश्विनम्॥ ऋ० 4.37.5.
8. ऋभुर्न इन्द्रः शवसा नवीयान्। ऋ० 1.110.7.
9. सेदृभवो यमवथ यूयमिन्द्रश्च मर्त्यम्।
   स धीभिरस्तु सनिता मेधसाता सो अर्वता॥ ऋ० 4 37.6.
10. इन्द्रो विभ्वाँ ऋभुक्षा वाजो अर्यः शत्रोर्मिथत्या कृणवन् वि नृम्णम्।
    ऋ० 7.48.3.

उन्होंने अपने सुकर्मो द्वारा इन्द्र की मित्रता प्राप्त की थी[1], क्योंकि उन्होंने ही इन्द्र के अश्वों की रचना की थी। उनकी स्तुति में कहे गये सूक्तों में वे इन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी देवता के साथ बहुत ही कम बार बुलाये गए हैं। एक मन्त्र[2] में तो इन्द्र का उल्लेख तक नहीं हुआ है। इन्द्र का उनके साथ संबन्ध इतना गहरा है कि इन्द्र को एक बार उनका प्रधान—ऋभुक्षन्—तक कह दिया गया है। इस पद का प्रयोग दो-तीन बार इन्द्र के सखा मरुतों के लिए भी हुआ है। कुछ विश्वेदेवाः सूक्तों में उन्हें कतिपय अन्य देवों के साथ (मुख्यतः त्वष्टा के साथ) जोड़ा गया है।

ऋभुओं के शारीरिक पक्ष का अथवा उनके उपकरणों का उल्लेख कम हो पाया है। वे सूर्य-संदृक् है[3]। उनका एक रथ है[4] जिसे अश्व खींचते है[5]। उनका रथ ज्योतिर्मय है, उनके अश्व मांसल हैं। वे धातु की बनी हेलमेट लगाते और सुनिष्क धारण करते हैं[6]। ऋभु घोड़े रखते है[7]। ऋभुओं के हाथ साफ़ हैं। वे स्वपसः या सुरूप है[8]। उनकी चतुराई की दाद बार-बार दी गई है[9]। बार-बार कहा गया है कि उन्होंने अपने भद्र कर्मो के द्वारा देवत्व प्राप्त किया था[10]। अपने भद्र कर्मों द्वारा वे देवता एवं अमर्त्य बन गये थे और श्येन की भांति स्वर्ग में जा पहुंचे थे[11]। वे वायु-नर हैं, जो अपनी शक्ति से स्वर्ग में जा पहुंचे थे[12]। अपने दक्ष

1. दे० 3.60.3. पृ० 340., 4.35.7. पृ० 341.
यत्तृतीयं सवनं रत्नधेयमकृणुध्वं स्वपस्या सुहस्ताः। ऋ० 4.35.9.
2. दे० 4.34.8. पृ० 341.
3. सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः। ऋ० 1.110.4.
4. सौधन्वना अश्वादश्वमतक्षत युक्त्वा रथमुप देवाँ अयातन। ऋ० 1.161.7.
5. दे० 7.48.1. पृ० 341.
6. दे० 4.37.4. पृ० 340.
7. दे० 4.37.5. पृ० 341.
8. प्र ऋभुभ्यो दूतमिव वाचमिष्य उपस्तिरे श्वैतरीं धेनुमीळे।
ये वातजूतास्तरणिभिरेवैः परि द्यां सद्यो अपसो बभूवुः॥ ऋ० 4.33.1.
रथं ये चक्रुः सुवृतं नरेष्ठां ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्।
त आ तक्षन्त्वृभवो रयिं नः स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः॥ ऋ० 4.33.8.
9. दे० 3.60.4. पृ० 341.
10. तेन देवत्वमृभवः समानश। ऋ० 3.60.2.
11. ये देवासो अभवता सुकृत्या श्येना इवेदधि दिवि निषेद।
ते रत्नं धात शवसो नपातः सौधन्वना अभवतामृतासः॥ ऋ० 4.35.8.
12. आ मनीषामन्तरिक्षस्य नृभ्यः स्रुचेव घृतं जुहवाम विद्मना।
तरणित्वा ये पितुरस्य सश्चिर ऋभवो वाजमरुहन् दिवो रजः॥ ऋ० 1.110.6.

सेवाभाव के कारण वे अमरता के पथ पर चलते-चलते देवों की श्रेणी मे जा मिले थे[1]। उन्होने देवो की अमरता और उनकी मित्रता प्राप्त की थी[2]। किंतु जन्मना वे मरणधर्मा थे, और मनु के पुत्र थे। फिर भी अपने सुकर्मों द्वारा उन्होने अमृतत्व पा लिया था[3]। ऐतरेय ब्राह्मण[4] का कहना है कि ऋभु मनुष्य थे, और इन्होने तपस् के द्वारा देवताओ के साथ सोम पान का अधिकार प्राप्त किया था। उनके सुचरित से देवताओ को इतनी प्रसन्नता हुई थी कि उन्होने वाज को, इन्द्र ने ऋभुक्षा को, और वरुण ने विभ्वा को अपना तष्टा तैनात किया था[5]। वे देवताओ के मध्य पहुचे और अपने सुकर्मो द्वारा उन्होने देवताओ के बीच यज्ञाश प्राप्त किया[6]। तृतीय सवन उन्ही का है, उन्होने ही सुकर्मो के द्वारा इसे अपना बनाया है[7]। कभी-कभी स्पष्ट शब्दो मे उन्हे देवता मान कर न्यौता तक गया है[8]।

ऋभुओ से माग की गई है कि वे हमे अश्व, पशु और वीर-सपन्न सपत्ति और धन प्रदान करे[9]। वे हमे शौर्य, इरा, अपत्य एव दक्षता प्रदान करे[10]। सोम सवन करनेवाले को वे धन से भर देते है[11]। जिनके साथ वे खडे हो जाते हैं उनका

---

1. अथैत वाजा अमृतस्य पन्थां गण देवानामृभव सुहस्ता । ऋ० 4 35.3.
2 ताभि शमीभिरमृतत्वमाशु । ऋ० 4 33 4 दे० 4 35.3 ऊपर
अधा देवेष्वमृतत्वमानश श्रुष्टी वाजा ऋभवस्तद्व उक्थ्यम् । ऋ० 4 36 4
3. दे० 3 60.3 पृ० 340
विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तास सन्तो अमृतत्वमानशु । ऋ० 1 110 4
4 ऋभवो वै देवेषु तपसा सोमपीथमभ्यजयन् । ऐ० ब्रा० 3 30 2
5 अपो ह्येषामजुषन्त देवा अभि क्रत्वा मनसा दीध्याना ।
वाजो देवानामभवत्सुकर्मेन्द्रस्य ऋभुक्षा वरुणस्य विभ्वा ॥ ऋ० 4 33 9
6 अधारयन्त वह्नयोऽभजन्त सुकृत्यया । भाग देवेषु यज्ञियम् । ऋ० 1.20 8.
स्विध्मा यद् वनधितिरपस्यात् सूरो अध्वरे परि रोधना गो । ऋ० 1 121 7
7. सौधन्वना यदि तत्रेव हर्यथ तृतीये घा सवने मादयाध्वै । ऋ० 1 161 8
दे० 4.35 9 पृ० 342, 4 33 11 पृ० 280, 4 34 4 पृ० 311
8 य देवासोऽवथा स विचर्षणि । ऋ० 4 36 5
उप नो वाजा अध्वरमृभुक्षा देवा यात पथिभिर्देवयानै । ऋ० 4 37 1
9. दे० 4 33 8 पृ० 342, 4 37 5 पृ० 341
ये गोमन्त वाजवन्त सुवीरं रयिं धत्थ वसुमन्तं पुरुक्षुम् ।
ते अग्रेपा ऋभवो मन्दसाना अस्मे धत्त ये च राति गृणन्ति ॥ ऋ० 4.34 10
10 आ नो यज्ञाय तक्षत ऋभुमद्वय क्रत्वे दक्षाय सुप्रजावतीमिषम् ।
यथा क्षयाम सर्ववीरया विशा तन्न शर्धाय धासथा स्विन्द्रियम् ॥ ऋ० 1.111 2.
11 ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरा साप्तानि सुन्वते । एकमेकं सुशस्तिभि ॥ ऋ० 1 20 7.

युद्ध मे बाल भी बाका नही होता[1]। फलत ऋभु और वाज से प्रार्थना की गई है कि वे युद्ध मे हमारी सहायता करे और हमे धन-सपन्न बनावें।

ऋभुओ के हस्त-लाघव के लिए उसी √तक्ष् धातु का प्रयोग हुआ है जिससे कि त्वष्टा शब्द बना है। उनके विषय मे दक्षता के इन पाच महान् कार्यों का उल्लेख बार-बार आया है और उनमे से सभी का अथवा बहुतो का उल्लेख उनके निमित्त कहे गये प्राय हर सूक्त मे किया गया है। उन्होने ऐसा रथ बनाया था[2], जो अनश्व था, अरश्मि था, त्रिचक्र था, और जो समस्त लोक मे अबाध गति से चलता था[3]। चारो ओर चल सकनेवाले इस रथ का निर्माण उन्होने अश्विनो के लिए किया था[4]। एक मन्त्र मे तो जहा कि उनके प्रत्येक कार्य का उल्लेख एक ही शब्द मे कर दिया गया है, यहा तक कहा गया है कि उन्होने ही अश्विनो की रचना की थी। सभवत यहा भी उनके रथ निर्माण का ही अतिशयित रूप अभिप्रेत हो[5]।

इन्द्र के लिए उन्होने दो अश्व (हरी) बनाये थे[6]। जहा-कही ऋभुओ के वर्णन मे यह आया है कि वे एक अश्व बनाना चाहते हैं या उन्होने एक के बाद दूसरा अश्व बनाया, वहा हो सकता है कि उनके उसी कार्य का दूसरे रोचक ढग से वर्णन किया गया हो[7]।

यो वं सुनोत्यभि पित्वे अह्नां तीव्रं वाजास सवनं मदाय।
तस्मै रयिमृभव सर्ववीरमातक्षत वृषणो मन्दसाना ॥ ऋ० 4 35 6
1 स वाज्यर्वा स ऋषिर्वचस्यया स शूरो अस्ता पृतनासु दुष्टर।
स रायस्पोष स सुवीर्यं दधे य वाजो विभ्वाँ ऋभवो यमाविषु ॥ ऋ० 4 36 6
2 तक्षन् रथं सुवृतं विद्मनापसस्तक्षन्हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू।
तक्षन पितृभ्यामृभवो युवद्वयस्तक्षन् वत्साय मातरं सचाभुवम् ॥ ऋ० 1 111 1
दे० 1 161 3 पृ० 340, 4 33 8 पृ० 342 4 36 2 पृ० 341
3 अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्र परि वर्तते रज।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभव पृथिवीं यच्च पुष्यथ ॥ ऋ० 4 36 1
4 तक्षन् नासत्याभ्या परिज्मान सुख रथम्। तक्षन् धेनु सबर्दुघाम् ॥ ऋ० 1 20 3
इन्द्रो हरी युयुजे अश्विना रथ बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत।
ऋभुर्विभ्वा वाजो देवाँ अगच्छत स्वपसो यज्ञियं भागमैतन ॥ ऋ० 1 161 6
दे० 10 39 12 पृ० 116
5 ये अश्विना ये पितरा य ऊती धेनु ततक्षुर्ऋभवो ये अश्वा।
ये अंसत्रा य ऋधग्रोदसी ये विभ्वो नर स्वपत्यानि चक्रु ॥ ऋ० 4 34 9
6 ये हरी मेधयोक्था मदन्त इन्द्राय चक्रु सुयुजा ये अश्वा। ऋ० 4 33 10
7. दे० 1 161 3 पृ० 340 तथा 7 पृ० 342

उन्होने एक गौ बनाई थी[1], जो अमृत देती थी[2] और जो सर्व-प्रेरक एव विश्व-रूपा थी[3] । इस गौ को ऋभुओ ने चर्म से बनाया था[4], अथवा उसे चर्म मे से निकाला था[5] । उन्होने उसकी देखभाल की और उसके मास की रचना की[6] । इस गौ को उन्होने बृहस्पति के लिए बनाया था—इस बात का सकेत मिलता है उस मन्त्र मे[7], जहा कि इन्द्र के लिए यह कहा गया है कि वे दो अश्व जोतते हैं और अश्विनो के लिए आया है कि वे रथ जोतते है और जहा बृहस्पति के लिए कहा गया है कि वे विश्वरूपा (गौ) को ऊपर की ओर प्रेरित करते है । उनका एक छोटा सा काम, जिसका उल्लेख केवल दो बार हुआ है और जो सभवत उपर्युक्त कार्यो से सबद्ध है, यह है कि उन्होने माता को उसके बछडे के साथ फिर से मिला दिया था[8] ।

ऋभुओ ने अपने माता-पिता को पुनर्युवा बनाया था[9] जो कृश थे और जीर्ण-शीर्ण स्तम्भो की भाति पडे हुए थे[10] । उन दोनो स्थविरो को उन्होने पुनर्युवा बनाया[11] । जहा-कही यह कहा गया है कि उन्होने अपने माता-पिता की रचना की थी[12] वहा हो सकता है कि उनके इसी आश्चर्यमय हस्तलाघव से तात्पर्य रहा

---

1. दे० 4 34 9 पृ० 344, 1.161 3 पृ० 340
2. दे० 1 20 3 पृ० 344
3. दे० 4 33 8 पृ० 342.
4. निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत स वत्सेनासृजता मातर पुन ।
सौधन्वनास स्वपस्यया नरो जिव्री युवाना पितरा कृणोतन ॥ ऋ० 1 110 8
5. निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिर्या जरन्ता युवशा ता कृणोतन । ऋ० 1 161 7
6. यत्सवत्सम्भवो गामरक्षन् यत्सवत्सम्भवो मा अपिंशन् ।
यत्सवत्समभरन् मासो अस्यास्ताभि. शमीभिरमृतत्वमाशु ॥ ऋ० 4.33 4.
7. दे० 1 161 6 पृ० 344
8. दे० 1 110 8 ऊपर, 1 111 1. पृ० 344.
9. युवाना पितरा पुन सत्यमन्त्रा ऋजूयव । ऋभवो विष्ट्यक्रत ॥ ऋ० 1.20 4
दे० 1 111 1 पृ० 344.
शच्याकर्त पितरा युवाना शच्याकर्त चमस देवपानम् ।
शच्या हरी धनुतरावतष्टेन्द्रवाहावृभवो वाजरत्ना ॥ ऋ० 4 35 5
10. दे० 1 110 8 ऊपर ।
यद्सारमक्रमृभव पितृभ्या परिविष्टी वेषणा दसनाभि । ऋ० 4 33.2
पुनर्ये चक्रु पितरा युवाना सना यूपेव जरणा शयाना ॥ ऋ० 4.33.3
11. दे० 1 161 3 पृ० 340, 1 161 7. ऊपर ।
12. दे० 4 31 9 पृ० 344

हो। और सचमुच उनके इस काम की देवताओ मे दिन-रात चर्चा रही होगी कि उन्होने अपने शिथिल-गात्र जीर्ण-शीर्ण माता-पिता को फिर से चलने फिरने योग्य बना दिया था[1]। उसी सूक्त के प्रथम मन्त्र मे आता है कि उनकी दिव्य शक्ति की दुदुभि चारो ओर बज उठी जब उन्होने द्यावा-पृथिवी को सपन्न बनाया। यहा, हो सकता है, उनके पिता-माता से द्यावा पृथिवी ही का तात्पर्य रहा हो।

ऋभुओ का सबसे बडा काम, जिसकी चर्चा करते-करते वेद अघाता नही है, एक चमस को चार भागो मे विभक्त करना है[2]। यह चमस देवो का पानपा था[3]। यह असुरो का पान साधन था। देवो ने अपने दूत—अग्नि—को भेज कर ऋभुओ को बुलाया था और उनसे कहा था कि वे काष्ठ के बने एक चमस को चार भागो मे विभक्त कर दें, और पुरस्कार मे उन्होने प्रलोभन दिया था कि यदि उन्होने इस काम को पूरा कर दिया तो वे उन्हे देवताओ के साथ उपासना मे बराबर का आसन प्रदान करेंगे[4]। त्वष्टा ने ऋभुओ के उद्योग की भूरि-भूरि प्रशसा की और जब उन्होने एक चमस से बने चार ज्योतिर्मय चमसो को देखा तब वे गद्गद् हो गए[5]। किंतु एक दूसरे मन्त्र मे आता है कि जब त्वष्टा ने एक चमस से बने इन चार चमसो को देखा, तब उन्होने अपने-आपको स्त्रियो के बीच छिपा लिया और ऋभुओ को मार डालने की सोची, क्योकि एक चमस को चतुर्वय बना कर ऋभुओ ने वास्तव मे देवपान साधन चमस की हिजो कर डाली थी[6], हालाकि

उन्होंने यशोलिप्सा से प्रेरित हो एक खेत की भांति चौड़े पात्र को माप लिया था[1]। उनके इसी कार्य की ओर वहां भी संकेत किया गया है, जहां यह कहा गया है कि उन्होंने चमसों को बनाया था[2]।

कभी-कभी ऋभुओं के हस्तलाघव को इस प्रकार के वाक्यों द्वारा व्यक्त किया गया है जैसे : उन्होंने स्तुति बनाई[3] यज्ञ बनाया[4] और दोनों लोकों[5] का निर्माण किया और उन्होंने आकाश को धारण कर रखा है[6]।

एक दूसरी गाथा में ऋभुओं का संबन्ध सविता के साथ उभरता है। कहा गया है कि वे आकाश में जिधर देखो उधर दीख पड़ते थे क्योंकि वे वायु-जूत थे। और पथ पर तेज़ी के साथ[7] चलकर वे सविता के भवन में जा पहुंचे थे, जिन्होंने कि उन्हें अगोह्य के यहां आने पर अमृतत्व प्रदान किया था[8]। जब 12 दिन तक सोकर ऋभुओं ने अगोह्य के आतिथ्य का आनन्द चख लिया तब उन्होंने स्वच्छ क्षेत्र बिछाये और सरिताओं को प्रवाहित किया; तब सूखी भूमि पर वनस्पति लहलहाने लगे और सलिल निम्न भूमि पर फैल गया[9]। ऋभुओं ने अपने कौशल से ऊंची दड़ियों पर घास उपजाई और निचली भूमि पर जलाशय बहाये। यह सब कुछ उन्होंने अगोह्य के घर में चैन की निद्रा लेकर किया था[10]। सुख की नींद सो लेने के बाद उन्होंने अगोह्य से पूछा कि उन्हें किसने जगाया, एक वर्ष के भीतर

---

1. क्षेत्रमिव वि ममुस्तेजनेनँ एकं पात्रमृभवो जेहमानम्।
उपस्तुता उपमं नाधमाना अमर्त्येषु श्रव इच्छमानाः ॥ ऋ० 1.110.5.
2. आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्।
वधर्यन्तीं बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत ॥ ऋ० 1.161.9.
याभिः शचीभिश्चमसाँ अपिंशत। तेन देवत्वमृभवः समानश ॥ ऋ० 3.60.2.
दे० 4.35 5. पृ० 345.
3. अग्नये ब्रह्म ऋभवस्ततक्षुः। ऋ० 10.80.7.
4. पूषण्वन्त ऋभवो मादयध्वमूर्ध्वग्रावाणो अध्वरमतष्ट। ऋ० 3.54.12.
5. दे० 4.34.9. पृ० 344.
6. दे० 10 66.10. पृ० 336.
7. दे० 4 33 1. पृ० 342.
8. सौधन्वनासश्चरितस्य भूमनागच्छत सवितुर्दाशुषो गृहम्। ऋ० 1.110.2.
तत्सविता वोऽमृतत्वमासुवदगोह्यं यच्छ्रवयन्त ऐतन। ऋ० 1.110.3
9. द्वादश द्यून्यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः।
सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून् धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः ॥ ऋ० 4.33 7.
10. उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणं निवत्स्वपः स्वपस्यया नरः।
अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानु गच्छथ ॥ ऋ० 1.161.11.

उन्होने सर्वेक्षण (ऋक् 13) किया।

ऋभु शब्द की व्युत्पत्ति √रभ् (पकडना) धातु से बताई जाती है। फलत इसका अर्थ होता है—'हस्त-कुशल' 'दक्ष'। ऋग्वेद मे यह शब्द अनेक बार विशेषण की तरह आता है और अनेक बार इन्द्र, अग्नि और आदित्यो की विशेषता का सूचक बनता है। यह शब्द जर्मन एल्वे और अग्रेजी एल्फ का तद्रूप प्रतीत होता है। वाज (√वज्) का अर्थ है—वीर्यवान्, और विभ्वन् (वि+√भू) का अर्थ है—'प्रसिद्ध' (व्यापक कलाकार)। इस प्रकार ऋभुओ के नाम तथा वर्णन से प्रकट होता है कि उनका वास्तविक चरित्र 'कुशल कलाकारिता' है।

यह स्पष्ट है कि आरम्भ मे ऋभुओ को देवता नही समझा जाता था। उनका इन्द्र के साथ सबन्ध होने से उनके मौलिक स्वरूप पर कुछ प्रकाश पड सकता है—इस बात मे सदेह है। उनके पैतृक नाम सौधन्वन के मूल मे वास्तव मे कौन है—इस बात का निर्णय भी कठिन है क्योकि सुधन्वन् शब्द ऋग्वेद मे केवल दो बार रुद्र और मरुतो का विशेषण बनकर आया है। सच बात तो यह है कि ऋभुओ के माता पिता पृथिवी और द्यौस् के प्रतिरूप सम्भव है। उनका धरती को उर्वरा बनाने के कार्य का सबन्ध सविता या अगोह्य के घर की ओर उनकी 12 दिनो की यात्रा के साथ है। फलत कुछ विद्वान् ऋभुओ को तीन ऋतुओ की आत्मा मानते हैं जो ऋतु मकर सक्राति के 12 दिनो मे अचल रहते है। त्वष्टा का चमस सभवत चन्द्रमा का प्रतिरूप है और ऋभुओ के द्वारा किये गये इसके चार विभाग उसकी चार कलाए हैं। सभी बातो पर विचार करते हुए प्रतीत होता है कि ऋभु मूलत पार्थिव या वायवीय आत्माए थे, जिनकी दक्षता ने उनके कौशल को प्रकट करने-वाली अनेक गाथाओ को अपने चहु ओर आकृष्ट कर लिया था। किंतु ऋग्वेद का अन्तरग साक्ष्य इस विषय मे किसी भी निश्चित निष्कर्ष पर पहुचने के लिए अपर्याप्त है।

अप्सराएं (§ 47)—

अप्सरा एक प्रकार की परी है, जो ऋग्वेद ही मे अपने प्राकृतिक आधार से पूर्णरूपेण पृथक् हो चुकी है। इस वेद मे अप्सराओ के विषय मे मिलने-वाले सकेत अत्यल्प है, क्योकि अप्सरा नाम ऋग्वेद मे केवल 5 बार आया है। अप्सरा परम व्योम मे अपने प्रणयी 'गधर्व', जिसका उल्लेख ठीक पूर्व वाले मन्त्र मे हुआ है, की ओर मुस्कराती है[2]। वसिष्ठ अप्सरा से उत्पन्न हुए

---

1 सुषुप्वांस ऋभवस्तदपृच्छतागोह्य क इद नो अबूबुधत्।
श्वानं बस्तो बोधयितारमब्रवीत्संवत्सर इदमद्या व्यख्यत ॥ ऋ० 1 161 13.

2 अप्सरा जारमुप सिष्मियाणा योषा बिभर्ति परमे व्योमन् ॥ ऋ० 10 123 5.

थे, और वसिष्ठा अप्सराओ के निकट बैठते है[1]। समुद्रिय अप्सराए सोम की ओर प्रवाहित होती है[2]। ऐसे स्थलो पर अप्सराओ से सोम-रस मे मिलाया जानेवाला जल अभिप्रेत हो सकता है। प्रलम्ब केशोवाला ज्ञानी अप्सराओ और गधर्वो के पथ पर चलने मे सक्षम है[3]। गधर्व की 'अप्या योषा' भी अप्सरा ही समझी जा सकती है[4]।

अप्सराओ के विषय मे अथर्ववेद मे अपेक्षाकृत अधिक आता है। उनका आवास सलिलो मे है, और वहा से वे क्षण-भर मे आ जाती है[5]। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे मनुष्यो के समीप से हटकर नदियो और जलाशयो के तटो पर चली जावे[6]। विश्वावसु गधर्व के साथ रहनेवाली देवियो का मेघ, विद्युत् और तारो के साथ सबन्ध है[7]। उन्हे स्पष्ट शब्दो मे गधर्वो की पत्निया बताया गया है[8]। *परवर्ती सहिताओ मे तो उनका गधर्वो के साथ का सबन्ध एक कहावत-सा बन गया* है[9]। शतपथ ब्राह्मण[10] मे वर्णन आता है कि अप्सराए अपने-आपको एक प्रकार के जलीय पक्षियो मे परिवर्तित कर लेती है[11]। वेदोत्तर-कालीन साहित्य मे बार-बार आता है कि अप्सराए वन्य ह्रदो और सरिताओ मे, विशेषतया गगा मे रहती है और वे समुद्र मे वरुण के भवन मे भी विराजती है। अप्सरा शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'जल मे भ्रमण करनेवाली'।

उक्त उद्धरणो से सूचित होता है कि अपने मौलिक रूप मे अप्सराए सलिल की दिव्य परिया थी, और ऋग्वेद उन्हे गधर्वो की पत्निया बताता भी है। किंतु

1 अप्सरस परि जज्ञे वसिष्ठ । ऋ० 7 33 12
अप्सरस उपसेदुर्वसिष्ठा । ऋ० 7 33 9

2 समुद्रिया अप्सरसो मनीषिणमासीना अन्तरभि सोममक्षरन् । ऋ० 9 78 3

3. अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन् ।
केशी केतस्य विद्वान्सखा स्वादुर्मदिन्तम ॥ ऋ० 10 136 6

4 गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभि परम जामितन्नौ । ऋ० 10 10 4

5. अनवद्याभि. समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसा सदन म आहुर्यत सद्य आ च परा च यन्ति ॥ अथ० 2 2 3

6 नदी यन्त्वप्सरसोऽपा तारमवश्वसम् । तत्परेताप्सरस प्रतिबुद्धा अभूतन । अथ० 4 37 3

7. अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसु गन्धर्व सचध्वे । अथ० 2 2 4.

8. ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकर नम । अथ० 2 2.5

9. गन्धर्वाप्सरोभ्यो प्रात्यम् । वा० स० 30 8.

10 ता अप्सरस आतयो भूत्वा परि पुप्लुविरे । शत० ब्रा० 11 5 1 4

11 यदासु मर्तो अमृतासु निस्पृक् स क्षोणीभि क्रतुभिर्न पृङ्क्ते ।
ता आतयो न तन्व शुम्भत स्वा अश्वासो न क्रीळयो दन्दशाना ॥ ऋ० 10 95 9

परवर्ती सहिताश्रो मे उनका क्षेत्र पृथिवी तक और वनस्पतियो तक विस्तृत हो जाता है। कहा गया है कि वे न्यग्रोध और अश्वत्थ वृक्षो पर रहती है और वहा उनकी वशी गूजती रहती है[1]। अन्य ग्रन्थो मे उदुम्बर और प्लक्ष वृक्षो पर भी गधर्वो और अप्सराश्रो का आवास बताया गया है[2]। इन वृक्षो पर रहनेवाले गधर्व-अप्सराश्रो से प्रार्थना की गई है कि वे उधर से गुजरनेवाली बरात के प्रति सौख्यमय सिद्ध होवे[3]। शतपथ ब्राह्मण मे वर्णन आता है कि अप्सराए नृत्य, गान और विलास मे निरत रहती है। वेदोत्तर-कालीन ग्रन्थो मे गाथात्मक या सचमुच के पर्वतो को गधर्व अप्सराश्रो का मनचाहा आवास बताया गया है। अथर्ववेद इसमे इतना और जोड देता है कि अप्सराए द्यूत की चितेरी है और जुए मे जितानेवाली है[4]। साथ ही यह भी कहा गया है कि अप्सराए मानव के मन मे असतुलन पैदा करती है, फलत उनसे बचने के लिए जादू-टोना प्रयुक्त होता है।

इन ललिताग वनिताश्रो का प्रणय-सुख न केवल गधर्व अपितु कभी-कभी मनुष्य भी पा लेते हैं[5]। इस प्रकार के प्रणय-सुख की एक गाथा तो वैदिक साहित्य मे भी मिलती है। अथर्ववेद मे तीन अप्सराश्रो का नाम आता है उग्राजित्, उग्रपश्या और राष्ट्रभृत् जबकि वाजसनेयि सहिता मे औरो के साथ उर्वशी और मेनका के नाम भी आते है[6]। शतपथ ब्राह्मण[7] मे भरत कुल की आदि-मूर्धन्या

1 यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षा शिखण्डिन ।
तत्परेताप्सरस प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ अथ० 4 37 4

2 नैयग्रोध औदुम्बर आश्वत्थ प्लाक्ष इतीध्मो भवत्येते वै गन्धर्वाऽप्सरसा गृहा ।
तै० स० 3 4 8 4.

3 ये गन्धर्वा अप्सरसश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येऽधि तस्थु ।
स्योनास्ते अस्मै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् ॥ अथ० 14 2 9.

4 या क्रन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुह ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽकर नम ॥ अथ० 2 2 5

5 अध्वर्युर्वरुण आदित्यो राजेत्याह तस्य गन्धर्वा विशस्त इम आसत इति युवान शोभना उपसमेता भवन्ति । शत० ब्रा० 13 4 3 7
अध्वर्यु सोमो वैष्णवो राजेत्याह तस्याप्सरसो विशस्ता इमा आसत इति युवतय शोभना उपसमेता भवन्ति । शत० ब्रा० 13 4 3 8
दे० 10 95 9 पृ० 349

6 मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ । वा० स० 15 16
उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ । वा० स० 15 19

7 उर्वशी वा अप्सरा पुरूरवा पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायत तदायु ।
शत० ब्रा० 3 4 1 22

शकुन्तला का निर्देश आता है[1]। उर्वशी की चर्चा शतपथ मे भी की गई है[2]।

किंतु ऋग्वेद तो एकमात्र उर्वशी का ही निर्देश करता है। ऋग्वेद मे उर्वशी को अप्सरा समझा जाता था—यह बात इस निर्देश से सिद्ध होती है कि वसिष्ठ को एक मन्त्र मे उर्वशी का पुत्र बताया गया है और दूसरे मन्त्र मे अप्सरा का[3]। उर्वशी का आह्वान सरिताओ के साथ किया गया है[4]। अन्यथा उसका नामोल्लेख केवल दो बार बाद के बने एक सदिग्धार्थक सूक्त मे आता है[5], जिसमे उर्वशी और उसके प्रणयी पुरूरवा का वार्तालाप चलता है। वहा उसे *'अप्या'* कहा गया है, जो अन्तरिक्ष मे व्याप्त रहती है और लोको मे विचरती फिरती है[6]। कहा गया है कि चार सदिया उसने मर्त्यो के बीच बिताई थी[7]। इसी सूक्त के 17वें[8] मन्त्र मे उर्वशी से प्रार्थना की गई है कि वह लौट आवे। प्रार्थना ठुकरा दी जाती है, किंतु 18वें मन्त्र मे पुरूरवस् को वह इतना वचन देती है कि *उसकी प्रजा हविष् द्वारा देवो की अर्चना करेगी* और वह स्वय स्वर्ग मे सुख भोगेगा[9]। इस सूक्त के अनेक मन्त्र शतपथ ब्राह्मण मे आनेवाली गाथा मे उद्धृत किये गये है। इस गाथा मे असबद्ध तथ्य खडो को आपस मे एकत्रित किया गया है और यह सबन्ध अशत प्रस्तुत ऋक्सूक्त के मन्त्रो को ठीक तरह न समझने पर आश्रित है। शतपथ की गाथा इस प्रकार है'—उर्वशी अप्सरा का इळा पुत्र पुरूरवा के साथ इस सविदा पर सयोग होता है कि उर्वशी उन्हे कभी-भी निर्वस्त्र नही देखेगी। कुछ दिन प्रणय-सुख मे बीतते है और तब गधर्व-लोग रात के समय एक अजीब प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करते हैं जिसे सुनकर पुरूरवा निर्वस्त्र ही उठ पडते है, और तब विद्युत् के प्रकाश मे उर्वशी उन्हे अनावृत देख लेती है। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उर्वशी तत्काल अन्तर्धान हो जाती है। पुरूरवा उसकी खोज मे इधर-उधर भटकते फिरते हैं।

1. शकुन्तला नाडपित्यप्सरा भरत दधे। शत० ब्रा० 13 5 4 13
2 उर्वशी ह्यप्सरा। पुरूरवसमतु चकमे। शत० ब्रा० 11 5 1 1
3 उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जात। ऋ० 7 33 11
अप्सरस परि जज्ञे वसिष्ठ। ऋ० 7 33 12
4 दे० 5 41 19 पृ० 324
5 जनिष्टो अपो नर्य सुजात प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायु। ऋ० 10 95 10
अन्तरिक्षप्रा रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशी वसिष्ठ।
उप त्वा राति सुकृतस्य तिष्ठान्निवर्तस्व हृदय तप्यते मे॥ ऋ० 10 95 17
6. विश्वावसुरभि तन्नो गृणातु दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमान। ऋ० 10 139 5
7 यद्विरूपाचर मर्त्येष्ववस रात्री शरदश्चतस्र। ऋ० 10 95 16
8 दे० 10 95 17, ऊपर।
9 प्रजा ते देवान्हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे। ऋ० 10 95 18

निदान वे उसे अप्सराओ के साथ जलीय पक्षी के रूप मे एक कमल-ह्रद मे तैरती हुई देखते है । उर्वशी उनके समक्ष अपने-आपको प्रकट कर देती है और उनके मिठास-भरे अनुनय पर रीझ कर उन्हे वचन देती है कि एक वर्ष बाद एक रात के लिए वह उनके पास आवेगी । निश्चित समय पर पुरूरवा लौटते हैं और दूसरे दिन गधर्व उन्हे वर देते है कि विधिविहित ढग से अग्नि उत्पन्न करने पर वह गधर्वों मे समिलित हो जायेंगे । 10 95 के अतिरिक्त पुरूरवस् (ऊचे स्वर वाला) का ऋग्वेद मे केवल एव मन्त्र[1] मे निर्देश मिलता है, जहा कहा गया है कि अग्नि ने ऋतभर मानव पुरूरवा के लिए आकाश को तडकाया । किंतु यहा यह शब्द विशेषण भी माना जा सकता है । कतिपय विद्वानो के मत मे पुरूरवा और उर्वशी से तात्पर्य सूर्य और उषा से है ।

गंधर्व (§ 48)—

अप्सरा या अप्सराओ के साथ ऋग्वेद ही मे एक प्रकार के पुरुष का या पुरुषो का भी जिक्र आता है जिन्हे गधर्व कहा जाता है । ऋग्वेद मे गधर्व शब्द 20 बार आया है और इनमे से 3 बार इसका बहुवचन मे प्रयोग हुआ है । अथर्ववेद मे यह 32 बार आया है जिनमे से 16 बार इसका प्रयोग बहुवचन मे हुआ है । यह नाम 'गन्दरेव' (एक दाना) इस रूप मे अवेस्ता मे कतिपय बार केवल एक वचन मे मिलता है । इन बातो से प्रतीत होता है कि गधर्व जाति का विकास किसी एक गधर्व व्यक्ति से हुआ होगा । परवर्ती सहिताओ मे देवो, पितरो और असुरो के साथ गधर्वो की भी अपनी एक पृथक् जाति बन जाती है[2] । एक यजुर्मन्त्र मे गधर्वों की सख्या 27 बताई गई है, किंतु अथर्ववेद[3] मे वह 6333 बन जाती है । गधर्वों की कल्पना भारत-ईरानी काल की है और अत्यधिक प्राचीन होने के कारण यह आज भी अस्पष्ट-सी है । इस विषय मे ऋग्वेद का साक्ष्य इतना अधिक अस्पष्ट है कि उसके आधार पर गधर्वों के मौलिक स्वरूप का निर्धारण करना सुतरा कठिन है । यह बात ध्यान देनेयोग्य है कि गधर्व शब्द ऋग्वेद मे द्वितीय मडल से लेकर सप्तम मडल तक केवल एक बार आया है, जबकि अष्टम मडल मे यह इन्द्र के विरोधी का द्योतक बनकर 2 बार आता है । कभी कभी तो यह शब्द एक

---

1 त्वमग्ने मनवे द्यामवाशय पुरूरवसे सुकृते सुकृत्तर । ऋ० 1 31 4

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे ।

2 गन्धर्वा एनमन्वायन्त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट् सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ अथ० 11 5 2

द्वयो देवानवहद्देवोऽसुरान् वाजी गन्धर्वानश्वो मनुष्यान् ॥ तै० स० 7 5 25 2

3 दे० अथ० 11 5 2 ऊपर ।

नाम की तरह भी आता है। स्थान-स्थान पर इसके साथ विश्वावसु (सर्व-धनसपन्न) इस विशेषण का भी प्रयोग हुआ है[1]। एक सूक्त[2] मे गधर्व का बोध कराने के लिए अकेले इस विशेषण का ही प्रयोग हुआ है, जबकि परवर्ती सहिताओ मे, ब्राह्मणो और वेदोत्तर-कालीन साहित्य मे बहुत बार यह एक गधर्व-विशेष के नाम की तरह प्रयुक्त हुआ है।

सभवत ऋग्वेद मे गधर्व का आवास वायु अथवा आकाश जैसे उच्च लोको मे माना जाता था[3]। गधर्व लोक का विमान अर्थात् नापनेवाला है[4]। वह वायु के अति-गम्भीर लोक मे पाया जाता है। वह दिव्य है और द्युलोक के नाक पर विराजमान है[5]। वह प्रेमी है और उसपर अप्सराए जान देती हैं[6]। उसका आवास स्वर्ग मे है[7] और भाग्यशाली व्यक्ति ही उसके साथ निवास कर पाते हैं[8]। अनेक मन्त्रो मे गधर्व का सपर्क एक प्रकार की दिव्य ज्योति के साथ दीख पडता है। उदाहरणार्थ उसका सबन्ध[9] सूर्य के साथ दीख पडता है। वह हिरण्य-पक्ष है, वरुण का दूत है, और गर्भ मे वाणी का प्रेरक है[10]। वह अर्वा की रास को थामता

---

1 दे० 9 86 36 पृ० 281
विश्वावसु सोम गन्धर्वमापो दद्दशुषीस्तद्दतेना व्यायन्। ऋ० 10 139 4.
दे० 10 139 5 पृ० 351
दे० अथ० 2.2 4 पृ० 349
गन्धर्वस्त्वा विश्वावसु परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै। वा० स० 2 3.

2 उदीर्ष्वात पतिवती ह्येषा विश्वावसु नमसा गीर्भिरीळे। ऋ० 10 85.21
उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेळामहे त्वा। ऋ० 10 85.22
सोम. प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तर। ऋ० 10 85 40
सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये। ऋ० 10 85 41.

3 अभि गन्धर्वमतृणदबुध्नेषु रज स्वा। इन्द्रो ब्रह्मभ्य इद्वृधे ॥ ऋ० 8 77 5

4. दे० 10 139 5 पृ० 351.

5 ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधिनाके अस्थात्। एव नमस्योविक्ष्वीड्य ॥ ऋ० 10 123.7

6. दे० 10 123 5 पृ० 348

7. दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥ अथ० 2 2 1
दिवि स्पृष्टो यजत सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य।
मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्य सुशेवा ॥ अथ० 2 2.2

8. विष्टारिणमोदन ये पचन्ति। सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभि ॥ अथ० 4.34 3

9 हिरण्यपक्ष वरुणस्य दूत यमस्य योनौ शकुन भुरण्युम् ॥ ऋ० 10 123 6.

10 पतङ्गो वाच मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद्गर्भे अन्त। ऋ० 10 177.2.

है[1]। आगे चलकर उसका सबन्ध चन्द्र-मडल के 27 नक्षत्रो और विशेषतया रोहिणी के साथ बन जाता है[2]। ऋग्वेद के एक सूक्त मे उसका सबन्ध इन्द्र-धनुष के साथ भी दीख पडता है। वाजसनेयि सहिता[3] मे गधर्वों की गणना अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और वायु के साथ की गई है। वेदोत्तर-कालीन साहित्य मे मृग-मरीचिका का एक नाम 'गधर्व नगर' भी है।

ऋग्वेद के प्रथम मडल मे गधर्व का सबन्ध सोम के साथ बिठाया गया है। वह सोम के आवास का पहरा देता है और देव-जातियो की देख-भाल करता है[4]। सोम के सभी रूपो का निरीक्षण करता हुआ वह स्वर्ग की नाक पर विराजित है[5]। पर्जन्य और सूर्य की पुत्री के साथ गधर्व सोम का सचय करते है[6]। गधर्व-मुख द्वारा देवता अपना पेय पीते है[7]। मैत्रायणी सहिता कहती है कि गधर्वों ने देवो के लिए सोम रखा, किंतु इसकी चोरी मे आख बचा लेने के कारण उन्हे सोम-पान से बहिष्कृत कर दिया गया। कहना न होगा कि सोम के साथ सबद्ध होने के कारण गधर्व वनस्पतियो का ज्ञाता बन गया है[8]। नि सदेह सोम का सचेत प्रहरी होने के नाते गधर्व को ऋग्वेद मे कलह-प्रिय व्यक्ति के रूप मे पेश किया गया

1 दे० 1 163 2 पृ० 164
ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधिनाके अस्थात् विश्वा रूपा प्रति चक्षाणो अस्य।
भानु शुक्रेण शोचिषा व्यद्यौत् ॥ ऋ० 9 85 12

2 वातो वा मनो वा गन्धर्वा सप्तविंशति।
तेऽअग्रेऽश्वमयुञ्जँस्तेऽ अस्मिञ्जवमादधु ॥ वा० स० 9 7
इद सद्मो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्था पृषती येन याति।
ता गन्धर्वा कश्यपा उन्नयन्ति ता रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ॥ अथ० 13 1 23

3 ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम। वा० स० 18 38
सहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसऽआयुवो नाम। वा०स०18 39
सुषुम्ण सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम।
वा० स० 18 40.
इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापोऽअप्सरसऽऊर्जो नाम। वा० स० 18 41.

4 गन्धर्व इत्था पदमस्य रक्षति पाति देवाना जनिमान्यद्भुत। ऋ० 9 83 4
तयोरिद् घृतवत्पयो विप्रा रिहन्ति धीतिभि। गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे ॥ ऋ०1 22 14

5 भानु शुक्रेण शोचिषा व्यद्यौत् ॥ ऋ० 9 85 12

6 दे० 9 113 3 पृ० 275

7 तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति। अथ० 7 73 3

8 या त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे।
ता त्वा वय खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ अथ० 4 4 1.

है जिसे इन्द्र ने वायुलोक मे भेद दिया था,[1] अथवा जिसे नीचा दिखाने के निमित्त इन्द्र को बुलाया जाता है,[2] क्योकि एक परवर्ती ग्रन्थ मे सोम को सुझाव दिया गया है कि वे श्येन बनकर विश्वावसु गधर्व से आख बचाकर निकल आवें[3]। यह भी आता है कि सोम गधर्वों के मध्य निवास करते थे अथवा उन्हे विश्वावसु गधर्व ने चुरा लिया था। किंतु, चूकि गधर्व स्वभावत स्त्री-लोलुप दीख पडते थे इसलिए वाक-देवी का प्रलोभन देकर उनसे सोम को खरीद लिया गया था[4]। गधर्वों की कलह-प्रियता उनकी पुरानी है, क्योकि अवेस्ता (यस्न 5 38) मे श्वेत 'हओम' के आवास कोउरुकष समुद्र मे वसनेवाले शत्रु गन्दरेव को केरेसास्प ने युद्ध मे पछाड दिया था। इसके अतिरिक्त धनुर्धारी कृशानु भी, जिसने सोम को ले जाते हुए श्येन पर तीर चलाया था,[5] एक गधर्व प्रतीत होता है, क्योकि तैत्तिरीय आरण्यक[6] मे उसे स्पष्ट शब्दो मे गधर्व बताया गया है।

गधर्व का सबन्ध कभी कभी सलिलो के साथ भी हुआ है। जल मे रहनेवाले गधर्व और अप्सरा को यम-यमी का पिता-माता बताया गया है[7]। जल मे उडेला गया सोम 'जलो का गधर्व'[8] है। अप्सरा से सपृक्त गधर्व जल मे रहता है[9]। अवेस्ता मे गन्दरेव गहरे स्थान का स्वामी है और वह जलो मे निवास करता है।

गधर्व और अप्सरा का साहचर्य विवाह-जैसा है। फलत इन दोनो के साह-

---

1 अभि गंधर्वमतृणदबुध्नेषु रज स्वा। इन्द्रो ब्रह्मभ्य इद् वृधे। ऋ० 8 77 5

2 वहुत् कुत्समार्जुनेय शतक्रतु त्सरद् गन्धर्वमस्तृतम्। ऋ० 8 1 11

3 मा गन्धर्वो विश्वावसुरादधच्छ्येनो भूत्वा परा पत यजमानस्य नो गृहे देवै संस्कृतम्। तै० स० 1 2 9 1

4 स्त्रीकामा वै गन्धर्वा। ऐ० ब्रा० 1 27

त सोममाह्रियमाण गन्धर्वो विश्वावसु पर्यमुष्णात् स तिस्रो रात्री परिमुषितोऽवसत्तस्मात्तिस्रो रात्री क्रीत सोमो वसति ते देवा अब्रुवन्स्त्रीकामा वै गन्धर्वा स्त्रिया निष्क्रीणामेति ते वाच स्त्रियमेकहायनी कृत्वा तया निरक्रीणन्।

तै० सं० 6 1 6 5

स्त्रीकामा वै गन्धर्वा। मै० सं० 3 7 3

5 दे० 4 27 3 पृ० 296

6 स्वानभ्राट्। अङ्घारिर्बम्भारि। हस्त सुहस्त। कृशानुर्विश्वावसु। मूर्धन्वान्सूर्यवर्चा कृतिरित्येकादश गन्धर्वगणा। तै० आ० 1 9 3

7 दे० 10 10 4 पृ० 349

8 दे० 9 86.36 पृ० 281

9 दे० अथ० 2 2 3 पृ० 319

जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वा पतयो यूयम्॥ अथ० 4 37 12

चर्य को विवाह मे याद किया जाता है और कहा जाता है कि अविवाहिता युवती का सबन्ध गधर्व, सोम और अग्नि के साथ है[1]। विवाह के पहले-पहले दिनो मे विश्वावसु गधर्व को पति का प्रतिद्वन्द्वी समझा जाता है और परवर्ती पुस्तको मे तो गधर्वों का वनिता प्रणय पूरी तरह खिल उठा है[2]। गधर्व और अप्सराए उर्वरा शक्ति के प्रतीक है और अपत्य-प्रार्थी युगलो के लिए उनकी स्तुति फलदायक है[3]।

परवर्ती साहित्य और महाकाव्यो मे गधर्वों को दिव्य गायक माना गया है। इस मान्यता के लिए ऋग्वेद मे कम सकेत मिलते है[4]।

गधर्वों की शारीरिक बातो के विषय मे ऋग्वेद मे केवल दो या तीन निर्देश मिलते है। वह वायु-केश है[5] और चमचमाते आयुधवाला है[6]। अथर्ववेद के वर्णन कुछ अधिक खिले हुए है। यहा गधर्व को अर्ध-पश्वाकार समझा गया है और उन्हे मनुष्यो के लिए हानिकारक ठहराया गया है। किंतु अन्य स्थलो मे उन्हे रुचिर भी बताया गया है[7]। ऋग्वेद का गधर्व सुरभि-वासित वसन पहनता है[8]। अथर्ववेद[9] कहता है कि पृथिवी का गन्ध गधर्वों तक पहुचता है।

अन्तिम बात से प्रतीत होता है कि गधर्व शब्द की व्युत्पत्ति 'गन्ध' से सभव

1. सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ऋ० 10 85 40
सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो ददग्नये ।
रयिं च पुत्राश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥ ऋ० 10 85 41
2 स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः । मै० स० 3 7 3.
3. गन्धर्वाप्सरसां स्तोमं प्रजाकामो यजेत गन्धर्वाप्सरसो वै मनुष्यस्य प्रजाया वाऽप्रजस्ताया वेशते । पञ्च० ब्रा० 19 3 2
4 दे० 10 177 2. पृ० 353
रपद्गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु मे मनः । ऋ० 10 11 2
5 अपश्यमत्र मनसा जगन्वान् व्रते गन्धर्वाँ अपि वायुकेशान् । ऋ० 3 38 6
6 ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात्प्रत्यङ् चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि ।
वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं स्वर्ण नाम जनत प्रियाणि ॥ ऋ० 10 123 7
7 अध्वर्युर्वरुण आदित्यो राजेत्याह तस्य गन्धर्वा विशस्त इम आसत इति युवान शोभना उपसमेता भवन्ति । शत० ब्रा० 13 4 3 7
अध्वर्यु सोमो वैष्णवो राजेत्याह तस्याप्सरसो विशस्ता इमा आसत इति युवतय शोभना उपसमेता भवन्ति । शत० ब्रा० 13 4 3 8.
8 ऊर्ध्वो गंधर्वो अधि नाके अस्थात् प्रत्यङ् चित्रा बिभ्रदस्यायुधानि ।
वसानो अत्कं सुरभिं दृशेकं स्वर्ण नाम जनत प्रियाणि ॥ ऋ०10 123
9 यस्ते गन्धः पृथिवि सबभूव । य गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे । अथ० 12 1 23

है। किंतु यह व्युत्पत्ति यथार्थ भी हो तब भी इससे गधर्व के मौलिक स्वरूप पर प्रकाश नही के बराबर पडता है। ऋक्-साक्ष्य का सिंहावलोकन करने पर गधर्व के विषय मे अधिक-से-अधिक इतना कहा जा सकता है कि अपने मौलिक स्वरूप मे वह ज्योतिर्मय दिव्य प्राणी था, जिसे कभी-कभी सलिलवासी समझा जाता था और उसकी पत्नी अप्सरा थी। किंतु विद्वानो ने इस विषय मे भांति-भांति की अटकलें लगाई हैं। कुछ विद्वान् गधर्वों को वायवीय आत्मा मानते हैं, और कुछ के मत मे गधर्व इन्द्र-धनुष का प्रतिरूप है, अथवा वह चन्द्रमा की आत्मा है, या सोम है अथवा उदित होता हुआ सूर्य है अथवा मेघो मे बसनेवाला एक आत्मा है।

रक्षा के देवता (§ 49)—

वास्तोष्पति का नाम ऋग्वेद मे केवल 7 बार आता है, और 3 मन्त्रो का एक सूक्त[1] उनकी स्तुति मे कहा गया है। यहा उनसे प्रार्थना की गई है कि वे प्रवेश को अनुकूल बनावें, रोग दूर करें, मनुष्य और पशुओ को अमन-चैन दें, पशु और अश्व दें और सदा हमारी देखभाल करते रहे। इसके बाद आनेवाले सूक्त के प्रथम मन्त्र[2] मे उन्हे रोगनाशक बताया गया है और कहा गया है कि वास्तोष्पति विश्वरूप हैं। एक बार उनका तादूप्य सोम के साथ बिठाया गया है[3]। क्योंकि यहा इन्हे इन्दु शब्द से सूचित किया गया है। विश्वेदेवा सूक्त के एक मन्त्र[4] मे उनका आह्वान त्वष्टा के साथ हुआ है और सभवत: महान् त्वष्टा के रूप मे उनके साथ उनका तादूप्य भी हुआ है। एक अन्य मन्त्र[5] मे उन्हे दृढ-स्तम्भ बताया गया है और सोमसोताओ का असन कहा गया है और इन्द्र के साथ उनका तादात्म्य भी हुआ प्रतीत होता है। दशम मडल के तो एक ही मन्त्र मे उनका उल्लेख आया है। उसमे उन्हे विधानो का अनुपालक बताया गया है और कहा गया है कि उन्हे देवताओ ने प्रार्थना अथवा माया के द्वारा रचा है[6]।

गेल्डनर के अनुसार तात्पर्य यहा रुद्र से है, क्योंकि तैत्तिरीय सहिता[7] मे

---

1. वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान् स्वावेशो अनमीवो भवान। ऋ० 7 54 1
2. अमीवहा वास्तोष्पते विश्वारूपाण्याविशन्। सखा सुशेव एधि न ॥ ऋ० 7 55 1
3. वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो। ऋ० 7 54 2
4. अभि वो अर्चे पोष्यावतो नॄन् वास्तोष्पतिं त्वष्टारं रराण। ऋ० 5 41.8.
5 वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणांसत्र सोम्यानाम्।
द्रप्सो भेत्ता पुरां शश्वतीनामिन्द्रो मुनीनां सखा ॥ ऋ० 8 17 14.
6 पिता यत् स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः सजग्मानो नि षिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् ॥ ऋ० 10 61.7.
7 रुद्रः खलु वै वास्तोष्पतिः। तै० स० 3 4 10 3

वास्तोष्पति रुद्र का एक विशेषण है। यद्यपि वास्तोष्पति का उपर्युक्त अनेक मन्त्रो मे कतिपय देवताओ के साथ तादात्म्य सपन्न हुआ है, फिर भी इस मान्यता के लिए पर्याप्त प्रमाण नही हैं कि वास्तोष्पति मूलत किसी महान् देवता का विशेषण मात्र रहा था, जैसेकि गृहपति अग्नि का एक विशेषण है। गृह्य सूत्रो[1] मे विधान आता है कि नवीन आवास मे प्रवेश करने से पहले वास्तोष्पति को मनाना चाहिए। यह विधान ऋग्वेदीय सूक्त के साथ मिलकर इस तथ्य की ओर निर्देश करता है कि मूलत वास्तोष्पति एक गृह-रक्षक देवता थे और यही तथ्य इस नाम के अर्थ (आवास का स्वामी) से भी झलकता है। इस प्रकार वास्तोष्पति निम्न कोटि के देवो की श्रेणी मे आते है जो देवता आदिम विश्वास के अनुसार वृक्ष, पर्वत आदि प्राकृतिक पदार्थो के अधिष्ठाता थे।

इसी कोटि के दूसरे देवता क्षेत्रस्यपति हैं। ऋग्वेद[2] के प्रथम 3 मन्त्रो मे उनका आह्वान पशु, अश्व प्रदान करने के लिए एव द्यावा-पृथिवी, वनस्पति और सलिलो को मधु-भरित बनाने के लिए किया गया है। विश्वेदेवा के एक सूक्त[3] मे सविता, उषा और पर्जन्य के साथ उनका आह्वान सपत्ति देने के लिए किया गया है। इसी प्रकार के एक और सूक्त[4] मे उपासक यह इच्छा प्रकट करते है कि वे उन्हे पार्श्ववासी (पडौसी) के रूप मे पावें। गृह्यसूत्रो मे उल्लेख मिलता है कि जब खेत जोते जाते हैं तब क्षेत्रपति के लिए यज्ञ किया जाता है और उनकी मिन्नत की जाती है[5]। कृषि देवताओ के एक सूक्त के एक मन्त्र मे सीता का आह्वान

---

1 मध्येऽगारस्य स्थालीपाक श्रपयित्वा वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मानिति चतसृभि प्रत्यृच हुत्वाऽन्न सस्कृत्य ब्राह्मणान्भोजयित्वा शिव वास्तु शिव वास्त्विति वाचयीत। आ० गृ० सू० 2 9 9
वास्तोष्पती ये कर्मणि। शा० गृ० सू० 3 4 1
महाव्याहृतयश्चतस्रो वास्तोष्पत इति तिस्रोऽमीवहा वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणा सौविष्टकृती, दशमी स्थालीपाकस्य चरोर्रात्रौ। शां० गृ० सू० 3 4 8
आज्य सस्कृत्येह रतिरित्याज्याहुती हुत्वा जुहोति। वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्।
पा० गृ० सू० 3 4 7

2 क्षेत्रस्य पतिना वय हितेनेव जयामसि।
गामश्व पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे॥ ऋ० 4 57 1, आदि।

3 शं नो देव सविता त्रायमाण शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
श नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्य श न क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भु॥ ऋ० 7 35 10

4 क्षेत्रस्य पतिं प्रतिवेशमीमहे। ऋ० 10 66 13

5 क्षेत्रस्यानु या त क्षेत्रस्य पतिना वयमिति प्रत्यृच जुहुयाज्जपेद्वा। आ०गृ०सू० 2 10 4
क्षेत्रस्य पतिनेति प्रदक्षिण प्रत्यृच प्रतिदिशमुपस्थानम्। शा०गृ०सू० 4 13 5

आशीर्वाद तथा उपज देने के लिए हुआ है[1]। बाद मे सीता इन्द्र-पत्नी बनकर उभरती है[2]। यह सभवत इसीलिए हुआ हो कि ऋग्वेद मे एक बार इन्द्र को उर्वरापति कहा गया है[3]। सीता का पैतृक नाम सावित्री है[4]। ऊपर निर्दिष्ट सूत्र मे उर्वरा के आशीर्वाद का भी निर्देश आया है।

4 गाथेय पुरोहित और वीर

मनु (§ 50)—

मनु शब्द का प्रयोग ऋग्वेद मे बहुधा 'मनुष्य' के अर्थ मे हुआ है, फलत इस बात मे सदेह हो जाता है कि ऋग्वेद के किन मन्त्रो मे यह शब्द व्यक्तिवाचक सज्ञा बनकर प्रयुक्त हुआ है। व्यक्तिवाचक सज्ञा के रूप मे मनु शब्द का प्रयोग लगभग 20 बार हुआ प्रतीत होता है और इस अर्थ मे उतने ही बार 'मनव' यह शब्द भी आया है। मनु को 5 बार पिता कहा गया है और प्रस्तुत मन्त्रो मे से दो मन्त्रो मे उन्हे 'न पितर' भी बताया गया है[5]। याज्ञिको को मनु-पुत्र कहा गया है[6] और अग्नि मनु के अपत्यो के मध्य निवास करते बताये गये है[7]। मनु यज्ञ के प्रवर्तक थे, क्योकि अग्नि समिद्ध करके 7 पुरोहितो के साथ उन्होने देवो के लिए पहले पहल हविष् प्रदान किया था[8]। मनु-यज्ञ आज के यज्ञ का पूर्व रूप है, क्योकि आधुनिक यज्ञो की तुलना मनु द्वारा किये गये यज्ञो के साथ की गई है[9]। ये तुलनाए बहुधा 'मनुष्वत्' इस क्रिया-विशेषण द्वारा की गई है। याज्ञिक लोग अग्नि को यज्ञ का सपादक बनाते है जैसाकि मनुओ ने किया था[10]। वे मनुओ की भाति

1 अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।
यथा न सुभगाससि यथा न सुफलाससि ॥ ऋ० 4 57 6

2 इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीता सा मे त्वनपायिनी भूयात्। पार० गृ० सू० 2 17 9

3 आ याहीम इन्दवोऽश्वपते गोपत उर्वरापते। सोमं सोमपते पिब ॥ ऋ० 8 21 3
इन्द्र सीता नि गृह्णातु ता पूषानु यच्छतु।
सा न पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरा समाम् ॥ ऋ० 4 57 7

4 अथ ह सीता सावित्री। सोम राजान चकमे। तै० ब्रा० 2 3 10 1

5 यानि मनुरवृणीता पिता न। ऋ० 2 33 13

6 यथा यज्ञ मनुषो विश्वासु। ऋ० 4 37 1 आदि।

7. होता निषत्तो मनोरपत्ये स चिन्न्वासा पतीरयीणाम्। ऋ० 1 68 4

8 येभ्यो होत्रा प्रथमामायेजे मनु समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभि। ऋ० 10 63 7

9 यथा विप्रस्य मनुषो हविर्भिर्देवॉ अयज कविभि कवि सन्। ऋ० 1 76 5

10 नि त्वा यज्ञस्य साधनमग्ने होतारमृत्विजम्।

अग्नि को समिद्ध करते है[1]। मनुओं की तरह वे मनु के द्वारा समिद्ध अग्नि का आह्वान करते है[2]। वे मनुओं की भांति सोम का हवन करते है[3]। सोम से प्रार्थना की गई है कि वे उसी तरह प्रवाहित हो जैसे किसी दिन वे मनु के लिए प्रवाहित हुए थे[4]। मनु ने अग्नि को प्रकाश रूप मे मानव-जात के मध्य स्थापित किया है[5]। मनु का उल्लेख अन्य प्राचीन याज्ञिको के साथ भी आया है, जैसे अगिरस् और ययाति[6], भृगु और अगिरस्[7], अथर्वन् और दध्यच्[8], दध्यच्, अगिरस, अत्रि और कण्व[9]। कहा गया है कि देवताओ[10] ने, मातरिश्वा[11] ने, मातरिश्वा और देवताओ[12] ने और काव्य उशना[13] ने मनु के लिए अग्नि दी या अग्नि को मनु का याज्ञिक बनाया। अन्तिम चार मन्त्रो मे यह शब्द मनुष्य का वाचक प्रतीत होता है।

इन्द्र ने मनु-विवस्वान् अथवा मनु-सावरणि के साथ सोमपान किया[14]

मनुष्वद् देव धीमहि प्रचेतस जीर दूतमर्त्यम् ॥ ऋ० 1 44 11.

1. मनुष्वत् त्वा निधीमहि मनुष्वत् समिधीमहि ।
अग्ने मनुष्वदङ्गिरो देवान् देवयते यज ॥ ऋ० 5 21 1. आदि ।

2 मनुष्वदग्नि मनुना समिद्ध समध्वराय सदमिन्महेम । ऋ० 7 2 3

3 दे० 4.37 3. पृ० 341.

4 यथापवथा मनवे वयोधा । ऋ० 9 96 12.

5 नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते । ऋ० 1 36 19

6 मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत्सदने पूर्ववच्छुचे ।
अच्छ याह्या वहा दैव्य जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम् ॥ ऋ० 1 31 17.

7. दे० 8 43 13 पृ० 235

8 यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमलत ।
तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मत ॥ ऋ० 1 80 16

9. दध्यङ् ह मे जनुष पूर्वो अङ्गिरा प्रियमेध कण्वो अत्रिर्मनुर्विदुस्ते मे पूर्वे मनुर्विदु.। ऋ० 1 139 9.

10 य त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठ हव्यवाहन ।
य कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृत य वृषा यमुपस्तुत ॥ ऋ० 1 36 10.

11. दे० 1 128 2 पृ० 172.

12 दे० 10 46 9 पृ० 172

13 उशना काव्यस्त्वा नि होतारमसादयत् ।
आयजि त्वा मनवे जातवेदसम् ॥ ऋ० 8 23 17.

14 यथा मनौ विवस्वति सोम शक्रापिब सुतम् । बा० खि० 4 1.
यथा मनौ सावरणौ सोममिन्द्रापिबः सुतम् । बा० खि० 3 1.

और वृत्र के साथ भिडने से पहले उसने मनु का सोम पूरे तीन जोहड पी डाला[1]। मनु के लिए पक्षी सोम को लाया[2]। तैत्तिरीय सहिता और शतपथ ब्राह्मण मे बहुत बार मनु का वर्णन धार्मिक अनुष्ठान करनेवाले व्यक्ति के रूप मे आता है।

प्रतीत होता है कि ऋग्वेद ही मे मनु को विवस्वान् का पुत्र माना जाता था क्योकि एक बार[3] उन्हे मनु विवस्वत् कहा गया है। अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण[4] एव वेदोत्तर साहित्य मे मनु का स्थायी पैतृक नाम ही वैवस्वत पड गया है। यम भी विवस्वान् के पुत्र थे और वे मर्त्यों मे सबसे पहले थे। इस प्रकार मनु मानव-जाति के पूर्वज होने के नाते यम के दोहरे रूप है। किंतु मनु पृथिवी पर जीवित मनुष्यो मे सर्वप्रथम हैं, और यम मृत मनुष्यो मे सर्वप्रथम है, और वे दूसरे लोक मे प्रेतात्माओ के राजा बन गये हैं। फलत शतपथ ब्राह्मण[5] मे वैवस्वत मनु को मनुष्यो का शासक और वैवस्वत यम को पितरो का शास्ता बताया गया है। यास्क[6] मनु को विवस्वान् का अर्थात् सूर्य का और सरण्यू की प्रतिनिधिभूत[7] सवर्णा का पुत्र बताते है और उनकी गणना द्यु-स्थानीय दिव्य जनो मे करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण मे *गाथा* आती है कि मनु को एक मत्स्य ने (वेदोत्तर-काल मे विष्णु का अवतार) एक नौका द्वारा सर्वव्यापी जल प्लाव से बचा लिया था। तदुपरान्त हविष् से उत्पन्न अपनी *कन्या इळा* के साथ सभोग करके मनु ने मानव जाति को उत्पन्न किया। जल-प्लाव की कहानी अथर्ववेद तक के प्राचीन युग मे ज्ञात थी और उस सहिता के एक मन्त्र मे इस कहानी की ओर सकेत मिलता है[8]। जल-प्लाव की गाथा अवेस्ता मे भी आती है और हो सकता

1 दे० 5 29 7 पृ० 280

2 अचक्रया यत्स्वधया सुपर्णो हव्य भरन्मनवे देवजुष्टम्। ऋ० 4 26 4

3 दे० वा० खि० 4 1, 3 1 पृ० 360

4 अध्वर्युर्मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। शत० ब्रा० 13.4 3 3

5 अध्वर्युर्मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य मनुष्या विश। शत० ब्रा० 13 4 3 3
अध्वर्युर्यमो वैवस्वतो राजेत्याह तस्य पितरो विश। शत० ब्रा० 13 4 3 6

6 त्वाष्ट्री सरण्यूर्विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार।
स सवर्णामन्या प्रतिनिधायाश्व रूप कृत्वा प्रदुद्राव।
स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूप कृत्वा तामनुसृत्य संबभूव।
ततोऽश्विनौ जज्ञाते। सवर्णाया मनु। नि० 12 10

7 अपागूहन्नमृता मर्त्येभ्य कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद् यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यू॥ ऋ० 10 17 2

8 यत्र नावप्रभ्रशन यत्र हिमवत शिर।
तत्रामृतस्य चक्षण तत कुष्ठो अजायत॥ अथ० 19 39 8

है कि वह भायोरपीय हो। सामान्यतया विद्वानो की धारणा है कि इसका मूल-स्रोत सेमेटिक है किंतु इस प्रकार की धारणा अनावश्यक प्रतीत होती है।

भृगु (§ 51)—

'भृगु' नाम ऋग्वेद मे 21 बार आया है। इसके दो क्रिया-विशेषण रूप 'भृगुवत्' भी मिलते है। यह एकवचन मे केवल एक बार आया है, फलतः प्रतीत होता है कि भृगु नाम गाथेय प्राणियो की एक जाति का बोधक रहा हो। अग्नि-सूक्तो मे भृगुओ का उल्लेख 12 बार हुआ है, जहाकि उनका मनुष्यों तक अग्नि पहुचाने के कार्य से सबन्ध है। मातरिश्वा अग्नि को निधि के रूप मे भृगु के पास लाये थे[1] अथवा भृगुओ के लिए उन्होने निगूढ अग्नि को समिद्ध किया था[2]। मातरिश्वा और देवताओ ने मनु के लिए अग्नि को रचा, जबकि भृगुओ ने अपनी शक्ति से अग्नि का आविर्भाव किया[3]। भृगुओ ने सलिल-शायी अग्नि को खोज निकाला[4]। जलो मे अग्नि की उपासना करके उन्होने अग्नि को आयु अथवा मनुष्य के आवास मे स्थापित किया[5]। भृगुओ ने सुधित मित्र की भाति अग्नि का वनस्पति मे निधान किया[6] अथवा चारुरयि के रूप मे मनुष्यो के मध्य में उसे ला बिठाया[7]। अग्नि भृगुओ की राति अथवा दान हैं[8]। अग्नि को मथ कर भृगुओ ने उसकी स्तुति की[9]। अपने स्तोत्रो द्वारा भृगुओ ने अग्नि को समिध् मे प्रभासित किया[10]। अग्नि को उन्होने पृथिवी की नाभि मे स्थित किया[11]। जब पहले-पहल अथर्वणो ने यज्ञो द्वारा कर्मकाड की स्थापना की तब भृगु लोग अपनी दक्षता से

1. दे० 1.60 1. पृ० 172
2. दे० 3 5 10 पृ० 172.
3. दे० 10 46.9 पृ० 172.
4. इमं विधन्तो अपां सधस्थे। इच्छन्तो धीरा भृगवोऽविन्दन्। ऋ० 10 46 2.
5. इमं विधन्तो अपां सधस्थे द्वितादधुर्भृगवो विक्ष्वायोः। ऋ० 2.4.2.
6. मित्रं न यं सुधितं भृगवो दधुर्वनस्पतावीड्यमूर्ध्वशोचिषम्। ऋ० 6 15 2.
7. दधुष्ट्वा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारुं सुहवं जनेभ्यः।
   होतारमग्ने अतिथिं वरेण्यं मित्रं न शेवं दिव्याय जन्मने॥ ऋ० 1.58.6.
8. रातिं भृगूणामुशिजं कविक्रतुमग्निं राजन्तं दिव्येन शोचिषा। ऋ० 3 2.4.
9. द्विता यदीं कीस्तासो अभिद्यवो नमस्यन्त उपवोचन्त भृगवो मथ्नन्तो दाशा भृगवः। ऋ० 1.127.7
10. त्वां स्तोमेभिर्भृगवो विरुरुचुः। ऋ० 10 122.5
    यमर्मवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे। ऋ० 4.7 1.
11. यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना। ऋ० 1.143 4.

देवताओं के रूप में दीख पड़े[1]। उनका कौशल, जो पहले-पहल अग्नि के उत्पादन में व्यक्त हुआ था, बाद में कला-सामान्य के क्षेत्र में प्रख्यात हो गया क्योंकि उपासक लोग इन्द्र या अश्विनों के लिए उसी प्रकार स्तुति घड़ते हैं जैसेकि भृगुओं ने रथ को घड़ा था[2]।

भृगु एक प्राचीन जाति है; क्योंकि याज्ञिक लोग अपने सोम्य पितरों के रूप में अंगिरस् और अथर्वन् के साथ भृगुओं का भी नाम लेते हैं[3] और वे अग्नि का आह्वान वैसे ही करते हैं जैसेकि भृगुओं, अंगिरसों और मनु ने पहले कभी किया था[4]। इन्द्र से प्रार्थना की जाती है कि वे हमारी स्तुतियों को वैसे ही सुनें जैसे उन्होंने यतियों और भृगुओं की स्तुति को सुना था[5]। वे हमारी उसी प्रकार सहायता करें जैसे उन्होंने यति, भृगु और प्रस्कण्व की सहायता की थी[6]। द्रुह्यु और तुर्वश के साथ भृगुओं का उल्लेख राजा सुदास् के शत्रु के रूप में किया गया है[7]। ऋग्वेद 7.18 के अन्तिम तीन मन्त्रों में उनका नाम किसी वर्ग-विशेष का बोधक होने के रूप में ऐतिहासिक जान पड़ता है। भृगुओं का आह्वान सोम-पान के निमित्त 33 देवताओं के साथ मरुतों, जलों, अश्विनों, उषा और सूर्य के साथ हुआ है[8]। उनकी तुलना सूर्यो के साथ की गई है और कहा गया है कि उन्होंने अपनी सारी ही इच्छाएं पूरी कर ली थीं[9]। एक मन्त्र[10] में उनका संबन्ध एक अज्ञात गाथा के साथ बंधता है जहां उपासक लोग यह मांग करते है कि वे पणियों को उसी प्रकार अपसारित कर दें जैसे भृगुओं ने दानव (मखम्) को अपसारित किया था।

1. यज्ञैरथर्वा प्रथमो वि धारयद् देवा दक्षैर्भृगवः सं चिकित्रिरे। ऋ० 10.92.10
2. एवेदिन्द्राय वृषभाय वृष्णे ब्रह्माकर्म भृगवो न रथम्। ऋ० 4 16.20.
   एतं वां स्तोममश्विनावकर्मातक्षाम भृगवो न रथम्। ऋ० 10.39.14.
3. तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम। ऋ० 10.14.6.
4. दे० 8.43.13. पृ० 235.
5. य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः। ममेदुग्र श्रुधी हवम्। ऋ० 8 6.18.
6. येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ। ऋ० 8 3 9.
7. पुरोळा इत् तुर्वशो यक्षुरासीद् राये मत्स्यासो निशिता अपीव।
   श्रुष्टिं चक्रुर्भृगवो द्रुह्यवश्च सखा सखायमतरद् विषूचोः॥ ऋ० 7.18 6.
8. विश्वैर्देवैस्त्रिभिरेकादशैरिहाद्भिर्मरुद्भिर्भृगुभिः सचाभुवा।
   सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमं पिबतमश्विना॥ ऋ० 8.35 3.
9. कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद् धीतमानशुः। ऋ० 8 3 16.
10. प्र सुन्वानस्यान्धसो मर्तो न वृत तद्वचः।
    अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः॥ ऋ० 9.101.13.

इस प्रकार भृगव पद से ऋग्वेद मे कभी भी वास्तविक विद्यमान पुरोहितो का बोध नही होता, प्रत्युत इस पद से प्राचीन याज्ञिको और पुरखाओ के वर्ग का बोध होता है, जिसके भृगु नेता रहे थे, वैसे ही जैसेकि अगिरा अगिराओ के अथवा वसिष्ठ वसिष्ठो के।

अग्नि के अवतार का और इसके मनुष्यो तक पहुचने का मुख्यत. मातरिश्वा और भृगुओ के साथ सबन्ध रहा है। किंतु जहा मातरिश्वा इसे विद्युत् के रूप मे स्वर्ग से लाते है वहा भृगु इसे लाते नही, प्रत्युत वे इसे पृथिवी पर यज्ञ की स्थापना और प्रसार के निमित्त समिद्ध करते दीख पडते है।

बाद के वैदिक साहित्य मे भृगु एक वर्ग-विशेष के प्रतिनिधिभूत ऋषि के रूप मे आते हैं[1]। वे प्रजापति के वीर्य से स्फुलिंग की भाति उद्भूत होते है और वरुण द्वारा अपनाये जाने के नाते वारुणि इस पैतृक नाम को पाते है[2]। उन्हे स्पष्ट शब्दो मे वरुण का पुत्र बताया भी गया है[3]।

भृगु शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'प्रकाशमान्', क्योकि यह √भ्राज् (प्रकाशित होना) इस धातु से निष्पन्न होता है। बेर्गेन के मत मे भृगु मूलत अग्नि का एक नाम था। कुह्न और बार्थ इस बात से सहमत हैं कि अग्नि के जिस रूप का भृगु प्रतिरूप है वह वास्तव मे विद्युत् है। कुह्न और वेबर अग्निपूजक होने के नाते भृगुओ को ग्रीक फ्लेगुअइ (Phleguai) का तदात्म बताते है।

अथर्वन् (§ 52)—

अथर्वा नाम ऋग्वेद मे 14 बार आता है (3 बार बहुवचन मे)। अथर्ववेद मे भी अनेक बार यह नाम आया है। साधारणतया अथर्वा एक प्राचीन पुरोहित के रूप मे आते है। उन्होने अग्नि को मथकर पुष्कर से निकाला[4] और पुरोहित लोग अथर्वा की तरह अग्नि को मथकर विभासित करते है[5]। अथर्वा द्वारा आवि-

1 भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्या पराभवन्। अथ० 5 19 1
याश्चेमा पूर्वेद्युर्वसतीवर्यो गृह्यन्ते याश्च प्रातरेकधनास्ता भृगुरपश्यत्।
ऐ० ब्रा० 2 20 7

2 यद्द्वितीयमासीत्तद्भृगुरभवत्त वरुणो न्यगृह्णीत तस्मात्स भृगुर्वारुणि।
ऐ० ब्रा० 3 34 1
वरुणस्य वै सुषुवाणस्य भर्गोऽपाक्रामत्स त्रेधाऽपतद् भृगुस्तृतीयमभवच्छ्रायन्तीय तृतीयमपस्तृतीय प्राविशत्। पञ्च० ब्रा० 18 9 1

3 भृगुर्ह वै वारुणि। वरुण पितर विद्यातिमेने॥ शत० ब्रा० 11 6 1 1.

4 त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघत॥ ऋ० 6 16 13

5 इममुत्यमथर्ववदग्निं मन्थन्ति वेधस। ऋ० 6 15 17

भूत अग्नि विवस्वान् का दूत बनता है[1]। अथर्वा ने यज्ञों द्वारा सबसे पहले कर्मकांड को स्थापित किया, जबकि भृगु लोग अपने कौशल द्वारा देवों के रूप में दीख पड़े[2]। यज्ञों द्वारा अथर्वा ने पहले-पहल पथ का विस्तार किया, तदुपरान्त सूर्य का आविर्भाव हुआ[3]। पिता मनु और दध्यञ्च् के साथ अथर्वा ने मन्त्रों का ताना बुना[4]। इन्द्र ने अथर्वा (आथर्वण दध्यञ्च्) का शिरोहरण किया और उसने कूप में गिरे त्रित की और मातरिश्वा के पुत्र दध्यञ्च् की सहायता की[5]। अथर्वा की न्याई अज्ञानी को भस्म करने के लिए रक्षोहा अग्नि का आह्वान किया गया है[6]। अथर्ववेद में पहुंचकर अथर्वा में कुछ नवीन विशेषताएं जुड़ जाती हैं। अथर्वा इन्द्र के लिए एक चमस सोम लाते हैं[7]। वरुण उन्हें एक आश्चर्यमयी धेनु देते हैं[8]। अथर्वा देवों के सखाविद् हैं, वे उनके साथ संबद्ध हैं और वे स्वर्ग में निवास करते हैं[9]। *शतपथ ब्राह्मण[10] में अथर्वा का वर्णन एक प्राचीन अध्यापक के रूप में भी* आता है।

बहुवचन में अथर्वणों की गणना अंगिराओं, नवग्वों और भृगुओं के साथ पितरों में की गई है[11]। वे स्वर्ग में निवास करते और देवता कहाते हैं[12]। वे राक्षसों का ध्वंस करते हैं[13]।

---

1. अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या। भुवद्दूतो विवस्वतः॥
ऋ० 10.21.5.
2. दे० 10.92.10. पृ० 363.
3. यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि। ऋ० 1.83.5.
4. दे० 1.80.16. पृ० 360.
5. दे० 10.48.2. पृ० 173.
6. तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजं येन पश्यसि यातुधानम्।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष॥ ऋ० 10.87.12.
7. *अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते। अथ० 18.3.54.*
8. पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान्पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः। अथ० 5.11.1.
कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम्। अथ० 7.104.1.
9. यो ऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्। अथ० 4.1.7.
10. *दधीच आथर्वणाद् दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा। शत० ब्रा० 14.5.5.22.*
11. दे० 10.14.6. पृ० 363.
12. आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः।
अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ अथ० 11.6.13.
13. त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः॥ अथ० 4.37.1.

ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रो मे अथर्वा शब्द का अर्थ 'पुरोहित' दीख पडता है। एक स्थान पर अथर्वा शब्द एक सूक्त के रचयिता बृहद्दिव का विशेषण है [1]। उस मन्त्र मे यह अग्नि का विशेषण प्रतीत होता है, जिसमे कि एक ऋषि अथर्वा के ऊपर हविष् गिराता दीख पडता है[2]। उन सदर्भो में अथर्वा का अर्थ 'पुरोहित' भी ठीक बैठता है जहा यह आता है कि अथर्वा सोम-मिश्रण करते हैं अथवा एक आश्रयदाता उन्हे 100 गौए दान देता है[3]। अवेस्तिक आथ्रवन् शब्द का अर्थ है— 'अग्नि-पुरोहित' यही अर्थ इस शब्द की व्युत्पत्ति से भी निकलता है, क्योकि आतर् (आथर्) शब्द वैदिक अथर् का समानार्थक है, जोकि अथर्-यु 'ज्वाला-युक्त' (अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है)[4]—शब्द मे भी आता है। यह प्राचीन नाम किसी अर्ध-दिव्य स्वरूप वाली प्राचीन पुरोहित जाति का बोधक रहा होगा जो जाति आगे चलकर अपने नेता अथर्वा के नाम से स्थापित हुई।

दध्यञ्च् (§ 53)—

अथर्वन् के पुत्र दध्यञ्च् का ऋग्वेद मे 9 बार उल्लेख हुआ है और एक अपवाद को छोडकर यह उल्लेख सदा नवम, दशम और प्रथम मडल मे हुआ है। दध्यञ्च् एक ऋषि है, जिन्होने अग्नि को समिद्ध किया था[5]। उनका उल्लेख अथर्वन्, अगिरस्, मनु और अन्य प्राचीन याज्ञिको के साथ आता है[6]।

अश्विनो ने अथर्वन् के पुत्र दध्यञ्च् को अश्व-शिर का दान दिया, तब दध्यञ्च् ने उनके समुख त्वष्टा के मधु (के स्थान) को प्रकट किया[7]। अश्व्य-शिर ने उनके समुख मधु को प्रकट किया[8]। अथर्वन्-पुत्र दध्यञ्च् ने अश्व्य-शिर के द्वारा

---

1 इमा महो बृहद्दिवो विवत्तीन्द्राय शूषमग्रिय स्वर्षा। ऋ० 10 120 8
एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वाऽवोचत् स्वा तन्वमिन्द्रमेव। ऋ० 10 120 9

2 आ नूनमश्विनोर्ऋषि स्तोमं चिकेत वामया।
आ सोमं मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चादथर्वणि॥ ऋ० 8 9 7

3 दश रथान् प्रष्टिमत शत गा अथर्वभ्य। अश्वथ पायवेऽदात्। ऋ० 6 47 24

4 दूरेदृशं गृहपतिमथर्युम्। ऋ० 7 1 1

5 तमु त्वा दध्यङ्ङृषि पुत्र ईधे अथर्वण। ऋ० 6 16 14
दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच। ऋ० 1 116 12
दे० 1 117 22 पृ० 305

6 दे० 1 80 16 पृ० 360
दे० 1.139 9 पृ० 360

7. दे० 1 117 22 पृ० 305

8 युव दधीचो मन आ विवासथोऽथा शिर प्रति वामश्व्यं वदत्। ऋ० 1 119 9.

अश्विनो को मधु-विद्या वताई[1]। अश्विनो ने दध्यञ्च् के मन को पा लेने की इच्छा की। इस गाथा के साथ इन्द्र का भी सबन्ध है, क्योकि कहा गया है कि पर्वतो मे अपश्रित दध्यञ्च् के अश्व्य-शिर को ढूढते-ढूढते इन्द्र ने उसे 'कुरुक्षेनस्थ' शर्यणावत् सर मे पाया और तव उसने दध्यञ्च् की शिरोऽस्थियो द्वारा 99 वृत्रो का वध किया[2]। इन्द्र ने त्रित के लिए अहि के यहा से गौए निकालने के साथ-साथ दध्यञ्च् (और) मातरिश्वा को गोत्र (गो व्रज) दिये[3]। सभवत ये वही गोत्र हैं जिन्हे दध्यञ्च् सोम के द्वारा उद्घाटित करते हैं[4]। यह उल्लेखनीय है कि उस प्राचीनतर मन्त्र मे, जिसमे कि दध्यञ्च् का नाम आया है, वह पुराण यज्ञ-पुरोहित अथर्वा के पुत्र है और स्वय भी अग्नि का समिन्धन करते हैं[5]। नही तो उनका सबन्ध मुख्यतया सोम के गुह्य पद के साथ और गौओ को मुक्ति देते हुए इन्द्र के साथ आता है। अपने अश्व्य-शीर्ष और दध्यञ्च् इस नाम के कारण वे दधिक्रा नामक अश्व से पूर्णतया पृथक् नही हो पाये। दध्यञ्च् का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'दधि की ओर जाने वाला', 'दधि वाला' अथवा 'दधि का इच्छुक'। वेर्गेन के मत मे दध्यञ्च् मूलत सोम से अभिन्न हैं। किंतु दध्यञ्च् के विषय मे किसी निश्चित निर्णय तक पहुचने के लिए पर्याप्त साधन नही मिलता। फिर भी कल्पना की जा सकती है कि दध्यञ्च् मूलत अग्नि के वैद्युत रूप के प्रतिरूप रहे होगे। अश्व्य-शीर्ष इनकी गति की क्षिप्रता का बोधक रहा होगा, और इनकी वाणी स्तनयित्नु रही होगी और इनकी हड्डियो से वज्र अभिप्रेत रहा होगा। सोम के गुप्त आवास के साथ उनका सबन्ध वैसा ही रहा होगा जैसाकि श्येन का दिव्य सोम से है। दध्यञ्च् इस नाम से भी विद्युत् का प्रमन्थनरूप कार्य लक्षित होता है। वेदोत्तरकालीन साहित्य मे यह नाम साधारणतया दधीच् के रूप मे आता है और महाभारत मे कहा गया है कि वृत्र-वध के लिए उपयुक्त वज्र दधीचि की अस्थियो का बना था।

अगिरस् (§ 54)—

यह नाम ऋग्वेद मे लगभग 60 बार आता है। इनमे से दो-तिहाई बार इसका प्रयोग बहुवचन मे हुआ है। अगिरस् के साथ या उससे निष्पन्न शब्द भी

1. दे० 1 116 12 पृ० 366
2. इन्द्रो॑ दधी॒चो अ॒स्थभि॑र्वृ॒त्राण्यप्र॑तिष्कुत । ज॒घान॑ नव॒तीर्नव॑ ॥ ऋ० 1 84 13
इ॒च्छन्नश्व॑स्य॒ यच्छिर॒ः पर्व॑ते॒ष्वप॑श्रितम् । तद् वि॑दच्छर्य॒णाव॑ति । ऋ० 1.84 14
3. दे० 10 48 2 पृ० 173
4. येना॒ नव॑ग्वो द॒ध्यङ्ङ॑पोर्णु॒ते येन॒ विप्रा॑स आपि॒रे । ऋ० 9 108.4.
5. दे० 6 16 14 पृ० 366.

लगभग 30 बार आते हैं। एक सकल सूक्त[1] भी अगिरो-वर्ग की स्तुति मे आया है।

अगिरस् स्वर्ग के सूनु है[2]। वे ऋषि हैं, जो देवो के पुत्र है[3]। एक अगिरस् को उनका पूर्वज माना जाता है, फलत उन्हे अगिरः-पुत्र भी कहा गया है[4]। कवि उन्हे पिता[5], हमारे पिता[6] अथवा हमारे पूर्व्य पिता[7] कहकर पुकारते है। पितरो के रूप में उनका उल्लेख एक बार अथर्वा और भृगुओ के साथ हुआ है[8] और विशेष रूप से उनका सबन्ध यम के साथ है[9]। आम तौर से उनका सबन्ध अन्य देव-गणो के साथ भी है, जैसेकि आदित्य, वसु, मरुत्[10] अथवा आदित्य, रुद्र, वसु और अथर्वा के साथ[11]। उन्हे सोम प्रदान किया जाता है[12] और देवो की तरह उनका

1. ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश ।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानव सुमेधस ॥ ऋ० 10 62 1
2 इमे भोजा अङ्गिरसो विरूपा दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीरा । ऋ० 3 53 7
ऋत शसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीरा ।
विप्र पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथम मनन्त ॥ ऋ० 10 67 2
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाऽद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्त । ऋ० 4 2 15
3 अय नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन ।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानव सुमेधस ॥ ऋ० 10 62 4
4 विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपस ।
ते अङ्गिरस सूनवस्ते अग्ने परि जज्ञिरे ॥ ऋ० 10 62 5
5 य उदाजन् पितरो गोमय वस्वृते नाभिन्दन् परिवत्सरे वलम् । ऋ० 10 62 2
6 वीळु चिद् दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण ।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अह स्वर्विविदु केतुमुस्रा ॥ ऋ० 1 71 2
7 येना न पूर्वे पितर पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन् । ऋ० 1 62 2
8 अङ्गिरसो न पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगव सोम्यास । ऋ० 10 14 6
9 मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधान । ऋ० 10 14 3
इम यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभि पितृभि सविदान । ऋ० 10 14 4
अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व । ऋ० 10 14 5
10 दधिक्रावा प्रथमो वाज्यर्वाऽग्रे रथाना भवति प्रजानन् ।
सविदान उषसा सूर्येणाऽऽदित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभि ॥ ऋ० 7 44 4
अङ्गिरस्वन्ता उत विष्णुवन्ता मरुत्वन्ता जरितुर्गच्छथो हवम् ।
सजोषसा उषसा सूर्येण चाऽऽदित्यैर्यातमश्विना ॥ ऋ० 8 35 14
11 आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाण ।
अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वहस ॥ अथ० 11 6 13
12 त्वमिन्द्रो परि स्रव स्वादिष्ठो अङ्गिरोभ्य । ऋ० 9 62 9

आह्वान भी किया जाता है[1]। वे ब्रह्म नाम के पुरोहित है[2]। उन्होने वनस्पति मे निहित 'शीर' अग्नि को पाया है[3], और ऋत की प्रशसा मे गीत गाते हुए, ऋजु मार्ग पर चलकर यज्ञ के प्रथम धामन् पर मनन किया है[4]। यज्ञ ही के द्वारा उन्होने अमृतत्व का लाभ किया और यज्ञ ही के द्वारा उन्हे इन्द्र की मित्रता प्राप्त हुई[5]।

इन्द्र के साथ अगिराओ का निकट सबन्ध है। उनके लिए इन्द्र ने गौए अपावृत की थी[6]। उनके लिए ही इन्द्र ने गोत्र (व्रज) अनावृत किये थे[7]। उनके लिए ही इन्द्र ने गुप्त गौओ को बाहर निकाला था और वल को मार गिराया था[8]। अगिराओ के साथ इन्द्र ने वल का भेदन किया था[9] और गौओ को बाहर निकाला था[10]। अगिराओ का नेता होने के नाते इन्द्र को दो बार अगिरस्तम भी कहा गया है[11]। सोम ने भी अगिराओ के लिए गोत्र का उद्घाटन किया था[12]। गौओ के घेर खोलने के प्रसग मे अगिराओ का नाम खास तौर से लिया जाता है। उनके द्वारा प्रशसित होकर इन्द्र ने वल का भेदन किया[13], गोत्र को तोड गिराया[14], वल का वध किया और उसके पुरो को तोड गिराया[15] अथवा अन्धकार का निरास किया, पृथिवी को विस्तृत बनाया और स्वर्ग के निचले लोक को स्थापित

---

1 दे० 3 53 7 पृ० 368, 10 62 1 पृ० 368 पूर्ण सूक्त।
2 प्र ब्रह्माणो अङ्गिरसो नक्षन्त प्र क्रन्दनुर्नभन्यस्य वेतु। ऋ० 7 42 1
3. त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने॥ ऋ० 5 11 6
4 दे० 10 67 2 पृ० 368
5. दे० 10 62 1 पृ० 368
6 स विद्वाँ अङ्गिरोभ्य इन्द्रो गा अवृणोदप। स्तुषे तदस्य पौंस्यम्॥ ऋ० 8 63 3
7 त्वं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरपोतात्रये शतदुरेषु गातुवित्। ऋ० 1 51 3
8 उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः।
अर्वाञ्चं नुनुदे वलम्॥ ऋ० 8 14 8
9 भिनद् वलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान्। ऋ० 2 11 20
10 और्वोर्दुरं उस्रियाभ्यो वि दृळ्होद्वर्वाद् गा असृजो अङ्गिरस्वान। ऋ० 6 17 6
11 सो अङ्गिरोभिराङ्गिरस्तमो भूद् वृषा वृषभि सखिभि सखा सन्। ऋ० 1 100 4
व्रज वज्री गवामिव सिषासन्नङ्गिरस्तम। ऋ० 1 130 3
12 सोम गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरप। ऋ० 9 86 23
13 भिनद्वलमाङ्गिरोभिर्गृणान। ऋ० 2 15 8
14 स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणान। ऋ० 4 16 8
15 तव प्रल सत्यमस्तु युष्मे इत्था वदद्भिर्वलमङ्गिरोभि।
हन्नच्युतच्युद् दस्मेषयन्तमृणो पुरो वि दुरो अस्य विश्वा॥ ऋ० 6 18 5

किया[1]। उनका गान अपना निराला है, और इस दृष्टि से विविध रागो वाले मरुतो की तुलना अगिरसो से की गई है[2], और अगिरसो के गीतो द्वारा देवो का यज्ञ मे आह्वान किया गया है[3]। यथार्थ पुरोहितो द्वारा इन्द्र के निमित्त कहे गये सूक्तो की तुलना अगिरसो के सूक्तो से की गई है[4]। गौ सबन्धी गाथा मे तो इन्द्र तक को अगिरसो की अपेक्षा कम महत्त्व का स्थान मिला है। उदाहरण के लिए, कहा गया है कि अगिरसो ने इन्द्र को अपना साथी बनाकर गौओ और अश्वो से भरे घेर को खाली किया था[5]। ऐसे प्रसगो मे इन्द्र को भुला-सा दिया जाता है और उनके वीर कृत्यो का निक्षेप अगिरसो पर हो जाता है। ऋत के सहारे उन्होने गौओ को बाहर निकाला और वल का भेदन किया[6]। ऋत के द्वारा ही उन्होने सूर्य को आकाश मे आरूढ किया और माता पृथिवी को प्रथित बनाया[7]। ऋत के द्वारा उन्होने अद्रि का भेदन किया और गौओ के साथ आनन्द की ध्वनि की[8]। गाते हुए उन्होने गौए प्राप्त की[9]। उन्होने अपने उक्थो के बल से परिवृढ अद्रि का भेदन किया, हमारे लिए आकाश-मार्ग का निर्माण किया, और दिन के प्रकाश को एव गौओ को प्राप्त किया[10]। अगिराओ का सबन्ध इन्द्र के साथ उस प्रसग मे फिर आता है जहा इन्द्र के कहने पर सरमा गौओ की खोज मे पणियो की खोहो मे पहुचती है[11]। वहा सरमा गौओ का पता चलाने मे इन्द्र और अगिराओ की

---

1 गृणानो अङ्गिरोभिर्दस्म वि वरुषसा सूर्येण गोभिरन्धं ।
वि भूम्या अप्रथय इन्द्र सानु दिवो रज उपरमस्तभाय ॥ ऋ० 1 62 5

2 आपो न निम्नैरुदभिर्जिगत्नवो विश्वरूपा अङ्गिरसो न सामभि । ऋ० 10 78 5

3 उप नो देवा अवसा गमन्त्वङ्गिरसा सामभि स्तूयमाना । ऋ० 1 107 2

4 प्र मन्महे शवसानाय शूषमाङ्गूषं गिर्वणसे अङ्गिरस्वत् । ऋ० 1 62 1

5 इन्द्रेण युजा नि सृजन्त वाघतो व्रज गोमन्तमश्विनम् । ऋ० 10 62 7

6 य उदाजन् पितरो गोमय वस्वृतेनाभिन्दन् परिवत्सरे वलम् । ऋ० 10 62 2

7 य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन्पृथिवीं मातर वि । ऋ० 10 62 3

8 ऋतेनाद्रिं व्यसन् भिदन्त समङ्गिरसो नवन्त गोभि । ऋ० 4 3 11

9 प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्य शवसानाय साम ।
येना न पूर्वे पितर पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन् ॥ ऋ० 1 62 2

10 वीळु चिद् दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण ।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अह स्वर्विविदु केतुमुस्रा ॥ ऋ० 1.71 2

11 एह गमन्नृषय सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वा ।
त एतमूर्व वि भजन्त गोनामथैतद्वच पणयो वमन्नित् ॥ ऋ० 10 108 8
नाह वेद भ्रातृत्व नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोरा ।
गोकामा मे अच्छदयन् यदायमपात इत पणयो वरीय ॥ ऋ० 10 108 10

सहायता करती है[1]। अकेले अगिराओ के लिए भी कहा गया है कि उन्होने पणि से गौएं और अश्व छीन लिये[2]। उसी गाथा के सबन्ध मे बृहस्पति के लिए भी—जब कि वे अद्रि का भेदन करते, गौओ को पकडते अथवा भग की तरह गौओ का दान करते हैं—अगिरस् शब्द का विशेषण की तरह प्रयोग आया है[3]।

जब बृहस्पति गौओ को छुडाते और इन्द्र के साथ सलिलो को प्रवाहित करते है, तब उन्हे भी अगिरस् कहकर पुकारा गया है[4]। किंतु एकवचन मे प्रयुक्त अगिरस् शब्द प्राय. सर्वत्र अग्नि का प्ररोचक है। अग्नि पहले अगिरस् ऋषि है[5], वे पूर्व्य अगिरस् हैं[6], वे अगिरसो मे अधिक प्राचीन एव प्रेरणा-सपन्न हैं[7]। अग्नि को अनेक बार अगिरस्तम अर्थात् प्रधान अगिरस् भी बताया गया है[8]। यह पद एक या दो बार इन्द्र, उपस् और सोम के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। कभी-कभी *अगिरस् शब्द एक प्राचीन पुरोहित का बोधक होता है और ऐसे स्थलो पर अग्नि का* सबन्ध नही रहता। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद[9] मे आई पूर्वजो की गणना मे पूर्व अगिरस् का उल्लेख हुआ है अथवा उन स्थलो पर भी अगिरस् से अग्नि का बोध नही होता जहा सदर्भ से यह प्रकट होता है कि अगिरस्वत् पद से 'अगिरस् की तरह' इतना मात्र अभिप्रेत है[10]। एक मन्त्र मे कवि प्रार्थना करता है कि 'हे

1 इन्द्रस्याङ्गिरसा चेष्टौ विद सरमा तनयाय धासिम्। ऋ० 1 62 3
विदद् गव्यं सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु कं मानुषी भोजते विट्। ऋ० 1 72 8

2 आदङ्गिरा प्रथम दधिरे वय इद्धाग्नय शम्या ये सुकृत्यया।
सर्वं पणे समविन्दन्त भोजनमश्वावन्त गोमन्तमा पशु नर ॥ ऋ० 1 83 4

3 बृहस्पतिर्वं उभया न मृळात्। ऋ० 10 108 6
बृहस्पतिर्वा अविन्दन्निगूळ्हा सोमो ग्रावाण ऋषयश्च विप्रा। ऋ० 10 108 11
यो अद्रिभित्प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्। ऋ० 6 73 1
स गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भग इवेदर्यमण निनाय। ऋ० 10 68 2

4 गवा गोत्रमुदसृजो यदङ्गिर। ऋ० 2 23 18

5 त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषि। ऋ० 1 31 1

6 रेभदत्र जनुषा पूर्वो अङ्गिरा। ऋ० 10 92.15

7. यजिष्ठ त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसा विप्र मन्मभि। ऋ० 1 127.2
वेपिष्ठो अङ्गिरसा यद्ध विप्र। ऋ० 6 11 3

8 अधा ते अङ्गिरस्तमाग्ने वेधस्तम प्रियम्। वोचेम ब्रह्म सानसि। ऋ० 1 75 2

9 दध्यङ् ह मे जनुष पूर्वो अङ्गिरा प्रियमेध कण्वो अत्रिर्मनुर्विदुस्ते मे पूर्वे मनुर्विदु। ऋ० 1 139 9

10. प्रियमेधवदत्रिवज् जातवेदो विरूपवत्।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्॥ ऋ० 1 45 3

शुचि अग्नि ! तू हमारे सदन मे पधार, जैसे तू हे अगिर, मनुग्रो और अगिराग्रो के सदनो मे आया करता था[1] ।' ऋग्वेद-अनुक्रमणी मे प्राप्त परपरा के अनुसार, हो सकता है कि अगिरसो को यथार्थ पुरोहित-कुल का माना जाता रहा हो, क्योकि नवम मडल की रचना इसी कुल के ऋषियो द्वारा की गई है। अथर्वागिरस् समास मे भी पुरोहित कुल से ही तात्पर्य प्रतीत होता है। अथर्वागिरस् पद को अथर्ववेद के नाम के रूप मे स्वय उसी वेद मे[2] और बाद के साहित्य मे[3] अपना लिया गया है।

इन सब बातो पर दृष्टि डालते हुए कहा जा सकता है कि अगिरस् मूलत देवताओ और मनुष्यो के बीच की कोई अभिजात जाति रही होगी। अगिरा अग्नि के परिचर रहे होगे[4] और उनका पुरोहित-रूप मे परिवर्तन उनके परवर्ती विकास का परिणाम रहा होगा। सभवत वे स्वर्ग की दूत—अग्नि-ज्वालाओ के मानवीकरण रहे हो। यही निष्कर्ष अगिरस् शब्द की निष्पत्ति से भी झलकता है, जिसका कि दूतवाचक ग्रीक शब्द अङ्गेलोस के साथ तादात्म्य प्रत्यक्ष है, किंतु वेबर के मत मे अगिरस् मूलत भारत-ईरानी काल के पुरोहित थे।

विरूप (§ 55)—

अगिरसो से बहुत-कुछ मिलते-जुलते 'विरूप' है। विरूप का बहुवचन मे 3 बार उल्लेख हुआ है। अगिरा और विरूप स्वर्ग के पुत्र है[5]। विरूपा गभीरवेपस् विप्र है, वे अगिरस् के तनय है और असुर के वीर है। वे स्वर्ग से और अग्नि से उत्पन्न हुए है[6]। विरूप शब्द का प्रयोग एक बार एक व्यक्ति-विशेष के नाम की तरह भी आया है, जो ऋग्वेद के अष्टम मडल के 75वें सूक्त मे अग्नि की गुण-गरिमा

---

1 मनुष्वदग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत् सदने पूर्ववच्छुचे।
अच्छ याह्या वहा दैव्य जनमा सादय बर्हिषि यक्षि च प्रियम्॥ ऋ० 1 31 17

2 सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भ त ब्रूहि कतम स्विदेव स।
अथ० 10 7 20

3 य एव विद्वानथर्वाङ्गिरसोऽहरह स्वाध्यायमधीते। शत० ब्रा० 11 5 6 7.

4. अच्छा द्यामरुषो धूम एति स दूतो अग्न ईयसे हि देवान्। ऋ० 7 3 3

5 इमे भोजा अङ्गिरसो विरूपा दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीरा।
विश्वामित्राय ददतो मघानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयु॥ ऋ० 3 53 7.

6 सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानव सुमेधस। ऋ० 10 62 4.
विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपस।
ते अङ्गिरस सूनवस्ते अग्ने परि जज्ञिरे॥ ऋ० 10 62 5
ये अग्ने परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।
नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तम सचा देवेषु मंहते॥ ऋ० 10 62 6

का वर्णन करता हुआ छठे मन्त्र मे अभिद्यु एव वृषन् अग्नि[1] का स्तवन करता है। 'विरूपवत्' इस क्रिया-विशेषण मे विरूप शब्द एकवचनार्थक लिया जा सकता है, जैसा कि उसी मन्त्र मे अगिरस्वत् के साथ-साथ प्रियमेधवत्, अत्रिवत् इन प्रयोगो से सूचित होता है[2]। एक वार एक मन्त्र मे[3] यम को अगिरसो के साथ न्योता गया है, उसी मन्त्र मे विरूप शब्द का पैतृक रूप 'वैरूप' भी आया है। बहुसख्यक प्रयोगो मे इस शब्द का अर्थ होता है 'विविध रूपो वाला'। उस अवस्था मे इसका एक विशेषण की तरह प्रयोग होता है। किंतु जब यह नाम के रूप मे आता है तब इसका हमेशा ही 'अगिरस्' इस पद के साथ प्रयोग होता है। फलतः सभव है कि मूलत विरूप पद अगिरस् का ही विशेषण रहा हो।

नवग्व—

नवग्वो का नाम ऋग्वेद मे कुल मिलाकर 14 वार आता है। उनमे से 6 वार यह अगिरसो के साथ आता है। नवग्वो को अगिरसो, अथर्वणो और भृगुओ के साथ 'हमारे पूर्व्य पिता'[4] या 'हमारे पिता' कहा गया है[5]। अगिरसो की भाति इनका भी इन्द्र, सरमा, पणि और गौओ की गाथा से सबन्ध जुडा हुआ है[6]। इन्द्र ने नवग्वो को सखा के रूप मे साथ लेकर गौओ को खोजा[7]। सुत-सोम-नवग्व अपने भजनो द्वारा इन्द्र को सराहते हुए कठोर श्रम करके गौओ के घेर को अपावृत करते हैं[8]। एक सूक्त[9] मे कहा गया है कि वे सवन-पाषाणो से उठने

1 तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया। वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्। ऋ० 8 75 6

2 प्रियमेधवदत्रिवज् जातवेदो विरूपवत्।
अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम्॥ ऋ० 1 45 3

3 अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्त हुवे य पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्य॥ ऋ० 10 14 5

4 तमु न पूर्वे पितरो नवग्वा सप्त विप्रासो अभि वाजयन्त। ऋ० 6 22 2

5 दे० 10 14 6 पृ० 363

6 दे० 1 62 3 पृ० 371, 1 62 4 पृ० 374
अनूनोदत्र हस्तयतो अद्रिरार्चन्येन दश मासो नवग्वा। ऋ० 5 45 7
दे० 10 108 8 पृ० 370

7 सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
सत्य तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वै सूर्य विवेद तमसि क्षियन्तम्॥ ऋ० 3 39 5

8. नवग्वास सुतसोमास इन्द्र दशग्वासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः।
गव्य चिदूर्वमपिधानवन्त त चिन्नर शशमाना अप व्रन्॥ ऋ० 5 29 12

9 दे० 5 45 7 ऊपर।

वाली तालयुक्त ध्वनि के रूप मे दस महीने तक स्तवन करते रहे। इसी मन्त्र पर नवग्व की व्याख्या करते हुए सायण लिखते हैं 'नव मास पर्यन्त, गौओ के लिए अनुष्ठान करने वाले अथवा नौ गौओ वाले'। बहुवचन मे आये प्रयोगो मे से दो स्थलो पर नवग्व शब्द विशेषण बनकर आया है। इनमे से एक स्थल पर यह अग्नि की भाम अर्थात् रश्मियो का विशेषण है। जहा सायण के अनुसार इसका अर्थ 'नूतन-गमना'[1] यह है। 3 बार इसका प्रयोग एकवचन मे हुआ है। जहा यह अगिरस्[2] एव दध्यञ्च्[3] का विशेषण प्रतीत होता है। इसका प्रतीयमान अर्थ है—नव (के समूह) मे जानेवाला। बहुवचन मे सभवत. यह प्राचीन नव पुरोहितो के वृन्द का वाचक रहा हो।

दशग्व—

'दशग्व' शब्द ऋग्वेद मे 7 बार आया है। इनमे से 3 बार यह एकवचन मे आया है और केवल 2 बार नवग्व के बिना आया है। दशग्व लोग याज्ञिको मे प्रथम थे[4]। इन्द्र ने अपने सखा नवग्वो के साथ गौए ढूढी और 10 दशग्वो के साथ अन्धकार मे परिविष्ट सूर्य को प्राप्त किया[5]। नवग्वो और दशग्वो के साथ इन्द्र ने मन्त्रो द्वारा अद्रि और वल का भेदन किया[6]। नवग्व और दशग्व इन्द्र की वन्दना करते और गौओ के घेरे को अपावृत करते है[7]। उषाए नवग्व अगिरा पर और सप्तास्य दशग्व पर धन-सपन्न होकर खिलती है[8]। नवग्व के साथ उल्लिखित दशग्व को एक बार अगिरस्तम अर्थात् अगिरसो का प्रधान बताया

धियं वो अप्सु दधिषे स्वर्षां ययातरन् दश मासो नवग्वाः। ऋ० 5 45 11

1 वि ते विष्वग् वातजूतासो अग्ने भामासः शुचे शुचयश्चरन्ति।
तुविम्रक्षासो दिव्या नवग्वा वना वनन्ति धृषता रुजन्तः॥ ऋ० 6 6 3

2 येना नवग्वे अङ्गिरे दशग्वे सप्तास्ये रेवती रेवदूष। ऋ० 4 51 4
ये अग्ने परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।
नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते॥ ऋ० 10 62 6

3. येना नवग्वो दध्यङ्ङपोर्णुते येन विप्रास आपिरे। ऋ० 9 108 4

4 ते दशग्वाः प्रथमा यज्ञमूहिरे। ऋ० 2 34 12

5 सखा ह यत्र सखिभिर्नवग्वैरभिज्ञ्वा सत्वभिर्गा अनुग्मन्।
सत्यं तदिन्द्रो दशभिर्दशग्वैः सूर्यं विवेद तमसि क्षियन्तम्॥ ऋ० 3 39 5

6 स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रैः स्वरेणाद्रिं स्वर्यो३ नवग्वैः।
सरण्युभिः फलिगमिन्द्र शक्र वलं रवेण दरयो दशग्वैः॥ ऋ० 1.62 4

7 दे० 5 29 12 पृ० 373

8 दे० 4 51 4 ऊपर।

गया है[1]। एक स्थान पर आया है कि इन्द्र ने दशग्व अध्रिगु की, अन्धकार को कंपाने वाले सूर्य की, और समुद्र की सहायता की थी[2]। नवग्व और दशग्व में संख्या की दृष्टि से केवल एक अंक का भेद है। फलतः प्रतीत होता है कि दशग्व का निर्माण नवग्व ही के ढांचे पर हुआ होगा।

सप्तर्षि—

वेद में पुराण-ऋषियों का उल्लेख एक निर्धारित संख्या के वर्ग में सप्तर्षि के रूप में किया गया है। ऋग्वेद में इनका उल्लेख केवल 4 बार आया है। एक कवि उन्हें 'नः पितरः सप्त ऋषयः' बताता है[3]। वे दिव्य हैं[4]। एक मन्त्र[5] में 'पूर्वे सप्त ऋषयः' के रूप में वे देवताओं के साथ ब्रह्मजाया (जुहू) के विषय में विचार करते है और कहते हैं कि उसकी तपस्या का बल उसे परम व्योम में टिकाये हुए है। 7—यह संख्या ऋग्वेद के द्वितीय मंडल के प्रथम सूक्त के द्वितीय मन्त्र में[6] गिनाये 7 पुरोहितों की संख्या के अनुकरण पर अपना ली गई होगी। शतपथ ब्राह्मण में इनमें से प्रत्येक के लिए व्यक्तिगत नाम दिया गया है, और इस प्रकार वहां इनका व्यक्तित्व निखर आया है[7]। उसी ब्राह्मण में[8] उन्हें ऋक्ष-नक्षत्र-मंडल के तारे बताया गया है और कहा गया है कि मूलतः वे ऋक्ष थे। यह तादात्म्य अंशतः दोनों की संख्या में ऐक्य के कारण और अंशतः ऋषि और ऋक्ष इन शब्दों में ध्वनि-साम्य के कारण उद्भूत हुआ प्रतीत होता है। ऋक्ष शब्द के ऋग्वेद में तारा[9] और भालू[10] ये दोनों अर्थ होते है। संभवतः वहां भी इन्हीं प्राचीन याज्ञिकों की ओर इशारा रहा

1. दे० 10.62.6. पृ० 372.
2. येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम्। येना समुद्रमाविथा तमीमहे ॥ ऋ० 8.12 2.
3. अस्माकमत्र पितरस्त आसन्त्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने। ऋ० 4.42.8.
4. सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः। ऋ० 10.130.7.
5. देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥ ऋ० 10.109.4.
6. तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्ट्रं त्वमग्निदृतायतः।
तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे ॥ ऋ० 2.1.2.
7. इमावेव गोतम भरद्वाजौ। अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजइमावेव विश्वामित्र-जमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिः ॥ शत० ब्रा० 14.5.2.6.
8. सप्तर्षीन्नु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते। शत० ब्रा० 2.1.2.4.
9. अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद् दिवेयुः। ऋ० 1.24.10.
10. ऋक्षो न वो मरुतः शिमीवाँ अमो दुध्रो गौरिव भीमयुः। ऋ० 5.56.3.

हो, जहा 7 विप्र नवग्वो के साथ शविष्ठ की स्तुति करते है[1] और यही बात लागू होती है वहा भी जहा 7 होताओ के साथ समिद्धाग्नि मनु ने देवताओ के लिए सर्वप्रथम हविष् प्रदान किया था[2]। इसी प्रकार 'दिव्या होतारा' भी—जिनका ऋग्वेद मे लगभग 12 बार उल्लेख आता है—दो पुरोहितो के दिव्य रूप प्रतीत होते है।

अत्रि (§ 56)—

ऋग्वेद मे प्रायश उल्लिखित प्राचीन ऋषियो मे से एक अत्रि है। यह नाम वेद मे लगभग 40 बार एकवचन मे आता है और अत्रि के वशजो का बोधक बनकर बहुवचन मे 6 बार आया है। अत्रि को पाञ्चजन्य ऋषि बताया गया है[3], और इनका उल्लेख दध्यञ्च, अगिरस्, प्रियमेध, कण्व, एव मनु के साथ हुआ है, जिनके विषय मे दिवोदास पुत्र परुच्छेप कहता है कि वे सब उसके जनुष् अर्थात् जन्म के विषय मे जानकारी रखते हैं[4]। अग्नि ने अत्रि की, प्रियमेध की, विरूप की, अगिरस् की, एव प्रस्कण्व की पुकार को सुना[5] और भरद्वाज, गविष्ठिर, कण्व, त्रसदस्यु और अत्रि की आहव मे सहायता की[6]। इन्द्र तक ने कर्मिष्ठ अत्रि की स्तुति को सुना[7], अगिरस् के लिए गौओ के घेर को अनावृत किया और शतद्वार यन्त्र मे फसे अत्रि के लिए बचने का मार्ग बनाया[8]। इतना होते हुए भी अत्रि मुख्यत अश्विनो के आश्रित प्रतीत होते हैं और उनकी अपनी गाथाओ का सबन्ध अश्विनो के साथ जुडा हुआ है। अश्विनो ने ही अत्रि को गाढ अन्धकार

---

1 तमु नु पूर्वे पितरो नवग्वा सप्त विप्रासो अभि वाजयन्त।
नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाच मतिभि शविष्ठम्॥ ऋ० 6 22 2
धीळौ सतीरभि धीरा अतृन्दन् प्राचा हिन्वन् मनसा सप्त विप्रा। ऋ० 3 31 5
अधा मातुरुषस सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्। ऋ० 4 2 15

2 दे० 10 63 7 पृ० 359

3 ऋषिं नरावंहस पाञ्चजन्यमृबीसादत्रिं मुञ्चथो गणेन।
मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्वं वृषणा चोदयन्ता॥ ऋ० 1 117 3

4 दे० 1 139 9 पृ० 371

5 दे० 1 45 3 पृ० 371

6 त्वामिदत्रिं भरद्वाज गविष्ठिर प्रावश कण्व त्रसदस्युमाहवे।
त्वामग्निं वसिष्ठो हवते पुरोहितो मृळीकाय पुरोहित॥ ऋ० 10 150 5

7 श्यावाश्वस्य सुन्वतस्तथा शृणु यथाशृणोरत्रे कर्माणि कृण्वत। ऋ० 8.36 7.

8 त्वं गोत्रमङ्गिरोभ्योऽवृणोरपोतात्रये शतदुरेषु गातुवित्।
ससेन चिद् विमदायावहो वस्वाजावद्रिं वावसानस्य नर्तयन्॥ ऋ० 1 51 3

मे से निकाला था[1]। पाञ्चजन्य अत्रि को उन्होने उसके अनुयायियो समेत गर्त मे से उभारा था[2] और पापात्मा दस्यु की माया को ध्वस्त किया था[3]। जिस गर्त मे से अश्विनो ने अत्रि को उभारा था, वह अग्नि से भभक रहा था। उन्होने उसकी भभक को शान्त किया और अत्रि को जीवट ऊर्ज (पेय) प्रदान किया[4]। उन्होने भभकते ऋबीस अथवा अग्नि-कुड को अत्रि के लिए उसकी रक्षा करनेवाला बना दिया[5]। वे मधुर स्तुति करनेवाले अत्रि के लिए अग्नि की तपिश को शान्त करते हैं[6]। उन्होने गर्मी से कुम्हलाये अत्रि को राहत दी[7]। उन्होने अत्रि के लिए आग को ठडा किया[8] और ज्वलन्त घर्म को उनके लिए सेव्य बना दिया[9]। एक स्थान पर कहा गया है कि उन्होने ऋतजूर्, अर्थात् यज्ञादि करते-करते जीर्ण हुए अत्रि को फिर से नव बना दिया[10]।

एक सूक्त मे आता है कि अत्रि ने स्वर्भानु नामक दैत्य की माया को नष्ट किया और व्रत विरोधी अन्धकार मे फसे सूर्य को प्राप्त किया, और जगत् के इस नेत्र को द्युलोक मे स्थापित किया[11]। इसी मन्त्र के ठीक बाद आये नवम

1. अत्रिं न महस्तमसोऽमुमुक्तम्। ऋ० 6 50 10
निरंहसस्तमस स्पर्तमत्रिम्। ऋ० 7 71 5
2 अत्रिर्यद्वामवरोहन्नृबीसम्। ऋ० 5.78 4
ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतमुन्निन्यथु सर्वगण स्वस्ति। ऋ० 1 116 8
3 दे० 1 117 3 पृ० 376
4 हिमेनाग्निं घ्रंसमवारयेथा पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्। ऋ० 1 116 8
युवमग्नयेऽवनीताय तप्तमूर्जमोमानमश्विनावधत्तम्।
युव कण्वायापिरिप्ताय चक्षु प्रत्यधत्त सुष्टुति जुजुषाणा॥ ऋ० 1 118 7
5 युव ह रेभ वृषणा गुहा हितमुदैरयत ममृवासमश्विना।
युवमृबीसमुत तप्तमत्रय ओमन्वन्त चक्रथु सप्तवध्रये॥ ऋ० 10 39 9
अर्वन्तमत्रये गृह कृणुत युवमश्विना। अन्ति षद् भूतु वामव। ऋ० 8 73.7.
6 वरेथे अग्निमातपो वदते वल्ग्वत्रये। ऋ० 8 73 8
7 अग्निरत्रिं घर्म उरुष्यदन्त। ऋ० 10 80 3
8. युव रेभ परिषूतेरुरुष्यथो हिमेन घर्म परितप्तमत्रये। ऋ० 1 119 6
उप स्तृणीतमत्रये हिमेन घर्ममश्विना। ऋ० 8 73 3
9 याभि शुचन्ति धनसा सुषसद तप्त घर्ममोम्यावन्तमत्रये। ऋ० 1 112 7.
10 त्य चिदत्रिमृतजुरमर्थमश्व न यातवे।
कक्षीवन्त यदी पुना रथ न कृणुथो नवम्॥ ऋ० 10 143 1.
त्यं चिदश्वं न वाजिनमरेणवो यमत्नत।
दृळ्ह ग्रन्थिं न वि ष्यतमत्रिं यविष्ठमा रज॥ ऋ० 10 143 2.
11 स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्।

मन्त्र[1] मे कहा गया है कि इस महान् कार्य को अत्रियो ने ही पूरा किया था। अथर्ववेद मे भी अत्रि द्वारा सूर्य की प्राप्ति और उसकी आकाश मे स्थापना का उल्लेख मिलता है[2]। शतपथ ब्राह्मण[3] मे अत्रि एक पुरोहित है, जिन्होने अन्धकार को दूर किया था और जो स्वय वाक् से उत्पन्न हुए थे[4]। वाक् के साथ अत्रि के तादात्म्य का भी उल्लेख मिलता है[5]।

अत्रि का बहुवचन-रूप नियमत. ऋग्वेद के एक सूक्त के अन्तिम मन्त्रों मे अथवा अन्त के किसी मन्त्र मे आता है। ऐसे स्थलो पर 'अत्रयः' पद से सूक्त के निर्माता ऋषियो के कुल का बोध होता है[6]। ऋग्वेद के समग्र पञ्चम मण्डल को अत्रि-कुलोत्पन्न ऋषियो की रचना माना जाता है। एकवचन या बहुवचन में आनेवाले अत्रि शब्द के समस्त प्रयोगो मे से 1.4 का प्रयोग उसी मण्डल मे मिलता है।

अत्रि शब्द की सभवत भक्षणार्थक √अद् धातु से निष्पत्ति हुई है, क्योकि इसका सधातुक 'अत्रिन्' शब्द राक्षसो का विशेषण बनकर सभवतः इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। स्वय अत्रि शब्द का भी एक बार सभवतः इसी 'भक्षण' अर्थ मे अग्नि के विशेषण की तरह प्रयोग हुआ है[7]। वेर्गेन के मत मे यद्यपि अत्रि नाम के एक पुरोहित हो गुज़रे है, तथापि मूलत. वे अग्नि के रूप-विशेष के ही एक प्रतिरूप थे। ऋग्वेद मे 4 बार अत्रि नाम के साथ सप्तवध्रि यह शब्द आता है। सप्तवध्रि अश्विनो के आश्रित है, और अश्विनो से प्रार्थना की गई है कि वे सप्तवध्रि को बन्धन

गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणा विन्ददत्रिः ॥ ऋ० 5.40 6.
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरप माया अघुक्षत् । ऋ० 5 40 8.

1. यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् नह्य१न्ये अशक्नुवन् ॥ ऋ० 5 40.9.

2 त्रिपुश्चित्तं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः ।
स्रुताद्यमत्त्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परि यान्तमाजिम् ॥ अथ० 13.2 4
दिवि त्वात्रिरधारयत्सूर्या मासाय कर्तवे । अथ० 13.2.12.
उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः ॥ अथ० 13 2.36.

3. अत्रिर्वा ऋषीणां होता सा॒ऽथैतत्सदोऽसुरतमसमभि पुप्रुवे त ऋषयोऽत्रिमब्रुवन्नेहि प्रत्यङ्ङिदं तमोऽपजहीति स एतत्तमोऽपाहन् । शत० ब्रा० 4 3.4.21.

4. अत्रैव त्याऽत्रिरिति ततोऽत्रिः संबभूव तस्मादप्यात्रेय्या योषितैनस्व्येतस्यै हि योषायै वाचो देवताया एते सम्भूताः । शत० ब्रा० 1.4 5 13.

5 वागेवात्रि. । शत० ब्रा० 14 5.2 6

6. तम्मा उ मक्षंगाहसे गिरो वर्धन्त्यत्रयो गिरः शुम्भन्त्यत्रयः । ऋ० 5 39 5

7. अत्रिमनु स्वराज्यमग्निमुक्थानि वावृधुः । ऋ० 2 8.5.

से छुड़ावें[1]। साथ ही यह भी आया है कि सप्तवध्रि ने अग्नि की लपटों को अपनी स्तुति से प्रदीप्त किया था[2]। अग्नि और सप्त-वध्रि के लिए अश्विनो ने ज्वलन्त गर्त को सह्य बनाया था[3]। फलत. ये दोनो ऋषि सभवत. एक थे।

कण्व आदि (§ 57)—

एक प्राचीन ऋषि-विशेष एव कण्वकुल के अर्थ मे 'कण्व' शब्द ऋग्वेद मे लगभग 60 बार आता है। इसके एकवचन और बहुवचन के रूप लगभग समान-संख्यक है। कण्व को नृषद् का पुत्र बताया गया है[4] और इनका पैतृक नाम नार्षद मिलता है[5]। एक बार इनका उल्लेख मनु और अगिरस् जैसे प्राचीन पुरखाओ के साथ भी आया है[6]। देवताओ ने मनु के लिए अग्नि का आधान किया और मेध्यातिथि कण्व ने धनस्पृत् अग्नि का आधान किया। कण्व ने ऋत से अग्नि को समिद्ध किया और तव अग्नि ने कण्व को सौस्य प्रदान किया[7]। अग्नि ने कण्व तथा अत्रि, त्रसदस्यु और अन्यो की युद्ध मे सहायता की। अग्नि को कण्वो का मित्र और उनका प्रमुख बताया गया है[8]। इन्द्र ने कण्व, त्रसदस्यु और अन्यो का स्वर्ण और पशु प्रदान किये[9]। मरुतो ने तुर्वश यदु, और धनस्पृत् कण्व की, सपत्ति देकर

1. श्रुतं मे अश्विना हवं सप्तवध्रिं च मुञ्चतम्। ऋ० 5 78 5.
भीताय नाधमानाय ऋषये सप्तवध्रये।
मायाभिरश्विना युवं वृक्षं सं च वि चाचथः॥ ऋ० 5 78 6.
2. प्र सप्तवध्रिराशसा धारामग्नेरशायत। ऋ० 8.73 9.
3 दे० 10 39.9. पृ० 377.
4 उत कण्वं नृषदः पुत्रमाहुः। ऋ० 10 31 11
5 युवं श्यावाय रुशतीमदत्त मह क्षोणस्याश्विना कण्वाय।
प्रवाच्यं तद् वृषणा कृत वां यन्नार्षदाय श्रवो अध्यधत्तम्॥ ऋ० 1 117 8
ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन। अथ० 4 19 2.
6 दे० 1.139 9. पृ० 371.
7. य त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठ हव्यवाहन।
यं कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृत यं वृषा यमुपस्तुत.॥ ऋ० 1 36 10
यमग्निं मेध्यातिथि कण्व ईध ऋतादधि।
तस्य प्रेषो दीदियुस्तमिमा ऋचस्तमग्निं वर्धयामसि॥ ऋ० 1 36 11
अग्निर्वव्ने सुवीर्यमग्नि कण्वाय सौभगम्।
अग्नि. प्रावन् मित्रोत मेध्यातिथिमग्नि. साता उपस्तुतम्॥ ऋ० 1 36 17.
8. स इदग्नि कण्वतम कण्वसखा। ऋ० 10 115 5
9. यथा कण्वे मघवन् त्रसदस्यवि यथा पक्थे दशव्रजे।

सहायता की थी[1]। यह भी बार-बार आता है कि अश्विनो ने अभिष्टियो से कण्व की सहायता की थी[2]। हर्म्य मे बाधित कण्व की अश्विनो ने सहायता की[3] और अन्धा हो जाने पर उन्होने उसे दृष्टि प्रदान की[4]।

ऋग्वेद के अष्टम मडल के अधिकाश सूक्तो के रचयिता कण्व ऋषि बताये जाते है और उस मडल के कवि बहुधा अपने को 'कण्वा' कहकर पुकारते है। फलत. कुल का बोधक होने के नाते 'कण्व' नाम ऐतिहासिक प्रतीत होता है। किंतु उस पूर्वज का, जिसके नाम पर यह कुल चला होगा, ऋग्वेद मे कुल समान-कालीन व्यक्ति के रूप मे नाम नही आता। रॉथ के मत मे अगिरसो की भाति कण्वो का मूल भी गाथिक है, किंतु बेर्गेन के अनुसार अन्ध-कण्व रात्रि के सूर्य के प्रतिरूप है अथवा वे गुप्त अग्नि या सोम के विग्रहवान् रूप है। मेध्यातिथि कण्व के वशज है, क्योकि उनका पैतृक नाम काण्व है[5]। इनका उल्लेख ऋग्वेद मे 9 बार आया है। पूर्वजो की गणना में इनका नाम यथावसर कण्व के साथ आता है[6]। मेध्यातिथि का अर्थ है 'वह जिसके याज्ञिक अतिथि हो (अर्थात् अग्नि)'। प्रियमेध, जिनका नाम 4 या 5 बार आता है, और वह भी सदा कण्व के साथ[7], भूतकाल के ऐतिहासिक व्यक्ति है और उनके वशज अपने-आपको 'प्रियमेधा.' इस नाम से पुकारते है।

कुत्स (§ 58)—

युयुत्सु कुत्स का सबन्ध इन्द्र-गाथा के साथ अखड है और इनका उल्लेख

यथा गोशर्ये असनो ऋजिश्वनीन्द्र गोमद्धि हिरण्यवत् ॥ वा० खि० 1 10
यथा कण्वे मघवन्मेधे अध्वरे दीर्घनीथे दमूनसि ।
यथा गोशर्ये असिषासो अद्रिवो मयि गोत्रं हरिश्रियम् ॥ वा० खि० 2 10

1 येनाव तुर्वशं यदु येन कण्वं धनस्पृतम् । राये सु तस्य धीमहि ॥ ऋ० 8 7 18
2 याभि कण्वमभिष्टिभि प्रावत युवमश्विना । ऋ० 1 47 5
याभि कण्वं प्र सिषासन्तमावतम् । ऋ० 1 112 5
यथा चित्कण्वमावत प्रियमेधमुपस्तुतम् । अत्रिं शिञ्जारमश्विना ॥ ऋ० 8 5 25
याभि कण्वं मेधातिथिं याभिर्वशं दशव्रजम् ।
याभि गोशर्यमावत ताभिर्नोऽवतं नरा ॥ ऋ० 8 8 20
3 युव कण्वाय नासत्याऽपिरिप्ताय हर्म्ये । शश्वदूतीर्दशस्यथ ॥ ऋ० 8 5 23
4 दे० 1 118 7 पृ० 377.
5. इत्था धीवन्तमद्रिव काण्व मेध्यातिथिम् । मेषो भूतोऽभि यन्नय ॥ ऋ० 8 2 40
6 दे० 1 36 10 पृ० 379, 1 36 11 तथा 17. पृ० 379
7 दे० 8 5 25 ऊपर ।

ऋग्वेद मे लगभग 40 बार आया है। बहुवचन मे यह शब्द केवल एक बार आया है, और वहा यह इन्द्र की स्तुति मे एक सूक्त को गानेवाले[1] गायको के कुल का बोधक दीख पडता है। कुत्स को 4 बार उनके पैतृक नाम आर्जुनेय (अर्जुन का पुत्र) से बुलाया गया है[2]। उनके एक पुत्र का उल्लेख आता है, जिसकी इन्द्र ने एक दस्यु के साथ युद्ध करते समय सहायता की थी[3]। कुत्स युवा और द्युतिमान् है[4]। वे एक ऋषि है, जिन्होने गढे मे गिर जाने पर सहायता के लिए इन्द्र को पुकारा था[5]। कुत्स उसी रथ पर बैठते है जिसपर कि स्वय इन्द्र[6]। इन्द्र उन्हे अपना सारथि बनाते हैं[7]। कुत्स इन्द्र के सदृश है[8] और इन्द्र के साथ देवता-द्वन्द्व मे इनका आह्वान भी हुआ है। इन्द्रा-कुत्स से प्रार्थना की गई है कि वे अपने रथ पर बैठकर दर्शन दें[9]।

कुत्स अपने शत्रु शुष्ण से जूझते है, और इन्द्र उनके लिए शुष्ण को मार गिराते है[10]। शुष्ण के विरोध मे कुत्स की इन्द्र सहायता करते है[11], वे शुष्ण को

1 कुत्सा एते हर्यश्वाय शूषमिन्द्रे सहो देवजूतमियाना। ऋ० 7 25 5
2 याभि कुत्समार्जुनेय शतक्रतू प्र तुर्वीति प्र च दभीतिमावतम्। ऋ० 1 112 23
3 आवो यद्दस्युहत्ये कुत्सपुत्र प्रावो यद् दस्युहत्ये कुत्सवत्सम्। ऋ० 10 105 11.
4 त्व शुष्णं वृजने पृक्ष आणौ यूने कुत्साय द्युमते सचाहन्। ऋ० 1 63 3
5 इन्द्र कुत्सो वृत्रहण शचीपतिं काटे निबाल्ह ऋषिरह्वदूतये। ऋ० 1 106 6
6 यासि कुत्सेन सरथमवस्यु। ऋ० 4 16.11.
उशना यत्सहस्यैरयात गृहमिन्द्र जूजुवानेभिरश्वै।
वन्वानो अत्र सरथ ययाथ कुत्सेन देवैरवनोर्ह शुष्णम्॥ ऋ० 5 29 9
त्वमपो यदवे तुर्वशायाऽरमय सुदुघा पार इन्द्र।
उग्रमयातमवहो ह कुत्स स ह यद् वामुशनारन्त देवा॥ ऋ० 5 31 8
7 स रन्धयत्सदिव सारथये शुष्णमशुष कुयव कुत्साय।
दिवोदासाय नवतिं च नवेन्द्र पुरो व्यैरच्छम्बरस्य॥ ऋ० 2 19 6
उरु ष सरथ सारथये करिन्द्र कुत्साय सूर्यस्य सातौ। ऋ० 6 20 5
8 आ दस्युघ्ना मनसा याह्यस्त भुवत्ते कुत्स सख्ये निकाम।
स्वे योनौ नि षदत सरूपा वि वा चिकित्सदृतचिद्ध नारी॥ ऋ० 4 16 10
9 इन्द्राकुत्सा वहमाना रथेनाऽऽवामत्या अपि कर्णे वहन्तु। ऋ० 5 31 9
10 कुत्साय यत्र पुरुहूत वन्वञ्छुष्णमनन्तै परियासि वधै। ऋ० 1 121 9
कुत्साय शुष्णमशुषं नि बर्हि प्रपित्वे अह्न कुयव सहस्रा।
सद्यो दस्यून् प्र मृण कुत्स्येन प्र सूरश्चक्र वृहतादभीके॥ ऋ० 4 16 12
त्व कुत्साय शुष्ण दाशुषे वर्क्॥ ऋ० 6 26 3 दे० 1 63 3 ऊपर।
11 त्व कुत्स शुष्णहत्येष्वाविथारन्धयोऽतिथिग्वाय शम्बरम्।
महान्त चिदर्बुद नि क्रमी पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे॥ ऋ० 1 51 6

कुत्स के अधीन करते हैं[1], या कुत्स और देवताओ के साथ सहयोग करके वे शुष्ण का पराभव करते है[2]। शुष्ण के विरोध मे युद्ध करने के लिए कुत्स के साथ इन्द्र का आह्वान किया गया है[3], अथवा शुष्ण के घातक के रूप मे कुत्स को लाने के लिए उनका आह्वान किया गया है[4]। उसके लिए वे देवताओ के साथ भी युद्ध करते हैं[5], यहा तक कि वे गधर्वो से भी लोहा लेते है[6]। शुष्ण के साथ किया गया द्वन्द्व सूर्य-चक्र की चोरी के रूप मे परिणत हो जाता है[7]। शत्रुओ के द्वारा सताये गए कुत्स के लिए इन्द्र सूर्य-चक्र को ढक देते हैं[8]। कुत्स के हितार्थ वे सूर्य-चक्रो को पृथक् करके एक से उसके लिए धन पैदा करते और दूसरे से उसकी अभिवृद्धि के लिए नकटे दस्युओ और फूटी जबानवाले अनार्यो का सहार करते है[9]। सूर्य को स्थगित करने की क्रिया से सवद्ध[10] उनका यह अचरज-भरा कार्य मानव-हितार्थ सूर्य की प्राप्ति वाली गाथा का अर्ध-ऐतिहासिक युद्ध मे वर्णन करता है। जब शुष्ण पर वज्र गिरा तब उसका अन्त हुआ और तब इन्द्र ने अपने सारथि कुत्स के लिए सूर्य को पाकर विस्तृत अवकाश बनाया[11]। कुत्स के हितार्थ इन्द्र शुष्ण को मारते और कुयव का सहार करते है, और उनसे माग की जाती है कि वे दस्युओ को कुचल दें और सूर्य-चक्र को फिर से बृहत् करें[7]। एक मन्त्र मे आता है कि इन्द्र ने कुत्स के सहायतार्थ वेतसु जनपदो को और तुग्र एव स्मदिभ को नतमस्तक किया[12]।

1. त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये।
दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन् ॥ ऋ० 7.19 2.
2 दे० 5 29 9 पृ० 381
3 त्वं कुत्सेनाभि शुष्णमिन्द्राऽशुषं युध्य कुयवं गविष्टौ।
दश प्रपित्वे अध सूर्यस्य मुषायश्चक्रमविवे रपांसि ॥ ऋ० 6 31 3
4. मुषाय सूर्यं कवे चक्रमीशान ओजसा।
वह शुष्णाय वधं कुत्सं वातस्याश्वैः ॥ ऋ० 1 175 4.
5. विश्वे चनेदना त्वा देवास इन्द्र युयुधुः। यदहा नक्तमातिरः ॥ ऋ० 4 30 3
यत्रोत बाधितेभ्यश्चक्रं कुत्साय युध्यते। मुषाय इन्द्र सूर्यम् ॥ ऋ० 4 30 4.
यत्र देवाँ ऋघायतो विश्वाँ अयुध्य एक इत्। त्वमिन्द्र वनूँरहन् ॥ ऋ० 4 30 5
6. दे० 8.1 11 पृ० 355.
7 दे० 6 31 3. व 1 175 4 ऊपर।
8. दे० 4 30 4 ऊपर।
9. प्रान्यच्चक्रमवृहः सूर्यस्य कुत्सायान्यद् वरिवो यातवेऽकः ॥ ऋ० 5 29 10.
10 पुरा यत्सूरस्तमसो अपीतेस्तमद्रिवः फलिगं हेतिमस्य ॥ ऋ० 1.121 10.
रिः सूर्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवः। ऋ० 10 138 5.
11. दे० 6.20 5. पृ० 381.
12. अहं पितेव वेतसूँरभिष्टये तुग्रं कुत्साय स्मदिभं च रन्धयम्। ऋ० 10 49 4

कुत्स—जिन्हे इन्द्र ने सहायता और स्नेह दिया,[1] कभी कभी इन्द्र के साथ झगडा करते भी दीख पडते हैं। एव मन्त्र मे[2] आता है कि इन्द्र ने कुत्स, आयु एव अतिथिग्व के वीरो का सहार किया, जहा कि सायण के अनुसार इन्द्र इन लोगो के शत्रुओ का सहार करते हैं। एक मन्त्र मे इन्द्र तूर्वयाण राजा के लिए (सायण, सुश्रवस् के लिए) कुत्स, अतिथिग्व एव आयु को वश मे करते हैं[3] अथवा उसके हितार्थ वे उन्हे पृथिवी पर विछा देते हैं[4]। (सायण का अर्थ भिन्न है)। इन उद्धरणो से प्रतीत होता है कि कुत्स एक ऐतिहासिक व्यक्ति था, क्योकि वैदिक कवियो ने प्रकाश देव को अपना मित्र और अन्धकार-दानव को अपना सहज शत्रु माना हुआ था। परपरा के अनुसार भी नवम और प्रथम मडल के बहुत से सूक्तो के ऋषि अगिरस परिवार के कुत्स हैं। किंतु वेर्गेन के मत मे कुत्स एक विशुद्ध गाथिक कल्पना है जो मूलत अग्नि या सोम का एक रूप रहा होगा और हो सकता है—कभी-कभी सूर्य का भी बोधक रहा हो। निघण्टु मे कुत्स को वज्र का एक पर्याय माना गया है।

काव्य उशना—

पुराण ऋषि उशना का उल्लेख ऋग्वेद मे 11 बार मिलता है। 2 बार उन्हे कवि कहकर पुकारा गया है और 5 बार उनके लिए 'काव्य' इस विशेपण का प्रयोग हुआ है। उनका वैशिष्ट्य उनकी बुद्धिमत्ता है, क्योकि बुद्धिमत्ता का काव्य बोलने वाले सोम की (सायण वृपगण) तुलना उशना से की गई है[5], और बुद्धि की अथवा काव्य की दृष्टि से ही उसका तादात्म्य उशना के साथ किया गया है[6]। काव्य (कवि पुत्र) उशना मनु के हितार्थ जातवेदस् को होता के रूप मे स्थापित करते है[7]। जिस मन्त्र मे कहा गया है कि यज्ञ सस्थापक अथर्वा ने सूर्य के लिए पथ रचा, उसी मे उल्लेख आता है कि कविपुत्र उशना ने गौओ को यज्ञ

1 आव कुत्समिन्द्र यस्मिञ्चाकन्। ऋ० 1 33 14
2 कुत्सस्यायोरतिथिग्वस्य वीरान् न्यावृणग भरता सोममस्मै। ऋ० 2 14 7
य आयु कुत्समतिथिग्वमर्दयो वावृधानो दिवेदिवे। वा० खि० 5 2
3 त्वमाविथ सुश्रवस तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणम्।
त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायु मह राज्ञे यूने अरन्धनाय ॥ ऋ० 1 53 10
4 प्र तत्ते अद्या करण कृत भूत् कुत्स यदायुमतिथिग्वमस्मै।
पुरू सहस्रा नि शिशा अभि क्षामुत् तूर्वयाण धृपता निनेथ ॥ ऋ० 6 18 13
5 द० 9 97 7 पृ० 287
6 ऋषिर्विप्र पुर एता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन। ऋ० 9 87 3
7 दे० 8 23 17 पृ० 360

की ओर प्रेरित किया[1] । इन्द्र कविपुत्र उशना की अभिवृद्धि करते हैं[2] । वे उनके साथ आनन्दित होते[3], और अपना तादात्म्य उशना कवि और कुत्स के साथ स्थापित करते है[4] । जब इन्द्र ने कुत्स की सहायता से शुष्ण का दमन किया तब उशना उनके साथ उसी रथ मे विद्यमान थे[5] । उशना ने इन्द्र के लिए वृत्र के वधार्थ वज्र का निर्माण किया था[6] ।

स—ऐतिहासिक एव अर्ध-ऐतिहासिक स्वरूप वाले अनेक अन्य ऋषियो का भी ऋग्वेद मे उल्लेख मिलता है । ये है—गोतम, विश्वामित्र, वामदेव, भरद्वाज और वसिष्ठ । इन्हे अथवा इनके वशजो को क्रमश द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पचम, षष्ठ और सप्तम मडल का ऋषि माना जाता है । अगस्त्य ऋषि का भी ऋग्वेद मे अनेक वार उल्लेख हुआ है । कुछ ऐतिहासिक-से योद्धा है राजा सुदास्, पुरुकुत्स एव उनके पुत्र त्रसदस्यु और दिवोदास अतिथिग्व ।

इस प्रकरण मे जिन व्यक्तियो का विवरण आया है उनमे से सुतरा गाथिक व्यक्ति भी अतीत काल मे कभी सचमुच के मानव रहे होगे , इन्हे ही वाद के काल मे पीछे की ओर हटाकर मनुष्य के प्रथम पूर्वजो के रूप मे आदिकाल मे रख दिया गया है । उनके वर्णित कार्य अशत ऐतिहासिक स्मृतिया हैं और अशत गाथात्मक एव काव्यात्मक कल्पनाए है । देवताओ की सहचारिता के कारण वे सूर्य-विजय जैसे गाथात्मक कार्यों मे भी प्रवेश पा गये है ।

पुरोहित पूर्वजो के विषय मे जो कुछ कहा गया है उसमे से अधिकाश के पीछे उद्देश्य रहा है यज्ञ कला और यज्ञ-शक्ति के लिए प्रमाण प्रस्तुत करना । अत ये अतिप्राकृतिक समझे जाते है । यह सभव नही प्रतीत होता कि वे प्राकृतिक शक्तियो के प्रतिरूप थे अथवा पृथिवी पर निपतित हुए हतप्रभ देवता हैं ।

पशु और अचेतन पदार्थ

सामान्य विशेषताए (§ 59)—

वेद की गाथेय रचनाओ मे पशुओ को खासा भाग मिला है । वेद मे उस

1 यज्ञैरथर्वा प्रथम पथस्तते तत सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।
आ गा आजदुशना काव्य सचा यमस्य जातममृत यजामहे ॥ ऋ० 1 83 5

2 त्व वृध इन्द्र पूर्व्यो भूर्वरिवस्यन्नुशने काव्याय । ऋ० 6 20 11

3 मन्दिष्ट यदुशने काव्ये सचाँ इन्द्रो वङ्कू वङ्कुतराधि तिष्ठति । ऋ० 1 51 11

4 अह कुत्समार्जुनेय न्यृञ्जेऽह कविरुशना पश्यता मा । ऋ० 4 26 1

5 दे० 5 29 9 पृ० 381

6 य ते काव्य उशना मन्दिन दाद् वृत्रहण पार्यं ततक्ष वज्रम् । ऋ० 1 121 12
यदी मृगाय हन्तवे महावध सहस्रभृष्टिमुशना वध यमत् । ऋ० 5 34 2
तक्षद् यत् त उशना सहसा सहो वि रोदसी मज्मना बाधते शव । ऋ० 1 51 10

सुदूर प्राचीन काल के कुछ अवशेष भी मिल जाते हैं, जब मनुष्यो और पशुओ के बीच की विभाजक रेखा पूरी तरह नही उभर पाई थी और देवताओ को पशु-आकार का भी समझा जा सकता था। ऊचे वैदिक देवता मानवीय आकार के है, इसके विपरीत वे प्राणी, जो पशुओ के आकार के हैं, निम्न कोटि के है। वे अपने और पशु के मिश्रित स्वभाव के अनुसार अर्ध देव या दानव कहाये है। साथ ही जिस प्रकार मानव ने अपना सबन्ध लाभदायक पशुओ के साथ जोडा है उसी प्रकार मानवीय आकार के ऊचे देवो ने भी दिव्य पशु-जगत् के साथ अपना नाता जोडा था। साथ ही, असली पशु भी तो यज्ञ मे देवताओ के गाथेय स्वरूपो के साथ सबद्ध मिलते ही हैं। वे देवताओ के प्रतीक है और विशेष अवसरो पर उन देवताओ को, जो किसी दृष्टि से पशुओ के समान हैं, प्रभावित करते है। प्रतीकवादी दृष्टिकोण सभवत उस प्राचीनकाल का अवशेष है, जब देवताओ का तादात्म्य दृश्यमान पदार्थों के साथ स्थापित किया जाता था। किंतु इन पाशव प्रतीको को वेद मे अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है, क्योकि देवताओ के लिए पशु-प्रतीको का प्रयोग करना उन भद्र धारणाओ के अनुकूल न पडता था जिनके अनुसार देवता स्वर्ग मे रहते है और गुप्त रूप मे यज्ञ मे समिलित होनेवाले शक्तिशाली मानव है।

अश्व (§ 60)— (दधिक्रा)

देव-रथो को खीचने वाले दिव्य अश्वो के अतिरिक्त कुछ अन्य अश्व भी वैदिक गाथाओ मे मिलते हैं। इनमे से प्रमुख अश्वो मे एक दधिक्रा है, जिसका गुणगान ऋग्वेद के 4 वाद के वने सूक्तो मे आता है[1]। दधिक्रा नाम का उल्लेख 12 बार हुआ है, अपने बृ हित रूप दधिक्रावन् के साथ बदलकर भी इसका उल्लेख आता है। दधिक्रावन् का उल्लेख 10 बार हुआ है। यह नाम अन्य वैदिक ग्रन्थो मे नही मिलता। दधिक्रा साफ तौर से अश्व स्वरूप का है और इसे निघण्टु मे अश्व का पर्यायवाची बताया गया है। वह जव-शील है[2] और रथो मे सबसे आगे

---

1 उतो हि वां दात्रा सन्ति पूर्वा या पूरुभ्यस्त्रसदस्युर्नितोशे।
क्षेत्रासां ददथुरुर्वरासां घनं दस्युभ्यो अभिभूतिमुग्रम्॥ ऋ० 4 38 1 आदि
आ दधिक्राः शवसा पञ्च कृष्टीः ... [illegible]
आशु दधिक्रां तमु नु ष्टवाम दिवस्पृथिव्या उत चर्किराम।
उच्छन्तीर्मामुषसः सूदयन्त्वति विश्वानि दुरितानि पर्षन्॥ ऋ० 4 39 1 आदि
दधिक्राव्ण इदु नु चर्किराम विश्वा इन्मामुषसः सूदयन्तु।
अपामग्नेरुषसः सूर्यस्य बृहस्पतेराङ्गिरसस्य जिष्णोः॥ ऋ० 4 40 1 आदि
दधिक्रां वः प्रथममश्विनोषसमग्निं समिद्धं भगमूतये हुवे।
इन्द्रं विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिमादित्यान् द्यावापृथिवी अपः स्वः॥ ऋ० 7 44 1 आ
2 उत वाजिनं पुरुनिष्षिध्वानं दधिक्रामु ददथुर्विश्वकृष्टिम्।

जुडता है[1]। वह रथ को हवा की न्याईं भगा ले जाता है और स्वय वायु-वेग से धडधड़ाता दौडता है[2]। मनुष्य उसकी हवाई दौड की दाद देते हैं। जब वह टापें भरता है तब प्रतीत होता है कि मानो ढालू भूमि पर वह रहा हो[3]। वह पथो के मोडो पर छलागे भरता हुआ मुड जाता है[4]। उसे परो वाला और पक्षी-जैसा भी कहा गया है। उसके परो की तुलना प्रजवी श्येन के परो से की गई है[5]। उसकी उपमा आक्रामक श्येन से भी दी गई है, और उसे साफ शब्दो मे श्येन कहा भी गया है[6]। एक मन्त्र[7] मे उसे प्रभास से सुहाने वाला हस, अन्तरिक्षसद् वसु, वेदिषद् पुरोहित और गृहागत अतिथि बताया गया है—ये सभी विशेषण अग्नि के विभिन्न रूपो पर सही उतरते हैं।

दधिक्रा बहादुर है और दस्युओ पर वार करता है। वह विजयशील है[8]। जब वह हजार जवानो से लोहा लेता है तब प्रतिद्वन्द्वी उससे उसी प्रकार थरथराते

ऋजिप्य श्येन प्रुषितप्सुमाशु चर्कृत्यमर्यो नृपतिं न शूरम् ॥ ऋ० 4 38 2
उत स्मास्य पनयन्ति जना जूतिं कृष्टिप्रो अभिभूतिमाशो ।
उतैनमाहु समिथे वियन्त परा दधिक्रा असरत् सहस्रै ॥ ऋ० 4 38 9
दे० 4 39 1 पृ० 385

1 दे० 7 44 4 पृ०

2 य सीमनु प्रवतेव द्रवन्त विश्व पूरुर्मदति हर्षमाण ।
पड्भिर्गृध्यन्त मेधयु न शूरं रथतुर वातमिव ध्रजन्तम् ॥ ऋ० 4 38 3

3 दे० 4 38 9 3 ऊपर।

4. उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपिकक्ष आसनि ।
क्रतुं दधिक्रा अनु सतवीत्वत् पथामङ्कांस्यन्वापनीफणत् ॥ ऋ० 4 40 4.

5 स त्वा भरिषो गविषो दुवन्यसच्छ्रवस्यादिष उषसस्तुरण्यसत् ।
सत्यो द्रवो द्रवर पतङ्गरो दधिक्रावेषमूर्जं स्वर्जनत् ॥ ऋ० 4 40 2
उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यत पर्णं न वेरनु वाति प्रगर्धिन ।
श्येनस्येव ध्रजतो अङ्कस परि दधिक्राव्ण सहोर्जा तरित्रत ॥ ऋ० 4 40 3

6 उत स्मैन वस्त्रमथिं न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु ।
नीचायमान जसुरिं न श्येन श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम् ॥ ऋ० 4 38.5
दे० 4.38 2 ऊपर।

7 हस शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम् ॥ ऋ० 4 40 5

8 दे० 4 38 1 पृ० 385 दे० 4 38 3, ऊपर।
उतस्य वाजी सहुरिर्ऋतावा शुश्रूषमाणास्तन्वा समर्ये ।
तुरं यतीषु तुरयन्नृजिप्योऽधि भ्रुवो किरते रेणुमृञ्जन् ॥ ऋ० 4 38 7.

हैं जैसे आसमान की बिजली से। युद्धों में वह लूट के माल को हथिया लेता है और विभिन्न जातियां सांमुख्य आ पड़ने पर उसे याद करती है[1]। गले में माला पहरे हुए शुभ्रा जन्य की न्याई वह धूल उड़ाता हुआ और लगाम को चबाता हुआ टापें भरता है[2]। वह सभी जातियों से संबद्ध है। पंचजनों में वह अपनी शक्ति से व्यापे हुए है, जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सलिलों में व्यापे हुए है[3]। मित्रा-वरुण ने अग्नि के समान द्युतिमान् उस विजयशील अश्व को पुरुओं को दिया था[4]। अग्नि ने हमें भी तो दधिक्रा अश्व दिया है।

दधिक्रा की स्तुति पौ फटते ही अग्नि को समिद्ध करके की जाती है[5]। उसका आह्वान उषाओं के साथ होता है[6]। उषाओं से प्रार्थना की गई है कि वे दधिक्रावन् की भांति यज्ञ में खिलखिलाती पधारें[7]। दधिक्रा का विशेष रूप से आह्वान उषाओं के साथ किया गया है, लगभग उतने ही वार अग्नि के साथ, अपेक्षाकृत कम वार अश्विनों और सूर्य के साथ, और कभी-कभी अन्य देवों के

---

1. उत स्मास्य तन्यतोरिव द्योर्ऋघायतो अभियुजो भयन्ते।
यदा सहस्रमभि षीमयोधीद् दुर्वर्तुः स्मा भवति भीम ऋञ्जन्॥ ऋ० 4.38.8.
दे० 4.38.5. पृ० 386.
यः स्मारुन्धानो गध्या समत्सु सनुतरश्चरति गोषु गच्छन्।
आविर्ऋजीको विदथा निचिक्यत् तिरो अरतिं पर्याप आयोः॥ ऋ० 4.38.4.
2. उत स्मासु प्रथमः सरिष्यन् नि वेवेति श्रेणिभी रथानाम्।
स्रजं कृण्वानो जन्यो न शुभ्वा रेणु रेरिहत्किरणं ददश्वान्॥ ऋ० 4.38.6.,
व 4.38 7. पृ० 386.
3. दे० 4.38.2. पृ० 386.
आ दधिक्राः शवसा पञ्चकृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान।
सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि॥ ऋ० 4.38.10.
दे० 4.38.4 ऊपर।
4. महश्चर्कर्म्यर्वतः क्रतुप्रा दधिक्राव्णः पुरुवारस्य वृष्णः।
यं पूरुभ्यो दीदिवांसं नाग्निं ददथुर्मित्रावरुणा ततुरिम्॥ ऋ० 4.39.2.
दे० 4.38.1. पृ० 385. तथा 2 पृ० 386
5. यो अश्वस्य दधिक्राव्णो अकारीत् समिद्धे अग्ना उषसो व्युष्टौ।
अनागसं तमदितिः कृणोतु स मित्रेण वरुणेना सजोषाः॥ ऋ० 4.39 3.
6. दे० 4.39.1 एवं 4.40.1. पृ० 385.
7. समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु॥
ऋ० 7.41.6.

साथ भी उसका नाम आ जाता है[1] किंतु दधिक्रा का आह्वान होता सदा सबसे पहले है[2]।

दधिक्रा शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में संदेह है; फलतः इसके मौलिक स्वरूप के विषय मे निश्चय के साथ कुछ भी कहना कठिन है। इस पद का दूसरा अंश विकिरणार्थक √क धातु से बना प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था मे दधिक्रा का अर्थ होगा—"दधि बखेरनेवाला", और यह नाम रॉथ और ग्रासमन के अनुसार सूर्योदय-कालीन ओस अथवा कुहरे का बोधक है। इन दोनों विद्वानो के मत मे दधिक्रा घूमते हुए सूर्य-बिम्ब का प्रतिरूप है। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि दधिक्रा का संबन्ध देवताओ मे उषस् के साथ सबसे घनिष्ठ है; और याद रहे कि सूर्य को भी बार-बार अश्व या पक्षी के रूप मे देखा गया है; और कभी-कभी उसे कलह-प्रिय भी बताया गया है। इस कथन का कि दधिक्रा को मित्र और वरुण ने दिया था—उस भावना के साथ संबन्ध बैठ जाता है जिसके अनुसार सूर्य मित्र और वरुण की चक्षु है। बेर्गेन के अनुसार यद्यपि 'दधिक्रा' शब्द से विद्युत् की ओर निर्देश मिलता है, तथापि दधिक्रा अग्नि-सामान्य का प्रतिरूप है, जिसमे सौर और वैद्युत दोनो प्रकार की अग्नि संवलित है। किंतु लुडविग, पिशल, ब्रेक और ओल्डेनबेर्ग के अनुसार दधिक्रा कोई देवता न होकर दौड़ो मे भाग लेने वाला एक प्रसिद्ध अश्व था, जिसे उसके अप्रतिम जव के कारण दिव्य प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी।

पहले कह आये है कि दध्यञ्च् नाम का दधिक्रा के साथ संबंध है और संभवतः स्वरूप मे भी इन दोनो का पारस्परिक संबन्ध रहा हो, क्योंकि दध्यञ्च् को भी अश्व-शीर्ष बताया गया है।

तार्क्ष्य—

दधिक्रा के साथ निकटत-संबद्ध तार्क्ष्य है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद मे 2 बार आया है[3]। 3 मन्त्रो के एक सूक्त मे उसका गुणगान आया है। वहा उसे

---

1. अग्निमुषसमश्विना दधिक्रां व्युष्टिषु हवते वह्निरुक्थैः ॥ ऋ० 3 20.1.
दधिक्रामग्निमुषसं च देवीं बृहस्पतिं सवितारं च देवम् ।
अश्विना मित्रावरुणा भगं च वसून् रुद्राँ आदित्याँ इह हुवे ॥ ऋ० 3.20 5.
दे० 7.44 1 पृ० 385, 7 44 2 पृ० 324, 7.44 1. पृ० 368.
दधिक्रामग्निमुषसं च देवीमिन्द्रावतोऽवसे नि ह्वये वः । ऋ० 10.101.1.
2 दे० 7 44 1 पृ० 385
3. स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः । ऋ० 1.89 6.
त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥ ऋ० 10 178 1, आदि

देव-प्रचोदित वाजी, रथों का बाधक[1], तीव्र, और युद्धों की ओर बढ़ने वाला बताया गया है। वह इन्द्र के दान-रूप में आहूत हुआ है। दधिका के लिए प्रयुक्त हुए[2] शब्दों में कहा गया है कि ताक्ष्य ने अपनी शक्ति से पंचजनों को उसी प्रकार व्याप्त कर रखा है, जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सलिलों को व्याप्त किये रहता है। मूलतः उसकी कल्पना अश्व के रूप में की गई थी, इस बात की पुष्टि उसके 'अरिष्टनेमि' (अनष्ट नेमिवाला) इस विशेषण से हो जाती है[3]। वाजसनेयि संहिता 3 में अरिष्टनेमि विशेषण ताक्ष्य और गरुड दोनों के साथ स्वतन्त्र नाम की तरह आता है। निघंटु (1.14) ने ताक्ष्य को अश्व के पर्यायों में रखा है। एक या दो बाद के वैदिक ग्रन्थों में ताक्ष्य का उल्लेख पक्षी के रूप में भी हुआ है। महाकाव्यों में उसका विष्णु के वाहन गरुड के साथ तादात्म्य हो गया है। यह संभव है कि मूलतः ताक्ष्य दिव्य अश्व-रूप सूर्य का प्रतिरूप रहा हो। ताक्ष्य की निष्पत्ति 'तृक्षि' से हुई प्रतीत होती है; 'तृक्षि' एक मनुष्य का नाम है जो पैतृक नाम त्रासदस्यव के साथ ऋग्वेद में एक बार आया है[4]। इस व्युत्पत्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि ताक्ष्य एक अश्व था, जो प्रतियोगिताओं में भाग लेता था और जिसका संबन्ध त्रसदस्यु कुलोत्पन्न तृक्षि के साथ था।

पैद्व—

एक और भी गाथेय अश्व है, जिसे अश्विन् लोग पेदु के लिए लाये थे[5]; और इसीलिए जिसका पैद्व नाम पड़ गया है[6]। इस दान का उद्देश्य एक अड़ियल घोड़े की जगह सधा घोड़ा देना था, क्योंकि पेदु अघाश्व अथवा 'पापी घोड़ेवाला' व्यक्ति था। पैद्व अश्व श्वेत है। वह स्तुत्य है[7] और मनुष्यों के लिए भग की

1. त्यमु वो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम्।
इन्द्रं विश्वासाहं नरं मंहिष्ठं विश्वचर्षणिम्॥ ऋ० 6.44.4.
2. आ दधिकाः शवसा पञ्चकृष्टीः सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान।
सहस्रसाः शतसा वाज्यर्वा पृणक्तु मध्वा समिमा वचांसि॥ ऋ० 4 38.10.
3. तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च सेनानी ग्रामण्यौ॥ वा० सं० 15 18.
4. येभिस्तृक्षिं वृषणा त्रासदस्यवं महे क्षत्राय जिन्वथः। ऋ० 8.22.7.
5. युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः।
शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम्॥ ऋ० 1 119.10.
नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम्। ऋ० 7.71.5.
6. यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति।
तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भूत्पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः॥ ऋ० 1.116 6.
7. दे० 1.119.10. ऊपर।

भांति आह्वान-योग्य है[1]। उसकी तुलना इन्द्र के साथ की गई है[2] और उसके लिए 'अहिहन्' यह विशेषण भी आया है[3]। जोकि खास तौर से इन्द्र के लिए ही आता है। वह युद्धों में अदम्य विजयी है, और स्वर्ग-प्राप्ति के लिए सतत सचेष्ट रहता है। उक्त उद्धरणों से यही प्रतीत होता है कि पैद्व अश्व सूर्य का प्रतीक है।

एतश—

एतश शब्द, जोकि 'तीव्र' इस अर्थवाले विशेषण के रूप में आता है, कुछेक बार ऋग्वेद में 'अश्व' के अर्थ में भी आया है। बहुवचन में यह सूर्य के अश्वों का बोधक है[4]। लगभग 12 बार यह एकवचन में व्यक्ति-वाचक संज्ञा के रूप में आया है और हमेशा इसका संबन्ध सूर्य के साथ बना रहता है। सविता एतश है; उन्होंने पार्थिव लोकों को मापा है[5]। तीव्र एतश देव सूर्य के द्युतिमान् रूप को खींचते हैं[6]। रथ की फड़ों में जुत कर एतश सूर्य-चक्र को प्रवर्तित करते हैं[7]। वे सूर्य के चक्र को लाये[8]। इन्द्र ने सूर्य के अश्व 'एतश' को प्रचोदित किया[9]। सूर्य के साथ प्रति-

युवं श्वेतं पेदवेऽश्विनाश्वं नवभिर्वाजैर्नवती च वाजिनम्।
चर्कृत्यं ददथुर्द्रावयत्सखं भगं न नृभ्यो हव्यं मयोभुवम्॥ ऋ० 10 39.10
दे० 4.38.2. पृ० 386.

1. दे० 1.116.6. पृ० 389., 10.39.10. ऊपर।
2. दे० 1.119.10. पृ० 389.
3. पुरू वर्पांस्यश्विना दधाना नि पेदव ऊहथुराशुमश्वम्।
सहस्रसां वाजिनमप्रतीतमहिहनं श्रवस्यं तरुत्रम्॥ ऋ० 1.117.9.
युवं श्वेतं पेदव इन्द्रजूतमहिहनमश्विनादत्तमश्वम्। ऋ० 1.118.9.
पैद्वो न हि त्वमहिनाम्नां हन्ता विश्वस्यासि सोम दस्योः। ऋ० 9.88.4.
दे० 1.119.10. पृ० 389.
4. स सूर्य प्रति पुरो न उद् गा एभिः स्तोमेभिरेतशेभिरेवैः। ऋ० 7.62 2.
न ते अदेवः प्रदिवो नि वासते यदेतशेभिः पतरै रथर्यसि।
प्राचीनमन्यदनु वर्तते रज उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य॥ ऋ० 10.37.3.
अहं सूर्यस्य परि याम्याशुभिः प्रैतशेभिर्वहमान ओजसा। ऋ० 10 49.7.
5. यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना। ऋ० 5 81.3.
6. यदीमाशुर्वहति देव एतशो विश्वस्मै चक्षसे अरम्। ऋ० 7.66.14.
7. समानं चक्रं पर्याविवृत्सन् यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः। ऋ० 7.63.2.
8. त्वं सूरो हरितो रामयो नॄन् भरच्चक्रमेतशो नायमिन्द्र। ऋ० 1.121.13.
सूरश्चिद् रथं परितक्म्यायाम्। भरच्चक्रमेतशः सं रिणाति॥ ऋ० 5.31.11.
9. यत् सूदस्र एतशं प्र वातस्य पर्णिना। ऋ० 8.1.11.

योगिता मे दौडनेवाले एतश की इन्द्र ने सहायता की[1]। गाथेय प्रतियोगिता के बिखरे हुए सकेतो से इतनी बात लक्षित होती है : एतश पहले-पहल पीछे रहता रहा होगा, बाद मे वह सूर्य के खोये हुए चक्र को पकडता है और उसे सूर्य के रथ मे ठोक देता है। परिणामस्वरूप सूर्य एतश को अपने रथ के आगे महत्त्वपूर्ण स्थान देना स्वीकार कर लेते है। इस गाथा की सन्तोषप्रद व्याख्या प्रस्तुत करना कठिन है। फिर भी इतना निश्चित है कि 'एतश' सूर्य के अश्व का प्रतिरूप है।

सूर्य और अग्नि का प्रतीक अश्व—

अश्व भी सूर्य का ही एक प्रतीक है—यह बात ऋग्वेद के उस मन्त्र से ध्वनित होती है, जिसमे कहा गया है कि उषा एक श्वेत अश्व को ले चलती है[2]। एक दूसरे मन्त्र मे भी ऐसी ही बात आई है[3]। उसमे कहा गया है कि वसुओ ने 'यज्ञिय' अश्व को सूर् 'सूर्य' से बनाया। सोम-याग की एक विधा मे अश्व भी सूर्य का प्रतीक बनकर आता है।

उछलती लपटो वाले अग्निदेव को भी अश्व कहा गया है। यज्ञ मे अश्व अग्नि का प्रतीक है। वहा एक अश्व को इस प्रयोजन से बाधा जाता है कि वह मन्थन द्वारा अग्नि-उत्पादन के स्थान को देखता रहे। जब अग्नि को पूर्व दिशा मे ले जाया जाता है तब इसे आगे चलने वाले अश्व के रास्ते मे टेक दिया जाता है। वेदि-निर्माण के समय अश्व के निमित्त यह मन्त्र पढा जाता है—'स्वर्ग मे तेरा सर्वोच्च जन्म है, अन्तरिक्ष मे तेरी नाभि है और पृथिवी पर तेरा आवास है[4]। इस अनुष्ठान का अर्थ शतपथ ब्राह्मण मे यो दिया गया है 'अपने साथ अग्नि लाना'। वही ब्राह्मण विद्युत् को अश्व कहता है जो जलो या मेघो से अवतीर्ण हुआ है[5]।

वृषभ (§ 61)—

इन्द्र को ऋग्वेद मे बराबर वृषभ कहा गया है। अग्नि के लिए इस शब्द का अपेक्षाकृत कम बार प्रयोग हुआ है। कभी-कभी वृषभ शब्द द्यौस् जैसे अन्य

अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावधि। अन्तरिक्षेण यातवे॥ ऋ० 9 63 8.
1 प्रैतशं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्र। ऋ० 1 61.15
2. देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम्। ऋ० 7 77 3
3 यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एनं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात् सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥ ऋ० 1 163 2.
4 दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित्। वा० स० 11.12.
5 अद्भ्यो ह वा अग्रेऽश्वः सम्बभूव। शत० ब्रा० 5 1.4 5
अप्सुजा उ वा अश्वः। शत० ब्रा० 7 5 2 18

महान् देवों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद[1] में एक वृषभ को इन्द्र के रूप में बुलाया गया है और शतपथ ब्राह्मण[2] में वृषभ को इन्द्र का एक रूप बताया गया है। अवेस्तिक वृषभ को इन्द्र वेरेथ्रघ्न का एक अवतार बताया जाता है। एक वैदिक यज्ञ में रुद्र का प्रतिनिधित्व वृषभ करता है। संदिग्धाशय मुद्गल—मुद्गलानी की गाथा में एक वृषभ भी सम्मिलित है[3]।

गौ—

अपनी अनुपम उपयोगिता के कारण गौ को वैदिक गाथा में आदर का स्थान मिला है। उषा की किरणों का विग्रहवत्त्व गौओं के रूप में सपन्न हुआ है, जो उसके रथ को खींचती है। मेघ का विग्रहवत्त्व गौ के रूप में हुआ है, जो विद्युद्रूप वत्स की माता है। इस मेघ-धेनु का व्यंजन मरुतों की माता पृश्नि के रूप में भी हुआ है[4]। उसके दुग्ध[5] और ऊधस् का अनेक बार वर्णन आता है। दानशील मेघ चित्रवर्ण गौओं के प्रतिरूप है, जो गौएं भाग्यवानों के लिए स्वर्ग में कामदुघा है[6]। वेदोत्तर-कालीन साहित्य में बहुधा उल्लिखित कामधुक् गौओं की ये गौएं पूर्वरूप हैं। दुग्ध-घृतरूप हविष् के विग्रह-रूप इळा को गौ मानने की प्रवृत्ति पाई जाती है। अदिति को भी यत्र-तत्र धेनु कहा गया है। देवताओं को कभी-कभी 'गो-जाता:' बताया गया है। फिर भी गौओं का सबसे अधिक उपयोग इन्द्र द्वारा अद्रि में गौओं को उन्मुक्त करनेवाली गाथा में हुआ है।

ऋग्वेद ही मे पार्थिव गौ को पवित्र माना जा चुका है। क्योंकि उसे अदिति और देवी का पद दिया गया है, और ऋषि लोग अपने श्रोताओं पर गौ को अघ्न्या बताकर उसकी अहिंस्यता का भाव जमाते देखे जाते है[7]। गौ के लिए 'अघ्न्या'

1. दैवीर्विशः पर्यस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः।
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ अथ० 9.4.9.
2. एतद्वा इन्द्रस्य रूपं यदृषभः। शत० ब्रा० 2.5.3.18.
3. न्यक्रन्दयन्नुपयन्त एनममेहयन् वृषभं मध्य आजेः।
तेन सूभर्वं शतवत् सहस्रं गवां मुद्गलः प्रधने जिगाय ॥ ऋ० 10.102.5.
4. ध्यन्तु वयोक्तं रिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ। वा०सं०2.16.
5. पृश्न्या दुग्धं सकृत्पयस्तदन्यो नानुजायते। ऋ० 6.48.22. दे० 8.101.15. पृ० 315.
देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गामा मावृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः। ऋ० 8.101.16.
6. विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु। अथ० 4.34.8.
7. चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियादितिरस्युभयतःशीर्ष्णी।
सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ॥
वा० सं० 4.19.

शब्द का प्रयोग ऋग्वेद मे 16 बार आता है। इसके पुल्लिग रूप अघ्न्य का केवल 3 बार प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद मे तो गौ की एक पवित्र पशु के रूप मे पूजा तक प्रचलित हो चुकी है[1]। शतपथ ब्राह्मण[2] मे कहा गया है कि मास-भक्षक व्यक्ति कुख्यात बनकर पृथिवी पर फिर जन्म लेता है। हा, अतिथियो के लिए मास-पाक का विधान भी कतिपय स्थलो पर मिल जाता है[3]।

अज आदि (§ 62)—

अथर्ववेद मे अज का सवन्ध पूषा के साथ है, जिसके रथ को अज खीचता है। अज एकपाद् के रूप मे वहा दिव्य प्राणी बनकर उभरता है। उत्तर-वैदिक साहित्य मे अनेक बार अज का अग्नि के साथ तादात्म्य दिखाया गया है।

वैदिक गाथा मे गधा अश्विनो के रथ को खीचता है।

यम के दो गाथेय श्वानो के रूप मे कुत्ता भी वेद मे मिल जाता है। इन्हे सारमेय कहा गया है। सारमेय नाम से सूचित होता है कि ये सरमा के वशज थे। इस बात के लिए प्रमाण नही मिलता कि ऋग्वेद मे सरमा को कुतिया माना जाता था, यद्यपि उत्तर वैदिक साहित्य मे यह नाम कुतिया का पड गया है। यास्क[4] सरमा को देवशुनी बताते हैं।

ऋग्वेद मे वराह का प्रयोग रुद्र, मरुत् और वृत्र के आलकारिक अभिधान की तरह आया है। तैत्तिरीय सहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण मे वराह सर्ग के प्रवर्तक बनकर आते हैं, क्योकि जब प्रजापति ने पृथिवी को जलो मे से उभारा था तब उन्होने वराह का रूप धारण किया था। परवर्ती साहित्य मे मिलनेवाला विष्णु का वराह-अवतार इसी बात का विकास है।

बाद की सहिताओ मे कच्छप को अर्ध-दिव्य माना गया है और उसे सलिलो

अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्य।
सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमं रुद्रस्त्वावर्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि॥
वा० स० 4 20

1 पदोरस्या अधिष्ठानाद्विक्लिन्दुर्नाम विन्दति।
अनामनात्स शीर्यन्ते या मुखेनोपजिघ्रति॥ अथ० 12 4 5
2. अन्तगतिरिव त ह्यऽद्भुतमभिजनितोर्जायायै गर्भं निरवधीदिति पापमकदिति पापी
कीर्तिस्तस्माद्धेन्वनडुह्योर्नाऽश्नीयात्। शत० 3 1 2 2.
3 राज्ञ वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्तदह मानुष हविर्देवानामेवमस्मा
एतदातिथ्य करोति। शत०ब्रा० 3 4 1 21.
4. सरमा सरणात्। देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरै समूदे।
नि० 11 25

का स्वामी बताया गया है[1]। अथर्ववेद मे कश्यप प्रजापति के साथ अथवा उनका तदात्म बनकर आता है और उसे 'स्वयभू' यह विशेषण भी मिल जाता है[2]। ऐतरेय ब्राह्मण[3] कहता है कि विश्व-कर्मा ने पृथिवी का कश्यप के लिए सकल्प किया था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने अपने आपको कच्छप के रूप मे परिवर्तित कर लिया था[4] और इस रूप मे उन्होने सब प्राणियो की रचना की थी। विष्णु का कच्छप-अवतार प्रजापति के इसी कच्छप-रूप का विकास प्रतीत होता है। तैत्तिरीय सहिता[5] मे पुरोडाश को कच्छप बताया गया है।

ऋग्वेद के एक बाद मे बने सूक्त[6] मे एक बन्दर इन्द्र का प्रेम-भाजन बनकर आता है जिसे इन्द्राणी उसके चचल स्वभाव के कारण भगा देती हैं, किंतु बाद मे वही बन्दर इन्द्राणी का प्रेम पात्र बन जाता है।

वर्षा से अनुप्राणित हुए मडूक ऋग्वेद[7] मे प्रहसन के विषय है। ये हमे गौए और दीर्घ जीवन प्रदान करते है। प्रतीत होता है कि मेढको को वर्षा पडते ही जाग जाने के कारण जादूवाला समझा जाता था। किंतु मैक्समूलर ने इस सूक्त को ब्राह्मणो के ऊपर एक व्यग्यमात्र माना है। बेर्गेन मडूको से वायुमडल को लेते है।

पक्षी (§ 63)

वैदिक देवशास्त्र मे पक्षियो को भी चोखा स्थान मिला है। सोम की तो

---

1 त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत्स्वर्गानपापतिर्वृषभऽइष्टकानाम्। वा० स० 13 31

2 स्वयम्भू कश्यप कालात्तप कालादजायत ॥ अथ० 19 53 10

3 एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण कश्यपो विश्वकर्माण भौवनमभिषिषेच तस्मादु विश्वकर्मा भौवन समन्त सर्वत पृथिवीं जयन्परीयाय। भूमिर्ह जगाविति उदाहरन्ति न मा मर्त्य कश्चन दातुमर्हति विश्वकर्मन्भौवन मा दिदासिथ। निमङ्क्ष्येऽह सलिलस्य मध्ये मोघस्त एष कश्यपायाऽऽस सगर इति ॥

ऐ० ब्रा० 8 21 10

4 स यत्कूर्मो नाम। एतद्वै रूप कृत्वा प्रजापति प्रजा असृजत यदसृजताकरोत् तद् यदकरोत्तस्मात् कूर्म कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहु सर्वा प्रजा काश्यप्य इति।

शत० ब्रा० 7 5 1 5

5 तेऽपश्यन् पुरोडाश कूर्म भूत सर्पन्त तमब्रुवन्। तै० स० 2 6 3 3

6 वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्र देवममसत।
यत्रामदद् वृषाकपिरर्य पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तर ॥ ऋ० 10 86 1 आदि

7 सवत्सर शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिण।
वाच पर्जन्यजिन्विता प्र मण्डूका अवादिषु ॥ ऋ० 7 103 1

बार-बार पक्षी के साथ तुलना की गई है, और उसे पक्षी कहकर पुकारा भी गया है। अग्नि की उपमा खास तौर से पक्षी से दी गई है, और उसे पक्षी कहा भी गया है। एक बार उसे आकाश का श्येन बताया गया है। सूर्य को भी कभी-कभी पक्षी समझा गया है और दो बार उसे 'गरुत्मत्' संज्ञा भी मिली है। वेदोत्तर-कालीन साहित्य मे, जो गरुड को विष्णु का वाहन माना गया है, उसका आधार संभवत. इसी वैदिक भावना मे निहित हो। वेद मे पक्षी का प्रयोग मुख्य रूप से श्येन के लिए हुआ है, जो इन्द्र के लिए सोम को उठा लाता है और जो विद्युत् का प्रतिरूप मालूम होता है। किंतु काठक संहिता मे इन्द्र ही श्येन के रूप मे सोम या अमृत को पकड़ते है। अवेस्ता मे भी वेरेथ्रघ्न वारघ्न का रूप धारण करते है, जो पक्षियो मे सबसे अधिक तेज है। जर्मन गाथा मे ओधिन देव अपने को श्येन के रूप मे परिवर्तित करके मधु के साथ देवलोक मे उडते है। अपशकुन के पशु पक्षियों का भी यत्र-तत्र देवताओ के साथ ज़िक्र आ गया है, और माना जाता है कि इन्हे देवता लोग भेजते है। ऋग्वेद मे उलूक और कपोत को यम का दूत कहा गया है। किंतु सूत्रो मे उलूक 'दुरात्माओ का दूत' है। शोणित-स्नात पशु और गृध्र यम के दूत कहे जाते हे। ऋग्वेद के द्वितीय मडल के 42-43 सूक्तो मे कपिंजल को कर्णधार की तरह वाणी का प्रेरक एव मङ्गल-संपन्न माना गया है[1]।

हिंस्र पशु (§ 64)—

वेद मे हिंस्र पशु सामान्यतया दानव रूप मे आते दीखते है, अथवा यह कहिए कि वे दानवीय प्रवृत्तिया प्रदर्शित करते है। दानवो को ऋग्वेद मे कभी-कभी उनके जातिवाचक 'मृग' शब्द से भी सूचित किया गया है[2]। 'और्णवाभ' दानव का 3 बार उल्लेख आया है[3]। उराण नाम का एक और भी दानव है

1. कनिक्रदज्जनुषं प्र ब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्।
सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा का चिदभि भा विश्व्या विदत् ॥ ऋ० 2 42 1
प्रदक्षिणिदभि गृणन्ति कारवो वयो वदन्त ऋतुथा शकुन्तय:।
उभे वाचौ वदति सामगा इव गायत्रं च त्रैष्टुभं चानु राजति ॥ ऋ० 2.43 1. आदि
2. इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम्।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधी: ॥ ऋ० 1 80 7.
दे० 5.29 4 पृ० 151
त्यस्य चिन्महतो निर्मृगस्य वधर्जघान तविषीभिरिन्द्रः। ऋ० 5 32.3
3 दे० 2 11 18 पृ० 412
अहन् वृत्रमृचीषम और्णवाभमहीशुवम्। ऋ० 8 32.26.
आदीं दानस्य मर्यार्दोर्णवाभमहीशुवम्। ते पुत्र मन्तु विदुरः ॥ ऋ० 8.77.2

जिसका उल्लेख केवल 1 बार हुआ है[1]।

किंतु ऋग्वेद मे सब से अधिक वार सर्प (अहि, अवेस्ता अज्हि) का जिक्र आया है। साधारणतया यह वृत्र का ही एक अभिधान है। वृत्र का यह नाम सभवत इसलिए पडा हो कि वह मानव जाति का दुर्दान्त शत्रु बनकर अपने शिकार को वृत्ताकार सर्प की भाति परिवेष्टित कर लेता है। वृत्रघ्न इन्द्र—जिन्हे अहि-हन्ता भी कहा गया है—अहि का वध करते हैं[2]। ऐसे स्थलो पर वृत्र और अहि का तादात्म्य सुव्यक्त हो जाता है जहा ये दोनो पद परस्पर परिवर्तनीय बन कर आते है[3]। 'प्रथमजा अहीना' तो 'वृत्रो वृत्रतम' को व्यक्त करने का ही दूसरा तरीका है। अनेक मन्त्रो मे ये दोनो शब्द समानाधिकरण हैं और उनकी व्याख्या की जा सकती है—'सर्प-वृत्र'। जिन स्थलो पर अहि का अकेले ही उल्लेख आया है वहा भी युद्ध का परिणाम वही होता है जोकि वृत्र-युद्ध का, अर्थात् इन्द्र देव जलो को प्रवाहित करते, सातो सिन्धुओ को उन्मुक्त करते और गौओ को जीतते है। जलो को भी अहि परिवेष्टित करता है, और उसके इस व्यापार को परि+√धा आदि धातुओ के साथ √वृ धातु द्वारा भी व्यक्त किया गया है[4]। इसी प्रकार सिन्धुओ के विषय मे भी कहा गया है कि उन्हे अहि ने ग्रस्त कर लिया था[5]। इस अहि के आयुध है —विद्युत्, तन्यतु अर्थात् गर्जन, कुहरा और ह्रादुनि[6] (कडक)। वह द्युतिमान् है, क्योंकि मरुतो को अहिभानव अर्थात् अहि-जैसी प्रभा वाले बताया गया है[7]। अग्नि के लिए भी अहि (आगत्य हन्ता-सायण)

1 यो अर्बुदमव नीचा बबाधे तमिन्द्र सोमस्य भृथे हिनोत ॥ ऋ० 2 14 4 — अध्वर्यवो य उरण जघान नव चख्वास नवति च बाहून्।
यो अर्बुदमव नीचा बबाधे तमिन्द्र सोमस्य भृथे हिनोत ॥ ऋ० 2 14 4

2 दे० 8 93 2 पृ० 414
त्व वृत्र शवसा जघन्वान्सृज सिन्धूँरहिना जग्रसानान्। ऋ० 4 17 1.

3. दे० 1 32 1 पृ० 142 दे० 1 32 7. पृ० 110
दे० 1 32 10 ,11 13 पृ० 413, 110 412 क्रमश ॥
अपाहन्वृत्र परिधि नदीनाम्। ऋ० 3 33 6

4 अहिमिन्द्रो अर्णोवृत वि वृश्चत्। ऋ० 2 19 2
स माहिन इन्द्रो अर्णो अपा प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम्।
अजनयत्सूर्य विदद्गा अक्तुनाह्ना वयुनानि साधत् ॥ ऋ० 2 19 3

5 त्वं वृत्र शवसा जघन्वान्सृज सिन्धूँरहिना जग्रसानान्। ऋ० 4 17 1
सृज सिन्धूँरहिना जग्रसानान्। ऋ० 10 111 9

6 नास्मै विद्युन्न तन्यतु सिषेध न या मिहमकिरद् ह्रादुनिं च।
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥ ऋ० 1 32 13

7 मरुतो अहिभानव। ऋ० 1 172 1

पद का प्रयोग हुआ है[1]। सोम से एक बार प्रार्थना की गई है कि वह हमारे उपक्षयिता शत्रुओ को अहि के यहा भेज दे[2]। अहि का बहुवचन-रूप एक दानव जाति या अहि जाति का बोधक हो सकता है जिनके विषय मे सोम से प्रार्थना की गई है कि वह उन्हे इस प्रकार मार दें जैसे पैद्व 'अश्व अपने शत्रुओ को पैरो तले रौद देता है[3]। हो सकता है इसी अहि जाति का 'प्रथमजा' अहि रहा हो[4]।

किंतु अहि-र्बुध्न्य के रूप मे अहि देवता बनकर भी वेद मे आता है। तब यह अहि वृत्र के शिव पक्ष का प्रतिनिधान करते प्रतीत होते है।

बाद की सहिताओ मे सापो को गन्धर्व जैसी अर्ध-दिव्य जाति माना जाने लगा है और उनका आवास पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक मे बताया गया है[5]। अथर्ववेद मे उनका उल्लेख बहुत बार आया है। अथर्ववेद के एक सूक्त को सर्प देवताओ का आह्वान माना गया है। सूत्रो मे पृथिवी, वायु और द्युलोकस्थ सर्पो के लिए हविष्-दान का विधान मिलता है[6]। सर्पो की देवो, वनस्पतियो और दानवो आदि के साथ मिन्नत की जाती है[7], और उनके लिए शोणित गिराया गया है,

---

1 हिरण्यकेशो रजसो विसारेऽहिर्धुनिर्वात इव ध्रजीमान्। ऋ० 1 79 1

2 ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः।
अहये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे॥ ऋ० 7.104 9

3 इन्द्रो न यो महा कर्माणि चक्रिर्हन्ता वृत्राणामसि सोम पूर्भित्।
पैद्वो न हि त्वमहिनाम्नां हन्ता विश्वस्यासि सोम दस्योः॥
ऋ० 9 88 4

इन्द्रो दक्ष परि जानादहीनाम्। ऋ० 10 139 6

4 अहन्नेन प्रथमजामहीनाम्। ऋ० 1 32 3
यदिन्द्राहन्प्रथमजामहीनामान्मायिनामभिना प्रोत मायाः। ऋ० 1 32 4

5 नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ वा० स० 13 6
ये अन्तरिक्षं पृथिवीं क्षियन्ति। ते न सर्पासो हवमागमिष्ठाः। ये रोचने सूर्यस्यापि सर्पाः। ये दिवं देवीमनुसंचरन्ति। येषामाश्रेषा अनुयन्ति कामम्। तेभ्यः सर्पेभ्यो मधुमज्जुहोमि। तै० ब्रा० 3 1 1 6

6 ये सर्पाः पार्थिवा ये आन्तरिक्ष्या ये दिव्या ये दिश्यास्तेभ्य इमं बलिमाहार्षं तेभ्य इमं बलिमुपाकरोमीति। आ० गृ० सू० 2 1 9
आग्नेय पाण्डुपार्थिवानां सर्पाणामधिपतये स्वाहा। श्वेतवायवान्तरिक्षाणां सर्पाणामधिपतये स्वाहा। अभिभू सौर्य दिव्यानां सर्पाणामधिपतये स्वाहा।
पा० गृ० सू० 2 14 9

7. वेदा। देवा। ऋषय। सर्वाणि च छन्दांसि। ओङ्कार। वषट्कार। महाव्या-

इस कोटि की उपासना मे सर्प को दानवीय स्वभाव का माना गया है, क्योकि इस रूप मे वह हिंस्र वनचर हमारे सामने आता है। कुछ ऐसे ही भाव से चीटियो के लिए भी कभी-कभी बलि का विधान किया गया है।

प्रागैतिहासिक धारणाओ के अवशेष (§ 65)—

आदि काल मे इस प्रकार की धारणा आम थी कि मनुष्य और पशु मे तात्त्विक भेद नही है। इस धारणा के कारण ही मनुष्य मानव-वृक जैसे प्राणी की सत्ता मे विश्वास रखते थे। मानव-वृक की कोटि के ही एक प्राणी है नर सिंह[1]। सच पूछिए तो नागो को भी इसी श्रेणी मे रखा जा सकता है। नाग स्वरूप मे तो मानव हैं किंतु प्रकृत्या सर्प है, जिनका सर्प नाम से पहली बार उल्लेख सूत्रो मे आता है[2]। इस बात की सभावना कम प्रतीत होती है कि अर्वाचीन सर्प-पूजा का उद्भव वृत्र-अहि गाथा मे था, उल्टे प्रतीत तो यह होता है कि सर्प-पूजा का विकास भारत के आदिम-वासियो की विश्वास-परम्परा से हुआ है। क्योकि एक ओर जहा ऋग्वेद मे सर्प-पूजा का नाम के लिए भी सकेत नही मिलता, वहा दूसरी ओर अनार्य भारतीयो मे इसका व्यापक रूप से चलन पाया जाता है, और हो सकता है कि भारत पहुचने पर आर्यों को इस देश मे रहनेवाले आदिवासियो मे सर्प-पूजा का चलन आम मिला हो।

ऋग्वेद मे सभवत पशु-प्रतीकवादी धारणा (totemism) के अवशेष भी मिलते हैं। पशु प्रतीकवाद से तात्पर्य उस धारणा से है जिसके अनुसार मानव-जाति के वर्ग विशेषो या कुल विशेषो को पशु-विशेषो या वनस्पति विशेषो से उत्पन्न

हृतय । सावित्री । यज्ञा । द्यावापृथिवी । नक्षत्राणि । अन्तरिक्षम् । अहोरात्राणि । सख्या । सध्या । समुद्रा । नद्य । गिरय । क्षत्रौषधिवनस्पतिगन्धर्वाप्सरस । नागा । वयासि सिद्धा । साध्या । विप्रा । यक्षा । रक्षासि । भूतान्येवमन्तानि तृप्यन्तु । शा० गृ० सू० 4 9 3

दिव्याना सर्पाणामधिपतये स्वाहा दिव्येभ्य सर्पेभ्य स्वाहा । शा०गृ०सू० 4 15 4

देवा ऋषय सर्वाणि छन्दास्योंकारो वषट्कारो व्याहृतय सावित्री यज्ञा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षमहोरात्राणि साख्या सिद्धा समुद्रा नद्यो गिरय क्षेत्रौषधि वनस्पतिगन्धर्वाप्सरसो नागा वयासि गाव साध्या विप्रा यक्षा रक्षासि भूतान्येव मन्तानि । आ० गृ० सू० 3 4 1

1 पुरुषव्याघ्राय दुर्मदम् । वा० स० 30 8

ऋक्षीका पुरुषव्याघ्रा परिमोषिण आव्याधिन्यस्तस्करा अरण्येष्वाजायेरन् । शत० ब्रा० 13 2 4 2

2 दे० आ० गृ० सू० 3 4 1 ऊपर ।

हुआ माना जाता है। कश्यप (कच्छप) एक ऋषि[1] का एवं एक पुरोहित-कुल[2] का नाम है। यह नाम अथर्ववेद और परवर्ती वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है, जहां इसे सर्ग-शक्ति-संपन्न माना गया है और स्रष्टा प्रजापति के नाम से याद किया गया है। शतपथ ब्राह्मण[3] में प्रजापति कूर्म के रूप में उभरते है। शतपथ यह भी कहता है कि चूंकि कूर्म का कश्यप के साथ तादात्म्य है इसलिए मनुष्य कहते है : सभी प्राणी कश्यप के अपत्य है। ऋग्वेद[4] में कतिपय वर्गों के नाम ये है : मत्स्य (सायण के अर्थ भिन्न है)। अज, शिग्रु, वेद में आये पुरोहित-कुलों के नाम है : गोतम (बैल), वत्स (बछड़ा), शुनक (कुत्ता), कौशिक (उलूक), और मांडूकेय (मेंढक का अपत्य)। संवरण के पिता ऋक्ष का भी ऋग्वेद[5] में प्रसंग आता है; कुरुओं की उत्पत्ति इन्ही से बताई जाती है। बाद के संस्कृत साहित्य में ऋक्ष रीछ मात्र का वाचक रह गया है। यह सब-कुछ होने पर भी हॉप्किन्स को इस बात के विषय में संदेह है कि ऋग्वेद मे पशुओं के नाम पशु-प्रतीकवाद की ओर निर्देश करते है या नही ?

दिव्यीकृत पार्थिव पदार्थ (§ 66)—

प्रकृति के दृश्यों और शक्तियों के साथ-साथ, जोकि बहुधा अन्तरिक्ष-स्थानीय एवं द्युस्थानीय है, पृथिवी और पृथिवी की सतह पर के विविध प्राकृतिक एव कृत्रिम पदार्थ भी ऋग्वेद में देवता माने गये है और इन अचेतन पदार्थों की मिन्नत-समाजत को मनुष्यों के लिए विशेष-रूप से उपयोगी बताया गया है। वैदिक मानव की इस प्रवृत्ति को हम सर्वदेववादी धारणा नही कह सकते, क्योकि इस धारणा के अनुसार प्रत्येक पदार्थ को पृथक्-पृथक् देवता माना जाता है; अलबत्ता इसे हम देवाश्रयात्मक (Fetishistic) कह सकते है।

नदियों का वर्णन—जिनकी विग्रहवत्ता देवियों के रूप में हुई है—पहले किया जा चुका है।

ऋग्वेद के आर्य को पर्वतों में एक खास प्रकार की चेतना दीख पड़ती थी।

---

1. ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः। ऋ० 9.114.2.
2. असितमृगाः कश्यपानां सोमपीथमभिजिग्युः। ऐ० ब्रा० 7.27.
3. दे० शत० ब्रा० 7.5.1.5. पृ० 394.
4. पुरोळा इत्तुर्वशो यक्षुरासीद् राये मत्स्यासो निशिता अपीव। ऋ० 7.18.6.
   आ पक्थासो भलानसो भनन्तालिनासो विषाणिनः शिवासः। ऋ० 7.18.7.
   आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वताता मुषायत्।
   अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्रुरश्व्यानि॥ ऋ० 7.18.19.
5. ऋज्राविन्द्रोत आ ददे हरी ऋक्षस्य सूनवि। आश्वमेधस्य रोहिता। ऋ० 8.68.15.

देवता के रूप मे लगभग 4 वार एकवचन मे और 20 वार बहुवचन मे पर्वतो का प्रयोग आया है। देव-रूप मे वे कभी भी अकेले नही आते, अपितु अन्य प्राकृतिक पदार्थों के साथ आते है जैसे कि जल, नदी, वनस्पति, वीरुध् और द्यावा पृथिवी[1] अथवा सविता, इन्द्र एव कुछ अन्य देवता[2]। वे वीर्य-सपन्न वृष हैं, अचल आवास वाले है और खाद्य सामग्री मे मानव की तरह वे भी आनन्द लेते है[3]। पर्वत का 3 वार इन्द्र के साथ देवता-द्वन्द्व मे भी आह्वान हुआ है—इन्द्रा-पर्वता[4]। यह देवताद्वयी एक विपुलाकार रथ पर बैठकर चलती है। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे हमे पुत्र-पौत्रोपेत वननीय भोज्य प्रदान करें[5]। यह पर्वत अद्रि-देव जैसे प्रतीत होते है, जिन्हे मानव-आकार मे इन्द्र का साथी दिखाया गया है।

ओषधियो को भी दिव्य विग्रहवत्ता की दृष्टि से सराहा गया है। ऋग्वेद का एक सकल विशाल सूक्त[6] उनकी स्तुति मे, विशेषतया उनकी भैषज्यमयी शक्ति को लक्ष्य करके, कहा गया है। ओषधियो को माताए और देविया बताया गया है और सोम को उनका राजा। एक अन्य ग्रन्थ मे भेषज के रूप मे वरती जानेवाली ओषधियो को पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाली देविया तक कहा गया है[7]। अपत्य की प्राप्ति मे वनस्पतियो का हाथ रहता है और इस निमित्त उन्हें पशु-बलि तक प्रदान की जाती है[8]।

वनस्पतियो का भी कुछेक वार देव-रूप मे, एकवचन या बहुवचन मे, मुख्यत सलिलो एव पर्वतो के साथ आह्वान हुआ है[9]। परवर्ती ग्रन्थो मे विवाह-अवसर

1 तन्नो राय पर्वतास्तन्न आपस्तद् रातिषाच ओषधीरुत द्यौ।
वनस्पतिभि पृथिवी सजोषा उभे रोदसी परि पासतो न ॥ ऋ० 7 34 23

2 तन्नोऽहिर्बुध्न्यो अद्भिरर्कैस्तत्पर्वतस्तत्सविता च नो धात्।
तदोषधीभिरभि रातिषाचो भग पुरंधिर्जिन्वतु प्र राये ॥ ऋ० 6 49 14

3 शृण्वन्तु नो वृषण पर्वतासो ध्रुवक्षेमास इळया मदन्त। ऋ० 3 54 20

4 शिशीतमिन्द्रापर्वता युव न। ऋ० 1 122 3
युव तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा ये न पृतन्यादप ततमिद्धतम्। ऋ० 1 132 6

5 इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वहत सुवीरा।
वीत हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथा गीर्भिरिळया मदन्ता ॥ ऋ० 3 53 1

6 या ओषधी पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुग पुरा।
मनै नु बभ्रूणामह शत धामानि सप्त च ॥ ऋ० 10 97 1 आदि पूर्णसूक्त

7. देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे। अथ० 6 136 1

8 ओषधीभ्यो वेहत मालभेत प्रजाकाम ओषधयो वा एत प्रजायै परि बाधन्ते।
तै० स० 2 1 5 3

9. वनस्पतिभि पृथिवी सजोषा उभे रोदसी परि पासतो न। ऋ० 7 34 23

पर विशाल वृक्षो के लिए पूजा-अर्पण का विधान आता है।

वन-देवी को अरण्यानी के नाम से ऋग्वेद के दशम मण्डल के 146वे सूक्त मे बुलाया गया है। यहा उसे मृगो की माता कहा गया है जो अकृष्टा होकर भी शस्य-सपन्न है, और उसकी घनघोर निर्जनता मे सुनाई पडनेवाले शब्दो का फड-कते शब्दो मे चित्रण किया गया है[1]। इतना होने पर भी ओषधियो, वृक्षो और वन-देवो को न केवल ऋग्वेद मे अपितु अथर्ववेद मे एव निम्नतर कोटि के गृह्य कर्मो मे महत्त्वपूर्ण स्थान नही मिल पाया है। अलवत्ता बौद्ध साहित्य में मानव-जीवन के साथ उनका सबन्ध निम्न कोटि के दूसरे देवताओ की अपेक्षा कही बढ कर सामने आता है।

उपकरण—

कुछेक अचेतन पदार्थो की भी विग्रहवत्ता करके उपासना की गई है। इन पदार्थो मे यज्ञ के विविध उपकरण समिलित है। इनकी विग्रहवत्ता को वार्थ महाशय ने भ्रामक शब्दो मे 'याज्ञिक सर्व-देववाद' कह दिया है। उपकरणो मे सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण है—यज्ञ-यूप, जिसकी वनस्पति या स्वरु इस नाम से ऋग्वेद के तृतीय मडल के अष्टम सूक्त मे विग्रहवत्ता उभारी गई है। यूप का यहा कुल्हाडी से सुकृत्त एव यतस्रुक् पुरोहितो द्वारा निर्मित, अर्थात् पुरोहितो द्वारा अच्छी तरह ठुके हुए रूप मे वर्णन करके उससे प्रार्थना की गई है कि वह हविष् को देवताओ तक पहुचा देवे[2]। गाडे गये यूपो के विषय मे कहा गया है कि वे देवता

त्रि सप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन् पर्वता अग्निमूतये। ऋ० 10 64 8
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्य। माध्वीर्गावो भवन्तु न।
आपो वात पर्वतासो वनस्पति श्रृणोतु पृथिवी हवम्। वा० सं० 6 4

1 अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।
कथा ग्राम न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दतीँ॥ ऋ० 10 146 1
वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिक।
आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते॥ ऋ० 10 146 2
आञ्जनगन्धि सुरभि बह्वन्नामकृषीवलाम्।
प्राह मृगाणा मातरमरण्यानिमशसिषम्॥ ऋ० 10 146 6

2. अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते मधुना दैव्येन।
यदूर्ध्वस् तिष्ठा द्रविणेह धत्ताद् यद्वा क्षयो मातुरस्या उपस्थे॥ ऋ० 3 8 1.
ये वृक्णासो अधि क्षमि निमितासो यतस्रुच।
ते नो व्यन्तु वार्य देवत्रा क्षेत्रसाधस॥ ऋ० 3 8 7.
हसा इव श्रेणिशो यताना शुक्रा वसाना स्वरवो न आगु।

है और मंडराते हंसों की श्रेणियों की तरह हमारे पास आये है और कवियों द्वारा उन्नीयमान होने पर ये देवता, देवताओं के पथ पर अग्रसर हो जाते है[1]। आप्री सूक्त के दशम या एकादश मन्त्र मे यूप का वर्णन आता है कि उसे घी द्वारा तीन वार मार्जित किया जाता है और उससे प्रार्थना की जाती है कि वह हविष् को देवताओ के पास पहुँचने दे। उन्ही सूक्तो के अन्य मन्त्रों में बर्हि को 2 बार[2] देवता कहा गया है और यज्ञशाला के द्वार को अनेक वार 'देवीः द्वारः' बताया गया है[3]।

ग्रावन् या अद्रि का 3 सूक्तों मे विग्रहवत्त्व संपन्न हुआ है[4]। उन्हें अमर्त्य, अजर और स्वर्ग से भी बलवत्तर बताया गया है। सवन करते समय वे अश्व या वृषभ की तरह दीखते है और उस समय की उनकी ध्वनि स्वर्ग तक जा पहुंचती है। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे दानवों और निर्ऋति का अपसारण करके हमें धन और अपत्य प्रदान करें। ऋग्वेद के दो मन्त्रो[5] में मुसल-उलूखल से प्रार्थना की गई है कि वे द्युमत्तम ध्वनि उत्पन्न करे और इन्द्र के लिए सोम-सवन करे।

अथर्ववेद के एकादश काण्ड के 27 मन्त्रों वाले सप्तम सूक्त में उच्छिष्ट 'यज्ञावशेष' को एवं विविध यज्ञ-स्रुवाओं को दिव्य-शक्ति-संपन्न बताते हुए उन्हीं में अशेष जगती का प्रतिष्ठान दिखाया गया है।

उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्ताद्देवा देवानामपि यन्ति पाथः ॥ ऋ० 3 8.9

1. यान् वो नरो देवयन्तो निमिम्युर्वनस्पते स्वधितिर्वा ततक्ष।
ते देवासः स्वरवस्तस्थिवांसः प्रजावदस्मे दिधिषन्तु रत्नम् ॥ ऋ० 3 8 6.
हंसा इव श्रेणिशो यतानाः शुक्रा वसानाः स्वरवो न आगुः।
उन्नीयमानाः कविभिः पुरस्ताद् देवानामपि यन्ति पाथः ॥ ऋ० 3 8 9.
2. देवं बर्हिर्वर्धमानं सुवीरं स्तीर्णं राये सुभरं वेद्यस्याम्। ऋ० 2.3.4.
वनस्पतिरवसृजन्नुपस्थाद्। ऋ० 2 3.10
अहेळता मनसा देव बर्हिरिन्द्रज्येष्ठाँ उशतो यक्षि देवान्। ऋ० 10 70.4.
3. देवीर्द्वारो वि श्रयध्वं सुप्रायणा न ऊतये। प्रप्र यज्ञं पृणीतन। ऋ० 5.5.5.
4 आ व ऋञ्जस ऊर्जां व्युष्टिष्विन्द्रं मरुतो रोदसी अनक्तन। ऋ० 10 76 1. आदि
प्रैते वदन्तु प्र वयं वदाम ग्रावभ्यो वाचं वदता वदद्भ्यः। ऋ० 10 94.1. आदि
प्र वो ग्रावाणः सविता देवः सुवतु धर्मणा। धूर्षु युज्यध्वं सुनुत। ऋ० 10.175.1.
5. यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः ॥ ऋ० 1.28.5.
उत स्म ते वनस्पते वातो वि वात्यग्रमित्।
अथो इन्द्राय पातवे सुनु सोममुलूखल ॥ ऋ० 1 28.6.
उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।

शुन और सीर नाम के कृषि-सबन्धी देवताओ का भी ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रो[1] मे आह्वान हुआ है और उनके लिए यज्ञ[2] मे पुरोडाश अर्पण करने का विधान मिलता है।

अन्तत. आयुधो का भी कभी-कभी दिव्यीकरण सपन्न हुआ है। ऋग्वेद का एक सकल सूक्त[3] विविध आयुधो की प्रशसा मे कहा गया है जैसे कवच, धनुप, वाण और तूणीर। देवता के रूप मे वाण की प्रशसा की गई हे और उससे कहा गया है कि वह हमारी शत्रुओ के मध्य सुरक्षा करे। दुन्दुभि का आह्वान आपदो और दानवो का अपसारण करने के लिए किया गया है और अथर्ववेद मे एक सकल सूक्त[4] दुन्दुभि की प्रशसा मे आया है।

प्रतीक—

उत्तर वैदिक कालीन साहित्य मे भौतिक पदार्थो का उल्लेख कभी-कभी देवताओ के प्रतीक के रूप मे हुआ है, और हो सकता है कि ऐसे स्थलो पर प्रतिमा से तात्पर्य रहा हो। उदाहरण के लिए जहा ऋग्वेद मे एक कवि कहता है 'कौन मेरे इस इन्द्र को दश गौए देकर खरीदेगा ? जव मेरा इन्द्र उसके शत्रुओ का वध कर चुकेगा तव वह क्रेता मेरे इन्द्र को मुझे लौटा देगा[5]। ब्राह्मणो के प्रक्षिप्ताशो और सूत्रो मे तो प्रतिमा के सकेत साफ झलकते हैं।

उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्त समाहितम् ॥ अथ० 11 7 1 आदि पू० सू०

1 शुनासीराविमा वाचं जुषेथा यद्दिवि चक्रथु पय । तेनेमामुप सिञ्चतम् ।
ऋ० 4 57 5

दे० 4 57 6 एवं 7 पृ० 359

2 अथ शुनासीर्यो द्वादशकपाल पुरोडाशो भवति । शत० ब्रा० 2 6 3 5

3 जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद् वर्मी याति समदामुपस्थे ।
अनाविद्धया तन्वा जय त्व स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु ॥ ऋ० 6 75 1 आदि पू०
सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभि सनद्धा पतति प्रसूता ।
यत्रा नर स च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषव शर्म यसन् ॥ ऋ० 6 75 11
आलाक्ता या रुरुशीर्ष्ण्यथो यस्या अयो मुखम् ।
इद पर्जन्यरेतस इष्वै देव्यै बृहन्नम ॥ ऋ० 6.75 15.

4 उच्चैर्घोषो दुन्दुभि सत्वनायन्वानस्पत्य संभृत उस्रियाभि । अथ० 5 20 1.

5 क इम दशभिर्ममेन्द्र क्रीणाति धेनुभि ।
यदा वृत्राणि जङ्घनदथैन मे पुनर्ददत् ॥ ऋ० 4 24 10
भूयसा वस्नमचरत् कनीयोऽविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन् ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥ ऋ० 8 1.5

विविध यज्ञ-कार्यों में सूर्य की गति और उसके आकार का बोधक होने के कारण चक्र सूर्य का प्रतीक बनकर आता है। उदाहरणार्थ वाजपेय यज्ञ मे इसका उपयोग अग्नि-सस्थापन के अवसर पर होता है। वेदोत्तरकालीन साहित्य में यह चक्र विष्णु का एक प्रधान आयुध बन गया है।

अस्ताचल को जाते समय जल को खींचने वाले सूर्य का प्रतीक सुवर्ण अथवा अंगार को बनाया जाता था[1]; और जब यज्ञाग्नि को सूर्यास्त से पूर्व समिद्ध न करके बाद मे समिद्ध किया जाता था तब सूर्य का प्रतीक सवर्ण को बनाकर रखा जाता था[2]। अग्नि-वेदि का चयन करते समय भी स्वर्ण-चक्र का उपयोग सूर्य के प्रतीक रूप मे किया जाता था[3]।

ऋग्वेद के दो मन्त्रो मे 'शिश्नदेवाः' पद आता है। इससे झलक सकता है कि प्राचीन वैदिक काल मे भी लिंग-पूजा का प्रचार रहा होगा और उसके लिए किसी प्रतीक-विशेष का भी चलन रहा होगा। किंतु इस प्रकार की उपासना ऋग्वेदीय धार्मिक धारणाओं के विपरीत प्रतीत होती है, क्योकि इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वे शिश्न-देवो को ऋत अर्थात् यज्ञ के समीप न फटकने दे[4] और साथ ही यह भी आता है कि सौ फाटको वाले दुर्ग को दलते समय इन्द्र ने शिश्न-देवों का वध किया था[5]। वेदोत्तर काल में लिंग को शिव की उत्पादक शक्ति का प्रतीक माना जाने लगा और इसकी पूजा भारत मे सब जगह फैल गई।

असुर और राक्षस

असुर (§ 67)—

सौख्यदायी देवो के साथ-साथ कुटिल स्वभाव वाले प्राणी भी ऋग्वेद मे आते है, जिन्हे विविध नामो से पुकारा जाता है। सपूर्ण वैदिक साहित्य मे इस प्रकार के द्यु-स्थ दानवो को असुर कहा गया है, जो गाथेय युद्धो मे देवो के अथक

1. उदङ्ङग्नीमेवाद्यायोपर्युपरि धारयन् गृह्णीयाद्धिरण्यं वोपर्युपरि धारयन् गृह्णीयात्तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति। शत० ब्रा० 3 9 2 9
2. हरितं हिरण्यं दर्भे प्रबध्य पश्चाद्धरेत्तद्वै सूर्यात्तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति। शत० ब्रा० 12.4 4 6
3. अथ रुक्ममुपदधाति। असौ वा आदित्य एष रुक्म एष हीमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते रोचो ह वै तं रुक्म इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवा अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति स हिरण्मयो भवति परिमण्डलः। शत० ब्रा० 7 4.1 10.
4. मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः। ऋ० 7 21.5.
5. अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो घ्नञ्छिश्नदेवाँ अभि वर्पसा भूत्। ऋ० 10.99 3.

प्रतिद्वन्द्वी रहते आये थे और जो शायद ही कही पर मानव-शत्रु के रूप मे आये हो[1]। किंतु ऋग्वेद में ही 'असुर' शब्द का प्रयोग 'राक्षस' अर्थ मे कुछ वार आ जाता है। इनमे से वहुवचन मे केवल 4 वार यह शब्द 'अदेव' इस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र से कहा गया है कि वह अदेव असुरो का अपनोदन कर दें[2]। अन्यथा देवो के प्रतिद्वन्द्वि-रूप मे असुरो का केवल दशम मडल मे उल्लेख मिलता है। देवो ने असुरो का वध किया[3]। तव अग्नि प्रतिज्ञा करते हैं कि वे एक ऐसा महत्वशाली सूक्त रचेंगे जिसके द्वारा देवता लोग असुरों को पराभूत कर देंगे[4]। यहा तक कहा गया है कि देवो ने उद्गूर्ण-वल असुरो के प्रति श्रद्धा धारण की[5]। असुर शब्द 3 वार दैत्य-विशेप का अभिधान वनकर आता है। वृहस्पति से प्रार्थना की गई है कि वे प्रतप्त पाषाण (सायण 'अशिन'; वरिणा=वरिम्णा) द्वारा वृकद्वरस् के वीरो का सहार कर दे[6]। ऋजिश्वा के साथ मैत्री करके इन्द्र ने मायावी पिप्रु असुर के दृढ किलो को भेद दिया[7]। इन्द्रा-विष्णू ने शम्वर के 99 किले तोड़ डाले और वर्चिन् के 100000 वहादुरो को धराशायी किया[8]। 'असुरहन्' इस पद मे भी असुर शब्द का अशिव अर्थ सनिहित है और यह 3 वार आता है : एक वार इन्द्र के लिए[9], एक वार अग्नि के लिए और एक वार सूर्य के लिए[10]। पुरानी वैदिक धारणा के अनुसार एक देवता का एक ही राक्षस के साथ युद्ध होना उचित था जैसाकि इन्द्र और वृत्र का। किंतु वाद मे यह धारणा देव-सामान्य और असुर-सामान्य के पारस्परिक युद्ध मे परिवर्तित

---

1. यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः।
   अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ॥ अथ० 8.6 5.
2. अनायुधासो असुरा अदेवाश्चक्रेण ताँ अप वप ऋजीषिन्। ऋ० 8 96 9.
3. हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः। ऋ० 10 157 4.
4. तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
   ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम् ॥ ऋ० 10 53 4.
5. यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
   एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥ ऋ० 10 151 3.
6. बृहस्पते तपुषाश्नेव विध्य वृकद्वरसो असुरस्य वीरान्। ऋ० 2.30 4.
7. दृळ्हानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्वना। ऋ० 10.138.3
8. इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्।
   शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान् ॥ ऋ० 7.99 5.
9. पुरुहूत पुरुगूर्तोऽसुरघ्नः। ऋ० 6 22.4.
10. प्राग्नये विश्वशुचे धियंधेऽसुरघ्ने मन्म धीतिं भरध्वम् ॥ ऋ० 7 13 1.
    ज्योतिर्जिं असुरहा सपत्नहा। ऋ० 10 170.2.

हो गई और इसमे देवो और असुरो को दो प्रतिद्वन्द्वी दलो मे एक दूसरे के प्रतिकूल खडा कर दिया गया। ब्राह्मणो की धारणा कुछ ऐसी ही है। इन ग्रन्थो मे आनेवाले देवासुर युद्धो की प्रमुख विशेषता यह है कि इनमे आरम्भ मे देवताओ की पराजय होती है किंतु वे तरह-तरह की चाले चलकर बाद मे विजय प्राप्त कर लेते है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हमे विष्णु-गाथा मे मिलता है, जिसमे विष्णु देवो की ओर से वामन बनकर 3 क्रमण करते है और बाद के कथा-साहित्य मे ऐसा करके बलि को पाताल मे पठाते है।

ब्राह्मणो मे असुरो का सबन्ध अन्धकार के साथ है[1], दिन का सबन्ध देवो के साथ है और रात्रि का असुरो से[2]। फिर भी असुरो को सदा प्रजापति की सतान बताया गया है, और कहा गया है कि प्रारभ मे असुर भी देवो-जैसे ही थे। सभवत. इसी कारण दैत्य स्वभाव वाले प्राणियो को भी कभी-कभी 'देव' कह कर बुलाया गया है[3]।

अथर्ववेद और उससे बाद के साहित्य मे असुर शब्द का अर्थ निरा राक्षस रह गया है। किंतु अवेस्ता मे 'अहुर्' सर्वोच्च देवता का नाम है। इससे यह बात व्यक्त होती है कि असुर शब्द का पुराना असली अर्थ 'देव' है, जैसाकि रुद्र को 'असुर देव'[4] कहने से ज्ञात होता है। 'देव' अर्थ से हटकर 'असुर' अर्थ मे परिवर्तन होने का कारण उस राष्ट्रिय सघर्ष को बताया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप वैदिकेतर आर्यो के असुर 'देवता' वैदिक आर्यो के लिए 'दैत्य' बन गये थे। किंतु ऐसा मानने के लिए परपरा-सबन्धी प्रमाण नही मिलते। सच पूछो तो इस परिवर्तन का समाधान स्वय वेद के ही निम्न-लिखित विकास मे मिल जाता है। 'देव' शब्द के अर्थ मे और 'असुर' शब्द के प्राचीन अर्थ मे एक विशेषता है। वेद मे 'असुर' शब्द का प्रयोग खासतौर से वरुण अथवा मित्र-वरुण के लिए किया गया है, जिनकी माया मे 'गभीर मानसिक शक्ति' का सविशेष निधान है। किंतु इसी माया शब्द का प्रतिद्वन्द्वियो के हस्तलाघव के लिए भी प्रयोग हुआ है और इस प्रकार

1 अथ हैन शश्वदप्यसुरा उपसेदुरित्याहु.।
तेभ्यस्तमश्च माया च प्रददौ॥ शत० ब्रा० 2 4 2 5

2 अहर्देवानामासीद्रात्रिरसुराणाम्। तै० स० 1 5 9 2

3 ये देवा यज्ञहनो यज्ञमुषः पृथिव्यामध्यासते। अग्निर्मा तेभ्यो रक्षतु गच्छेम सुकृतो वयम्।
यज्ञहनो वै देवा यज्ञमुषः सन्ति। तै० स० 3 5 4 1.
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्हविषा नि षेध।
अथ० 3 15 5.

4 यच्छ्वा मुहे मानुषाय नमोभिर्यमसुर दुपस्य। ऋ० 5 12.11

'असुर' शब्द शनै:-शनै: 'अभद्र' अर्थ के साथ जा लगा है[1]। हो न हो वैदिक कवियो के लिए 'असुर' शब्द का अर्थ 'गभीर मानसिक शक्ति वाला' यह रहा था और ऐसी अवस्था मे इसका प्रयोग देवताओ के प्रतिद्वन्द्वियो के लिए भी होता रहा होगा। ऋग्वेद के एक सूक्त[2] मे तो दोनो अर्थो की प्रतीति स्पष्ट हो जाती है। ऋग्वेद-काल के अन्तिम चरण मे 'असुर' शब्द का देवताओ के लिए व्यवहार बन्द होने लगा। इस प्रवृत्ति को इस बात से और भी बल मिल गया कि ऊची कोटि के दैत्यो का बोध कराने के लिए किसी अच्छे शब्द के न मिलने पर उस समय के व्युत्पत्तिकारो ने 'असुर' शब्द को नकारात्मक मान लिया और इसके एक भाग 'सुर' को देवता के अर्थ में बरतना आरम्भ कर दिया। 'सुर' शब्द का सर्व-प्रथम प्रयोग उपनिषदो मे मिलता है।

पणि—

अन्तरिक्ष के तुगतर पटल मे रहनेवाला दैत्यो का एक वर्ग 'पणि' है, जो प्रारम्भ मे इन्द्र का शत्रु था[3] और बाद मे इन्द्र के सहकारी सोम, अग्नि, बृहस्पति और अगिरस् सभी का समान शत्रु बन गया। लगभग उन सभी मन्त्रो[4] मे, जिनमे पणियो का उल्लेख आता है, इनकी गौओ का निर्देश इनकी सपत्ति के रूप मे मिलता है[5]। इसी प्रकार का एक सकेत वहा भी मिलता है जहा अग्नि पणियो के द्वार को खोलते है[6]। एक मत्र मे आता है कि देवो ने पणियो द्वारा गौ मे निगूढ घृत

1. निर्माया उ त्ये असुरा अभूवन् त्वं च मा वरुण कामयासे। ऋ० 10 124 5
दृळ्हानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्वना। ऋ० 10.138 3.
2 इमं नो अग्न उप यज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्। ऋ० 10 124 1 आदि पृ०
अदेवाद्देवः प्रचता गुहा यन् प्रपश्यमानो अमृतत्वमेमि।
शिवं यत् सन्तमशिवो जहामि स्वात् सख्यादरणीं नाभिमेमि॥ ऋ० 10.124 2
देखो विशेषतः 10 124 3 5
3. शतैरपद्रन् पणय इन्द्रात्र दशोणये कवयेऽर्कसातौ।
वधैः शुष्णस्याशुषस्य माया पित्वो नारिरेचीत् किं चन प्र॥ ऋ० 6 20 4.
अयमुशानः पर्यद्रिमुस्रा ऋतधीतिभिरृतयुग्युजानः।
रुजदरुग्णं वि वलस्य सानुं पणीँर्वचोभिरभि योधदिन्द्रः॥ ऋ० 6.39 2.
4. किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः। ऋ० 10 108 1. आदि
दे० 6 39.2. ऊपर।
5. निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्। ऋ० 2.24 6.
त्वं त्यत्पणीनां विदो वसु। ऋ० 9.111.2
6. स सुक्रतुर्यो वि दुरः पणीनां पुनानो अर्कं पुरुभोजसं नः। ऋ० 7 9 2

को ढूढ लिया[1]। परिणयो के विषय मे कहा गया है कि उन्हे सौ सिर पटकने पर भी मित्र-वरुण की महत्ता नही मिल सकी[2]।

ऋग्वेद मे 'पणि' शब्द बहुवचन मे लगभग 16 बार आया है, किंतु समुदाय के अर्थ मे एकवचन मे भी इसका 4 बार प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए, वर्णन आता है कि इन्द्र (या अग्नि-सोम) ने दुधारू धेनुओ के परिधाता वल को रव के साथ मारकर उसकी गौए लूट ली[3]। एक जगह सोम से कहा गया है कि हे सोम ! तुम भसकनेवाले पणि को नष्ट कर दो, क्योकि वह तो सदा सोलह आने वृक है[4]। दक्षिणा देने मे कृपणता बरतनेवालो का बोधक बनकर 'पणि' शब्द बार-बार आता है और तब इसका प्रयोग बहुतायत से एकवचन मे होता है। उसका 'कृपण' यह अर्थ गाथात्मक विकास के द्वारा उन दैत्यो पर जा पडा जो स्वर्ग की स्वर्णराशि को आवृत किये रहते है।

दास या इसके पर्याय 'दस्यु' शब्द का भी अन्तरिक्षस्थ दैत्यो के अर्थ मे प्रयोग आया है। दास का इतिहास 'वृत्र' के इतिहास से भिन्न प्रकार का है। हो सकता है कि 'दास' शब्द मूलतः आर्यो के शत्रु भारतीय आदिवासियो के लिए आता रहा हो ; किंतु ऋग्वेद मे इससे कभी-कभी गाथेय प्राणियो के वर्ग का भी बोध होता है। क्योकि ऋग्वेद में ऐतिहासिक और गाथेय तत्त्वो के बीच की रेखा कुछ धुधली-सी पड गई है। यह बात विशेष रूप से दास व्यक्तियो के विषय मे अधिक चरितार्थ होती है। इनमे से कुछ नामो का गाथात्मक ढग से व्याख्यान किया जाता है, जैसेकि शुष्ण का, किंतु दूसरे नाम तो अनार्यमात्र के बोधक समझे जा सकते हैं, जैसेकि 'इलीविश'।

'दस्यु' शब्द के एकवचन[5] और बहुवचन[6] दोनो तरह के रूप इन्द्र द्वारा पराभूत हुए शत्रुओ का अभिधान बनकर आते हैं। कभी-कभी ये रूप वृत्र-हत्या के

1. त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन् । ऋ० 4 58 1.
2. न वां द्यावोऽहभिर्नोत सिन्धवो न देवत्वं पणयो नानशुर्मघम् ।
ऋ० 1.151.9
3. इन्द्रो वलं रक्षितारं दुघानां करेणेव वि चकर्ता रवेण ।
स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानोऽरोदयत्पणिमा गा अमुष्णात् ॥ ऋ० 10 67.6.
अग्नीषोमा चेति तद् वीर्यं वां यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः ।
अवातिरतं बृसयस्य शेषोऽविन्दतं ज्योतिरेकं बहुभ्यः ॥ ऋ० 1.93.4.
4. मारोण सोम नो हि कं सखित्वनाय वावशुः ।
जही न्यत्रिणं पणिं वृको हि षः ॥ ऋ० 6 51.14.
5. यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः । ऋ० 2.12 10.
6. इन्द्रो यो दस्यूँरधराँ अवातिरत् । ऋ० 1.101.5.

प्रसग मे भी आते है[1] । फलतः इन्द्र को कभी-कभी 'उग्र दस्युहा' भी कहा गया है[2] । दभीति के हितार्थ इन्द्र ने अपनी माया से 30,000 दासो को धराशायी किया[3] और दभीति के लिए ही उन्होने एक हजार दस्युओ को रस्सी के विना ही फासी देकर मार डाला[4] । इन्द्र ने दध्यञ्च् (और) मातरिश्वा के लिए दस्युओ से गो-व्रज जीत कर धन प्राप्त किया[5] । जिन स्थलो पर आर्य और दस्यु अथवा दास दोनो ही प्रकार के शत्रुओ के विरोध मे इन्द्र से सहायता[6] मागी गई है अथवा जहा यह आता है कि इन्द्र आर्यो और दस्युओ अथवा दासो के भेद को पहचानते है[7] वहा नि सदेह दास और दस्यु का तात्पर्य लौकिक शत्रुओ से रहता है । और हो सकता है कि जहा इन्द्र आर्यो की तरफ से दस्युओ के साथ युद्ध करते हैं वहा भी तात्पर्य इन्ही शत्रुओ से रहा हो[8] । वहुधा विजेता आर्य दासो को अपना वन्दी वना लेते थे, इस कारण ऋग्वेद मे दो-तीन वार यह शब्द 'वन्दी' अर्थात् 'किंकर' के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है, जो उत्तर-वैदिक काल मे इस शब्द का साधारण अर्थ वन गया है[9] । दूसरी ओर वे दस्यु, जो अपनी माया के वल से द्युलोक मे पहुचना चाहते हैं और जिन्हे इन्द्र नीचे धकेल देता है[10], जिन रोतो हुओ को वह स्वर्ग से नीचे फेक

1. अरन्धयः शर्धत इन्द्र दस्यून् । ऋ० 6.23 2.
2. स वज्रभृद् दस्युहा भीम उग्रः । ऋ० 1.100 12.
   दे० 1 51 6. पृ० 410.
3. अस्वापयद् दभीतये सहस्रा त्रिंशतं हथैः । दासानामिन्द्रो मायया । ऋ० 4 30 21.
4. अरज्जौ दस्यून्त्समुनब्दभीतये सुप्राव्यो अभवः सास्युक्थ्यं । ऋ० 2 13 9.
5. अह दस्युभ्य. परि नृम्णमा ददे गोत्रा शिक्षन् दधीचे मातरिश्वने ।
   ऋ० 10 48 2
6. यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुताऽदेव इन्द्र युधये चिकेतति ।
   अस्माभिष्टे सुषहाः सन्तु शत्रवस्त्वया वय तान् वनुयाम संगमे । ऋ० 10 38 3
7. वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवः । ऋ० 1.51 8.
   अयमेमि वि चाकशद् वि चिन्वन् दासमार्यम् । ऋ० 10 86 19
8. त्वं ह नु त्यददमायो दस्यूँरेकः कृष्टीरवनोरार्याय । ऋ० 6 18 3.
   यद्वा दक्षस्य बिभ्युषो अविभ्यदरन्धय. शर्धत इन्द्र दस्यून् । ऋ० 6.23.2.
   आभिर्विश्वा अभियुजो विषूचीरार्याय विशोऽव तारीर्दासीः । ऋ० 6 25 2.
9. अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः । ऋ० 7.86.7.
   शतं मे गर्दभानां शतमूर्णावतीनाम् ।
   शत दासाँ अति स्रजः ॥ या० नि० 8.3.
10. मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः । अव दस्यूँरधूनुथाः ॥ ऋ० 8 14 14
    यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥ ऋ० 2.12 12

कर भस्म कर डालता है[1], जिन्हे वह चुटकी भर मे अपने पैरो तले रौद डालता है[2], या जिनके विरोध मे वह दासो के ओज को चकनाचूर करके देवो की सहायता करता है[3], ये सभी सचमुच दानव रहे होंगे। और हो सकता है कि यही तात्पर्य वहा भी रहा हो जहा कुहरा और अन्धकार को फैलाते हुए (नष्ट कर दिया—सायण) इन्द्र दस्यु पर धावा बोलते है[4], अथवा दस्युओ और शिम्युओ (सायण—वधकारिण.) को मारने के उपरात वे श्वेतवर्ण सखाओ के साथ क्षेत्र को, वृत्र द्वारा तिरोहित सूर्य को, और जलो को प्राप्त करते है[5], अथवा जहा देवता लोग पृतनाषाट् अग्नि के द्वारा दस्युओ को पराभूत करते हैं[6]। सभवत 'जलो के स्वामी' दास से भी दैत्य ही अभिप्रेत रहा हो[7]। दासो के 7 दुर्ग, जिन्हे वृत्र-पुर की भाति 'शारद' बताया गया है[8], नि सदेह अन्तरिक्ष से सबन्ध रखते है।

दास और दस्यु इन दोनो शब्दो का मौलिक अर्थ है—'दासक (घातक) शत्रु', और गौण अर्थ है—'दानव'। अनेक बार ये दोनो शब्द दानव व्यक्तियो के नाम के साथ जाति-बोधक बनकर भी आते है। दानवो के ऐसे नाम है—नमुचि[9], शबर, शुष्ण, पिप्रु, चुमुरि और धुनि, वर्चिन्, नववास्त्व, त्वाष्ट्र और अहि।

---

1 अवादहो दिव आ दस्युमुच्चा ॥ ऋ० 1 33.7

2 त्वं कुत्सं शुष्णहत्येष्वाविथारन्धयोऽतिथिग्वाय शम्बरम् ।
महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे ॥ ऋ० 1 51 6.
समित्तान्वृत्रहाखिदत्खे अराँ इव खेदया । प्रवृद्धो दस्युहाभवत् । ऋ० 8 77 3

3 प्रार्यो देवा धार्तिरो दासमोजः प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र । ऋ० 10 54 1.

4 आभिर्हि माया उप दस्युमागान् मिहः प्र तम्रा अवपत् तमांसि । ऋ० 10 73 5

5 दस्यून्छिम्यूंश्च पुरुहूत एवैर्हत्वा पृथिव्यां शर्वा नि बर्हीत् ।
सनत् क्षेत्रं सखिभिः श्वित्न्येभिः सनत्सूर्यं सनदपः सुवज्रः ॥ ऋ० 1 100 18.

6 अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवासो असहन्त दस्यून् । ऋ० 3 29 9

7 दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आपः पणिनेव गावः । ऋ० 1 32 11
दे० 5 30.5 पृ० 134
त्वमपो अजयो दासपत्नीः । ऋ० 8 96 18
वृषा न क्रुद्धः पतयद् रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः । ऋ० 10 43 8

8. दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्त् ।
ऋणोरपो अनवद्यार्णा यूने वृत्रं पुरुकुत्साय रन्धीः ॥ ऋ० 1.174 2.
सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्द्धन् दासीः पुरुकुत्साय शिक्षन् । ऋ० 6 20 10.
संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम् । ऋ० 7 103 9

9. वि षू मृधो जनुषा दानमिन्वन्नहन्गवा मघवन्संचकानः ।
अत्रा दासस्य नमुचेः शिरो यदवर्तयो मनवे गातुमिच्छन् ॥ ऋ० 5 30 7.

वृत्र (§ 68)—

अन्तरिक्षस्थ दानवों मे सवसे वढे-चढे और सव की अपेक्षा अधिक वार उल्लिखित है वृत्र, जो इन्द्र के सहज शत्रु है, और जिनके वध के लिए इन्द्र जन्म लेते और अपूर्व्य रूप मे वढते है[1]। फलत. इन्द्र का अपना विशेपण 'वृत्रहा' है। इस सयुक्त पद का विच्छेद ऋग्वेद के दो मन्त्रो मे आता है : 'वृत्रहन् वृत्र का हनन करे'[2] और 'वृत्रहन् ! वृत्रो का हनन कर'[3]। इन्द्र और वृत्र के युद्ध का उल्लेख अनेक वार 'वृत्रहत्य' और कभी-कभी 'वृत्रतूर्य' पदों द्वारा भी किया गया है।

पहले कहा जा चुका है कि वैदिक कवि वृत्र को सर्पाकार अर्थात् कुडली भर कर पड़ा हुआ मानते है। फलतः वृत्र अपाद् और अहस्त है[4], और द्यावा-

---

युजं हि मामकृथा आदिदिन्द्र शिरो दासस्य नमुचेर्मथायन् ।
अश्मानं चित्स्वर्यं वर्तमानं प्र चक्रियेव रोदसी मरुद्भ्यः ॥ ऋ० 5.30 8.
स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः ।
अन्तर्ह्यख्यदुभे अस्य धेने अथोप प्रैद् युधये दस्युमिन्द्रः ॥ ऋ० 5 30.9.
उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि । अवाहन्निन्द्र शम्बरम् ॥ ऋ० 4 30.14.
दे० 7.19 2. पृ० 382.
यः सृबिन्दुमनर्शनिं पिप्रुं दासमहीशुवम् । वधीदुग्रो रिणन्नपः ॥ ऋ० 8 32 2
दे० 10.138 3 पृ० 405.
स्वप्नेनाभ्युप्या चुमुरिं धुनिं च जघन्थ दस्युं प्र दभीतिमावः ॥ ऋ० 2.15 9.
त्वं नि दस्युं चुमुरिं धुनिं चास्वापयो दभीतये सुहन्तु । ऋ० 7 19 4.
उत दासस्य वर्चिनः सहस्राणि शतावधीः । अधि पञ्च प्रधींरिव ॥ ऋ० 4 30 15.
अहन्दासा वृषभो वस्नयन्तोदव्रजे वर्चिनं शम्बरं च । ऋ० 6 47 21
अहं स यो नववास्त्वं बृहद्रथं सं वृत्रेव दासं वृत्रहारुजम् । ऋ० 10 49 6.
यन्मा सावो मनुष आह निर्णिज ऋधक् कृषे दासं कृत्व्यं हथैः । ऋ० 10 49 7.
सनेम ये त ऊतिभिस्तरन्तो विश्वा स्पृध आर्येण दस्यून् ।
अस्मभ्यं तत् त्वाष्ट्रं विश्वरूपमरन्धयः साख्यस्य त्रिताय ॥ ऋ० 2 11 19.
सृजो महीरिन्द्र या अपिन्वः परिष्ठिता अहिना शूर पूर्वीः ।
अमर्त्यं चिद् दासं मन्यमानमवाभिनदुक्थैर्वावृधानः ॥ ऋ० 2.11.2.

1. यज्जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय । ऋ० 8 89 5.
एभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि येभिरौक्षद् वृत्रहत्याय वज्री ॥ ऋ० 10 55.7.
2. वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा । ऋ० 8 89.3.
3. इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा । वृत्राणि वृत्रहञ्जहि ॥ ऋ० 8.17.9.
4. अपादहस्तो अपृतन्यदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान । ऋ० 1.32.7.

पृथिवी को ढक कर पड़े हुए वृत्र के सिर को इन्द्र काट डालते है[1] और अमित प्रसार वाले वृत्र के जबड़ो को वे अपने वज्र से दरड़ डालते है[2]। वृत्र की फुंकार के अनेक बार सकेत आते है[3]। वृत्र के पास स्तनयित्नु है[4], विद्युत्, तन्यतु (गर्जन), कुहरा (वर्षा) और हिम (अशनि) हैं[5]।

वृत्र की माता का नाम दानु है और उसकी तुलना धेनु के साथ की गई है[6]। इस दानु शब्द का उस दानु शब्द के साथ तादात्म्य प्रतीत होता है जो अनेक वार नपुसकलिग में 'सरित्' अर्थ मे, और एक वार स्त्रीलिंग मे दिव्य जलो के लिए प्रयुक्त हुआ है। उसी शब्द का पुल्लिग मे, मातृ-नाम की तरह, वृत्र या अहि[7], और्णवाभ और इन्द्र के द्वारा मथे गये वृत्र, एवं नमुचि, और कुयव आदि दानवो[8] के लिए प्रयोग हुआ है।

, मातृक 'दानव' शब्द का इन्द्र द्वारा परास्त किये गये एक राक्षस के लिए 5 वार प्रयोग हुआ है। इन्द्र ने सुत सोम को पीकर मायावी दानव की माया को धूल मे मिला दिया[9]। उन्होने फुकारते हुए दानव को कुचल डाला और यह सब कुछ

अभि वृत्रं वर्धमानं पियारुमपादिन्द्र तवसा जघन्थ। ऋ० 3.30 8.

1. वृत्रस्य यद्बद्बधानस्य रोदसी मदे सुतस्य शवसाभिनच्छिरः। ऋ० 1.52.10.
वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा। शिरो बिभेद वृष्णिना॥
ऋ० 8 6.6.
अयमिन्द्रो मरुत्सखा वि वृत्रस्याभिनच्छिरः। वज्रेण शतपर्वणा॥ ऋ० 8.76.2.
2. वृत्रस्य यत् प्रवणे दुर्गृभिश्वनो निजघन्थ हन्वोरिन्द्र तन्यतुम्॥ ऋ० 1 52 6.
3. वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः। ऋ० 8 96.7.
जिगर्तिमिन्द्रो अपजर्गुराणः प्रति श्वसन्तमव दानवं हन्॥ ऋ० 5.29.4.
दे० 1.52 10. ऊपर।
अस्येदेव शवसा शुषन्तं वि वृश्चद् वज्रेण वृत्रमिन्द्रः। ऋ० 1.61.10.
निरामममरमणसं येन नवन्तमहिं सं पिणगृजीषिन्। ऋ० 6.17.10.
4 न वेपसा न तन्यतेन्द्रं वृत्रो वि बीभयत्। ऋ० 1.80 12.
5. नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद् ध्रादुनिं च। ऋ० 1 32 13.
6. दानुः शये सहवत्सा न धेनुः। ऋ० 1.32.9.
7. यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥ ऋ० 2.12.11.
किमादुतासि वृत्रहन् मघवन्मन्युमत्तमः। अत्राह दानुमातिरः॥ ऋ० 4 30.7.
भिन्धा दर्वः शूर येन वृत्रमवाभिनद् दानुमौर्णवाभम्। ऋ० 2,11.18.
8. आ दर्षते शवसा सप्त दानून् प्र साक्षते प्रतिमानानि भूरि। ऋ० 10 120.6.
9. नि मायिनो दानवस्य माया अपादयत् पपिवान् सुतस्य। ऋ० 2.11.10.

इन्द्र ने किया था अर्णव जलो को निर्बाध बहाने के लिए[1]।

वृत्र का अपना एक गुप्त (निण्य) आवास है, जहा से इन्द्र द्वारा उन्मुक्त की जाने पर 'आप' वेग के साथ वह निकलती है[2]। वृत्र जल पर सोता है[3] या रजस् (अन्तरिक्ष) के बुध्न मे जलो को घेरे हुए पडा रहता है[4]। जब इन्द्र ने जलो को प्रवाहित किया[5] तब वृत्र (पर्वत की) चोटी पर था और इन्द्र ने उसे वहा से गिराकर पहाड के भीतर घिरी गौओ को स्वतन्त्र किया था[6]। वृत्र के अपने पुर है, जिन्हे इन्द्र तोड डालते है। ये किले 99 हैं[7]।

कहना न होगा कि वृत्र शब्द आवरणार्थक √वृ धातु से निष्पन्न हुआ है। कवि अनेक बार वृत्र के बारे मे कहते हैं कि वह जलो को परिवेष्टित किये पडा हुआ था। उसने जलो को घेर रखा था[8] अथवा वह उन्हे 'वृत्वी'[9] अर्थात् रोक कर पडा हुआ था अथवा वह नदियो का—वृत् अर्थात् आवरक था[10]। ये सभी बाते साफ तौर से इस नाम की व्युत्पत्ति की ओर सकेत करती हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति दिखाने के साथ-साथ यह भी कहा गया है कि इन्द्र ने वृत्र को वरण किया 'वृत्रम्

1 अर्दर्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानाँ अरम्णा ।
महान्तमिन्द्र पर्वत वि यद् व सृजो वि धारा अव दानव हन् ॥ ऋ० 5 32 1

2 वृत्रस्य निण्य वि चरन्त्यापो दीर्घं तम आ शयदिन्द्र शत्रु । ऋ० 1 32 10

3 त्व वृत्रमाशयान सिरासु महो वज्रेण सिष्वपो वराहुम् । ऋ० 1 121 11
इन्द्रो महा सिन्धुमाशयान मायाविन वृत्रमस्फुरन्नि । ऋ० 2 11 9

4 अपो वृत्वी रजसो बुध्नमाशयत् । ऋ० 1 52 6

5 इन्द्रो वृत्रस्य दोधत सानु वज्रेण हीळित ।
अभिक्रम्याव जिघ्नतेऽप समाय चोदयन् ॥ ऋ० 1 80 5

6 निरिन्द्र बृहतीभ्यो वृत्र धनुभ्यो अस्फुर ।
निरर्बुदस्य मृगयस्य मायिन नि पर्वतस्य गा आज ॥ ऋ० 8 3 19
जघान वृत्र स्वधितिर्वनेव रुरोज पुरो अरदन्न सिन्धून् । ऋ० 10 89 7

7. तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत्पुरो नवतिं च सद्य ।
निवेशने शततमाविवेषीरहञ्च वृत्र नमुचिमुताहन् ॥ ऋ० 7 19 5
नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा । अहिं च वृत्रहावधीत् ॥ ऋ० 8 93 2

8 अध्वर्यवो यो अपो वव्रिवांसं वृत्र जघानाशन्येव वृक्षम् ॥ ऋ० 2 14 2

9 अपो वृत्वी रजसो बुध्नमाशयत् ॥ ऋ० 1.52 6
इन्द्रो यद् वृत्रमवधीन्नदीवृतमुब्जन्नर्णांसि जर्हृषाणो अन्धसा । ऋ० 1 52 2
ऋ० 8 12 26

10 यदा वृत्र नदीवृत शवसा वज्रिन्नवधी । ऋ० 8 12 26
अहन्नहिं परि शयानमर्णोऽवासृजो अपो अच्छा समुद्रम् । ऋ० 6 30 4
त्वमिन्द्र स्रवितवा अपस्क परि ष्ठिता अहिना शूर पूर्वी । ऋ० 7 21 3

अवृणोत्' अथवा वृत्र का वध करते हुए उन्होने जलो की परिधि को अनावृत कर दिया—'अपावृणोत्'[1]। एक अन्य मन्त्र मे भी ऐसा ही अर्थ छिपा हुआ है, जहा यह कहा गया है कि मेघ-पर्वत वृत्र के जठर मे है, और इन्द्र आवरण (वव्रि) मे बद हुई सरिताओ को नीचे की ओर प्रवाहित करते है[2]। वृत्र को जलो की 'परिधि' भी बताया गया है[3]।

ऊपर सकेत आ चुका है कि वृत्रहन् विशेषण से कवि 'वृत्र का हन्ता' इतना ही नही अपितु 'वृत्रो का हन्ता' यह अर्थ भी लेते है। वृत्र का बहुवचन, जो ऋग्वेद मे कई बार आया है और जिसका प्रयोग सदा नपुसक लिग मे होता है, कभी-कभी राक्षसो की गणना के प्रसग मे भी आता है[4]। इन्द्र-वृत्र सग्राम का परिणाम है जलो का उन्मुक्त प्रवाह[5], अथवा नदियो का बेरोक प्रवाह[6], जोकि आवृत है[7]। उत्पन्न होते ही ओजिष्ठ इन्द्र को वृत्र एव अन्य दस्युओ का सहार करना है[8] और वृत्रो के मथन के लिए ही देवता लोग इन्द्र का आविर्भाव मनाते है[9]। दध्यञ्च् की अस्थियो से इन्द्र ने 99 वृत्रो का वध किया[10]। इन्द्र बात-की-बात मे वृत्र के 99 किलो को तोड डालते हैं[11]।

वृत्र शब्द, जिसका अव्यतिरिक्त रूप से √हन् धातु के साथ प्रयोग हुआ है, मानव के शत्रुओ का सूचक भी रहा है, उदाहरण के लिए आर्य और दास ये दो प्रकार के वृत्र है[12]। इसके अतिरिक्त और भी अनेक मन्त्र है जिनमे वृत्र शब्द मानव शत्रुओ के लिए उसी प्रकार प्रयुक्त हुआ है जैसेकि दिव्य शत्रुओ के लिए। फलत

---

1 अपा बिलमपिहित यद सीद् वृत्र जघन्वाँ अप तद् ववार। ऋ० 1 32 11
त्वमपामपिधानावृणोरपाधारय पर्वते दानुमद् वसु। ऋ० 1 51 4

2 दे० 1 57 6 पृ० 141

3 इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रबाहुरपाहन् वृत्र परिधि नदीनाम्। ऋ० 3 33 6

4 दे० 7 19 4 पृ० 411 दे० 10 49 6 पृ० 411

5 यार्याश्चिदस्मै पिन्वन्त पृथ्वीर्वृत्रेषु शूरा मसन्त उग्रा। ऋ० 7 34 3

6 त्व सिन्धूँरसृजस्तस्तभानान् त्वमपो अजयो दासपत्नी। ऋ० 8 96 18

7 त्व वृताँ अरिणा इन्द्र सिन्धून्। ऋ० 4 42 7

8 एवा हि जातो असमात्योजा पुरू च वृत्रा हनति नि दस्यून्। ऋ० 6 29 6

9 य सुक्रतु धिषणे विभ्वतष्ट घन वृत्राणा जनयन्त देवा। ऋ० 3 49 1

10 दे० 1 84 13 पृ० 367

11 दे० 7 19 5 पृ० 413

12 यस्य दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन् सुतुका नाहुषाणि। ऋ० 6 22 10
त्व ताँ इन्द्रोभयाँ अमित्रान् दासा वृत्राण्यार्या च शूर।
वधीर्वनेव सुधितेभिरत्कैरा पृत्सु दर्षि नृणा नृतम॥ ऋ० 6 33 3

वृत्र शब्द का सीधा अर्थ 'शत्रु' नही है। शत्रु के अर्थ मे 'अमित्र' और 'शत्रु' इन दोनो शब्दो का प्रयोग हुआ है[1]। वृत्र शब्द मे 'दानवता' की भावना सदा निहित रहती है। वृत्र के अर्थ का यह विकास दास या दस्यु के अर्थ-विकास से भिन्न है जिस शब्द का प्राथमिक अर्थ है 'शत्रु' और उत्तरकालीन अर्थ है 'दानव'। वृत्र शब्द का बहुवचन, जो सदा नपुसक लिंग मे आता है, व्यक्तिवाचक नाम के साधारणीकरण से हाथ नही लगता, प्रत्युत यह पहले अपने प्राचीनतर अर्थ 'बाधा' मे आया था और उसके बाद 'बाधक' इस अर्थ मे। अवेस्ता मे वेरेथ्र का अर्थ है 'विजय', जो वस्तुत 'बाधा का ही विकसित हुआ अर्थान्तर है।

ब्राह्मणो मे वृत्र से 'चन्द्रमा' को लिया गया है जिसे सूर्य का आत्मभूत इन्द्र निगल लेता है।

वल—

'वल' शब्द ऋग्वेद मे लगभग 24 बार आता है, और इसका सबन्ध इन्द्र या उसके सहायको—विशेषतया अगिरसो—द्वारा गौओ के उन्मोचन के साथ बना रहता है। वल गौओ को हेरनेवाला है, जिसे इन्द्र पणियो से गौए छीनते समय विदीर्ण कर डालते हैं[2]। जब बृहस्पति पणियो से गौए छीन लेते हैं तब वल का दिल बुच जाता है[3]। वल के अपने दुर्ग हैं जिन्हे अगिराओ की सहायता से इन्द्र खोल देता है[4]। वह वल की किसी से भी न टूटी, चोटी को तोड गिराता है[5]। तैत्तिरीय सहिता[6] मे इन्द्र वल के बिल को अनावृत करते और उसमे परिवेष्टित श्रेष्ठ पशुओ को बाहर निकाल देते हैं। किंतु बहुत से मन्त्रो मे वल शब्द अब भी अमानवीकृत अवस्था का परिचायक है। ऐसे स्थलो पर इसका मौलिक अर्थ 'आवरण' अथवा 'गुहा' यह (√वृ आवरणे) प्रतीत होता है। इस प्रकार वल

---

1 जयुन्छूरँरमित्रान्पृत्सु साहन्। ऋ० 6 73 2

2. इन्द्रा वल रक्षितार दुघाना करेणेव वि चकर्ता रवेण। ऋ० 10 67 6
दे० 6 39 2 नीचे।

3 हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गा। ऋ० 10 68 10
द० 10 67 6 ऊपर।
इन्द्रो यद् वज्री धृषमाणो अन्धसा भिनद्वलस्य परिधीरिव त्रित । ऋ० 1 52 5

4 तव प्रत्न सत्यमस्तु युध्मे इत्था वदद्भिर्वलमङ्गिरोभि।
हन्नच्युतच्युद्दस्मेषयन्तमृणो पुरो वि दुरो अस्य विश्वा ॥ ऋ० 6 18 5

5 रुजद्रुग्णं वि वलस्य सानुम्। ऋ० 6 39 2

6 इन्द्रो वलस्य बिलमपौर्णोत् स य उत्तम पशुरासीत्तं पृष्ठं प्रतिसंगृह्योदक्खिदत् तं सहस्रं पशवोऽनूदायन्। तै० सं० 2 1 5 1

शब्द दो वार[1] फलिग का समानाधिकरण बनकर आया है। फलिग का अर्थ है—परिग, अर्थात् घेरा, जिसमे जल घिरे हुए है[2]। दूसरे शब्दो मे हम इसे 'अन्तरिक्षस्थ जलो का आश्रय' कह सकते है। निघण्टु इसे मेघ के पर्यायो मे रखता है। इन्द्र गौओ को निकालते और वल को अपावृत करते है[3]। वे वल के उस विल[4] को अपावृत करते है जिसमे गौए सहमी खडी थी[5]। पचविश ब्राह्मण[6] के अनुसार असुरो का वल (गुहा) एक पाषाण खड से पिहित है। वहुत से मन्त्रो मे इस शब्द का मौलिक अर्थ भी लिया जा सकता है[7]। इसके मानवीकरण का मूल सभवत इन्द्र के 'वलरुज्' इस विशेषण मे निहित है, जोकि 'वृत्रखाद' इस शब्द के ठीक वाद आता है[8]। इसका मानवीकरण की ओर रुझान उस मन्त्र मे लक्षित होता है[9] जहा वल को गो व्रज वताया गया है, जो इन्द्र का वज्र पडने से पहले ही खुल जाता है। वल का मानवीकरण सुव्यक्त नही वन पाया है, इस वात की सूचना इस तथ्य से मिलती है कि जव इन्द्र अथवा और कोई देवता वल पर आक्रमण करते है तव उसके वर्णन के लिए √भिद्, √दृ या √रुज धातुओ का प्रयोग किया जाता है न कि √हन् का, जैसाकि वृत्र के विषय मे वहुधा आता है। √भिद् क्रिया का वल के साथ सवन्ध वलभिद् इस पद मे अवशिष्ट है, जोकि वेदोत्तर-कालीन साहित्य मे इन्द्र का विशेषण वन गया है। यहा वल को वृत्र का भाई समझा गया है और दोनो का इन्द्र के वल-वृत्र-हन् इस विशेषण मे मिलन हो गया है।

---

1 स सुष्टुभा स स्तुभा सप्त विप्रै स्वरेणाद्रिं स्वर्यो३ नवग्वै ।
सरण्युभि फलिगमिन्द्र शक्र वल रवेण दरयो दशग्वै ॥ ऋ० 1 62 4
स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वल रुरोज फलिग रवेण । ऋ० 4 50 5

2 य उद्न फलिग भिनन्न्यक् सिन्धूँरवासृजत् ।
यो गोषु पक्व धारयत् ॥ ऋ० 8 32 25

3 अध्वर्यवो यो दभीक जघान यो गा उदाजदप हि वल व । ऋ० 2 14 3

4 दे० 1 32 11 पृ० 414

5 त्व वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम् । ऋ० 1 11 5

6 असुराणा वै वलस्तमसा प्रावृतोऽश्मापिधानश्चासीत् । पञ्च० ब्रा० 21 7 1

7 दे० 1 62 5 पृ० 415
यो गा उदाजदपधा वलस्य । ऋ० 2 12 3
विभेद वल नुनुदे वि वाचोऽथाभवद्दमिताभिक्रतूनाम् । ऋ० 3 34 10

8 वृत्रखादो वलरुज पुरा दर्मो अपामज । ऋ० 3 45 2
दे० 2 12 3 ऊपर

9 वलानुणो वल इन्द्र व्रजो गो पुरा हन्तोर्भयमानो व्यार । ऋ० 3 30 10

इन्द्र के अन्य दानव शत्रु—

अर्बुद ऋग्वेद मे इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी बनकर 5 बार आया है। वह एक मायी मृगय (पशु) है, जिसकी गौओ को इन्द्र बाहर निकालते है[1]। इन्द्र उसे धराशायी कर देते हैं[2]। वह उसे मूधे-मुह गिराकर पीस देते और अपने पैरो से उसका भेजा निकाल डालते है[3]। वे अर्बुद के विष्टप को बीध देते और उसके मूर्धा को काट डालते हैं[4]। दो या तीन बार उसका उल्लेख वल के साथ भी आया है और स्वभाव मे वह वल का सजातीय प्रतीत होता है।

त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप एक त्रिशीर्ष दानव है। इसे त्रित और इन्द्र मार देते और उसकी गौओ को खोल लाते है[5]। दो या तीन मन्त्रो मे उसका उल्लेख उसके पैतृक नाम त्वाष्ट्र के द्वारा भी हुआ हे और कहा गया है कि वह गौओ और घोडो से परिवृत है[6]। इन्द्र उसे त्रित के हाथो सौप देता है[7]। तैत्तिरीय सहिता मे विश्वरूप को असुरो के साथ सबद्ध होने पर भी देवो का पुरोहित बताया गया है। महाभारत मे त्वष्टा और वृत्र का त्रिशीर्ष पुत्र एक ही है।

स्वर्भानु एक असुर है। ऋग्वेद के एक सूक्त[8] मे इसका चार बार उल्लेख

---

1. दे० 8 3.19 पृ० 413
2. अस्य सुवानस्य मन्दिनस्त्रितस्य न्यर्बुदं वावृधानो अस्त । ऋ० 2 11 20
अध्वर्यवो य उरण जघान नव चख्वांसं नवतिं च बाहून् ।
यो अर्बुदमव नीचा बबाधे तमिन्द्र सोमस्य भृथे हिनोत ॥ ऋ० 2 14 4.
न्यर्बुदस्य विष्टपं वर्ष्माणं बृहतस्तिर । कृषे तदिन्द्र पौंस्यम् । ऋ० 8 32 3
3. दे० 1 51 6 पृ० 410
4. इन्द्रो मह्ना महतो अर्णवस्य नि मूर्धानमभिनदर्बुदस्य । ऋ० 10 67 12.
5. दे० 10 8 8 पृ० 161
भूरीदिन्द्र उदिनक्षन्तमोजोऽवाभिनत् सत्पतिर्मन्यमानम् ।
त्वाष्ट्रस्य चिद् विश्वरूपस्य गोनामाचक्राणस्त्रीणि शीर्षा परा वर्क् ॥ ऋ० 10 8 9
6. गोअर्णसि त्वाष्ट्रे अश्वनिर्णिजि प्रेमध्वरेष्वध्वराँ अशिश्रयु । ऋ० 10 76 3
7. दे० 2 11 19 पृ० 411.
विश्वरूपो वै त्वाष्ट्र पुरोहितो देवानामासीत् स्वस्रीयोऽसुराणाम् । तै०स० 2 5 1 1.
8. यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुर ।
अक्षेत्रविद् यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयु ॥ ऋ० 5 40.5
स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन् ।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्दद्त्रि ॥ ऋ० 5 40 6
अत्रि सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरप माया अघुक्षत् । ऋ० 5 40 8

आया है। कहा गया है कि स्वर्भानु अंधेरा करके सूर्य को ग्रस लेता है। इन्द्र ने उसकी माया से लोहा लिया और अत्रि ने सूर्य-रूपी नेत्र को फिर से आकाश मे बिठाया। स्वर्भानु असुर का ब्राह्मणो मे भी अनेक बार उल्लेख मिलता है। वेदोत्तरकालीन गाथा मे उसका स्थान राहु ने ले लिया है। इस शब्द का अर्थ 'सूर्य-प्रकाश को रोकनेवाला' मालूम पडता है।

उरण नामक असुर के 99 हाथ थे। इसकी भी इन्द्र ने ही हत्या की थी। इसका उल्लेख केवल एक बार आया है[1]।

दास व्यक्ति (§ 69.)—शुष्ण।

शुष्ण का ऋग्वेद मे लगभग 40 बार उल्लेख मिलता है। यह कुत्स का प्रमुख शत्रु है। कुत्स के लिए अथवा कुत्स को साथ लेकर इन्द्र उसका वध करते हैं[2]। उसके सीग हैं[3], और उसके अडो (अडकोशो) को इन्द्र मसल देता है[4]। इससे प्रतीत होता है कि शुष्ण सर्पजाति का था। उसकी फुकार का भी निर्देश आता है[5] (सायण का अर्थ और है)। 6 बार उसे अशुष भी कहा गया है। अशुष शब्द का अन्यत्र प्रयोग केवल एक बार अग्नि के लिए आया है और इसका अर्थ है 'निगलने वाला'। शुष्ण के किले मजबूत है[6]। वे चरिष्णु अथवा सफरी है[7]। शुष्ण के किलो

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् नह्य१न्ये अशक्नुवन् ॥ ऋ० 5 40 9.

1 दे० 2 14.4 पृ० 417

2. दे० 4 16.12. पृ० 381
कुत्सेन देवैरवनोर्ह शुष्णम्। ऋ० 5.29 9.

3 न्याविध्यदिलीबिशस्य दृळ्हा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः। ऋ० 1 33.12

4 त शिशीता सुवृक्तिभिस्त्वेषं सत्वानमृग्मियम्।
उतो नु चिद् य ओजसा शुष्णस्याण्डानि भेदति जेषत्स्वर्वतीरपः ॥
ऋ० 8 40 10.
उतो नु चिद् य ओहत आण्डा शुष्णस्य भेदति। ऋ० 8 40 11.
मक्षू ता त इन्द्र दानाप्नस आक्षाणे शूर वज्रिवः।
यद्ध शुष्णस्य दम्भयो जातं विश्वं सयावभिः ॥ ऋ० 10 22.11.

5. नि यद् वृणक्षि श्वसनस्य मूर्धनि शुष्णस्य चिद् व्रन्दिनो रोरुवद्वना ॥
ऋ० 1.54 5

6. त्वमपो यदवे तुर्वशायारमयः सुदुघाः पार इन्द्र... वि शुष्णस्य दृंहिता ऐरयत् पुरः। ऋ० 1.51.11.

7. उत शुष्णस्य धृष्णुया प्र मृक्षो अभि वेदनम्। पुरो यदस्य संपिणक्। ऋ० 4 30 13.
त्वं पुरं चरिष्ण्वं वधैः शुष्णस्य सं पिणक्। ऋ० 8 1.28.

को तोडकर इन्द्र जलो को प्रवाहित करते[1] और जलो के स्रोत 'क्रिवि' को पा लेते हैं[2]। वे शुष्ण के अडो को फोडकर चमचमाते जलो को प्राप्त करते है[3]। 'शुष्ण' इस नाम के साथ 4 बार' 'कुयव' यह विशेषण आता है, जिसका अर्थ है 'दुष्ट अन्न वाला'। दो मन्त्रो मे, जहा कि यह नाम दानव का अभिधान बनकर आया है, यह शुष्ण का बोधक हो सकता है[4]। इन्द्र-शुष्ण-युद्ध का परिणाम हमेशा जल-प्रवाह ही नही, अपितु गौओ की उन्मुक्ति और सूर्य की प्राप्ति भी है[5]। इन्द्र के साथ युद्ध करते समय शुष्ण अन्धकार मे छिप जाता है। वह 'मिहो नपात्' है और दानव का भाम अर्थात् क्रोध है[6]। काठक सहिता के अनुसार शुष्ण दानव के पास अमृत भी है। उक्त उद्धरणो से प्रतीत होता है कि शुष्ण आरम्भ मे अनावृष्टि का दानव था, न कि कोई ऐतिहासिक मानवीय शत्रु। इस मत की इस शब्द के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ से भी पुष्टि होती है, और यह अर्थ है 'फत्कार करने वाला' (√श्वस्) अथवा 'शुष्क या भस्म करने वाला' (√शुष्)। 'दानवस्य भामम्' का सायण ने कुछ ऐसा ही अर्थ किया है।

शम्बर—

दस्यु शम्बर का नाम ऋग्वेद मे लगभग 20 बार आया है। उसका उल्लेख मुख्यत शुष्ण, पिप्रु और वर्चिन् इन दस्युओ के साथ हुआ है[7]। अहि और शम्बर के साथ युद्ध करते समय इन्द्र का मरुतो ने हौसला बढाया था[8]। जब इन्द्र ने

1 दे० 1 51 11 पृ० 418
2 प्र यो ननक्षे अभ्योजसा क्रिविं वधै शुष्णं निघोषयत्। का० खि० 3 8
3 दे० 8 40 10 पृ० 418
4 शुष्णं पिप्रुं कुयवं वृत्रमिन्द्र यदावधीर्वि पुर शम्बरस्य ॥ ऋ० 1 103 8
क्षीरेण स्नात कुयवस्य योषे हते ते स्याता प्रवणे शिफाया। ऋ० 1 104 3
5 त्व शुष्णस्यावातिरो वधत्रैस्त्व गा इन्द्र शच्येदविन्द। ऋ० 8 96 17
6 त्य चिदेषा स्वधया मदन्त मिहो नपात सुवृध तमोगाम्।
वृषप्रभर्मा दानवस्य भाम वज्रेण वज्री नि जघान शुष्णम् ॥ ऋ० 5 32 4
7 यो व्यसं जाहृषाणेन मन्युना य शम्बर यो अहन् पिप्रुमव्रतम्।
इन्द्रो य शुष्णमशुष न्यावृणङ् मरुत्वन्त सख्याय हवामहे ॥ ऋ० 1 101 2
दे० 2 19 6 पृ० 381
दे० 1 103 8 ऊपर।
स यो न मुहे न मिथू जनो भूत्सुमन्तुनामा चुमुरिं धुनिं च।
वृणक् पिप्रुं शम्बर शुष्णमिन्द्र पुरा च्यौत्नाय शयथाय नू चित् ॥ ऋ० 6 18 8
8 ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्धन् ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ।
ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्रा पिबेन्द्र सोम सगणो मरुद्भि ॥ ऋ० 3 47 4

शम्बर के टुकडे-टुकडे किये तब विपुल 'पर्वत' का सानु हिल उठा[1]। इन्द्र ने शम्बर को चालीसवी सरदी मे पर्वतो पर रहते हुए पाया[2] और अतिथिग्व के लिए उसे पहाड पर से धकेल मारा[3]। उन्होने कुलितर के पुत्र दास शम्बर को ऊचे पर्वत पर से धकेल मारा[4]। उन्होने विशाल 'पर्वत' पर से शम्बर को मार गिराया[5]। शम्बर के दुर्गों की सख्या है 90[6], 99[7] और 100[8]। शम्बर शब्द एक बार नपु० बहुवचन मे आता है जहा इसका अर्थ, है 'शम्बर के पुर'। बृहस्पति ने शम्बरो को तितर-बितर करके वसु-सपन्न पर्वत पर डेरा डाला[9]। इन्द्र शम्बर को अतिथिग्व के समुख नत-मस्तक करते हैं[10], किंतु कभी-कभी वे दिवोदास[11] या अतिथिग्व और दिवोदास दोनो के निमित्त शम्बर का पराभव करते हे[12]। ये दोनो नाम साधारणत एक ही व्यक्ति के माने गये है, किंतु बेर्गेन को इस ऐक्य मे सदेह है।

पिप्रु—

दास पिप्रु का ऋग्वेद मे 11 बार उल्लेख मिलता है। यह इन्द्र द्वारा सरक्षित वैदथिन ऋजिश्वा का सहज शत्रु है[13], जोकि इन्द्र के लिए सोम प्रदान करता है

1 त्व दिवो बृहत सानु कोपयोऽव त्मना धृषता शम्बर भिनत्। ऋ० 1 54 4
2 दे० 2 12 11 पृ० 412
3 अतिथिग्वाय शम्बर गिरेरुग्रो अवाभरत्। ऋ० 1 130 7
अव गिरेर्दास शम्बर हन्। ऋ० 6 26 5
4. दे० 4 30 14 पृ० 411
5 देवक चिन्मान्यमान जघन्थाव त्मना बृहत शम्बर भेत्। ऋ० 7 18 20
6 भिनत्पुरो नवतिमिन्द्र पूरवे दिवोदासाय महि दाशुषे नृतो वज्रेण दाशुषे नृतो।
अतिथिग्वाय शम्बर गिरेरुग्रो अवाभरत्॥ ऋ० 1 130 7
7 दे० 2 19 6 पृ० 381
8 अध्वर्यवो य शत शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः।
यो वर्चिन शतमिन्द्र सहस्रमपावपद् भरता सोममस्मै॥ ऋ० 2 14 6
9. यो नन्त्वान्यनमन्न्योजसोतादर्दर्मन्युना शम्बराणि वि।
प्राच्यावयदच्युता ब्रह्मणस्पतिरा चाविशद् वसुमन्त वि पर्वतम्॥ ऋ० 2 24 2
10 दे० 1 51 6 पृ० 410
11 दे० 2 19 6 पृ० 381
12 दे० 1 130 7 ऊपर।
अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य।
शततमं वेश्यं सर्वताता दिवोदासमतिथिग्वं यदावम्॥ ऋ० 1 26 3
13 दे० या० नि० 1 10 पृ० 380

और उसके बदले उनसे युद्ध मे सहायता प्राप्त करता है[1]। इन्द्र ऋजिश्वा[2] के साथ अथवा वैदथिन ऋजिश्वा के लिए[3] पिप्रु को जीतते हैं। यह दास अहि की मायाओं का खिलाडी है, इसके पास किले है, जिन्हे इन्द्र तोड देता है और इस प्रकार ऋजिश्वा की सहायता करता है[4]। इन्द्र ने दास पिप्रु को एव सृविन्द, अनर्शनि और अहीशु को मारकर जलो को मुक्ति दिलाई[5]। जब सूर्य ने मध्याकाश मे अपने रथ को छोड़ दिया और जब आर्य को दास का प्रतिद्वन्द्वी मिल गया तब इन्द्र ने ऋजिश्वा के साथ मायावी असुर पिप्रु के मजबूत किलो को तोड डाला[6]। उन्होने मृगय (वन्य-पशु) पिप्रु को ऋजिश्वा के समुख नतमस्तक कर दिया, 500 और 1000=(50000) कृष्णवर्णो को पराभूत किया और उसके किलो को चकनाचूर कर डाला[7]। ऋजिश्वा के सहयोग से उन्होने काले अण्डकोश वालो को मार गिराया[8]। क्योकि पिप्रु को असुर और दास इन दोनो शब्दो से वोधित किया गया है, अत. इस बात मे सदेह है कि पिप्रु कोई ऐतिहासिक मानव शत्रु है अथवा कोई प्राकृतिक असुर। पिप्रु शब्द सस्कृत का प्रतीत होता है और इसकी निष्पत्ति√पृ धातु के अभ्यस्तरूप से हुई प्रतीत होती है, जैसे कि सिष्णु की√सन् से। पिप्रु शब्द का अर्थ सभवत. 'भरने वाला' अथवा 'खादड पशु' है।

मुचि—

नमुचि का उल्लेख ऋग्वेद मे 9 बार और वाजसनेयि सहिता, तैत्तिरीय

---

1. स्तोमासस्त्वा गौरिवीतेरवर्धन्नरन्धयो वैदथिनाय पिप्रुम्।
आ त्वामृजिश्वा सख्याय चक्रे पचन्पक्तीरपिबः सोममस्य॥ ऋ० 5 29 11
अस्य स्तोमेभिरौशिज ऋजिश्वा व्रज दरयद् वृषभेण पिप्रो.। ऋ० 10 99 11
2. प्र मन्दिने पितुमदर्चता वचो य कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्वना। ऋ० 1 101 1
दे० 1.101.2. पृ० 419 दे० 10 138 3 पृ० 405
3. त्वं पिप्रुं मृगयं शूशुवांसमृजिश्वने वैदथिनाय रन्धी।
पञ्चाशत्कृष्णा नि वपः सहस्राऽत्कं न पुरो जरिमा वि दर्दः॥ ऋ० 1 16 13
वि पिप्रोरहिमायस्य दृळ्हा पुरो वज्रिञ्छवसा न दर्दः।
सुदामन् तद् रेक्णो अप्रमृष्यमृजिश्वने दात्रं दाशुषे दाः॥ ऋ० 6 20 7
4 त्व पिप्रोर्नृमण. प्रारुज. पुरः प्र ऋजिश्वान दस्युहत्येष्वाविथ। ऋ० 1 51.5
दे० 6 20.7. ऊपर।
5. दे० 8 32.2 पृ० 411.
6. दे० 10 138 3 पृ० 405
7. दे० 1.16 13 ऊपर।
8 दे० 1.101 1 ऊपर।

ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में कई बार हुआ है। ऋग्वेद में उसे एक बार 'आसुर' नमुचि कहा गया है[1]। परवर्ती वैदिक ग्रन्थों में उसे असुर कहा गया है। ऋग्वेद के तीन-चार मन्त्रों में वह दास कहाया है[2] और एक बार मायी भी[3] (माया वाला)। नमुचि का पराभव करते समय इन्द्र एक बार अपने सखा नमी के साथ और दूसरी बार नमी साप्य के साथ संयुक्त हुए हैं[4]। अश्न, शुष्ण, अशुष, व्यस और पिप्रु की भांति नमुचि को भी इन्द्र धराशायी करते हैं[5]। वृत्र और नमुचि को मारते समय इन्द्र ने 99 किलों को ढाया था[6]। इस युद्ध में इन्द्र नमुचि दास के सिर को मथते हैं[7] जबकि वृत्र को मारते समय वे उसका भेदन करते हैं। एक जगह इन्द्र नमुचि के सिर को मरोड़ते बताये गये हैं[8] अथवा जल-फेन द्वारा वे इसे तोड़ मरोड़ डालते हैं[9]। ब्राह्मणों में उल्लेख आता है कि इन्द्र ने नमुचि के सिर को जल-फेन द्वारा नष्ट कर दिया था। ऋग्वेद के एक मन्त्र[10] में आता है कि अश्विनों ने आसुर नमुचि के वध के लिए सुरा-पान करके इन्द्र की सहायता की और तब इन्द्र ने भी सुराम (सुरा या हवि) का पान किया और तब सरस्वती ने उसका उपचार किया। पाणिनि के अनुसार नमुचि का व्युत्पत्त्यर्थ है 'न छोड़ने वाला'। फलतः नमुचि शब्द का अर्थ होगा—'जलों को रोकनेवाला राक्षस'।

---

1. युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ऋ० 10.131.4.
नमुचिनैवासुरेण सह चचार ॥ शत० ब्रा० 12.7.1 10.
2. दे० 5.30 7. पृ० 410. तथा 8 पृ० 411.
3. नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम्। ऋ० 1.53.7.
4. दे० 1.53.7. ऊपर। दे० 6.20 6. पृ० 273
5. अध्वर्यवो यः स्वश्नं जघान यः शुष्णमशुषं यो व्यंसम्।
यः पिप्रुं नमुचिं यो रुधिक्रां तस्मा इन्द्रायान्धसो जुहोत॥ ऋ० 2.14 5.
6. दे० 7.19.5. पृ० 413.
दे० 1.53.7. ऊपर।
दे० 7 19 5. पृ० 413.
7. दे० 5.30 8. पृ० 411.
8. दे० 5.30.7. पृ० 410. दे० 6.20 6. पृ० 273.
9. अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजय स्पृधः ॥ ऋ० 8.14.13.
10. दे० 10.131.4. ऊपर। दे० 10.131.5. पृ० 221.
11. नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या।
भट्टा० 6.3.75.

धुनि और चुमुरि—

चुमुरि दास का उल्लेख 6 बार हुआ है , और एक स्थल को छोडकर और सब जगह वह धुनि के साथ आया है। एक बार इन दोनो दासो के नामो का द्वन्द्व-समास बनता है, जिससे इनके सबन्ध की निकटता खिल उठती है। इन्द्र ने चुमुरि और धुनि को नीद मे डालकर मार दिया[1]। मस्त हुए इन्द्र ने दभीति के हितार्थ अकेले चुमुरि को सुला दिया[2]। शम्बर, पिप्रु, शुष्ण के साथ ही साथ इन्द्र चुमुरि और धुनि को नष्ट कर देता, और उनके दुर्गों को ढा देता है[3]। दभीति के निमित्त इन्द्र ने धुनि और चुमुरि को धूल मे मिला दिया[4], क्योकि दभीति ने इन्द्र के लिए सोम का सवन किया था और देवताओ ने उसके समुख अपनी श्रद्धा अर्पित की थी[5]। इन दोनो असुरो का नाम न लेकर भी कहा गया है कि इन्द्र ने दभीति के लिए 30,000 दासो को धराशायी कर दिया[6] और उसके हितार्थ रस्सी के बिना भी दस्युओ को फासी देकर मार दिया[7]।

धुनि का अर्थ है—'ध्वनि करने वाला' (√ध्वन्), और ऋग्वेद मे इस शब्द का अनेक बार इसी अर्थ मे प्रयोग हुआ है। किंतु चुमुरि शब्द आदिवासियो से उधार लिया प्रतीत होता है।

वर्चिन् एवं अन्य असुर—

वर्चिन् का उल्लेख 4 बार हुआ है और वह भी सदा शम्बर के साथ। वह असुर है[8], साथ ही वह और शम्बर दोनो दास भी हैं[9]। इन्द्र ने शम्बर के 100 किलो को तोड डाला और दास वर्चिन् के 100,000 योद्धाओ को मार गिराया[10]।

---

1 त्वं ह त्यदिन्द्र विश्वमाजौ सस्तो धुनी चुमुरी या ह सिष्वप्। दीदयदित् तुभ्यं सोमेभिः सुन्वन् दभीतिरिध्मभृतिः पक्थ्य१र्कैः ॥ ऋ० 6 20 13
दे० 7 19 4 पृ० 411
दे० 2 15 9 पृ० 411

2 त्वं श्रद्धाभिर्मन्दसानः सोमैर्दभीतये चुमुरिमिन्द्र सिष्वप् ॥ ऋ० 6 26 6

3 दे० 6 18 8 पृ० 419

4 इन्द्रो धुनिं च चुमुरिं च दम्भयञ्छ्रद्धामनस्या शृणुते दभीतये । ऋ० 10 113 9
दे० 6 20 13 ऊपर।

5 दे० 6 26 6 ऊपर।

6 दे० 4 30 21 पृ० 409

7. दे० 2 13 9 पृ० 409

8 दे० 7 99 5 पृ० 405

9 दे० 6 47 21 पृ० 411 दे० 4 30 15 पृ० 411.

10 दे० 2 14 6 पृ० 420

वर्चिन् का अर्थ है—'द्युतिमान्' और इसकी निष्पत्ति √वर्च् से हुई है, जिससे कि वर्चस् (तेजस्) शब्द बनता है।

वल, शुष्ण, नमुचि आदि दासो के अलावा और भी कुछ दास हैं, जिनका इन्द्र दमन करते है। ये हैं—इभीक, रुधिका[1], अनर्शनि, सृबिन्द[2] और इलीविश[3]। ये सब मानवीय शत्रुओ के ऐतिहासिक स्मृति-अवशेष हो सकते हैं। अन्त के दोनो नाम अनार्य प्रतीत होते है।

रक्षस् (§ 70)—

मनुष्यो के सहज-शत्रु दानवो और यातुधानो के लिए ऋग्वेद मे सबसे अधिक प्रचलित जाति-वाचक नाम है राक्षस। इसका उल्लेख (50 बार से अधिक) एकवचन और बहुवचन मे हुआ है। राक्षसो का नाम सदा देवताओ के साथ आता है, जहाकि या तो देवताओ से प्रार्थना की जाती है कि वे राक्षसो को नष्ट कर दे अथवा राक्षसो का नाश कर चुकने पर देवताओ की प्रशसा की जाती है। ऋग्वेद के दो सूक्तो[4] मे अपेक्षाकृत कम प्रचलित यातु या यातुधान शब्द भी राक्षस शब्द के स्थान पर आता है और एक ही मन्त्र मे यह भी राक्षस के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। यातुधान शब्द दुरात्मा का बोधक है। रक्षस् शब्द जाति का बोधक है और यातु शब्द जाति के अवान्तर भेद का।

राक्षस लोग कुत्ते, श्येन, उलूक, शुशुलूक, श्वयातु, कोकयातु, सुपर्णयातु एव गृध्रयातु आदि अनेक आकार-प्रकार के है[5]। पक्षी के रूप मे वे रात को इधर-उधर उडते है। भाई, पति या जार का रूप धारण करके वे स्त्रियो के साथ साठगाठ

1. दे० 2.14.3. पृ० 416. दे० 2 14.5 पृ० 422
2. दे० 8 32.2 पृ० 411.
3. दे० 1.33.12 पृ० 418.
4. इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः।
परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः ॥ ऋ० 7 104 1.
रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥ ऋ० 10.87.1
5. एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम्।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥ ऋ० 7.104 20.
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः।
ऋ० 7.104 21.
उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥ ऋ० 7.104 22.

करते हैं और उनके नन्हों को नष्ट करने की चेष्टा करते है[1]। कुत्ते या कपि के रूप मे भी वे स्त्रियो की ताक मे रहते है[2]। गर्भ-धारण एव जन्म के समय उनसे हानि की सभावना रहती है[3]। अथर्ववेद मे राक्षसो के स्वरूप का विशद वर्णन मिलता है। वे प्रायः मानव आकार के है। उनके सिर, नेत्र, हृदय आदि अवयवो का उल्लेख आता है; किंतु अनेक स्थलो पर उनमे दानवीय विकृतिया भी आती दिखाई गई हैं। उनके तीन सिर, दो मुख, ऋक्ष-सी गर्दन, चार नेत्र, बिना अगुलियो के पाच पैर, पीछे की ओर मुडे हुए पञ्जे और हाथो पर सीग होते हैं। नीले, पीले या हरे राक्षसो का भी उल्लेख आता है[4]। राक्षसो मे पुरुष और स्त्री का भी भेद किया गया है। उनके कुल एव राजा तक है और वे सब मरण-धर्मा हैं।

यातुधान मनुष्यो और अश्वों के मास को खाते और गौओ का दूध पी जाते हैं[5]। अपनी मास-शोणित की ललक को मिटाने के लिए राक्षस मनुष्यो मे प्रविष्ट होकर, उन पर आक्रमण करते हे। अग्नि से प्रार्थना की गई हे कि वह राक्षसो को उपासको के भीतर न प्रविष्ट होने दे[6], और अथर्ववेद मे एक रोग के रक्षस् का वर्णन आता है जो पक्षी की तरह इधर-उधर मडराता है और मनुष्यो के भीतर प्रविष्ट हो जाता है[7]। ये राक्षस बहुधा मुख के द्वार से भीतर प्रविष्ट होते माने जाते थे, किंतु अन्य द्वारो से भी उनका प्रवेश सभव था[8]। जब एक बार ये भीतर चले जाते हैं तब मनुष्य का मास चाट जाते, उसे सडा डालते और उसके

---

1. यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते ।
   प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ ऋ० 10.162.5
2. श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः ।
   प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियः ।
   तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ अथ० 4.37.11.
3. यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ ।
   दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः ॥ अथ० 8.6.1. आदि पूर्ण सूक्त ।
4. नीलनखेभ्यः स्वाहा ॥ अथ० 19.22.4 ॥ हरितेभ्यः स्वाहा ॥ अथ० 19.22.5
5. यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
   यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ ऋ० 10.87.16
   संवत्सरीणं पय उस्रियायास्तस्य माशीद्यातुधानो नृचक्षः ।
   पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात् तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मन् ॥ ऋ० 10.87.17.
6. मा नो रक्ष आ वेशीदाघृणीवसो मा यातुर्यातुमावताम् । ऋ० 8.60.20
7. पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् । अथ० 7.76.4.
8. आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ ।
   तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ अथ० 5.29.6

शरीर मे भांति भांति के रोग उत्पन्न कर देते है[1]। रक्षस् मनुष्य को उन्मत्त बना देते हैं और उसकी वाक्-शक्ति को हर लेते है[2]। मानवीय आवासो पर भी वे छापे मारते है। कुछ रक्षसो के विषय मे कहा गया है कि वे घरो के चहु ओर नाचते, खच्चर की तरह हींचते, वन मे शोर करते, अट्टहास या ठट्ठे मारते और कपाल-पात्र से पीते है[3]। रक्षस् लोग पक्षी बनकर रात मे उडते है[4]। पूर्व दिशा मे उनकी एक नही चलती, क्योकि उदीयमान सूर्य उन्हे ध्वस्त कर देता है[5]। टूटता हुआ तारा रक्षस् बन जाता है। अमावस्या का अन्धकारमय समय मृतात्माओ की भांति अत्रियो, अर्थात् खा जानेवालो का अपना खास समय होता है[6]।

यज्ञो पर रक्षस् विशेष रूप से आक्रमण करते है। ऋग्वेद मे ऐसे रक्षसो का उल्लेख आता है जो देव-यज्ञ को दूषित करते हैं और ऐसे यातुओ का भी जो हविष

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये यः।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ अथ० 5 29.7
अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम्।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदोऽयमस्तु ॥ अथ० 5 29 8.
मा संवृतो मोप सृप ऊरू माव सृपोऽन्तरा। अथ० 8 6 3

1 यदस्य हृतं विहृतं यत्पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः।
तदग्ने विद्वान पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः ॥ अथ० 5 29 5.
क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेद। अथ० 5 29 10

2 देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि।
कृणोमि विद्वान्भेषजं यदानुन्मदितोऽसति ॥ अथ० 6 111 3

3 ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः। अथ० 8 6.10
कुसूला इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि। अथ० 8 6 11.
ये पूर्वे वध्वो यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः।
आपाकेस्थाः प्रहासिन स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि ॥
अथ० 8 6.14

4 वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्विच्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन।
वयो ये भूत्वी पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥ ऋ० 7 104 18

5. रक्षांसि वा एतं यज्ञं ...पुरस्तात्परिदधाय दिशो ... पुरस्ताद्रक्षांस्यपहन्ति। तै० स० 2.6 6.3

6. ये मावास्यां रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥ अथ० 1 16 1.
य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः। ...
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ अथ० 4 36 3

का मथन कर देते है[1]। वे ब्रह्मद्विट् है अर्थात् ये प्रार्थना से भागते है[2]। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह यज्ञ को अभिशाप से बचाने के लिए रक्षसो को भस्म कर डाले[3]। अथर्ववेद मे एक जगह यातुधानो, निर्ऋति एव रक्षसो से माग की गई है कि वे शत्रु के सत्य को अनृत से कील दे और उसके आज्य को मथ डाले[4]। ये दस्यु पितरो मे घुसकर, ज्ञाति मुख बनकर यज्ञ मे विक्षेप डालते है। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह इन्हे यज्ञ से दूर भगा दे[5]। वेदोत्तरकालीन साहित्य मे तो रक्षसो का काम ही यज्ञ विध्वस करना बन गया है और वहा रक्षसो का ही दूसरा नाम राक्षस है।

अग्नि का काम है—अन्धकार का विनाश और यज्ञ का सचालन। अत वे रक्षसो के घोर विरोधी हैं और अग्नि को बार-बार इसलिए बुलाया गया है कि वे रक्षसो को भस्म कर दे, उन्हे जूड दे और विनष्ट कर दे[6]। इसीलिए अग्नि को रक्षोहा भी कहा गया है।

ये दुरात्मा न केवल अपनी इच्छा से अपितु दूसरो की प्रेरणा से भी मनुष्य को ठेस पहुचाते है। ऋग्वेद[7] मे ऐसा करनेवाले पापियो को रक्षोयुज् कहा गया है[8]। जादूगरो के यातु अर्थात् जादू का उल्लेख मिलता है[9]। विरोधियो के जादू-टोने से सताया गया व्यक्ति यविष्ठ अग्नि को पुरोडाश प्रदान करके राक्षसो को अपसारित करता है[10] और अथर्ववेद मे असुरो से कहा गया है कि वे जिसके है उसे ही खा जाय।

1 दे० 7 104 18 पृ० 426
इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्याविवासताम् । ऋ० 7 104 21
2 तपुर्मूर्धा तपतु रक्षसो ये ब्रह्मद्विषः शरवे हन्तवा उ । ऋ० 10 182 3
3 प्र सु विश्वान् रक्षसो धक्ष्यग्ने भवा यज्ञानामभिशस्तिपावा । ऋ० 1 76 3
4 यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम् । अथ० 7 70 2
5 दे० अथ० 18 2 28 पृ० 447
अपहताऽसुरा रक्षांसि वेदिषदः । वा० स० 2 29
6 उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रा हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च ।
उतान्तरिक्षे परि याहि राजञ्जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ॥ ऋ० 10 87 3
यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम् ।
यद्वान्तरिक्षे पथिभिः पतन्तं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥ ऋ० 10 87 6
7. तदादित्या वसवो रुद्रियासो रक्षोयुजे तपुरघं दधात । ऋ० 6 62 8
8 मा नो रक्षो अभि नड् यातुमावतामपोच्छतु मिथुना या किमीदिना । ऋ० 7 104 23
9 दे० 8 60 20 पृ० 425
10 अग्नये यविष्ठाय पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेदभिचर्यमाणोऽग्निमेव यविष्ठं स्वेन भागधेयेनोप धावति स एवास्माद्रक्षांसि यवयति । तै० स० 2 2 3 2

दानव के अर्थ मे रक्षस् का प्रयोग पुल्लिग और नपुसक लिग दोनो मे आया है। नपुसक मे इसका अर्थ 'क्षति' भी है। इसकी व्युत्पत्ति √रक्ष् 'क्षति पहुचाना' इस धातु से सभव है, जो क्रियापद के रूप मे केवल एक बार अथर्ववेद मे आता है। (तुलना कीजिए ऋक्ष 'नाशक')। किंतु सभव यह भी है कि इसका सबन्ध रक्षार्थक √रक्ष् धातु के साथ रहा हो। इस अवस्था मे रक्षस् का मौलिक अर्थ होगा—'वह जिससे बचना चाहिए।' किंतु वेर्गेन के अनुसार रक्षस् का मौलिक अर्थ है—'दिव्य धन का सरक्षक'।

पिशाच—

दानवो का तीसरा वर्ग 'पिशाच' है। यह शब्द ऋग्वेद मे केवल एक बार पिशाचि के एकवचन रूप मे आता है[1]। इस मन्त्र मे इन्द्र से कहा गया है कि पीत-शृग (पिशङ्गभृष्टिम्), महान् (अम्भृणम्) पिशाचि को कुचल डालो और सब रक्षसो को मार दो। तैत्तिरीय सहिता[2] मे असुर, रक्षस् और पिशाचो का देवताओ और पितरो के साथ विरोध दिखाया गया है। हो सकता है कि आरम्भ मे पिशाचो का सबन्ध मृतको से रहा हो। उन्हे अनेक वार क्रव्याद् भी कहा गया है[3]। यह शब्द पिशाच (पिशाद्य, पिशाज्ज, पिशाच) का पर्याय माना जा सकता है। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह रुग्ण व्यक्ति के जिस मास को पिशाच कुतर गये है उसे फिर से रोगी को दे दे[4]। पिशाचो के लिए यह भी कहा गया है कि वे अन्तरिक्ष और द्युलोक मे उडते-फिरते है[5] और ग्रामो मे घुस जाते है।

ऋग्वेद मे 12 बार उल्लिखित अराति नाम का एक और दानव-वर्ग है, जो अदान (अ-राति) का मानवीकरण है और सदा स्त्रीलिंग मे आता है। ऋग्वेद मे 'द्रुहो' का वर्ग भी पुलिंग, स्त्रीलिंग दोनो मे 12 बार आता है। ये असुर भारत-ईरानी है, क्यो कि अवेस्ता मे ये द्रुज् इस रूप मे आये है।

यस्थ स्थ तमंत्त। अथ० 2.24.1. आदि।

1. पिशङ्गभृष्टिमम्भृण पिशाचिमिन्द्र स मृण। सर्वं रक्षो नि बर्हय॥ ऋ० 1.133 5

2 देवा मनुष्या पितरस्तेऽन्यत आसन्नसुरा रक्षांसि पिशाचास्तेऽन्यत.॥
तै० स० 2 4.1 1

3. दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूना शयने शयानम्। अथ० 5 29 9.

4. दे० अथ० 5 29.5. पृ० 426.

5 अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान्।
पिशाचान्सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च॥ अथ० 4 37.10.

6 य आमंम ग्रिशात इदमुग्रं महो मम।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुपजानते॥ अथ० 4 36 8

विभिन्न प्रकार के दानवो की टोलिया मानी जाती है, किंतु कभी-कभी कुछ दानव युग्मो मे भी आ जाते है। इन युग्म रूपो का एक वर्ग क्रिमीदिन् है जिसका ऋग्वेद मे उल्लेख आ चुका है[1]।

मनुष्य को आये-दिन घेर लेने वाले दानवो का स्वभाव है—मनुष्य को क्षति पहुचाना और उनके वर्ग-विशेषो का स्वभाव है—विशेष प्रकार की क्षति पहुचाना जो कि उनके नामो ही से व्यक्त हो जाती हैं। साधारणतया दानवो का प्रकृति के दृश्यो और शक्तियो के साथ सवन्ध नही है, और हो सकता है कि अशत वे मृत शत्रुओ की आत्मा से लिये गये हो। ऊपर निर्दिष्ट दानवो की अपेक्षा कुछ कम मात्रा मे मानवो-कृत शक्तिया है—रोग-तत्त्व, वध्यापन, एव अपराध आदि, जो वायु मे उडते फिरते हैं और सक्रामक हैं, इन्हे शत्रु की ओर पठा देना जादूगरो का एक प्रमुख काम है। यह सब-कुछ होते हुए भी इन आत्माओ मे से कुछ आत्माए हानिकारक नही हैं, उलटी वे अन्न उपजाने मे सहायक होती हैं और वधू को दीर्घजीवन प्रदान करनेवाली हैं। साथ ही अर्वुदि के नेतृत्व मे कुछ अन्य आत्माए युद्ध भूमि मे शत्रु के दिल मे भय पैदा करके हमारी सहायता करती है[2]।

7 मृत्यु-विषयक सिद्धान्त

अन्त्येष्टि (§ 71)—

वेद मे मृत्यु का उल्लेख नही के वरावर आया है। जव कभी ऋषि इसका उल्लेख करते भी हैं, तव वे आम तौर से यह इच्छा प्रकट करते है कि मृत्यु उनके शत्रुओ पर टूटे और उनके अपने जीवन को वह दीर्घ वनावे। हा, केवल अन्त्येष्टि के अवसर ने अथवा भविष्य की झाकी ने ऋषि के ध्यान को आकृष्ट किया है। कह सकते हैं कि वेद मे शव को गाडने और जलाने की दोनो प्रथाए प्रचलित थी। ऋग्वेद के एक सूक्त[3] मे दाह के द्वारा और एक दूसरे सूक्तांश मे गाडने के द्वारा शव-सस्कार का

1. दे० 7 104 23 पृ० 427
प्रत्यंग्ने मिथुना दंह यातुधाना किमीदिना। ऋ० 10 87 24
2. दे० 3 25 1. पृ० 313
या अर्वुन्तरक्षयन्याश्च तस्थिरे या दुधीरन्ताँ अभितोऽदिन्न।
तास्त्वा जरसे स व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वास ॥ अथ० 14 1 45
उद्वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्स सृज।
उरुग्राहैर्वाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान्न्यर्बुदे ॥ अथ० 11 9.12
3 मैनमग्ने वि दहो माभि शोचो मास्य त्वच चिक्षिपो मा शरीरम्।
यदा शृत कृणवो जातवेदोऽथेमेन प्र हिणुतात् पितृभ्य ॥ ऋ० 10 16 1

विधान किया गया है[1]। 'मृन्मय गृहम्' का भी एक बार उल्लेख आया है[2]। अग्नि दग्ध और अनग्नि-दग्ध पितरो का उल्लेख मिलता है[3]। फिर भी मृतात्मा को लोकान्तर मे पहुचाने के लिए दाह-पद्धति को ही अधिक श्रेयस्कर समझा जाता था। परवर्ती कर्मकाड ने इसी पद्धति को श्रेयस्कर समझा है। इस प्रथा मे युवको की अस्थिया और राख गाडी जाती थी जबकि शिशुओ और सन्यासियो को समूचा गाड दिया जाता था।

फलत दाह सस्कार के साथ भावी जीवन से सबन्ध रखनेवाली विविध गाथाओ का जुड जाना स्वाभाविक था, परिणाम-स्वरूप ऐसी उक्तिया आम पाई जाती है जिनमे आता है कि अग्नि शव को पितरो और देवो के लोक मे ले जाते हैं[4]। वे मर्त्य को उन्नतम अमृत मे प्रतिष्ठित करते है[5]। दिव्य पक्षी अग्नि ही मानव को सूर्य के

1 उप॑ सर्प मा॒तर॑ भूमि॑मे॒तामु॑रु॒व्यच॑सं पृथि॒वीं सु॒शेवा॑म् ।
ऊर्ण॑म्रदा युव॒तिर्दक्षि॑णावत ए॒षा त्वा॑ पातु॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्था॑त् ॥ ऋ० 10 18 10
उच्छ्व॑ञ्चस्व पृथिवि॒ मा नि बा॑धथाः सूपाय॒नास्मै॑ भव सूपवञ्च॒ना ।
मा॒ता पु॒त्रं यथा॑ सि॒चाभ्ये॑नं भूम ऊर्णुहि ॥ ऋ० 10 18 11
उ॒च्छ्वञ्च॑माना पृथि॒वी सु ति॑ष्ठतु स॒हस्रं॒ मित॒ उप॒ हि श्रय॑न्ताम् ।
ते गृ॒हासो॑ घृत॒श्चुतो॑ भवन्तु वि॒श्वाहा॑स्मै शर॒णाः स॒न्त्वत्र॑ ॥ ऋ० 10 18 12
उत्ते॑ स्तभ्नामि पृथि॒वीं त्वत्परी॒मं लो॒गं नि॒दध॒न्मो अ॒हं रि॑षम् ।
ए॒तां स्थूणां॑ पि॒तरो॑ धारयन्तु॒ तेऽत्रा॑ य॒मः साद॑ना ते मिनोतु ॥ ऋ० 10 18 13

2 मो षु व॑रुण मृ॒न्मय॑ गृ॒हं रा॑जन्न॒हं ग॑मम् । ऋ० 7 89 1

3 ये अ॑ग्निद॒ग्धा ये अन॑ग्निदग्धा॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते ।
तेभि॑ स्व॒राळसु॑नीतिमे॒तां य॑थाव॒शं त॒न्वं॑ कल्पयस्व ॥ ऋ० 10 15 14
ये निखा॑ता ये परो॑प्ता ये द॒ग्धा ये चोद्धि॑ताः ।
सर्वां॒स्तान॑ग्न॒ आ व॑ह पि॒तॄन् ह॒विषे॒ अत्त॑वे ॥ अथ० 18.2 34.

4 दे० 10 16 1 पृ० 429
शृ॒तं य॒दा कर॑सि जातवे॒दोऽथे॑मेनं॒ परि॑ दत्तात्पि॒तृभ्यः॑ ।
य॒दा गच्छा॒त्यसु॑नीतिमे॒तामथा॑ दे॒वानां॑ वश॒नीर्भ॑वाति ॥ ऋ० 10 16 2
सूर्यं॒ चक्षु॑र्गच्छतु॒ वात॑मा॒त्मा द्यां च॑ गच्छ पृथि॒वीं च॒ धर्म॑णा ।
अ॒पो वा॑ गच्छ॒ यदि॒ तत्र॑ ते हि॒तमोष॑धीषु॒ प्रति॑ तिष्ठा॒ शरी॑रैः ॥ ऋ० 10 16 3
अ॒जो भा॒गस्तप॑सा॒ तं त॑पस्व॒ तं ते॑ शो॒चिस्त॑पतु॒ तं ते॑ अ॒र्चिः ।
यास्ते॑ शि॒वास्त॒न्वो॑ जातवेद॒स्ताभि॑र्वहैनं सु॒कृता॑मु लो॒कम् ॥ ऋ० 10 16 4
पू॒षा त्वे॒तश्च्या॑वयतु॒ प्र वि॒द्वानन॑ष्टपशु॒र्भुव॑नस्य गो॒पाः ।
स त्वै॒तेभ्यः॒ परि॑ ददत्पि॒तृभ्यो॒ऽग्निर्दे॒वेभ्यः॑ सुविद॒त्रिये॑भ्यः ॥ ऋ० 10 17.3

5 त्वम॑ग्ने वृज॒नव॑र्तनिं॒ नरं॒ सक्म॑न्पिपर्षि वि॒दथे॑ विचर्षणे ।
यः शूर॑साता॒ परि॑तक्म्ये॒ धने॑ द॒भ्रेभि॑श्चि॒त्समृ॑ता॒ हंसि॒ भूय॑सः ॥ ऋ० 1 31 6
त्वं तम॑ग्ने अमृत॒त्व उ॑त्त॒मे मर्तं॑ दधासि॒ श्रव॑से दि॒वेदि॑वे ।
यस्ता॑तृषा॒ण उ॒भया॑य॒ जन्म॑ने॒ मयः॑ कृ॒णोषि॒ प्रय॒ आ च॑ सू॒रये॑ ॥ ऋ० 1 31 7

द्युतिमान् पद पर, 'सर्वोच्च' स्वर्ग मे, सत्यवानो के लोक मे, जहा पुराण, पूर्व्य ऋषि पहुच चुके है उस स्थल पर पहुचाते है[1]। अग्नि मृत व्यक्ति के शरीर को भस्म करते और तदुपरान्त उसे सत्यवानो के लोक मे प्रतिष्ठित करते है[2]। क्रव्याद् अग्नि को हव्यवाट् अग्नि से विविक्त दिखाया गया है[3]। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह शव को सुकृतो के लोक मे पहुचा दें और उसके 'अज' भाग को तपिश से तपावें और अपनी लपटो से जला डालें[4]। एक बकरे को प्रेरित किया गया है कि वह पूषा का प्रथम अश बनकर यज्ञाश्व के आगे-आगे चले और यज्ञ को देवताओ के प्रति ज्ञापित करे[5]। सूत्रो[6] मे शव को काले बकरे के चर्म पर लिटाया जाता है और तब गौ या बकरे की बलि दी जाती है। दाह के समय अग्नि और सोम से प्रार्थना की जाती है कि वे कृष्ण पक्षी (काक), श्वापद, चीटी या सर्प के द्वारा क्षुण्ण किये विकलाग को फिर से सकल एव नीरुज बना दे[7]।

1 अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्य सुपर्णं वयसा बृहन्तम्।
तेन वय गमेम ब्रध्नस्य विष्टप स्वो रुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम् ॥ वा० स० 18 61
इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणो याभ्या रक्षास्यपहस्यग्ने।
ताभ्या पतेम सुकृतामु लोक यत्र ऋषयो जग्मु प्रथमजा पुराणा ॥ वा० स० 18 52
यदन्तरिक्ष पृथिवीमुत द्या यन्मातर पितर वा जिहिसिम।
अय तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ अथ० 6 120 1

2 आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते।
शरीरमस्य स दहाथैन धेहि सुकृतामु लोके ॥ अथ० 18 3 71

3 क्रव्यादमग्नि प्र हिणोमि दूर यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाह।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्य वहतु प्र जानन् ॥ ऋ० 10 16 9

4 दे० 10 16 4 पृ० 430

5 यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य राति गृभीता मुखतो नयन्ति।
सुप्राङजो मेम्यद् विश्वरूप इन्द्रापूष्णो प्रियमप्येति पाथ ॥ ऋ० 1 162 2
यद्धविष्यमृतुशो देवयान त्रिर्मानुषा पर्यश्व नयन्ति।
अत्रा पूष्ण प्रथमो भाग एति यज्ञ देवेभ्य प्रतिवेदयन्नज ॥ ऋ० 1 162 4
उप प्रागाच्छसन वाज्यर्वा देवद्रीचा मनसा दीध्यान।
अज पुरो नीयते नाभिरस्यानु पश्चात्कवयो यन्ति रेभा ॥ ऋ० 1 163 12
उप प्रागात्परम यत्सधस्थमर्वा अच्छा पितर मातर च।
अद्या देवाञ्जुष्टतमो हि गम्या अथाशास्ते दाशुषे वार्याणि ॥ ऋ० 1 163 13

6 अनुस्तरणीम्। गाम्। अजा वैकवर्णाम्। कृष्णामेके। आ०गृ०सू० 4 2 (4 5 6 7)
केशादि निस्ताय सर्विपान्तरस्या विना कृष्णाजिनमादधाति कृष्णाजिनमारीर्ध
प्र कृशिरसम्। का० श्रौ० सू० 25 7 10

7 यत्ते कृष्ण शकुन आतुतोद पिपील सर्प उत वा श्वापद।

यह धारणा आम थी कि मृत मनुष्य धूम्र के साथ-साथ स्वर्ग-लोक में जाता है[1]। उधर जानेवाला पथ लम्बा है, और इस पर पूषा मृतात्मा की रखवाली करते हैं और सविता, जहां सुकृत् लोग जाते और रहते हैं[2] वहां उसका आधान करते हैं। अज के लिए मांग की गई है कि वह घन-अन्धकार को पार करके स्वर्ग के तृतीय नाक पर जा पहुंचे[3]।

दूसरे लोक में उपयोग के लिए मृत व्यक्ति को आभूषण और वस्त्र प्रदान किये जाते थे, जिन्हें वह यम के दरबार में पहरा करता था[4]। इस प्रथा की स्मृति के भी अवशेष मिलते हैं[5] कि मृत मनुष्य की विधवा को और उसके अस्त्र-शस्त्रों को भी उसके साथ जला दिया जाता था। मृत व्यक्ति के शव में कूची (=कूदी) बांध दी जाती थी, जिससे मृतात्मा की यात्रा की लीक मिटती जाय और मृत्यु को फिर से जीवितों के लोक में लौटने के लिए रास्ता न मिल सके[6]।

आत्मा (§ 72)—

वैदिक आर्यों का विश्वास था कि अग्नि और भू-समाधि केवल शरीर को

अग्निष्टद् विश्वाद॑ग॒दं कृ॑णोतु॒ सोम॑श्च॒ यो ब्रा॑ह्म॒णाँ आ॑वि॒वेश॑ ॥ ऋ० 10.16.6.

1. स एवं विदा दह्यमानः सहैव धूमेन स्वर्गं लोकमेतीति ह विज्ञायते।
आ० गृ० सू० 4.4.7

2. आयु॑र्वि॒श्वायु॒: परि॑ पासति त्वा पू॒षा त्वा॑ पातु॒ प्रप॑थे पु॒रस्ता॑त्।
यत्रास॑ते सु॒कृतो॒ यत्र॒ ते य॒युस्तत्र॑ त्वा दे॒वः स॑वि॒ता द॑धातु ॥ ऋ० 10.17 4.

3. आ नय॑ैतमा र॑भस्व सु॒कृतां॑ लो॒कमपि॑ गच्छतु प्रजा॒नन्।
ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा म॒हान्त्य॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म् ॥ अथ० 9.5.1.
प्र प॒दोऽव॑ नेनिग्धि॒ दुश्च॑रितं॒ यच्चचार॑ शु॒द्धैः श॒फैरा क्र॑मतां प्रजा॒नन्।
ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा वि॒पश्य॑न्न॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म् ॥ अथ० 9 5

4 ए॒तत्ते॑ दे॒वः स॑वि॒ता वासो॑ ददा॒ति भर्त॑वे।
तत् त्वं य॒मस्य॒ राज्ये॒ वसा॑नस्ता॒र्प्यं॑ चर ॥ अथ० 18.4.31.

5 उदी॑र्ष्व ना॒र्य॒भि जी॑वलो॒कं ग॒तासु॑मे॒तमुप॑ शेष॒ एहि॑।
ह॒स्त॒ग्रा॒भस्य॑ दिधि॒षोस्तवे॒दं पत्यु॑र्जनि॒त्वम॒भि सं ब॑भूथ ॥ ऋ० 10.18 8.
धनु॒र्हस्ता॑दा॒ददा॑नो मृ॒तस्या॒ऽस्मे क्ष॒त्राय॒ वर्च॑से॒ बला॑य।
अत्रै॒व त्वमि॒ह व॒यं सु॒वीरा॒ विश्वा॒: स्पृधो॑ अ॒भिमा॑तीर्जयेम ॥ ऋ० 10 18.9.
यां मृ॒तायां॑नुब॒ध्नन्ति॑ कू॒द्यं पद॒योप॑नीम्।
तद्वै ब्र॑ह्मज्य ते दे॒वा उ॑पस्त॒रण॑मब्रुवन् ॥ अथ० 5.19 12.
मृ॒त्योः प॒दं यो॒पय॑न्तो॒ यदैत॒ द्राघी॑य॒ आयु॑: प्रत॒रं दधा॑नाः।
आ॒प्याय॑मानाः प्र॒जया॒ धने॑न शु॒द्धाः पू॒ता भ॑वत यज्ञियासः ॥ ऋ० 10 18 2.

नष्ट करते है और मृतक के वास्तविक व्यक्तित्व पर उनका प्रभाव नही पड़ता। इस धारणा का मूल उस आदिम विश्वास मे निहित है जिसके अनुसार आत्मा शरीर से पृथक् हो जाती है और शरीर के नष्ट हो जाने के उपरान्त भी उसका अस्तित्व बना रहता है। फलतः एक सकल सूक्त[1] में मृतक की आत्मा से प्रार्थना की गई है कि वह सुदूर स्थान से, जहा कि वह भ्रमण कर रही है, लौट आवे। वेदो मे पुनर्जन्म के सिद्धान्त का निर्देश नही के बराबर है; किंतु ब्राह्मण मे कहा गया है कि जो व्यक्ति यज्ञानुष्ठान को ज्ञान-पूर्वक सपादित नही करते, वे मृत्यु के उपरान्त फिर जन्म लेते और बार-बार मृत्यु की यातना को भोगते है। 'प्राण' और 'आत्मन्' के अतिरिक्त चैतन्य के बोधक अन्य शब्द भी हैं, जैसे 'असु' जो शारीरिक जीवनी-शक्ति का सूचक है[2]। पशुओ की भी जीवनी-शक्ति का सकेत मिलता है; और मन को, जिसे कि भावना और सवेग का सस्थान माना जाता था, ऋग्वेद मे हृदय मे अधिष्ठित माना गया है। बहुत से उद्धरणो से, (विशेषतया अथर्ववेद के) यह दीख पडता है कि जीवन और मरण असु अथवा मनस् के प्रवर्तन एव निवर्तन पर निर्भर थे; और 'असु-नीति' आदि शब्द अग्नि के द्वारा मृतात्माओ के इहलोक एवं परलोक के मध्यवर्ती मार्ग पर ले जाए जाने की ओर संकेत करते है[3]। मृतक की अन्त्येष्टि मे उसके असु और मनस् का आह्वान नही किया जाता; अपितु वहा पिता, पितामह आदि के रूप मे स्वय व्यक्ति ही का आह्वान किया जाता है। फलतः समझा जाता था कि आत्मा प्रतिबिम्ब-मात्र न होकर अपनी वैयक्तिकता को मरणोपरान्त भी बनाये रखती है। यद्यपि मनुष्य शरीर त्यागते ही अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं[4] तथापि शव का भावी जीवन के साथ सबद्ध गाथा मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। निश्चय ही भावी जीवन को शरीर-सपन्न माना जाता था; क्योंकि वैदिक विश्वास के अनुसार परलोकीय जीवन मे भी शरीर का भाग बना रहता है[5]। सभी प्रकार की अपूर्णताओ से अस्पृष्ट शरीर

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्मादेवकिल्बिषात् ॥ ऋ० 10.97.16.

1. यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ ऋ० 10.58.1. आदि पूर्ण सूक्त
2. उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति। ऋ० 1 113 16.
तासां जरा प्रमुञ्चति नानदद्सु परं जनयञ्जीवमस्तृतम्। ऋ० 1.140 8.
3. दे० 10.16 2. पृ० 430.
4. अथ व्यावृत्य शरीरेणामृतोऽसत्। शत० ब्रा० 10 4 3.9.
5. अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः ॥ ऋ० 10 16 5

को[1] कोरा स्थूल भौतिक शरीर नही समझा जाता रहा होगा। अपितु उसे अग्नि की प्रखर शक्ति के द्वारा कुन्दन बनाया हुआ समझा जाता रहा होगा[2], जो बाद मे (दर्शनो द्वारा) उद्भावित शरीर जैसा रहा होगा। भावी जीवन मे भी शव का महत्त्व बना रहता था—इस बात की सूचना इतने से मिल जाती है कि मृत मनुष्य की अस्थियो को खो देने पर मृतक के सबन्धियो को कठोर दड देने का विधान था[3]। ऋग्वेद के एक मन्त्र[4] मे मृत मनुष्य के नेत्र से कहा गया है कि वह सूर्य मे जाय और उसके प्राण को (आत्मा) कहा गया है कि वह वायु मे जाय, किंतु यह भावना, जो उन मन्त्रो मे आती है, जिसमे कि अग्नि को परलोक के पथ पर नेता के रूप मे देखा गया है, प्रासगिक कल्पनामात्र हो सकती है, और इसका आधार सभवत पुरुप-विपयक वह विचार हो सकता है[5] जिसके अनुसार पुरुप की चक्षु सूर्य बन जाती है और उसका श्वास वायु बन जाता है। उसी मन्त्र[6] मे आत्मा के विपय मे यह भी कहा गया है कि वह जलो या ओपधियो मे चली जाती है। पश्चवैदिक युग के पुनर्जन्म-सिद्धान्त का बीज इसी प्रकार की धारणाओ मे सनिहित दीख पडता है।

जिस पथ से पितर गये थे उसी पथ पर बढती हुई[7] मृतक की आत्मा शाश्वत प्रकाश के लोक मे जा पहुचती है[8] और तब वह देवताओ जैसी दीप्ति से भासित

यत्ते अङ्गमतिहित पराचैरपान प्राणो य उ वा ते परेत ।
तत्ते सगत्य पितर सनीडा घासाद्घास पुनरा वेशयन्तु ॥ अथ० 18 2 26.

1 यत्रा सुहार्द सुकृतो मदन्ति विहाय रोग तन्व१ स्वाया ।
अश्लोणा अङ्गैरहुता स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥ अथ० 6 120 3

2 दे० 10 16 6 पृ० 432

3 स होवाच । अनतिप्रश्न्या मा देवतामत्यप्राक्षी पुरेतिथ्यै मरिष्यसि न तेऽस्थीनि चन गृहान्प्राप्स्यन्तीति स ह तथैव ममार तस्य हाऽप्यन्यन्मन्यमाना परिमोपिणो ऽस्थीन्यपजह्रुस्तस्मान्नोपवादी स्यात्। शत० ब्रा० 11 6 3 11
त त्वौपनिषद पुरुप पृच्छामि त चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा विपपात तस्य हाऽप्यन्यन्मन्यमाना परिमोपिणोऽस्थीन्यपजह्रु । शत० ब्रा० 14 6 9 28

4 दे० 10 16 3 पृ० 430

5. चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ ऋ० 10 90 13.

6 यत्ते अपो यदोपधीर्मनो जगाम दूरकम्। ऋ० 10 58 7.

7 प्रेहि प्रेहि पथिभि पूर्व्येभिर्यत्रा न पूर्वे पितर परेयु ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यम पश्यासि वरुण च देवम् ॥ ऋ० 10 14 7.

8. यत्र ज्योतिरजस्र यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।

हो उठती है[1]। वह रथ पर बैठकर अथवा परों पर उड़ कर जाती है[2]। वह उन परों पर जाती है, जिनसे कि अग्नि रक्षसों का संहार करते हैं[3]। मरुतों के द्वारा ऊपर उठाई जाकर, मन्द वायु से बीजयमान होती हुई, जल-बूदों द्वारा सहलाई जाती हुई वह अपने पुराने शरीर को सकल आकार में प्राप्त कर लेती है[4] और वैभव-संपन्न होकर अपने पितरों से जा मिलती है, जो सर्वोच्च स्वर्ग में यम के साथ आनन्द ले रहे होते हैं[5]। और तव यम इस मृत व्यक्ति को अपना मानने लगता है और रहने के लिए इसे स्थान देता है। शतपथ ब्राह्मण में आता है कि मृतक इस संसार को छोड़ने के बाद दो अग्नियों के बीच से गुज़रता है जो क्रूरों को जला डालते हैं, किंतु ऋजुओं को आगे चलने देते है। द्वितीय कोटि के पथिक पितृमार्ग या सूर्य-मार्ग से जाते हैं[6]। उपनिषदों में ब्रह्मवेत्ताओं के लिए दो मार्ग बताये गये हैं: एक मार्ग ब्रह्म तक पहुंचाता है (यह पूर्ण ज्ञान का परिणाम है)। दूसरा स्वर्ग-लोक को जाता है, जहां से पुण्यों के क्षीण हो चुकने पर आत्मा पृथिवी पर पुनर्जन्म के लिए लौट आती है। किंतु अनात्मज्ञानी अभागे तो अन्ध-लोक में पड़ते और पृथिवी पर क्रूरों की तरह फिर से जन्म लेते हैं।

तस्मिन्मां धेहि पवमानाऽमृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥ ऋ० 9.113.7.

1. येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम् ॥ अथ० 11.1.37.
2. रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति। अथ० 4.34.4.
3. इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांस्यपहंस्यग्ने।
ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्रऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥ वा० सं० 18.52
4. ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान्गृहाँ उप जुजुषाण एहि।
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शग्माः ॥ अथ० 18.2.21.
5. सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥ ऋ० 10.14.8.
अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति। ऋ० 10.14.10.
ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।
पितॄन् तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ऋ० 10.154.4.
सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ ऋ० 10.154.5.
दे० 10.14.8. ऊपर।
यमो ददात्यवसानमस्मै। ऋ० 10.14.9.
ददाम्यस्मा अवसानमेतद्य एष आगन्मम चेदभूदिह। अथ० 18 2.37.
6. स एष देवयानो वा पितृयाणो वा पन्थाः। तदुभयतोऽग्निशिखे समोपन्त्यौ तिष्ठतः

स्वर्ग (§ 73)—

वह आवास, जहा पितर और यम निवास करते हैं, रजस् के मध्य मे स्थित है[1]। वह सर्वोच्च आकाश मे है[2], तृतीय स्वर्ग मे है और आकाश के अन्तरतम मे है, जहा कि शाश्वत प्रकाश खिला रहता है[3]। अथर्ववेद भी इसे सर्वोच्च[4] दीप्तिमान् लोक[5], त्रिनाक, त्रिदिव, नाक का पृष्ठ[6] और तीसरी प्रद्यौ[7] इन शब्दो द्वारा सकेतित करता है। मैत्रायणी सहिता[8] मे पितरो का आवास तृतीय लोक मे बताया गया है। ऋग्वेद[9] मे भी पितरो का आवास सूर्य का उच्चतम पद है, जहा अजस्र ज्योति है और जहा प्रकाश खिला रहता है। अश्वो के दाता पितर् सूर्य के साथ रहते है[10]। सहस्रनयन कवि सूर्य की रक्षा करते है[11]। सूर्य-रश्मियो के द्वारा पितर् लोग सपित्व अर्थात् सह-प्राप्तव्य स्थान को जाते है[12]। सतत भरपूर दक्षिणा

प्रति तमोपतो य प्रयुन्योऽस्युत सृजेते योऽतिसृज्य शान्तिरापस्तदेतमेवैतत्पन्थान शमयति। शत० ब्रा० 1 9 3 2

1 ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिव स्वधया मादयन्ते।
तेभि स्वराळसुनीतिमेता यथावश तन्व कल्पयस्व ॥ ऋ० 10 15 14

2 दे० 10 14 8 पृ० 435

3 दे० 9 113 7 पृ० 435
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृत कृधि। ऋ० 9 113 9

4 प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्। अथ० 11 4 11
अनस्था पूता पवनेन शुद्धा शुचय शुचिमपि यन्ति लोकम्। अथ० 4 34 2

5 ते द्यामुदित्याविदन्त लोक नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्याना। अथ० 18 2 47

6 दे० 9 5 1 पृ० 432
ईजानाना सुकृता प्रेहि मध्य तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व। अथ० 9 5 8
तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व। अथ० 18 4 3

7 तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्या पितर आसते। अथ० 18 2 48

8 तृतीये हि लोके पितर। मैत्रा० स० 1 10 18 तथा 2 3 9

9 यत्रानुकाम चरण त्रिनाके त्रिदिवे दिव।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृत कृधि ॥ ऋ० 9 113 9

10 उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदा सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्व भजन्ते वासोदा सोम प्र तिरन्त आयु ॥ ऋ० 10 107 2

11 सहस्रणीथा कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्। ऋ० 10 154 5

12 इमे नु ते रश्मय सूर्यस्य येभि सपित्व पितरो न आसन्। ऋ० 1 109 7
अथैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा य एष तपति तस्य ये रश्मयस्ते सुकृतोऽथ यत्पर भा

देने वालो के लिए द्युलोक मे अनेकानेक सूर्य चमकते है[1]। पितरो का विष्णु-पद के साथ भी सवन्ध वना रहता है[2]। और देवभक्त मनुष्य प्रिय धाम मे, विष्णु के उच्चतम पद पर, जहा कि मधु का स्रोत प्रवाहित रहता है, आनन्द लेते है[3]। जैसे विष्णु ने तीन पद क्रमण किये थे वहा जहा कि देवता आनन्द लेते हैं, वैसे ही सूर्य उपस् का अनुगमन करते हैं, वहा जहा भक्त देवयु मनुष्य यज्ञो मे रत रहते है।

आकाश मे चमकनेवाले तारे असल मे पुनीत मानवो ही के प्रकाश-विन्दु हैं[4]। और यह भी माना जाता था कि पुराण पुरुष, खास तौर से सप्तर्षि, अत्रि और अगस्त्य तारे वनकर आकाश मे उभरे हुए है[5]।

ऋग्वेद मे आता है कि सुपलाश वृक्ष के नीचे यम देवो के साथ पान करते है[6]। अथर्ववेद[7] के अनुसार वह पीपल का वृक्ष है, जहा देवता तृतीय स्वर्ग मे निवास करते है (यम का यहा उल्लेख नही हुआ है)।

स्वर्गीय सुख (§ 74)—

भावी जीवन के विषय मे सबसे स्पष्ट उल्लेख तो ऋग्वेद के नवम और दशम मडल मे आते है, किंतु प्रथम मडल मे भी इसके सकेत मिल जाते है। स्वर्ग ऐसे मनुष्यो को मिलता है जो तप मे अजेय है, और जो ज्वलन्त तप मे रत रहते हैं, या जो वीर युद्धो मे लडते-लडते शरीर त्यागते है[8]। किंतु यह पुरस्कार इन

प्रजापतिर्वा स स्वर्गो वा लोकस्तदेवमिमाँल्लोकान्समारुह्याऽथैता गतिमेता प्रतिष्ठा गच्छति। शत० 1 9 3 10

1. दक्षिणावता दिवि सूर्यास। ऋ० 1 125 6
2. आह पितॄन्सुविदत्राँ अवित्सि नपात च विक्रमण च विष्णो। ऋ० 10 15 3
3. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णो पदे परमे मध्व उत्स॥ ऋ० 1 154 5
4. सुकृता वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि तान्येवाप्नोति। तै० स० 5 4 1 3 1
नक्षत्राणि वै जनयो ये हि जना पुण्यकृत स्वर्गं लोक यन्ति तेषामेतानि ज्योतींषि।
शत० ब्रा० 6 5 4 8
5. असत सुद्धे ततक्षु। ऋषय सप्तात्रिश्च यत्। सर्वेऽत्रयो अगस्त्यश्च।
नक्षत्रै शङ्कृतोऽवसन्। तै० आ० 1 11 1 2
6. यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवै सपिबते यम।
अत्रा नो विश्पति पिता पुराणाँ अनु वेनति॥ ऋ० 10 135 1
7. अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षण देवा कुष्ठमवन्वत॥ अथ० 5 4 3
8. तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययु।

सबसे बढकर उनको मिलता है, जो खुले दिल से यज्ञ करते हैं। वे नाक के पृष्ठ पर निवास करते है, द्युलोक मे उन्हे ऊचा स्थान मिलता है, और वे हिरण्य आदि से सपन्न हो जाते है[1]। याज्ञिको को प्राप्त होनेवाले आनन्दो का ऋग्वेद मे बार-बार वर्णन आता है।

इष्टापूर्त के द्वारा परम व्योम मे प्रेतात्मा पितरो और यम से सगत होती है, और वहा उसे नवीन चोले का लाभ होता है[2]। स्वर्ग मे मृतात्मा एक ऐसे प्रसादमय जीवन मे प्रवेश करते है, जहा सकल इच्छाए पूर्ण हो जाती हैं[3] और जो देवताओ के बीच मे विशेषतया यम और वरुण[4]—इन देवताओ के समक्ष बिताया जाता है। अव्यथी स्तोतृवृन्द अन्तरिक्ष को पार कर जाते हैं[5]। वैभव सपन्न शरीर से युक्त होकर वे देवता और पितरो के प्रेम-भाजन बन जाते हैं[6]। वहा स्वच्छ आत्मा

तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ऋ० 10 154 2
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यज ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ऋ० 10 154 3
ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृध ।
पितृन् तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ऋ० 10 154 4
दे० 10 154.3 ऊपर

1 नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो य पृणाति स ह देवेषु गच्छति । ऋ० 1 125 5
दे० 10 107.2 पृ० 436

2 दे० 10 14 8 पृ० 435
तेभि स्वराळसुनीतिमेता यथावश तन्व कल्पयस्व । ऋ० 10 15 14
दे० 10 16 2 पृ० 430
अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभि ।
आयुर्वसान उप वेतु शेष स गच्छता तन्वा जातवेद ॥ ऋ० 10 16 5

3 दे० 9 113 9 पृ० 436
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ता कामास्तत्र माममृत कृधि ॥ ऋ० 9 113 11

4 यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।
स नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायु प्र जीवसे ॥ ऋ० 10 14 14
दे० 10 14 7 पृ० 434

5 तदव्यथी जरिमाणस्तरन्ति । ऋ० 10 27 21

6 दे० 10 14 8 पृ० 435 10 16 5 ऊपर।
इद त एक पर ऊ त एक तृतीयेन ज्योतिषा स विशस्व ।
सवेशने तन्वश्चारुरेधि प्रियो देवाना परमे जनित्रे ॥ ऋ० 10 56 1,

वाले सुकृत् लोग शारीरिक व्यथाओ से स्वतन्त्र हो आनन्द करते, वही प्रेतात्मा अपने पिता, माता और पुत्रो से जा मिलते हैं[1] और वहा वे अपने स्त्री पुत्रो को फिर से देखते हैं[2]। उधर के जीवन मे शारीरिक अपूर्णता और दुर्बलता नही रहती[3]। वहा पहुचने पर व्याधिया जाती रहती है और शरीरावयवो की ऊनताए दूर हो जाती हैं[4]। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण मे आता है कि परलोक मे मृतको के अग-प्रत्यग पूर्ण बने रहते है।

ऋग्वेद कहता है कि स्वर्ग मे मृतक आनन्द लेते हैं, अथवा यो कहिये कि उन्हें आनन्द दिया जाता है[5]। स्वर्गीय जीवन के आनन्द का सबसे अधिक प्ररोचक वर्णन ऋग्वेद[6] मे आता है। वहा अजस्र ज्योति चमकती है और वहा वेगयुक्त सलिल प्रवाहित रहते है। वहा स्वेच्छा से घूमना फिरना होता है और वहा आलोक है, वहा स्वधा है, तृप्ति है, सतुष्टि है। वहा आनन्द है, मोद है, उल्लास है, प्रमोद है और वहा सभी कामनाओ की भरपेट पूर्ति है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे बताया गया है कि ये सब आनन्द प्रेम के आनन्द है[6], और अथर्ववेद[7] कहता है कि वहा पहुचने पर शरीर मे हड्डिया नही रहती और पवन से शोधे गये परिपूत व्यक्ति शुचिलोक मे पहुच जाते हैं, जहा (काम—) अग्नि शिश्न को नही जलाती और सब प्रकार का स्त्री-भोग अखड बना रहता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पुनीतो का सुख

---

1 यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अङ्गैरहुता स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥ अथ० 6 120 3

2 स्वर्गं लोकमभि नो नयासि स जायया सह पुत्रैः स्याम।
अथ० 12 3 17.

3 दे० 10 14 8 पृ० 435.
दे० अथ० 6 120 3 पृ० 434

4 यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। अथ० 3 28 5

5 अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति॥ ऋ० 10 14 10
दे० 10 15 14 पृ० 430

6 दे० 9 113 7 एव 8 पृ० 286
दे० 9 113 9 पृ० 436 9 113 11 पृ० 438
कामस्य तृप्तिमानन्द। तस्याग्ने भाजयेह मा। मोद प्रमोद आनन्द।
मुष्कयोर्निहित सर्प। सृत्वेव कामस्य तृप्याणि। तै० ब्रा० 2 4 6. 5-6
आ मैथुनात्सर्वं हास्य तत्स्वर्गं लोकमभि सभवति। शत० ब्रा० 10 4 4.4

7. अनस्था पूता पवनेन शुद्धा शुचय शुचिमपि यन्ति लोकम्।
नैषां शिश्न प्र दहति जातवेदा स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्॥ अथ० 4.34.

पार्थिव सुखों की अपेक्षा सौ गुना है[1]। ऋग्वेद कहता है कि पुनीतों के देव-निर्मित स्वर्ग में वीरता और गायन की मंजुल ध्वनि उठती रहती है[2]। पूत व्यक्तियों के लिए वहां सोम, घृत और मधु बहते रहते हैं[3]। वहां घृत से लबालब भरे ह्रद हैं, मधु की कूल हैं, सुरा के स्रोत हैं, और दूध की नदियां बहती हैं[4]। वहां चमकती हुई विश्वरूप कामदुघा धेनुएं हैं[5]। उस नाक पर निर्बलों को सबलों के हाथों शुल्क नहीं देना पड़ता[6]। संहिताओं और ब्राह्मणों के दिव्य सुख के समान उपनिषदों के भी अपने स्वर्ग्य सुख हैं, जिन्हें भोग चुकने पर एक व्यक्ति इस धरती पर लौट आता और पुनर्जन्म लेता है। ब्रह्म में तो वे ही विलीन होते और वे ही अमृतत्व एवं अनन्त शान्ति के अविकार्य आनन्द को पाते हैं जो सत्य को देख लेते हैं। इस प्रकार पुनीतों का स्वर्गीय जीवन मस्ती और भौतिक आनन्द का जीवन माना जाता था, जिसमें सभी प्रकार की दुर्बलताओं एवं अशक्तताओं से उन्मुक्त होकर वे देवताओं का सानिध्य प्राप्त करते हैं और ऐन्द्रिय सुख में लीन रहते हैं, जैसाकि स्वयं देवता लोग करते हैं और जैसाकि इन्द्र के लिए आया है कि तुम सोम पिओ और घर जाओ जहांकि कल्याणी जाया तुम्हारी बाट जोहती है और जहां गीत और वाद्य की ध्वनि उठती रहती है[7]।

क्षत्रियों की नहीं, अपितु पुरोहितों की कल्पना के अनुसार स्वर्ग भौतिक

---

1 अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः। स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दः।
शत० ब्रा० 14.7.1.33.
सयो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवति। अन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैः कामैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दः। शत० ब्रा० 14.7.1.32.

2. इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः॥ ऋ० 10.135.7.

3. सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥ ऋ० 10.154.1.

4. आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली। एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥
अथ० 4.34.5.
घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। अथ० 4.34.6.
घृतकुल्या मधुकुल्या पितृन्स्वधा अभि वहन्ति। शत० ब्रा० 11.5.6.4.

5. विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु। अथ० 4.34.8.

6. स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे।
अथ० 3.29.3.

7. अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते। ऋ० 3.53.6.

आनन्द का एक संपन्न लोक है। यह सुकृतों का लोक है[1], जहां पुनीत एवं दैव्य नर ऋत को पहचानते हुए आनन्द मे चैन की वंसी बजाते है। वहां उनके इष्टापूर्त फलते है और वे पुरोहितों के लिए दी गई दक्षिणा के वल्गुफल भोगते हैं[2]। ब्राह्मणों में कहा गया है कि जो सुचारु विधि से यज्ञ करते है वे सबके ऊपर आदित्य, अग्नि, वायु, इन्द्र, वरुण, बृहस्पति, प्रजापति और ब्रह्मा का पद और इनका तादात्म्य प्राप्त करते हैं[3]। एक ऋषि के लिए वर्णन आता है कि वे ज्ञान द्वारा स्वर्णिम हंस बनकर स्वर्ग में गये और वहां उन्होने सूर्य का सांनिध्य प्राप्त किया[4]। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार यज्ञ-विशेष का अनुष्ठान करके मनुष्य जीवित

1. ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्। ऋ० 10.16.4.
2. दे० 10.154.3. पृ० 438.
3. स यद्वैश्वदेवेन यजते। अग्निरेव तर्हि भवत्यग्नेरेव सायुज्यं सलोकतां जयत्यथ यद्वरुणप्रघासैर्यजते वरुण एव तर्हि भवति वरुणस्यैव सायुज्यं सलोकतां जयत्यथ यत्साकमेधैर्यजत इन्द्र एव तर्हि भवतीन्द्रस्यैव सायुज्यं सलोकतां जयति।
शत० ब्रा० 2.6.4.8.

षड् ढ वै ब्रह्मणो द्वारोऽग्निर्वायुरापश्चन्द्रमा विद्युदादित्यः। स य उपदग्धेन हविषा यजते। अग्निना ह स ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्यते सोऽग्निना ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्य ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां जयति। शत० ब्रा० 11.4 4. 1-2
आदित्यो वै घर्मस्तं सायमग्नौ जुहोम्यग्निर्वै घर्मस्तं प्रातरादित्ये जुहोमीति किं स भवति य एवं जुहोत्यजस्त्र एव श्रिया यशसा भवत्येतयोश्च देवतयोः सायुज्यं सलोकतां जयतीति। शत० ब्रा० 11.6.2 2.
आदित्यो वै तेजस्तं सायमग्नौ जुहोम्याग्निर्वै तेजस्तं प्रातरादित्ये जुहोमीति किं स भवति य एवं जुहोतीति तेजस्वी यशस्व्यन्नादो भवत्येतयोश्च देवतयोः सायुज्यं सलोकतां जयतीति। शत० ब्रा० 11 6.2.3.
अग्नेर्वा एतानि नामधेयानि। अग्नेरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति य एवं वेद।
वायोर्वा एतानि नामधेयानि। वायोरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति य एवं वेद।
इन्द्रस्य वा एतानि नामधेयानि। इन्द्रस्यैव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति य एवं वेद।
बृहस्पतेर्वा एतानि नामधेयानि। बृहस्पतेरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति य एवं वेद।
प्रजापतेर्वा एतानि नामधेयानि। प्रजापतेरेव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति य एवं वेद।
ब्रह्मणो वा एतानि नामधेयानि। ब्रह्मण एव सायुज्यं सलोकतामाप्नोति य एवं वेद।
तै० ब्रा० 3.10.11. 6-7
4. अहीना हाऽऽश्वथ्यः। सावित्रं विदाञ्चकार। स ह हंसो हिरण्मयो भूत्वा स्वर्गं लोकमियाय। आदित्यस्य सायुज्यम्। तै० ब्रा० 3.10.9.11.
किं तद् यज्ञे यजमानः कुरते येन जीवन्त्सुवर्गं लोकमेतीति जीवग्रहो वा एष

अवस्था मे ही स्वर्ग मे पहुच जाता है।

जो व्यक्ति वेद को उचित ढग से पढता है वह मृत्यु से छूट जाता है और ब्रह्मा का सायुज्य प्राप्त कर लेता है। किसी गुह्य विद्या-विशेष को जानने के परिणाम-स्वरूप मनुष्य इस लोक मे फिर जन्म लेता है[1]। कह सकते हैं कि शतपथ ब्राह्मण मे कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का आरम्भ होता है। यह सिद्धान्त (नरक-सिद्धान्त के साथ-साथ) न केवल प्राचीनतम सूत्रो मे अपितु उत्तर-ब्राह्मण काल मे, अर्थात् छान्दोग्य, बृहदारण्यक और विशेषतया कठ उपनिषद् मे पूर्णतया विकसित हो जाता है। कठोपनिषद् मे नाचिकेतस की कहानी आती है। वह मृत्युदेव के लोक मे जाता है। वहा मृत्यु उसे बताते है कि जिन व्यक्तियो ने स्वर्ग और अमृतत्त्व के लिए अपेक्षित पुण्य अर्जित नही कर लिये वे पुन -पुन मृत्यु के पाश मे फसते है और ससार-चक्र मे भ्रमते रहते है, वे चर या अचर रूप मे बार-बार जन्मते-मरते है। इसके विपरीत जो सन्त आत्म-सयम बरतते हैं वे विष्णु के परम पद को प्राप्त कर लेते हैं।

नरक (§ 75)—

यदि ऋग्वेदिक कवियो की दृष्टि मे पुनीत व्यक्ति भावी जीवन मे पुण्य-फल का उपभोग करते थे तो उनके लिए स्वाभाविक था कि पापियो के पाप-फल-भोग के लिए भी किसी स्थान की कल्पना करते, जैसा कि अवेस्ता के विषय मे पाया जाता है। जहा तक अथर्ववेद और कठोपनिषद् का सबन्ध है हम कह सकते है कि वे नरक मे विश्वास करते है। अथर्ववेद[2] मे एक जगह अधो-गृह का निर्देश आया है। वहा डायने रहती हैं और जादूगर बसते हैं। 'नारक लोक' यही है और यह यम के दिव्य लोक के ठीक विपरीत है[3]। हत्यारा इसी लोक मे जाता है[4]। अथर्ववेद मे अनेक बार इसे 'अधम तमस्'[5], 'कृष्ण तमस्' और 'अन्ध तमस्'[6] कहा

यददाभ्योऽनेभिषुतस्य गृह्णाति। जीवन्तमेवैनं सुवर्गं लोक गमयति।
तै० स० 6 6 9 2 3

1. पुनर्ह वा अस्मिँल्लोके भवति य एवमेतद्वेद। शत० ब्रा० 1 5 3 14
2 असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्य ।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्य ॥ अथ० 2 14 3.
3. सर्वान्कामान्यमराज्ये वशा प्रदुदुषे दुहे।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥ अथ० 12 4 36
4 नारकाय वीरहणम्। वा० स० 30 5
5 नो यन्त्यधमं तमः। अथ० 8 2 24
6 अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते।

गया है। नरक की यातनाओं का भी अथर्ववेद[1] मे एक बार और शतपथ ब्राह्मण[2] मे विस्तार के साथ वर्णन आता है, क्योकि ब्राह्मणो मे पहुच कर ही भावी दण्ड-विषयक धारणाए पूरे रूप से विकसित हुई प्रतीत होती है। शतपथ ब्राह्मण आगे चलकर कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति को मृत्यु के उपरान्त पुन जन्म लेना पडता है और उसे तराजू मे तोला जाता है। अपने सुकृत या दुरितो के अनुसार वह पुरस्कार या दड का भागी बनता है[3]। इसी प्रकार के विचार ईरान मे भी पाये जाते है। रॉथ के मत मे ऋग्वेदिक आर्यों को नरक का ज्ञान नही था, क्योकि इस वेद मे पापियो को मृत्यु के साथ सर्वदा के लिए विनष्ट हो चुका माना जाता है। किंतु निश्चय ही ऋग्वेद मे भी नरक के सकेत मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए कहा गया है कि इस गभीर पद को पापी, ऋत-विरोधी एव असत्यात्मा व्यक्तियो ने बताया है[4]। इन्द्र सोम से प्रार्थना की गई है कि वे पापाचारो को गर्त मे (वव्र), बिना सहारे के घने तमस् मे धकेल दें, जिससे कि उनमे से एक भी न बचने पावे[5]। और कवि प्रार्थना करता है कि उलूक की तरह अपने को छिपा कर जो डायनें रात मे इधर-उधर भटकती फिरती है भगवान् करे कि वे अतल गर्त मे जा गिरें[6]। राक्षस उस गढे मे लुढक जाय जो तीनो पृथिवियो के बीच बना है[7]। किंतु इस प्रकार के निर्देश कम हैं और इन से केवल इतना सिद्ध होता है कि नरक पृथिवी के नीचे है और

उदेहि मृत्योर्गम्भीरात्कृष्णाच्चित्तमसस्परि ॥ अथ० 5 30 11.
अन्धेन यत्तमसा प्रावृतासीत्। अथ० 18 3 3

1 अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन्।
भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्या पराभवन् ॥ अथ० 5 19 1 आदि पूर्णसूक्त

2. शत० ब्रा० 11 6.1 पूर्ण निर्दिष्ट

3. तुलाया ह वा अमुष्मिँल्लोक आदधति यतरद्यस्यति तदन्वेष्यति यदि साधु वासाधु
वेत्यथ य एव वेद। शत० ब्रा० 11 2 7 33
एतस्माद्वै यज्ञात्पुरुषो जायते। स यद्ध वा अस्मिँल्लोके पुरुषोऽन्नमत्ति तदेनममुष्मिँल्लोके प्रत्यत्ति। शत० ब्रा० 12 9 1 1

4 अभ्रातरो न योषणो व्यन्तं पतिरिपो न जनयो दुरेवा।
पापास सन्तो अनृता असत्या इद पदमजनता गभीरम् ॥ ऋ० 4 5 5

5 इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्।
यथा नात पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छव ॥ ऋ० 7 104 3.

6 प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहा तन्वं गूहमाना।
वव्राँ अनन्ताँ अव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दै ॥ ऋ० 7 104 17

7 पर सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वा।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो नो दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥ ऋ० 7 104 11

वहा अन्धकार छाया रहता है। इस पृथिवी पर ही कृतकृत्य सुख पानेवाले कवियो की दृष्टि शायद ही पारलौकिक सुखो की ओर झुकती हो फिर परलोक की यातनाओ की ओर का तो कहना ही क्या ? ब्राह्मणो के अनुसार मृत्यु के उपरान्त पुण्यात्मा और पापात्मा दोनो ही परलोक मे जन्मते और यथाकर्म फल भोगते है[1]। किंतु पुरस्कार या दड के आनन्त्य के विषय मे यहा कुछ भी नही कहा गया है। ब्राह्मणो मे यह धारणा भी उभर चुकी है कि जो व्यक्ति यज्ञ-कर्म की प्रक्रिया को यथाविधि नही समझते और फिर भी उसे करते है, वे पार्थिव जीवन की अवधि के समाप्त होने से पहले ही परलोक चले जाते है।

उस अन्तिम दिन के निर्णय का, जिसका सामुख्य हर मृतक को करना पडता है, वैदिक काल मे नही के बराबर ज्ञान दीख पडता है। ऋग्वेद के वे एक दो मन्त्र[2], जिनमे इस धारणा के सकेत खोजे गये है इतने अधिक सदिग्धार्थ है कि इनसे इस बात का निर्णय होना कठिन है। तैत्तिरीय आरण्यक[3] मे आता है कि यम के समक्ष सत्याचार और मिथ्याचार विविक्त किये जाते है। किंतु उस अवसर पर यम न्यायाधीश जैसा व्यवहार करते है इस बात का इस कथन से निश्चय नही हो पाता। नरक-सबन्धी विश्वास भारोपीय काल ही मे उभर आया था। इस निर्णय पर वेबर महाशय भृगु का ग्रीक फ्लेगुअई के साथ साम्य करके पहुचते है। शतपथ ब्राह्मण मे उल्लेख आता है कि भृगु को उनके पिता ने दर्प के कारण नारकीय यातनाओ का आभास लेने के लिए नरक मे भेजा था। और दूसरी ओर फ्लेगुअई को भी दर्प के कारण नारकीय यातनाए भोगने का अभिशाप मिला था। किंतु सभवत इन दोनो गाथाओ की समानता नितरा आकस्मिक है, और हो सकता है कि नारकीय यातना सबन्धी धारणा बाद मे पैदा हुआ एक विविक्त भारतीय विचार हो।

पितर (§ 76)—

तृतीय स्वर्ग मे रहने वाले पुण्यात्मा मृतको को पितृ कहते है। पितृ शब्द

1. अथ खलु क्रतुमयोऽय पुरुष स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैत्येवंक्रतुर्हामु लोक प्रेत्याभि सभवति। शत० ब्रा० 11 6 3 1
यद्दीक्षितो भवति स कृत लोकमभि जायते—
तस्मादाहु कृत लोकपुरुषोऽभिजायत इति। शत० ब्रा० 6 2 2 27
2 विवेष यन्मा धिषणा जजान स्तवै पुरा पार्यादिन्द्रमह्न।
अंहसो यत्र पीपरद् यथा नो नावेव यान्तमुभये हवन्ते॥ ऋ० 3 32 14
3 वैरस्यन्ते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जना।
ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिन॥ तै० आ० 6 5 3

से सामान्यतया आदिम या प्रथम पूर्वज लिये जाते है[1], जिन्होने प्रथम मार्ग का अनुगमन किया है, वे ऋषि जिन्होने उस पथ का निर्माण किया था, जिससे होकर आज के मृतक उनके यहा पहुचते है[2]। पितर लोग विष्णु के विक्रमण के साथ सबद्ध है[3]। उनकी स्तुति मे ऋग्वेद मे दो सूक्त कहे गये है[4]।

पितरो की विविध जातिया है—नवग्व, विरूप, अगिरस्, अथर्वन्, भृगु और वसिष्ठ[5]। अन्तिम चार नाम उन पुरोहित कुलो के है जो परम्परा के अनुसार अथर्ववेद और ऋग्वेद के द्वितीय से लेकर सप्तम मडल तक के निर्माता है। इनमे से अगिरसो का यम के साथ निकट सबन्ध है[6]। पितरो को अवर, पर, और मध्यम तथा पूर्व और उपर अर्थात् परवर्ती कहा गया है। यद्यपि इन सब का उनके वशजो को ज्ञान नही है तथापि अग्नि उन सभी को जानते है[7]। अथर्ववेद मे अन्तरिक्ष,

---

1 ये न पूर्वे पितर सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथ वसिष्ठा ।
तेभिर्यम सरराणो हवींष्युशन्नुशद्भि प्रतिकाममत्तु ॥ ऋ० 10 15 8
ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवै सरथ दधाना ।
आग्ने याहि सहस्र देववन्दै परै पूर्वै पितृभिर्घर्मसद्भि ॥ ऋ० 10 15 10

2 यमो नो गातु प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ ।
यत्रा न पूर्वे पितर परेयुरेना जज्ञाना पथ्या३ अनु स्वा ॥ ऋ० 10 14 2
दे० 10 14 7 पृ० 434
यमाय मधुमत्तम राज्ञे हव्य जुहोतन ।
इद नम ऋषिभ्य पूर्वजेभ्य पूर्वेभ्य पथिकृद्भ्य ॥ ऋ० 10 14 15

3 दे० 10 15 3 पृ० 437 1 154 5 पृ० 437

4 दे० 10 14 1 आदि नीचे पूर्ण सूक्त । दे० 10 15 1 आदि नीचे पूर्ण सूक्त ।

5 इम यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभि पितृभि सविदान ।
आ त्वा मन्त्रा कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ॥ ऋ० 10 14 4
अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्त हुवे य पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य ॥ ऋ० 10 14 5
दे० 10 14 6 पृ० 363 10 15 8 ऊपर ।

6. मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधान ।
याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति ॥ ऋ० 10 14 3
दे० 10 14 5 ऊपर ।
परेयिवास प्रवतो महीरनु बहुभ्य पन्थामनुपस्पशानम् ।
वैवस्वत सगमन जनाना यम राजान हविषा दुवस्य ॥ ऋ० 10 14 1

7 उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमा पितर सोम्यास ।
असु य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ऋ० 10 15 1

पृथिवी और द्युलोक मे रहने वाले पितरो का उल्लेख आता है[1]। स्वय पूर्व पितर वसिष्ठो ने एक बार पितरो को सोम पेय दिया था[2]। पितर लोग यम के साथ सधमाद, अर्थात् नर्म-गोष्ठी का आनन्द भोगते[3] और देवो के साथ भोजन करते है[4]। वे ऋतावा है, पूर्व्य कवि है और उन्होने गूढ ज्योति को पा लिया है। वे सत्यमन्त्र है और उषा को उन्होने उत्पन्न किया है। देवताओ की-सी जीवन यात्रा करते हुए वे अलौकिक प्रतिष्ठा प्राप्त करते है। वे उसी रथ पर सवार होते है जिस पर कि इन्द्र और अन्य देवता[5], वे सोम के प्रेमी है[6], और दक्षिण की ओर बर्हि पर बैठकर सोम-पान करते हैं[7]। पृथिवी पर अपने निमित्त अभिषुत सवन के लिए वे लालायित रहते है। उन्हे न्यौता गया है कि वे अपने पिता यम, और अग्नि के साथ आवे और यम के साथ हविष् ग्रहण करें[8]। सहस्रो की सख्या मे

इद पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयु ।
ये पार्थिव रजस्या निषत्ता ये वा नून सुवृजनासु विक्षु ॥ ऋ० 10 15 2.
य त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुन ।
कियाम्बत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा ॥ ऋ० 10 16 13
ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म ।
त्व वेत्थ यति ते जातवेद स्वधाभिर्यज्ञ सुकृत जुषस्व ॥ ऋ० 10 15 13

1 ये न पितु पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् ।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्या तेभ्य पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ अथ० 18 2 49.
दे० 10 15 2 ऊपर।

2 दे० 10 15 8 पृ० 445
यत्र देवै सधमाद मदन्ति। अथ० 18 4 10

3 दे० 10 14 10 पृ० 439 10 135 1. पृ० 437

4 त इद्देवाना सधमाद आसन्नृतावान कवय पूर्व्यास ।
गूळ्ह ज्योति पितरो अन्वविन्दन् सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ॥ ऋ० 7 76 4

5 दे० 10 15 10 पृ० 445.

6 दे० 10 15.1 पृ० 415

7 उपहूता पितर सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान ॥ ऋ० 10 15 5
आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येम यज्ञमभि गृणीत विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितर केन चिन्नो यद्व आग पुरुषता कराम ॥ ऋ० 10 15 6

8. दे० 10 15 8 पृ० 415
ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविद स्तोमतष्टासो अर्कै ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यै कव्यै पितृभिर्घर्मसद्भि ॥ ऋ० 10 15 9

पधार कर वे यज्ञभूमि पर चौकड़ी लगाकर बैठ जाते है[1]। अथर्ववेद[2] के अनुसार जब पितर यज्ञ मे आते हैं तब दस्यु लोग कभी-कभी मित्र के वेष मे उनके मध्य प्रविष्ट हो जाते है—उन्हे निकाल देने की अग्नि से प्रार्थना की गई है।

पितरो का भोज्य हविष् है, जिसे एक मन्त्र[3] मे देवो के निमित्त दिये जाने वाले 'स्वाहा' से भिन्न 'स्वधा' पद से बोधित किया गया है। इसी प्रकार परवर्ती कर्मकाड मे देवो के दैनिक सवन को पितरो के सवन से पृथक् दिखाया गया है। पितरो की उपासना होती है, उनसे कहा जाता है कि वे उपासको की पुकार को सुनें, अपने भक्तो पर दया करे, उनकी रक्षा करें, और अपने वशजो को अपने प्रति किये गये अपराधो के कारण क्षति न पहुचावे[4]। इस कृपा के लिए उनका आह्वान उषा, सरित्, पर्वत, द्यावा पृथिवी, पूषा, वसु और ऋभुओ के साथ किया गया है[5]। प्रार्थना की गई है कि उषाओ के उपस्थ मे बैठे हुए पितर अपने पुत्रो को धन, अपत्य और दीर्घ जीवन प्रदान करें[6], जो उनकी कृपा के लिए तरस रहे

दे० 10 15 10 पृ० 445
अग्निष्वात्ता पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतय ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीर दधातन ॥ ऋ० 10 15 11
द० 10 14 4 तथा 5 पृ० 445

1 दे० 10 15 10 एव 11 पृ० 445

2 ये दस्यव पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात्प्र धमाति यज्ञात् ॥ अथ० 18 2 28

3 दे० 10 14 3 पृ० 445

4 दे० 10 15 2 पृ 446 10 15 5 एव 6 पृ० 446
अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभि । ऋ० 7 86 5
मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वे अग्ने पितर पदज्ञा ॥ ऋ० 3 55 2

5 अवन्तु मामुषसो जायमाना अवन्तु मा सिन्धव पिन्वमाना ।
अवन्तु मा पर्वतासो ध्रुवासोऽवन्तु मा पितरो देवहूतौ ॥ ऋ० 6 52 4
ब्राह्मणास पितर सोम्यास शिवे नो द्यावापृथिवी अनेहसा ।
पूषा न पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशस ईशत ॥ ऋ० 6 75 10
श न ऋभव सुकृत सुहस्ता श नो भवन्तु पितरो हवेषु । ऋ० 7 35 12
अवन्तु न पितर सुप्रवाचना उत देवी देवपुत्रे ऋतावृधा । ऋ० 1 106 3

6 आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्य पितरस्तस्य वस्व प्र यच्छत त इहोर्ज दधात ॥ ऋ० 10 15 7
दे० 10 15 11 ऊपर ।
परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्त ।

है[1]। वरुण से प्रार्थना की गई है कि वह हमे अपने पितरों से आये द्रोहों से बचावें। वसिष्ठो का आह्वान अपने वशजो की सहायता के निमित्त किया गया है[2] और अग्नि के साथ तुर्वश, यदु और उग्रदेव-जैसे पितरो को बुलाया गया है[3]।

पितर अमर्त्य है[4] और उनकी गरिमा देवो-जैसी है[5]। (अगिरस् और इसके समान अन्य वर्गो मे दिव्य चरित्र पूर्व्य पुरोहितो के चरित्र के साथ मिश्रित है) देवताओ के समान पितरो को भी कभी-कभी जगत् के महान् कार्य करते दिखाया गया है। उदाहरण के लिए, कहा गया है कि पितरो ने तारो के गजरों से आकाश को सजाया है, और रात्रि मे अन्धकार का तथा दिन मे द्युति का उन्ही ने निधान किया है[6]। उन्होने गूढ प्रकाश को प्राप्त किया, उषस् को जना[7] और सोम के सहयोग से आकाश-पृथिवी को प्रथित किया है[8]।

जिस प्रकार क्रव्याद् अग्नि को हव्यवाट् अग्नि से विविक्त किया गया है[9] उसी प्रकार पितृयान को देवयान से अलग दिखाया गया है[10]। शतपथ ब्राह्मण मे

दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ अथ० 18 3 14.
आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ अथ० 18.4 62

1 दे० 10 14 6 पृ० 363.

2 श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्कपर्दा धियजिन्वासो अभि हि प्रमन्दुः।
उत्तिष्ठन् वोचे परि बर्हिषो नॄन् न मे दूरादवितवे वसिष्ठाः ॥ ऋ० 7 33 1.
दे० 10 15 8 पृ० 445.

3 अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे।
अग्निर्नयन्नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सहः ॥ ऋ० 1.36.18.

4. अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वम्। अथ० 6 41 3.

5. महिम्न एषां पितरश्चनेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम्। ऋ० 10 56 4.

6. अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् ॥ ऋ० 10 68.11.

7. दे० 7.76 4 पृ० 446 मही ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागात्। ऋ० 10.107.1.

8. त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ। ऋ० 8 48.13.

9. क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥ ऋ० 10.16 9.

10. पन्थामनु प्रविद्वान् पितृयाणम्। ऋ० 10 2.7.
परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात्। ऋ० 10 18.1.
द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ऋ० 10.88 15.

स्वर्गलोक को पितृलोक से भिन्न दिखाया गया है, क्योकि स्वर्गलोक का द्वार पूर्वोत्तर की ओर है[1], जबकि पितृलोक का द्वार है पूर्व-दक्षिण की ओर[2]। पितरो को मनुष्यो से भिन्न वर्ग का बताया गया है, क्योकि तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार इनकी रचना मनुष्यो की रचना से पृथक् हुई थी[3]।

यम (§ 77)—

पुण्यात्मा मृतको मे यम प्रमुख हैं। ऋग्वैदिक कवि भावी जीवन के विषय मे कम चिन्तन करते थे, फलत ऋग्वेद मे यम के लिए केवल तीन सूक्त कहे गए हैं[4]। इनके अतिरिक्त एक अन्य सूक्त भी है[5] जिसमे यम और उनकी बहन यमी का कथोपकथन दिखाया गया है। यम का नाम ऋग्वेद मे लगभग 50 बार आता है, किंतु सब से अधिक बार वह दशम और प्रथम मण्डल मे ही आता है।

यम देवताओ के साथ आनन्द का उपभोग करते हैं[6]। यम के साथ उल्लिखित देवता हैं वरुण[7], बृहस्पति[8] और विशेष रूप से अग्नि, जो मृतको के नेता होने के नाते स्वभावत यम के सन्निकट हैं। अग्नि यम के प्रेम-भाजन हैं[9] (सायण का अर्थ भिन्न है[10])। एक देवता[11] ने जो कि वस्तुत यम है—जलो के उल्व से परि-

---

1 यद्देवोदङ् प्राङ् तिष्ठन्। एतस्या ह दिशि स्वर्गस्य लोकस्य द्वारम्। शत०ब्रा०6 6 2 4

2 उभे दिशावन्तरेण विदधाति प्राचीं च दक्षिणा चैतस्य ह दिशि पितृलोकस्य द्वारम्। शत० ब्रा० 13 8 1 5

3 तदनु पितृनसृजत। तत्पितृणा पितृत्वम्।
स पितृन्त्सृष्ट्वाऽमनस्यत्। तदनु मनुष्यानसृजत। तै० ब्रा० 2 3 8 2

4 दे० 10.14 1 आदि पृ० 445, पूर्णसूक्त दे० 10 135 1 आदि पृ० 437 पर पूर्णसूक्त दे० 10 154 1 आदि पृ० 440 पर पूर्णसूक्त।

5 ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिर पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यान ॥ ऋ० 10 10 1 आदि।

6 दे० 7 76 4 पृ० 446 10 135 1 पृ० 437

7 दे० 10 14 7 पृ० 434

8 देवेभ्य कमवृणीत मृत्यु प्रजायै कममृत नावृणीत।
बृहस्पतिं यज्ञमकृण्वत ऋषिं प्रिया यमस्तन्वं प्रारिरेचीत् ॥ ऋ० 10 13 4
दे० 10 14 3 पृ० 445

9. अग्निर्जातो अथर्वणा विदद्विश्वानि काव्या।
भुवद्दूतो विवस्वतो वि वो मदे प्रियो यमस्य काम्यो विवक्षसे ॥ ऋ० 10 21 5

10 अय यो होता किरु स यमस्य कमप्यूहे यत् समञ्जन्ति देवा। ऋ० 10.52.3

11. विश्वा अपश्यद्बहुधा ते अग्ने जातवेदस्तन्वो देव एक। ऋ० 10 5 11

वेष्टित अग्नि के विविध रूपो को निहारा था। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम और मातरिश्वा का उल्लेख एक सत् के रूप मे एक ही स्थान पर हुआ है[1]। नराशस पूषा, अगोह्य अग्नि, सूर्य-चन्द्रमा, त्रित (=इन्द्र), वात, उपस् और अश्विनो के साथ भी यम का नाम लिया गया है[2]।

उक्त उद्धरणो से व्यक्त होता है कि यम भी एक देवता-विशेष है। फिर भी उन्हे स्पष्ट शब्दो मे देवता न कहकर मृतको का राजा बताया गया है[3]। यम और वरुण इन दोनो राजाओ को मृतक व्यक्ति स्वर्ग मे पहुचने पर देखते हैं[4]। उनकी स्तुति मे बने एक सूक्त[5] मे उनका नाम पितरो, विशेपतया अगिरसो के साथ लिया गया है। उनके साथ वे यज्ञ मे आते है जहा उन्हें मद अर्पित किया जाता है। परवर्ती ग्रन्थो[6] मे यम के अश्वो का उल्लेख आता है, जिन्हे हिरण्याक्ष और आयस-खुर बताया गया है। यम मनुष्यो का सगमन करते हैं, मृतको को अवसान अर्थात् आश्रय अथवा दहन-स्थान प्रदान करते हैं[7], और सभवत वे उन्हे सदन भी देते है[8]। यम का आवास आकाश की सुदूर गुहा मे है, जहा कि नव-नव सलिल प्रवाहित रहते है[9]।

ऐच्छाम त्वा बहुधा जातवेद प्रविष्टमग्ने अप्स्वोषधीषु।
त त्वा यमो अचिकेच्चित्रभानो दशान्तरुष्यादतिरोचमानम् ॥ ऋ० 10 51 3

1 दे० 1 164 46 पृ० 171

2 दे० 10 64 3 पृ० 164

ते हि द्यावापृथिवी भूरिरेतसा नराशसश्चतुरङ्गो यमोऽदितिः।
देवस्त्वष्टा द्रविणोदा ऋभुक्षण प्र रोदसी मरुतो विष्णुरर्हिरे ॥ ऋ० 10 92 11

3 दे० 9 113 8 पृ० 286

दे० 10 14 1. आदि पृ० 445 पूर्ण सूक्त में सर्वत्र।

दे० 10 16 9 पृ० 448

4 दे० 10 14 7 पृ० 434

5 दे० 10 14 3 तथा 5 पृ० 445

दे० 10 14 3. तथा 4 पृ० 445.

दे० 10 15 8 पृ० 445

6 हिरण्यकक्ष्यान्सुधुरान् हिरण्याक्षानय शफान्।
अश्वाननश्यतो दान यमो राजाऽभितिष्ठति ॥ तै० आ० 6 5 2

7 यमो ददात्यवसानमस्मै। ऋ० 10 14 9

ददाम्यस्मा अवसानमेतद् य एष आगन्मम चेदभूदिह।
यमश्चिकित्वान्प्रत्येतदाह ममैष राय उप तिष्ठतामिह ॥ अथ० 18.2 37.

8 एना रभूर्णा पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यम सादना ते मिनोतु ॥ ऋ० 10 18 13

9. दे० 9 113 8 पृ० 286

तीन द्युलोको मे से दो सविता के है और एक यम का है[1], यही तृतीय लोक सबसे ऊचा है। वाजसनेयि सहिता[2] मे आता है कि यमी के साथ यम सर्वोच्च स्वर्ग मे रहते है। यम का सदन यही हैं, देवताओ का आवास यही पर है, और यम का यह सदन वीणा की झकार और गीतो की तानो से मुखरित रहता है[3]।

यम के लिए सोम-सवन होता है, और उन्हे हविष् दिया जाता है[4]। प्रार्थना की गई है कि वे यज्ञ मे आवे और अपने प्रस्तर पर पधारें[5]। उनसे मिन्नत की गई है कि वे हमे देवताओ तक पहुचा दें और हमे दीर्घायु बनावे[6]।

यम के पिता विवस्वान् है[7], जिनके साथ सरण्यू का उल्लेख यम की माता की तरह हुआ है[8]। अनेक बार उन्हे उनका पैतृक नाम वैवस्वत लेकर भी बुलाया गया है[9]। यह पैतृक नाम भारत-ईरानी काल का है, क्योकि अवेस्ता मे आता है कि वीवङ्ह्वन्त ने, जो कि मानवो मे प्रथम सोम-सोता थे, उपहार मे यिम पुत्र को प्राप्त किया था। अथर्ववेद[10] मे यम को विवस्वान् से बढकर बताया गया है।

ऋग्वेद[11] मे आनेवाले कथोपकथन मे यम और यमी अपने-आपको गधर्व

---

1 तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट्। ऋ० 1 35 6

2 दे० 10 123 6 पृ० 353.
नमः सुते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम्।
यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाकेऽ अधिरोहयैनम्॥ वा० स० 12 63

3 दे० 10 135 7. पृ० 440

4 यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हवि।
यम ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृत॥ ऋ० 10 14.13
दे० 10 14 14 पृ० 438

5 दे० 10 14 4 पृ० 445.

6 दे० 10 14 14 पृ० 438

7. दे० 10 14 5 पृ० 435

8 यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश। ऋ० 10.17 1
अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णामदुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद् यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यू॥ ऋ० 10 17 2

9. दे० 10 14 1 पृ० 445

10 यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किं चन। अथ० 18 2 32
विवस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः। अथ० 18 3 61.
विवस्वान्नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु।
इमान् रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मोष्वेऽषामसवो यमं गुः॥ अथ० 18.3 62.

11. दे० 10 10 4 पृ० 349.

ग्रौर 'ग्रप्या योपा' का ग्रपत्य बताते है। साथ ही यमी यम को 'मर्त्य का एक त्यजस् ग्रर्थात् पुत्र'[1] भी कहती है। एक ग्रन्य सूक्त मे ग्राता है कि यम ने देवताग्रों के लिए मृत्यु को वरा ग्रौर प्रजा के लिए ग्रमृत का वरण नही किया[2] (सायण का ग्रर्थ भिन्न है)। यम ग्रनेको को गातु ग्रर्थात् मार्ग दिखाते हैं जिस पर कि पूर्व पितर चले थे[3]। मर्त्यों मे मरनेवाले यम सबसे पहले थे[4]। यहा मर्त्य शब्द से मनुष्य ही लिये जा सकते है, यद्यपि बाद मे देवो को भी मर्त्य कहा गया है। मृतको मे प्रथम ग्रौर प्राचीनतम होने के नाते यम को उनके ग्रनुगामी मृतको का नेता माना गया है। यम विशस्पति ग्रर्थात् बस्तियो के स्वामी है ग्रौर हमारे पिता है[5]। परवर्ती ग्रन्थो मे मनुष्यो को विवस्वान् ग्रादित्य के वशज बताया गया है[6]। ऋग्वेद मे भी यम का सूर्य के साथ सबन्ध उभर चुका है, क्योकि यम-प्रदत्त दिव्य ग्रश्व का, जिसे कि वसुग्रो ने ग्रादित्य से रचा था, सभवत. तात्पर्य उस सौर पद से है जो कि ग्रमर बन जाने वालो को प्रदान किया जाता है[7]।

यम का पथ मृत्यु-पथ है[8] ग्रौर मरुतो से प्रार्थना की गई है कि उनका स्तोता कभी उस रास्ते पर न जाय[9]। एक बार यम का तादूप्य मृत्यु के साथ भी किया गया प्रतीत होता है। ग्रोपधियो से प्रार्थना की गई है कि वे हमे वरुण के पाशो से स्वतन्त्र करावें, वे हमे यम की बेड़ियो से ग्राजाद करावे[10]। निश्चय ही इन उपकरणो ग्रौर ऐसी विशेपताग्रो वाले यम ग्रपने निशित दूतो के कारण ऋग्वैदिक ग्रार्यो के लिए भय का कारण रहे होगे, किंतु ग्रथर्ववेद मे ग्रौर परवर्ती

1. उशन्ति घा ते ग्रमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य। ऋ० 10 10 3.
2. दे० 10.13 4. पृ० 449.
3. दे० 10 14.1. तथा 2 पृ० 445.
4. यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥ ग्रथ० 18.3 13.
5. दे० 10 135 1. पृ० 437.
6. ततो विवस्वानादित्योऽजायत तस्य वा इयं प्रजा यन्मनुष्याः। तै० सं० 6 5 6 2.
स विवस्वानादित्यस्तस्येमाः प्रजाः। शत० ब्रा० 3 1 3 4
7. दे० 1.163 2. पृ० 164.
दे० 1.83 5. पृ० 384.
8. पथा यमस्य गादुप। ऋ० 1.38 5
9. तस्मै यमाय नमो ग्रस्तु मृत्यवे। ग्रथ० 6.28.3.
यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथः। ग्रथ० 6 93.1.
10. मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत।
ग्रथो यमस्य पड्वीशात् सर्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ ऋ० 10 97.16

गाथाओं में यम का यह भय और भी भयंकर बनता गया, यहां तक कि अन्त में उन्हें स्वयं मृत्यु का देवता समझा जाने लगा। बाद की संहिताओं में यम का उल्लेख अन्तक, मृत्यु[1], और निर्ऋति के साथ हुआ है। मृत्यु यम का दूत है[2]। अथर्ववेद में कहा गया है कि मृत्यु मनुष्यों के स्वामी है और यम पितरों के[3]। निद्रा को यम के लोक से आनेवाली बताया गया है[4]।

यम शब्द का एक अर्थ 'युग्म' भी है और अपने इस अर्थ में भी यह शब्द ऋग्वेद में कई बार आया है (साधारणतया द्विवचन पुं० या स्त्रीलिंग में) किंतु पूर्वोदात्त यम शब्द का अर्थ—'बागडोर' या 'नेता' है। यम और यमी का ऋग्वेद[5] मे युग्म बनता है। अवेस्तिक यिम शब्द का भी 'युग्म' अर्थ है। अवेस्ता में न सही तो परवर्ती साहित्य में तो निश्चय ही यिम की बहन यिमेह् अपने भाई के साथ प्रथम मानव दंपती उत्पन्न करती है। भारतीय साहित्य के परवर्ती काल में, जब यम को पापियों का यन्ता मृत्युदेव समझा जाने लगा था, तब इस शब्द की व्युत्पत्ति नियन्त्रणार्थक √यम् धातु से मानी जाती थी, किंतु यम-विषयक वैदिक धारणा के साथ इस व्युत्पत्ति की संगति नहीं बैठती है।

मृत्यु के तद्रूप यम का दूत उलूक या कपोत पक्षी है[6]। फलतः यम और मृत्यु का दूत समान ही प्रतीत होता है[7]। किंतु यम के सहज दूत तो दो कुत्ते है[8], वे

---

1. यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा। वा० सं० 39.13.
   मृत्युर्वै यमः। मै० सं० 2.5.6.
2. नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति।
   उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधेऽस्मा अरिष्टतातये॥ अथ० 5.30.12.
   मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेताः। अथ० 18 2.27.
3. मृत्युः प्रजानामधिपतिः स मावतु। अथ० 5.24.13.
   यमः पितॄणामधिपतिः स मावतु। अथ० 5.24.14.
4. यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्र युनक्षि धीरः।
   एकाकिना सरथं यासि विद्वान्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ॥ अथ० 19.56.1.
5. ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
   पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः॥ ऋ० 10.10.1. आदि०
6. यदुलूको वदति मोघमेतद् यत्कपोतः पदमग्नौ कृणोति।
   यस्य दूतः प्रहित एष एतत् तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ ऋ० 10.165.4.
   दे० 10.123.6. पृ० 353.
7. नयतामून्मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत। अथ० 8.8.11
8. दे० 10.14.10. आदि 12 तक पृ० 439.
   दे० 10 14.11. पृ० 454.

चतुरक्ष है, फैली नाक वाले है, शवल है और सरमा के पुत्र है। वे पथ के चौकीदार है[1] और रास्ते पर बैठते हैं[2]। मृतक से कहा गया है कि वह फुरती से इन कुत्तो को पार करके पितरो मे मिल जाय जो यम के साथ बैठे आनन्द ले रहे हैं[3]। यम से प्रार्थना की गई है कि वे मृतक को पितरो के पास सौप दे और रोगो से उन्मुक्त करके उसका कल्याण करे। जीवन मे आनन्द लेने वाले (असुतृपौ) ये दोनो सारमेय मनुष्यो की रखवाली करते है और यम के दूत बनकर जनो के मध्य विचरण करते हैं। प्रार्थना की गई है कि वे हमे सूर्य-ज्योति का आनन्द लेने दें। फलत मरणासन्न व्यक्तियो की खोज करना और यम-लोक मे प्रविष्ट हुए व्यक्तियो की देखभाल करना, यह दो इन सारमेयो के मुख्य कार्य है। अवेस्ता मे भी एक चतुरक्ष, पीतकर्ण कुत्ता चिन्वत सेतु के सिरे पर रखवाली करता है जो सेतु इहलोक से परलोक को जोडता है—और अपनी भौक से दस्युओ को पूतात्माओ से दूर भगाता है, जिससे कि वे उन्हे नरक मे न घसीट ले जावे। इस बात के लिए पर्याप्त प्रमाण नही मिलता कि यम के ये सारमेय दुष्टात्माओ को प्रवेश करने से रोकते थे, यद्यपि इस मान्यता की सभावना अवश्य है, और औफ़ेष्ट ऋग्वेद[4] पर व्याख्या करते हुए लिखते है कि इन सारमेयो का प्रयोजन दुष्टात्माओ को वर्जित करना था। अथर्ववेद मे यम के द्वारा मनुष्यो मे भेजे गये दूत बहुवचन[5] और द्विवचन[6] दोनो मे आते है। इन कुत्तो मे एक शवल है और दूसरा श्याम[7] है। बेर्गेन के मत मे ये दोनो सारमेय यम (अग्निरूप) और यमी के रूपान्तरण-मात्र है, और परवर्ती गाथा मे उभरी यम की मृतको को पकड लेने की विशेषता को वे आरम्भ मे ही विकसित हो चुकी बताते हैं। ब्लूमफील्ड यम के दोनो सारमेयो का तादूप्य सूर्य और चन्द्र के साथ युक्तिसगत समझते है।

उक्त उद्धरणो से प्रतीत होता है कि यम प्रेतात्माओ मे से प्रमुख आत्मा के गाथेय रूप है। वे मानव जाति के सबसे प्रथम गाथेय पिता हैं और मरने वालो

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु। ऋ० 10 14 12.
1. यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ऋ० 10 14 11.
2. यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा। अथ० 18 2 12
3. दे० 10 14 10 पृ० 439
4. यदर्जुन सारमेय दत पिशङ्ग यच्छसे।
वीव भ्राजन्त ऋष्टय उप स्रक्वेषु बप्सतो नि षु स्वप॥ ऋ० 7 55 2 से 5 तक।
5 वैवस्वतेन प्रहितान्यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्। अथ० 8 2 11.
दे० अथ० 8 8 11. पृ० 453
6 दूतौ यमस्य मानु गा। अथ० 5 30 6
7 श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अथ० 8 1 9

में वे सबसे पहले हैं। मानव जाति को उत्पन्न करने वाले प्रथम युग्म, यम-यमी (यिम, यिमेह) भारत-ईरानी काल के दीख पड़ते हैं। ऋग्वेद[1] में यमी द्वारा यम के रति-दोष-प्रक्षालन का सुझाव यह सूचित करता है कि इस प्रकार की रति को पुराने समय में हेय नहीं माना जाता था। स्वयं यम को भारत-ईरानी काल में स्वर्ण-युग का राजा माना जाता रहा होगा, क्योंकि उन्हें अवेस्ता में पार्थिव लोक का और ऋग्वेद में दिव्य सुखलोक का शासक माना गया है। यम की कल्पना आरम्भ में एक मनुष्य के रूप में की गई थी—ऐसा रॉथ एवं अन्य कुछ विद्वान् मानते हैं। ई० एच० मेयर यह कहकर कि यमी इन्द्राणी की तरह परवर्ती युग की कल्पना है, इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि युग्मार्थक यम शब्द आरंभ मे 'आल्तर् इगो' रूप आत्मा के प्रतिरूप थे। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार यम मूलतः प्रकृति के दृश्य-विशेष के प्रतिरूप थे। कुछ विद्वान् कहते है कि वे अग्नि, सूर्य, अस्तप्राय दिन, अथवा अस्त होते हुए सूर्य के प्रतिरूप थे और बाद मे मृत्यु के देवता बन गये थे। हिलेब्रांड्ट का मत है कि यम चन्द्रमा है, जिसके साथ कि जीवन-मरण का गहरा संबन्ध है। वे सूर्य के मर्त्य पुत्र है और पितरों के समीपी है। साथ ही उनका विचार है कि यम चन्द्र के देवता भारत-ईरानी काल ही में थे, और बाद में अवेस्ता और वेद में वे चन्द्र-देव रह कर पार्थिव सुख-राज्य या पुण्यात्माओं के लोक के राजा बन गए थे।

—:०:—

1. दे० 10.10.1. आदि पृ० 453.

विषय-अनुक्रमणिका

ओरिवें १२८.—को स्थानान्तर से लाया गया माना जाता था २४६.१४, सेवुई ४६.३६१ —के साथ मानव का निकट सम्बन्ध २४७.१३, ओरिवें १३२.३. अग्निया, वध्यश्व, देववात, दिवोदास और त्रसदस्यु की २४८.१ ओसटे १.३४८-६, द्र० सेवुई ४६. १२३. २११. —की विशेषता पौरोहित्य है २५०.११, मैकडानल, जराएसो २६ १२-२२ —से वर मांगे जाते है २५४.२-५, ओसटे ५.२१८. —पापों को क्षमा करते है २५४ ६, ओरिवें २६९.३००. —ने स्वर्ग आदि उत्पन्न किया २५७.२-३; द्र. कुहेफा ६९ आगे. —के अनेक रूप २५७.१४, ओरिवें १०३, यज्ञाग्निसंस्था भारोपीय है २५७.१६, क्राउएर फेरा ६४ भूताग्नि का विग्रहवत्त्व निर्बल था २५७.१८, ओरिवें १०२. —शब्द अज् से २५७.२०-२१, पीवो, मैमू, फिरि ११७ (द्र किर्स्टे, वित्साकुमो ७.६७) खण्डित बार्थो-लोमाद्वारा इफो ५.२२२. —=वैश्वानर २५७.२३. बेरिवें १५३-६. वैश्वानर=पार्थिव अग्नि (शाकपूणि) २५८.५, रॉथ, निरुक्त, ७, १९. आप्रीसूक्त यज्ञ-सम्बन्धी आह्वान हैं २५८.१२, रॉथ, निरुक्त, भू० ३६५ आगे, अनुवाद ११७-८, १२१-४, मैमू, ऐसलि ४६३-६, वेबर, इस्टू १०. ८९- ५, आऋवे १.६. यास्क की व्याख्या असंगत है २५८ १४ रॉथ, निरुक्त, अनु० ११७, दे. ओल्डनबर्ग, सेवुई ४६.१०. तनूनपात्=दिव्य पिता का शारीरिक पुत्र २५८ १७, बेरिवें २ ९९ आगे. तनूनपात्=सोमगोपा अग्नि २५९ ७, हिवैमि १ ३३९. सोमगोपा अग्नि (=चान्द्र अग्नि) अग्नि का स्वरूप-विशेष है २५९.७, हिवैमि ३३०-६. नराशंस पूषन् भी है, २५९.१०, रॉथ, निरुक्त, ११७ आगे, द्र० स्पीअपी २०९ आगे. नराशंस='मनुष्य की स्तुति का देवता' २६०.१४, बेरिवें ३०५.८ वसुओं के नेता ३३९.१, इस्टू ५.२४०, बेरिवें २.३७०.

सामान्यत.—कुहेफा १-१०५, ह्विटनी, जअोग्रोसो ३.३१७-८, ओसटे १९९-२२०, लुऋवे ३ ३२४-५, केऋवे ३५-७, बेरिवें १.११-३१, ३८-४५, ७०-४, १००-१, १३९-४५, स्पीअपी १४७-५३, श्रॉडर, कुत्सा २९.१९३ आगे (द्र० बेबाइ १९ २३०), वित्साकुमो २२५-३०, मैमू, फिरि १४४-२०३, २५२-३०२, हार्वेअापी ६३-८, ओरिवें १०२-३३, होरिइ १०५-१२

अग्नीपर्जन्या—महिष (द्यौस्) के साथ सबद्ध ३३६.८, लुडविग, ऋवे अनु. ४.३२८

अग्नीषोमा—का ऋग्वेद में केवल २ बार उल्लेख है ३३५.२१, ओल्डनबर्ग, दी हिम्नन देस ऋग्वेद १.२६७, हिलेब्राण्ड्ट, गोगेआ १८९० पृ० ४०१, हिवैमि १.४५८-६१

अङ्गिरस्—३६७.२४, कुहेफा १०, ओसटे० ५.२३, ग्रावो, बेरिवें १.४७-८; २.३०८-२१; याको ६९-७२, ओरिवें १२७-८.—स्वर्ग के सूनु ३६८ २, दाहके, द्यौस् असुर ४५. यथार्थ पुरोहितकुल ३७२.३, वेबर, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट, इंगलिश अनु० पृ० ३१. अथर्वांगिरस=अथर्ववेद ३७२.६, ब्लूमफील्ड, जअमोसो १७.१८०-२, सेवुई ४२.१७-१८. पुरोहित रूप में परिवर्तन बाद में ३७२.१०, द्र. रॉथ, पीवो, बेरिवें २ ३०९, हार्वेआपी १०९, ओरिवें. १२७. =अगेलोग (ग्रीक)=दूत ३७२ १२, म्रूगमान, ग्रुण्डरिस २.१८८, होरिइ १९७, =भारत-ईरानी काल के पुरोहित ३७२.१३, इस्टू १.२९१ आगे

अज—३६३.६ ओरिवे ७२, सेबुई ४२ ६२५,६६४ (अज एकपाद्=सूर्य) =अग्नि ३६३. ६ ओरिवे ७८.

अज एकपाद्—राथ के मत में तूफान का देव १७७ १ ७ पीवो, अज निरुक्त १६५-६ (द्र ओसर्ट ५.३३६) ग्रासमान रॉथ से सहमत है १७७ १७ ग्रावो 'अज', द्र० अजफि १७ २४-५ =सौर देवता १७७ १६, अजफि १२ ४४३, सेबुई ४२ ६६४, ले हिम्ने रोहित, पॅरिस, १८६१ पृ० २४. =चन्द्रमा १७७ २० हार्वेआपी ४१-२, बेर्गेन्य 'अजन्मा एक पैर वाला' १७७ २१, बैरिवे ३ २३. विद्युत् का आलकारिक नाम १७७ २४, ओरिवे ७१-२. सामान्यत —वेबर, इस्तू १ ६६

अत्रि—भक्षक अर्थ अग्नि के लिये प्रयुक्त ३७८ १४, ओल्डनबर्ग, सेबुई ४६. ३५ २१४ — 'अग्नि के रूप-विशेष' बेर्गेन्य ३७८ १४, बेरिवे २ ४६७- २ अत्रि=सप्तवध्रि ३७६ ३ बाउनाक, त्सादामौगे ५० २६६ दे पीवो 'अत्रि', ओल्डनबर्ग, त्सादामौगे ४२ २१३, बाउनाक, त्सादामौगे ५० २६६-८७

अथर्वन्—अथर=अग्नि ३६६ ८ ब्रुगमान, ग्रुण्डरिस २ ३६०, द्र ब्लूमफील्ड, सेबुई ४२ २३ नोट २, बार्योलोमा (इफो ५ २२१) आतर्=अथर्वन् को नही स्वीकार करते दे० लास्सन, इन्दिश्श आल्तरतुम्सकुन्द ५२३, कुहेफा १०, इस्तू १ २८६ आगे, ओसर्ट १ १६०, बेरिवे १ ४६, होरिड १६० नोट

अदिति—का प्रात मध्याह्न और सूर्यास्त के समय आह्वान ३१४ १६, म्यूर, ओसर्ट ५ ३६ नोट ६८ —का आकाश के साथ तादात्म्य ३१७ १७ म्यूर, ओसर्ट ५ ३६ नोट ७३ — पृथिवी ३१८ २ बेर्गेन्य, रिवे ३ ६० अदिति ४ ५५ १=७ ६२ ४ मे द्यावा पृथिवी का पर्याय है, द्यावा पृथिवी से पृथक् ३१८ ५ द्र म्यूर, ओसर्ट ५ ४० अदिति=गौ ३१६ १०, ओरिवे २०६ दे ७२ अदिति का दूध ३२० २ अन्य व्याख्या बेर्गेन्य, रिवे ३ ६४, अदिति विषयक मातृत्व-भावना पर पहुचने मे द्यौरदिति. आदि का हाथ ३२० १२-१३, बेर्गेन्य, रिवे ३ ६० अदिति बन्धनिर्मोचन की विग्रहवत्ता है ३२१ ८-६, वालिस को ४५, ओरिवे २०४-७, दे सेबुई ४६ ३२६ अदिति=अनन्त अवकाश ३२१ ६-११, वैदिक हिम्स, सेबुई ३२ २४१ लैसालें २ ६१६, होपकिस, जअओसो १७ ६१ अदिति=अखण्डनीयता ३२१ १२ निरुक्त अनु १५०—१ कालगत आनन्त्य ३२१ १४ त्सादामौगे ६ ६८ ऐसा ही केगी ऋग्वेद ५ ६, हिलेब्रान्ट अदिति पृ २० अदिति=पृथिवी ३२१ १६, पिर्वेस्तु २ ८६ हार्डी पिशल से सहमत हैं ३२१ २०, हार्डी वैआपी ६४ अदिति द्यौस् का स्त्री प्रतिरूप ३२१ २० ट्राजे० आफ दि नाइथ ओरि काग्रेस १ ३६६- ० अदिति=देवताओ की शक्तिशालिनी माता २२१ २२ रॉथ, निरुक्त १०४

सामान्यत —बेनफे, हिम्नेन देस सामवेद २१८ (अखण्डनीयता) म्यूर ओसर्ट २६,५ ३५— ५३,५५, बेर्गेन्य, रिवे ३ ८८-६८, हिलेब्राण्ट, उबर दी गौत्तिन अदिति, ब्रेसलाउ१८७६, दार्मेस्टेटर, ओर्मज्द पृ० ८२, कोलिने, एतुदे स्यूर ले मोर् अदिति, म्यूजियो १२ ८१-६०, रॉथ, इस्तू १४ ३६२-३, ब्लूमफील्ड, त्सादामौगे ४८ ५५२ नोट १, होरिड, ७२-३,

अद्रि—(=अभ्र) १८ ४, कुहेफा १८७. त्साइतश्रिफ्त फ्यूर दायत्शे मीथोलोगी ३.३७८

अनर्शनि—असुर ४२४.४, जोहन्सन, इफो २ ४५, पेरी, जअग्रोसो ११.१६६-२०५

अनुमति—३१२ १२ आगे, त्सादामौगे ७.६०८, इस्तू. ५.२२६

अन्त्येष्टि—ऋवे १०.१६ १ मे जलाना और गाडना दोनो सकेतित हैं ४२६.२१. रॉथ, त्सादामौगे. ८४६७-७५, श्राडर वीत्साकुमौ ६.११२-३, होपकिंस. प्रोअग्रोसो १८६४ पृ० CLII1, कालण्ड, दी आल्तिन्दिश्शेन तोद्तन उण्द वेस्तात्तुङ्ग्सगेब्राउखे, आम्स्तर्दम १८६६. ४६-५०. परवर्ती कर्मकाड मे शिशुओ और सन्यासियो को गाडा जाता है ४३०.५ रॉथ, त्सादामौगे ६.४७१, मैमू, वही 1.LXXXII. होरिड २७१-३. अग्नि से प्रार्थना है कि वह शव को सुकृतो के लोक मे पहुचा दे और उसके 'अज' को तपिश से तपावे ४३१.५ अज=अ-ज 'अनुत्पन्न' गौ या बकरे की बलि ४३१.६. मैमू, त्सादामौगे ६.४ ५. ३० ३२. मृतात्मा धूम्र के साथ स्वर्ग जाता था ४३२.१. छान्दोग्य उप ५ १०३, बृहदारण्यक ६.१.१६. मृतात्मा के साथ उसकी पत्नी एव अस्त्रो को जलाया जाता था ४३२.८, वेबर, इन्दिशे स्त्राइफन १.६६, हिलेब्राण्ट्, त्सादामौगे ४०.७११, ओरिवे ५८६-७. शव मे कूदी बाघ दी जाती थी ताकि वह जीव-लोक मे न लौट आवे ४३२ ६-१० रॉथ, फेवो ६८-६, ब्लूमफील्ड, अजफि ११. ३५५, १२.४१६.

अपशकुन के पक्षी—उलूक और कपोत यम के दूत ३६५.१३, त्सादामौगे ३१.३५२ आगे, ब्लूमफील्ड, सेबुई ४२.४७४ गृध्र यम के दूत ३६५ १४, ओरिवे ७६.

अपा नपात्—आशुहेमन् विशेषण तीन बार अपा नपात् के लिये और एक बार अग्नि के लिये १६६.३, विण्डिश, फेरा १४४, दिव्य अग्नि का जलो मे आवास वैदिक गाथा के सुनिश्चित तथ्यो मे से एक है १७०.४. द्र० ऋवे० ३.१ (गेवेस्तू १.१५७-७०) ३.८५.२, ७.४६ ४, १० ६.६ —ने समुद्र की गहराई मे प्रकाश को पाया था १७०.११ हिवैमि १. ३ ३७-८. श्पीगल के मत मे अवेस्तामे अपा नपात् का आग्नेय रूप लक्षित होता है १७०.११. श्पीअपी १६२-३. दर्मस्टेटर के अनुसार अपानपात् मेघ से उत्पन्न विद्युत् के रूप मे अग्निदेव हैं १७०.१३, सेबुई ४२. LXIII, एल. अवेस्ता अनूदित २. ६२० नोट, ३.८२ (दे० ओर्मुज्द ए अह्रिमन ३४) किंतु दे० हिलेब्राण्ट्, त्सादामौगे ४८.४२२. श्राडर दर्मस्टेटर से सहमत १७३.१३ वित्साकुमौ ६.२२७—८. ओल्डनबर्ग के मत मे अपानपात् मूलत जल के साधारण प्रेत थे १७०.१४, ओरिवे ११८-२०, दे० ३५७. अपानपात् के निमित्त कहे गये दो सूक्तो मे से एक का जलीय क्रियाओ से सबध हैं १७० १७, दे० श्राडर, वित्साकुमौ १, मैक्डानल, जअग्रोसो २७. ६८५—६. अपा नपात्=चन्द्रमा हिवैमि १.३६५—८०, त्सादामौगे ४८.४२२. हार्डी का मत १७०.१८. हार्वेब्राी ३८. म=सूर्य अथवा विद्युत् १७०.१६, मैमू, चिप्स ४.४१० ।

अपां नपात् पर सामान्यत:—रियाल्क, रेव्यु द लिंग ३.४६ आगे, विन्दिशमान, श्पगल के भौरास्तिश्शे स्तूदियन १७७—८६, श्पीगल, अवेस्ता-अनुवाद ३. XIX. LIV गेऋवे १.४५, बेरिवे २.१७—१६, ३६—७, ३.४५, मैन्युएल पूर एत्यूदिये सस्कृत वैदिक 'अपां नपात्', लुऋवे ४.१८१, ग्रुप्प, दी ग्रीशिश कुल्त १,८६.

प्रतिरूप' ३८८ १३-१४, वेरिवै २ ४५६-७ दे मैक्डानल, जराएसो २८ ४७१, मैमू सेबुई ४६ २८२ =एक वास्तविक अश्व ३८८ १६-१७, लुग्नृवे. मनु ४ ७६, पिवैस्तू, ११२४ दे हिलेब्राण्ड्ट, वेद इण्टरप्रिटेशन १७-१८ ब्राडके, त्सादामौगे ४२.४४७-६. ४६२-३, ओरिवे ७१, सेबुई ४६ २८२.

अश्विन्—लालवर्ण के हैं ११५ ३, पिवैस्तू १.५६-८ के अनुसार अन्य व्याख्या भी है, वेरिवै ३ ३८ नोट नासत्य=न+असत्य, अन्य व्युत्पत्तिया ११५ ६, ब्रन्नहोफर, (=रक्षक, नस् से जो कि गोथिक नस्यन् मे मिलता है) फोम अराल विस त्मुर गगा १० ६६, वेरिवै २ ४३४ अवेस्ता मे एक राक्षस के नाम की तरह प्रयुक्त ११५ ७ कोलिने, वेग्रोरि ३ १६३, अश्विन् के नाम ११५ ८ वेऋवे नोट १७२ रुद्रवर्तनी ११५ ६. पिवैस्तू १ ५५, हिरण्यवर्तनि दो बार नदियो का विशेषण ११५.१२ पिवैस्तू ५६-७ मे अश्विन् के सब विशेषण एकत्र किये गये हैं अन्य देवताओ की अपेक्षा अधिक बार मधु से सबद्ध ११५ १३, हिवैमि १ २३७ —की मधुकशा ११५ १६ ओल्डनबर्ग के अनुसार प्रात कालीन ओस, दे. वेरिवै २ ४३३ =घोडो वाले ११७ ~, बोलनसेन, त्सादामौगे ४१ ४६६ अश्विन् के रथ और घोडो पर देखो होपकिन्स १५ २६६-७१ रासभजुडे रथ मे बैठकर जीते थे ११७ ७ दे होपकिन्स ऊपर —के स्थान के विषय मे जिज्ञासा ११८ ६, पिवैस्तू २ १०८ —का अविर्भाव समय उप काल ११८ ६. ओसटै ५ २३ -६ अश्विनो का आविर्भाव, यज्ञाग्निका समिन्धन और सूर्य का उदय सब साथ-साथ ११६ ४, वेरिवै, २ ४३ सूर्योदय से सम्बन्ध ११६ १२, ओरिवे २०८ उन्हे लोहितश्वेत अज प्रदान किया जाता है ११६ १४ पूषा के पिता हैं १२० ४, इस्तू ५ १४३ १८७ एहनि, त्सादामौगे ३३ १६८-७० —प्रेमियो को मिलाते है १२१.८ वेबर, इस्तू ५, २१८, २२७, २३४ —सूर्य के विलीन प्रकाश को उभारने वाले है १२७ ६ श्राडर, वित्साकुमौ ६ १३१ =वृत्रघ्न १२१ १८ ओसटै ५ २४८-६ —ने च्यवन को युवा बनाया था, १२२ ११ ओसटै ५ २५०-३, सेबुई XXVI २७३ आगे, बेनफे ओग्रो ३ १६०, मीरियान्थस पृ ६३, हावब्रापी ११२ —भुज्यु के रक्षक १२३ १ ओसटै ५ ४४५, सोन्न, कुत्सा १० ३५५-६, बेनफे ओग्रो ३ १५६, मीरियान्थस १५८, हावैब्रापी ११२ रेभ के रक्षक १२३ ११ ओसटै ५-२४६, बेनफे, ओग्रो ३ १६२ १६४, मीरियान्थस १७४, बाउनाक, त्सादामौगे ५० २६४-६ वन्दन की रक्षा की १२३ १२, बाउनाक, वही, २६३-४ अत्रिकी रक्षा की १२३ १४ सोन्न, कुत्सा १० ३३१ (अत्रि =सूर्य), ओसटै ५ २४० दे ब्राडके, सादामौगे ४५ ४८२-४ बटेर की रक्षा की १२३ १६ मैमू, लैमालै, २ ५२५-६, ओसटै ५ २४८, मीरियान्थस ७८-८१ विश्पलाको लोहे की टागदी १२४ १-२, ओसटै ५ २४५, मीरियान्थस १००-१२, पिवैस्तू १ १७१-३ (विश्पला=भागने वाली घोडी का नाम) घोडे के सुम से सुरा निकाली १२४ ८ मीरियान्थस १५६ आगे, केऋवे नोट १८५ दध्यञ्च् के ऊपर घोडे का सिर रखा १२४ १२, बेनफे, ओग्रो २ २४५, मीरियान्थस १४२-३, हावैब्रापी ११३ अश्विनो के आश्चर्यमय कार्य सौर दृश्य हैं १२५-४, ओसटै ५ २४८ हावैब्रापी ११२ अश्विन्=

सर्प देवताओं का आह्वान ३६७ १० वेबर, ज्योतिष ६४, पीवो 'सर्प', ब्लूमफील्ड, सेबुई,४२ ६३१-४

अहि बुध्न्य—साम न्यत —वेबर, इस्तु १ ६६, राथ, पीवो, 'बुध्न्य' पर, ओसर्ट ५ ३३६, वेरिवे २ २०५-६, ४०१, ३ २४-५

आत्मा—हृदय मे रहता है ४३३ १२, ओरिवे ५२५ असुनीति+असुनीत अग्नि के द्वारा मृतात्माओं के इहलोक एव परलोक के मध्यवर्ती मार्ग पर ले जाये जाने की ओर सकेत करते है, ४३३ १५, होरिइ १५३ पुनर्जन्म सिद्धान्त के बीज ४३४ १३-१४ मरने के बाद आदमी दो अग्नियो के बीच से गुजरता है ४३५ -८, कुह्न, कुत्सा २ ३१८ अच्छे पथिक पितृमार्ग या सूर्यमार्ग से जाते हैं ४३५ ६-१०, वेबर, त्सादामौगे ६ २३७, इस्त्रा १ २०-१, ओसर्ट ५ ३१४-५, शेरमान, विजियोन्स लितरात्यूर १२१, होरिइ २०६ अनात्मज्ञानी अन्धलोक म गिरते हैं अथवा क्रूरो की तरह फिर से जन्म लेते हैं ४३५ १३-४, होरिइ २२७

आदित्य —को अदिति बाद मे प्रस्तुत करती है ६६ ४, ब्लूमफील्ड, जअओसो १५ १७६ नोट, वाकिहि ३१ आदित्यो मे एक विष्णु है ६६ १४, ओसर्ट ४ ११७-२१, जहा तीन आदित्यो का उल्लेख है वहा वरुण, मित्र, अर्यमा अभिप्रेत हैं १०१ ४, बोलनसेन, त्सदामौगे ४१ ५०३ —सभी देवता १०१ १०, दे आवो आदित्य आदित्यो की सख्या सात १०१ १६, श्राडर वित्साकुमो ६ १२२ यही सख्या अमेषस्पेन्तस् की है १०१ १८, अमेषस्पेन्तस पर देखो दार्मेस्टेटर, हउर्वतात ए अमेरेतात (पैरिस १८७५), वार्योलोमा, अफो ३ २६ आदित्यो की सात सख्या प्राचीन नही है १०१ १६, मैकडानल जराएसो २७ ६४८ = अमेषस्पेन्तस १०१ २०, राथ, त्सादामौगे ६ ६६, आगे दोनो भिन्न है १०१ २१, हार्लेस, जूए १८७८, १२६ आगे, अर्यमन् की व्यक्तिगत विशेषताए गुप्त सी हैं १०३५, राथ, त्सादामौगे ६ ७४, बोलनसेन वही ४१ ५०१, हार्वब्रापी ५५-६ भग आदित्य १०३ १६, वाको ११-१२, बेनेस, दि बायोग्रफी आफ भग, ट्राजेक्शस आफ दि एट्थ ओरियण्टल काग्रेस II १ ८५ ६ भग शब्द विशषण के रूप मे प्रयुक्त १०३ १८, दे आवो भग भग शब्द भायोरपीय है १०४ ६, श्राडर, वित्साकुमो ६ १२७ अश शब्द तीन बार देवता के रूप में प्रयुक्त १०४ १३, राथ, त्सादामौगे ६ ७५ दक्ष देवता १०४ १७, ओसर्ट ५ ५१ २, बेरिवे ३ ६३ ६६, वाको ४५,

आदित्य पर सामान्यत —ह्विटनी ,जअओसो ३ ३२३ ६, ओसर्ट ५ ५४-७, मैमू, सेबुई ३२ २५२ ४, ओरिवे १८५ ६, २८६ ७, त्सादामौगे ४६ १७७ ८, ५० ४, सेबुई ४८ १६०, होपकिंस, जअओसो १७ २८,इफो ६ ११६

आदित्य रुद्रवसु—तीनो एक साथ आहूत ३३६ ३, लुडविग, ऋवे ६ ४७, दे पैरी, जअओसो १६ १७८

आप आपो (अवे०) दोनो मे समान है ११ ४, स्पीगल, दी अरिश्शे पीर्योद, लाइपत्सिग १८८७ पृ० १५५, ओसर्ट ५ १४ नोट ३४३ ३४५, बरिवे १ २६०, दार्मस्टेटर, हउवतात् ए अमेरेतात् ७३-४, वाको ५६, ओरिवे २४२

रॉथ, जम्रग्रोसो. ३ ३३५, दार्मस्टेटर, श्रोर्मज्द ए श्रह्रिमन् १०६. यम श्रवस्ता मे पार्थिव सुख लोक का राजा ४५५ ५ रॉथ, त्सादामौगे ४.४२० श्रवेस्ता मे यिम प्रथम मनुष्य. शेविलि १४८. यम श्रारम्भ मे एक मानव था ४५५.७. रॉथ, त्सादामौगे ४ ४२५, इस्तू १४ ३६२, शेरमान, फेस्टश्रिफ्ट पयूर के होफमान, एरलाङ्गन १८६०. पृ. ५७३ श्रागे, होपकिन्स, प्रोश्रग्रोसो मे १८८१.'यम=श्राल्तर् इगो' ४५५ ६ इन्दोजर्मानिशे मियन १.२२६ २३२. यम=श्रग्नि, सूर्य, श्रस्तगामी दिन या सूर्य के प्रतिरूप ४५५ ११-१२, कुहेका. २०८, बेरिवें १.८६, देखो वेवर, राजसूय १५. नो. १, यास्क, निरुक्त १२ १०, शेविलि. १३२. नो २, एहनी दी उरस्प्रुंगलिशे गोत्त दे. वैदिक यम पृ. २६. देवेंबाद. १८६४ पृ १ (यम=मृत्युदेव, ४५५.१२. मैमू, लैसालें २.६३४-७, इंडिया २२४, ऐरि २६७-८, बेर्गेन्य, म्युइएल वैदिक २८३. यम=चन्द्रमा हिलेब्राड्ट) ४५५. १३, हिवैमा १.३६४ श्रागे, इ. फु. १७

सामान्यतया—रॉथ, त्सादामौगे ४.४१७-३३, जम्रग्रोसो. ३४२-५, ह्विटनी, जम्रग्रोसो. ३.३२७-८, १३ CII-VIII, श्रोलिस्ट. १ ४६.६३, वेस्टरगश्रार्ड, इस्तू ३ ४०२-४०, श्रोसर्टै. ५.२८४-३३५, दोत्नर, पिंडपितृयज्ञ १०-१४ २८, श्राइले ४०८-२२, बेरिवें १ ८५-६४. २ ६६, केन्भ्रवे ६६-७१, स्पीग्रपी. २४३-५६, लानमान, सस्कृत रीडर ३७७-८५, शेविलि १२२-६१, हिवैमि १ ४८६-५१३, त्सादामौगे ४८.४२१, एहनी देर वेदिस्शे मियस देस यम, स्ट्रास्सबुग १८६०, दी उरस्प्रुंगलिशे गोत्तहाइत देस वेदिश्शेन यम लापत्सिग १८६६. होपकिंस प्रोश्रग्रोसो १८६१ XCIV—V होरिड् १२८-५०. २०४-७, मैमू, साइकोलोजिकल रिलीजन १७७-२०७, श्रोरिबे ५२४-४३, सेबुई ४६. २६, जैकसन जम्रश्रोसो १७ १८५

यातु—वैदिक श्रौर श्रवेस्तन दोनो मे मिलता है ११ १४, स्पीगल, दी श्रर्रिश्शे पीर्योद २२५—३३, ग्रुप्पे, दी ग्रीशिश्शन कुल्त उण्ड मियन १ ८६-६७, श्रोरिबे २६-३३

प— हविप् को देवताश्रो तक पहुचाता है ४०१ १७, रॉथ, निरुक्त ३६ श्रनु ११७-८, १२१-४, मैमू, ऐंसलि ४६३-६, वेबर, इस्तू १०-८६-६५, गेऋवे १६, केन्ऋवे नोट १२६, श्रोल्डनबर्ग, सेबुई ४६. ६-१०

रक्षस्—श्रसुरो का अत्यन्त प्रसिद्ध नाम ४२४ ६, बेरिवें २ २१६-१६, श्रोरिबे २६२-७३.= यातुधान ४२४, १३ यातु श्रवेस्ता मे 'जादूगरी' श्रौर जादूगर, स्पीग्रपी २१८-२२. रक्षस् जाति का बोधक श्रौर यातु जाति के श्रवान्तर भेद का ४२४ १५-६. श्रोरिबे २६३ नोट १ नीले, पीले, हरे राक्षस ४२५. ७, होपकिंस, श्रजफि १८८३ ८१७८ ये दस्यु पितरो मे घुसकर, ज्ञातिमुख बनकर यज्ञ मे विक्षेप डालते हैं ४२७ ५, कालण्ड, श्राल्तिन्दिशेर श्राह्नेनकुल्त, लाइडन १८६३. पृ ३-४ श्रग्नि से प्रार्थना है कि वह रक्षसो को भस्म कर दे ४२७.१०, हिलेब्राण्ट, त्सादामौगे ३३. २४८-५१ रक्षस्√रक्ष हिंसा करना' से सपन्न ४२८. २. पीवो, प्राबो √रक्ष 'रक्षार्थक' से ? ४२८. ५, बेरिवें २.२१८, ह्विटनी, सस्कृत रूट्स 'रक्ष'. मृत शत्रुश्रो की श्रात्मा से लिये गए हैं ४२६ ७, श्रोरिबे ६०-२. रॉथ, फेगो ६८. रोग वन्ध्यात्व श्रादि को शत्रुश्रो की श्रोर मोड देना

गिराते है २९४ ४, विण्डिश, फेरा, १४० —का आवास परमे व्योमन् मे या तृतीय स्वर्ग मे है २९४ ७, दे ६ १ ६१, काठक २३ १०, इस्तू ८ ३१ म, वास १,२११, तैत्रा ११ ३,१०, ३ २ ११ स्वर्ग=अव्य पवित्र २९४ ८, हिवैमि १ ३६१ नोट ३ ब्राह्मणो के अनुसार सोम को गायत्री लाई है २९५ १०, दे शब्रा ३,९ ४ १०, कुहेफा १३० आगे, १४४, १७२ सोमश्येन गाथा ऋवे ४ २६-२७ मे हैं, २९५ ६, रॉथ, त्सादामौगे ३६ ३५३-६०, ३८४, लुडविग, मेथोड ३० ६६, कोलिकोव्स्की, रेव्यु द लिंग्विस्तिक १८ १-६, बेरिवै ३२२ आगे, पिवैस्तू १ २०९-१६, हिवैमि १ २७८-६, ब्लूमफील्ड, फेरा १४६-५५, ओरिव १८०-१, वेवैबाइ १८९४ पृ ५ सोम और अग्नि का एक साथ अवतरण २९६ ६, ब्लूमफील्ड, जअओसो १६ १-२४, ओरिवै १७६ १८० कृशानु ने श्येन का एक पर काट दिया, २९६ ११ श्पीअपी २२४ पलाश की पवित्रता २९६ १४ कुहेफा १५९ आगे १७०, २०९, वेवैबाइ १८९४ पृ ५ सोम राजा हैं २९७ ३ देवता सोम (=चन्द्र) को पी जाते है २९७ ११-१३ डायसन, सिस्टम देस वेदान्त ५१५ आगे ब्राह्मणो मे सोम =चन्द्रमा सामान्य है २९७ १२ वेवैबाइ १८९४, पृ १६ —१७ देवता तथा पितृगण अमृतरूप चन्द्ररसका पान करते रहते हैं २९८ १, हिवैमि १ २९६ प्रजापति की पुत्रियां सोम की पत्नी है १ २९८ ३, वेबर, नक्षत्र २ २७४ आगे, ओल्डनबर्ग, त्सादामौगे ४९, ४७०, याकोबी, फरा ७१ नोट, आर ब्राउन, ज़ुए आकादमी ४२,४३९ ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डल मे सोम=चन्द्रमा २९८ ५, हिवैमि १ ३३९ चन्द्रमा के साथ तादात्म्य गौण गाथात्मक विकास है २९८,७ ८ बेरिवै १ १६० सोम सूर्या विवाह २९८ ६, वेबर इस्तू ५ १७८ आगे, वेबर, वैबाइ (जिट्सुङसबेरिश्ते देर बर्लिनेर आकादमी) १८९४ पृ ३५, ओसटै ५ २३७, एहनी, त्सादामौगे ३३ १६७ ८ याकोबी, त्सादामौग ४९ २२७, ओल्डनबर्ग, त्सादामौगे ४९ ४७८ ऋग्वेद का नवम मण्डल चन्द्र स्तुति का मण्डल है २९९ ५ ६, ब्लूमफील्ड, अजफि १४ ४९१-३, मैमू, फोटनाइटली रिव्यू, अवतू १८९३ ४४३ आगे (=चिप्स ४, ३२८-६७) इन्द्र का स्थान भी चन्द्रमा के नीचे है २९९ १५, गुवर्नाटिस, मिथ देस प्लाण्टेस २ ३५१ सोम लता और रस का मानवीकरण है २९९ २८ ह्विटनी, प्रोअओसो १८९४ xcix ओल्डनबर्ग, रि वे ५९९-६१२ वेदव्याख्याकार सोम से चन्द्रमा को ऋग्वेद म नही लेते थे २९९ ३१-३२, होरिङ् १७७ यदि ऋग्वेदिक सोम वृत्रघ्न है तो अवेस्तिक ह्योम वेरेथ्रजन है ३०० १५ १६ विवस्वान्=वीवह्वन्त, त्रित आप्त्य=थ्रित आथ्व्य, ३०० २०, यस्न ९-१०, श्पीगल, अपी, हिवैमि १ १२१ २६५, ४५०, ओल्डनबग, रिवे १७८, मैक्डानल, जराएसो २५ ४८५ मधु=सोम ३०० २६, ओरिवे, १७८

सामान्यत —विण्डिदामान, उबर देन सोम कुल्तुस देर अरियर, आबहाण्डलु गन देर म्युशनेर आकादमी १८४६ पृ १२७ आगे, कुह्न, हेफा १०५ आगे, ह्विटनी, जअओसो ३ २९९, वेबर, इस्तु ३ ४६६, वेबर, वैबा १८९४, पृ ३ १३-१७, हॉग, ऐब्रा ६१ २, म्यूर, ओसटे ५ २५८-७१, बरिवै १ १४८-२२५, रॉथ, त्सादामौगे ३५ ६८-९२,